ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

विराटपर्व

(पाण्डवप्रवेशपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

विराटनगरमें अज्ञातवास करनेके लिये पाण्डवोंकी गुप्त मन्त्रणा तथा युधिष्ठिरके द्वारा अपने भावी कार्यक्रमका दिग्दर्शन

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥ १॥

अन्तर्यामी नारायण भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्यसखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उनकी लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥ १ ॥

जनमेजय उवाच

कथं विराटनगरे मम पूर्वपितामहाः।
अज्ञातवासमुषिता दुर्योधनभयार्दिताः॥ २॥
पतिव्रता महाभागा सततं ब्रह्मवादिनी।
द्रौपदी च कथं ब्रह्मन्नज्ञाता दुःखितावसत्॥ ३॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! मेरे प्रपितामह पाण्डवोंने दुर्योधनके भयसे कष्ट उठाते हुए विराटनगरमें अपने अज्ञातवासका समय किस प्रकार व्यतीत किया तथा दुःखमें पड़ी हुई सदा ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णका नामकीर्तन करनेवाली परम सौभाग्यवती पतिव्रता द्रौपदी वहाँ अपनेको अज्ञात रखकर कैसे निवास कर सकी? ॥ २-३ ॥

वैशम्पायन उवाच

यथा विराटनगरे तव पूर्वपितामहाः।
अज्ञातवासमुषितास्तच्छृणुष्व नराधिप॥ ४॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! तुम्हारे प्रपितामहोंने विराटनगरमें जिस प्रकार अज्ञातवासके दिन पूरे किये थे, वह बताता हूँ; सुनो ॥ ४ ॥

तथा स तु वराँल्लब्ध्वा धर्मो धर्मभृतां वरः।
गत्वाऽऽश्रमं ब्राह्मणेभ्य आचख्यौ सर्वमेव तत्॥ ५॥

यक्षरूपधारी धर्मसे इस प्रकार वरदान पानेके अनन्तर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मपुत्र युधिष्ठिरने आश्रमपर जाकर वह सब समाचार ब्राह्मणोंको बताया ॥ ५ ॥

कथयित्वा तु तत् सर्वं ब्राह्मणेभ्यो युधिष्ठिरः।
अरणीसहितं तस्मै ब्राह्मणाय न्यवेदयत्॥ ६॥
ततो युधिष्ठिरो राजा धर्मपुत्रो महामनाः।
संनिवर्त्यानुजान् सर्वानिति होवाच भारत॥ ७॥

भारत! ब्राह्मणोंसे सब कुछ बताकर जब युधिष्ठिरने अरणीसहित मन्थनकाष्ठ पूर्वोक्त ब्राह्मणदेवताको सौंप दिया, तब धर्मपुत्र महामनस्वी उन राजा युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंको एकत्र करके इस प्रकार कहा—॥ ६-७ ॥

द्वादशेमानि वर्षाणि राज्यविप्रोषिता वयम्।
त्रयोदशोऽयं सम्प्राप्तः कृच्छ्रात् परमदुर्वसः॥ ८॥

'आज बारह वर्ष बीत गये, हमलोग अपने राज्यसे बाहर आकर वनमें रहते हैं। अब यह तेरहवाँ वर्ष आरम्भ हुआ है। इसमें बड़े कष्टसे कठिनाइयोंका सामना करते हुए अत्यन्त गुप्तरूपसे रहना होगा ॥ ८ ॥

स साधु कौन्तेय इतो वासमर्जुन रोचय।
संवत्सरमिमं यत्र वसेमाविदिताः परैः॥ ९॥

'कुन्तीनन्दन अर्जुन! तुम अपनी रुचिके अनुसार कोई उत्तम निवासस्थान चुनो, जहाँ यहाँसे चलकर हम एक वर्षतक इस प्रकार रहें कि शत्रुओंको हमारा पता न चल सके' ॥ ९ ॥

अर्जुन उवाच

तस्यैव वरदानेन धर्मस्य मनुजाधिप।
अज्ञाता विचरिष्यामो नराणां नात्र संशयः॥ १०॥
तत्र वासाय राष्ट्राणि कीर्तयिष्यामि कानिचित्।
रमणीयानि गुप्तानि तेषां किंचित् स्म रोचय॥ ११॥

अर्जुन बोले—नरेश्वर ! इसमें संदेह नहीं कि उन्हीं भगवान् धर्मके दिये हुए वरके प्रभावसे हमलोग इस पृथ्वीपर विचरते रहेंगे और हमें दूसरे मनुष्य पहचान न सकेंगे तथापि मैं आपसे निवास करने योग्य कुछ रमणीय एवं गुप्त राष्ट्रोंके नाम बतलाऊँगा, उनमेंसे किसीको आप स्वयं ही अपनी रुचिके अनुसार चुन लीजिये ॥ १०-११ ॥

सन्ति रम्या जनपदा बह्वन्नाः परितः कुरून् ।
पाञ्चालाश्चेदिमत्स्याश्च शूरसेनाः पटच्चराः ॥१२॥
दशार्णा नवराष्ट्राश्च मल्लाः शाल्वा युगन्धराः ।
कुन्तिराष्ट्रं च विपुलं सुराष्ट्रावन्तयस्तथा ॥१३॥

कुरुदेशके चारों ओर बहुत-से सुरम्य जनपद हैं, जहाँ बहुत अन्न होता है। उनके नाम ये हैं—पाञ्चाल, चेदि, मत्स्य, शूरसेन, पटच्चर, दशार्ण, नवराष्ट्र, मल्ल, शाल्व, युगन्धर, विशाल कुन्तिराष्ट्र, सौराष्ट्र तथा अवन्ती ॥ १२-१३ ॥

एतेषां कतमो राजन् निवासस्तव रोचते ।
यत्र वत्स्यामहे राजन् संवत्सरमिमं वयम् ॥१४॥

राजन् ! इनमेंसे कौन-सा राष्ट्र आपको निवास करनेके लिये पसंद है ? जिसमें हम सब लोग इस वर्ष निवास करें ॥१४॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतमेतन्महाबाहो यथा स भगवान् प्रभुः ।
अब्रवीत् सर्वभूतेशस्तत् तथा न तदन्यथा ॥१५॥

युधिष्ठिरने कहा—महाबाहो ! तुम्हारी यह बात मैंने ध्यानसे सुनी है। सम्पूर्ण भूतोंके अधीश्वर और प्रभावशाली भगवान् धर्मने हमारे लिये जैसा आदेश दिया है, वह सब वैसा ही होगा। उसके विपरीत कुछ नहीं होगा ॥ १५ ॥

अवश्यं त्वेव वासार्थं रमणीयं शिवं सुखम् ।
सम्मन्त्र्य सहितैः सर्वैर्वस्तव्यमकुतोभयैः ॥१६॥

तथापि हम सब लोगोंको आपसमें सलाह करके अवश्य ही अपने रहनेके लिये कोई परम सुन्दर, कल्याणकारी तथा सुखद स्थान चुन लेना चाहिये, जहाँ हम निर्भय होकर रह सकें ॥ १६ ॥

मत्स्यो विराटो बलवानभिरक्तोऽथ पाण्डवान् ।
धर्मशीलो वदान्यश्च वृद्धश्च सततं प्रियः ॥१७॥

[तुम्हारे बताये हुए देशोंमेंसे] मत्स्यदेशके राजा विराट बहुत बलवान् हैं और पाण्डवोंके प्रति उनका अनुराग भी है, साथ ही वे स्वभावतः धर्मात्मा, वृद्ध, उदार तथा हमें सदैव प्रिय हैं ॥ १७ ॥

विराटनगरे तात संवत्सरमिमं वयम् ।
कुर्वन्तस्तस्य कर्माणि विहरिष्याम भारत ॥१८॥

भाई अर्जुन ! इसलिये इस वर्ष हमलोग राजा विराटके ही नगरमें रहें और उनका कार्य साधन करते हुए उनके यहाँ विचरण करें ॥ १८ ॥

यानि यानि च कर्माणि तस्य वक्ष्यामहे वयम् ।
आसाद्य मत्स्यं तत् कर्म प्रब्रूत कुरुनन्दनाः ॥१९॥

किंतु कुरुनन्दनो ! तुमलोग यह तो बताओ कि हम मत्स्यराजके पास पहुँचकर किन-किन कार्योंका भार सँभाल सकेंगे ? ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच

नरदेव कथं तस्य राष्ट्रे कर्म करिष्यसि ।
विराटनगरे साधो रंस्यसे केन कर्मणा ॥२०॥

अर्जुनने पूछा—नरदेव ! आप उनके राष्ट्रमें किस प्रकार कार्य करेंगे ? महात्मन् ! विराटनगरमें कौन-सा कर्म करनेसे आपको प्रसन्नता होगी ? ॥ २० ॥

मृदुर्वदान्यो ह्रीमांश्च धार्मिकः सत्यविक्रमः ।
राजंस्त्वमापदाऽऽक्लिष्टः किं करिष्यसि पाण्डव ॥२१॥

राजन् ! आपका स्वभाव कोमल है। आप उदार, लज्जाशील, धर्मपरायण तथा सत्यपराक्रमी हैं; तथापि विपत्तिमें पड़ गये हैं। पाण्डुनन्दन ! आप वहाँ क्या करेंगे ? ॥

न दुःखमुचितं किंचिद् राजन् वेद यथा जनः ।
स इमामापदं प्राप्य कथं घोरां तरिष्यसि ॥२२॥

राजन् ! साधारण मनुष्योंकी भाँति आपको किसी प्रकारके दुःखका अनुभव हो, यह उचित नहीं है, अतः इस घोर आपत्तिमें पड़कर आप कैसे इसके पार होंगे ? ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शृणुध्वं यत् करिष्यामि कर्म वै कुरुनन्दनाः ।
विराटमनुसम्प्राप्य राजानं पुरुषर्षभाः ॥२३॥

युधिष्ठिरने कहा—नरश्रेष्ठ कुरुनन्दनो ! मैं राजा विराटके यहाँ चलकर जो कार्य करूँगा, वह बताता हूँ, सुनो ॥ २३ ॥

सभास्तारो भविष्यामि तस्य राज्ञो महात्मनः ।
कङ्को नाम द्विजो भूत्वा मताक्षः प्रियदेवनः ॥२४॥
वैदूर्यान् काञ्चनान् दान्तान् फलैर्ज्योतीरसैः सह ।
कृष्णाँल्लोहितवर्णांश्च निर्वर्त्स्यामि मनोरमान् ॥२५॥

मैं पासा खेलनेकी विद्या जानता हूँ और यह खेल मुझे प्रिय भी है, अतः मैं कङ्क* नामक ब्राह्मण बनकर महामना

* विश्व कोषके अनुसार 'कङ्क' शब्द यमराजका वाचक है। यमराजका ही दूसरा नाम धर्म है और वे ही युधिष्ठिररूपमें अवतीर्ण हुए थे। 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इस उक्तिके अनुसार भी धर्म एवं धर्मपुत्र युधिष्ठिरमें कोई अन्तर नहीं है। यह समझकर ही अपनी सत्यवादिताकी रक्षा करते हुए युधिष्ठिरने 'कङ्क' नामसे अपना परिचय दिया। इसके सिवा उन्होंने जो अपनेको युधिष्ठिर-

राजा विराटकी राजसभाका एक सदस्य हो जाऊँगा और वैदूर्यमणिके समान हरी, सुवर्णके समान पीली तथा हाथी-दाँतकी बनी हुई काली और लाल रंगकी मनोहर गोटियोंको चमकीले बिन्दुओंसे युक्त पासोंके अनुसार चलाता रहूँगा ॥

विराटराजं रमयन् सामात्यं सहबान्धवम् ।
न च मां वेत्स्यते कश्चित् तोषयिष्ये च तं नृपम् ॥ २६ ॥

मैं राजा विराटको उनके मन्त्रियों तथा बन्धु-बान्धवोंसहित पासोंके खेलसे प्रसन्न करता रहूँगा। इस रूपमें मुझे कोई पहचान न सकेगा और मैं उन मत्स्यनरेशको भलीभाँति संतुष्ट रक्खूँगा ॥ २६ ॥

आसं युधिष्ठिरस्याहं पुरा प्राणसमः सखा ।
इति वक्ष्यामि राजानं यदि मां सोऽनुयोक्ष्यते ॥ २७ ॥

यदि वे राजा मुझसे पूछेंगे कि आप कौन हैं, तो मैं उन्हें बताऊँगा कि मैं पहले महाराज युधिष्ठिरका प्राणोंके समान प्रिय सखा था ॥ २७ ॥

इत्येतद् वो मयाऽऽख्यातं विहरिष्याम्यहं यथा ।

इस प्रकार मैंने तुमलोगोंको बता दिया कि विराटनगरमें मैं किस प्रकार रहूँगा ॥ २७½ ॥

(वैशम्पायन उवाच

एवं निर्दिश्य चात्मानं भीमसेनमुवाच ह ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार अज्ञातवासमें अपनेद्वारा किये जानेवाले कार्यको बतलाकर युधिष्ठिर भीमसेनसे बोले ॥

युधिष्ठिर उवाच

भीमसेन कथं कर्म मात्स्यराष्ट्रे करिष्यसि ॥
हत्वा क्रोधवशांस्तत्र पर्वते गन्धमादने ।
यक्षान् क्रोधाभिताम्राक्षान् राक्षसांश्चापि पौरुषान् ।
प्रादाः पाञ्चालकन्यायै पद्मानि सुबहून्यपि ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भीमसेन ! तुम मत्स्यदेशमें किस प्रकार कोई कार्य कर सकोगे ? तुमने गन्धमादन पर्वतपर क्रोधसे सदा लाल आँखें किये रहनेवाले क्रोधवश नामक यक्षों और महापराक्रमी राक्षसोंका वध करके पाञ्चालराज-कुमारी द्रौपदीको बहुत-से कमल लाकर दिये थे ॥

बकं राक्षसराजानं भीषणं पुरुषादकम् ।
जघ्निवानसि कौन्तेय ब्राह्मणार्थमरिंदम ॥
क्षेमा चाभयसंवीता ह्येकचक्रा त्वया कृता ॥

शत्रुहन्ता भीम ! ब्राह्मणपरिवारकी रक्षाके लिये तुमने भयानक आकृतिवाले नरभक्षी राक्षसराज बकको भी मार डाला था और इस प्रकार एकचक्रा नगरीको भयरहित एवं कल्याणयुक्त बनाया था ॥

हिडिम्बं च महावीर्यं किर्मीरं चैव राक्षसम् ।
त्वया हत्वा महाबाहो वनं निष्कण्टकं कृतम् ॥

महाबाहो ! तुमने महावीर हिडिम्ब और राक्षस किर्मीरको मारकर वनको निष्कण्टक बनाया था ॥

आपदं चापि सम्प्राप्ता द्रौपदी चारुहासिनी ।
जटासुरवधं कृत्वा त्वया च परिमोक्षिता ॥
मत्स्यराजान्तिके तात वीर्यपूर्णोऽत्यमर्षणः ।)
वृकोदर विराटे त्वं रंस्यसे केन हेतुना ॥ २८ ॥

संकटमें पड़ी हुई मनोहर हास्यवाली द्रौपदीको भी तुमने जटासुरका वध करके छुड़ाया था। तात भीमसेन ! तुम अत्यन्त बलवान् एवं अमर्षशाली हो। राजा विराटके यहाँ कौन-सा कार्य करके तुम प्रसन्नतापूर्वक रह सकोगे—यह बतलाओ ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि **पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमन्त्रणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥**

इस प्रकार श्रीमहाभारतविराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी परस्पर मन्त्रणासे सम्बन्ध रखनेवाला पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६½ श्लोक मिलाकर कुल ३४½ श्लोक हैं)

द्वितीयोऽध्यायः

भीमसेन और अर्जुनद्वारा विराटनगरमें किये जानेवाले अपने अनुकूल कार्योंका निर्देश

भीमसेन उवाच

पौरोगवो ब्रुवाणोऽहं बल्लवो नाम भारत ।
उपस्थास्यामि राजानं विराटमिति मे मतिः ॥ १ ॥

भीमसेनने कहा—भरतवंशशिरोमणे ! मैं पौरोगव[1]

का प्राणोंके समान प्रिय सखा बताया, वह भी असत्य नहीं है। युधिष्ठिर नामक शरीरको ही यहाँ युधिष्ठिर समझना चाहिये। आत्माकी सत्तासे ही शरीरका संचालन होता है। अतः आत्मा उसके साथ रहनेके कारण उसका सखा है। आत्मा सबसे बढ़कर प्रिय है ही; अतः यहाँ युधिष्ठिरका आत्मा युधिष्ठिर-शरीरका प्रिय सखा कहा गया है।

१. पुरोग कहते हैं वायुको, उसके पुत्र होनेसे भीमसेनका 'पौरोगव' नाम सत्य एवं सार्थक है।

(पाकशालाका अध्यक्ष) बनकर और बल्लव[1] नामसे अपना परिचय देकर राजा विराटके दरबारमें उपस्थित होऊँगा। मेरा यही विचार है ॥ १ ॥

सूपानस्य करिष्यामि कुशलोऽस्मि महानसे।
कृतपूर्वाणि यान्यस्य व्यञ्जनानि सुशिक्षितैः ॥ २ ॥
तान्यप्यभिभविष्यामि प्रीतिं संजनयन्नहम्।

मैं रसोई बनानेके काममें चतुर हूँ। अपने ऊपर राजाके मनमें अत्यन्त प्रेम उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे उनके लिये सूप (दाल, कढ़ी एवं साग आदि) तैयार करूँगा और पाककलामें भलीभाँति शिक्षा पाये हुए चतुर रसोइयोंने राजाके लिये पहले जो-जो व्यञ्जन बनाये होंगे, उन्हें भी अपने बनाये हुए व्यञ्जनोंसे तुच्छ सिद्ध कर दूँगा ॥ २½ ॥

आहरिष्यामि दारूणां निचयान् महतोऽपि च ॥ ३ ॥
यत् प्रेक्ष्य विपुलं कर्म राजा संयोक्ष्यते स माम्।
अमानुषाणि कुर्वाणस्तानि कर्माणि भारत ॥ ४ ॥

इतना ही नहीं, मैं रसोईके लिये लकड़ियोंके बड़े-से-बड़े गट्ठोंको भी उठा लाऊँगा, जिस महान् कर्मको देखकर राजा विराट मुझे अवश्य रसोइयेके कामपर नियुक्त कर लेंगे। भारत ! मैं वहाँ ऐसे-ऐसे अद्भुत कार्य करता रहूँगा, जो साधारण मनुष्योंकी शक्तिके बाहर है ॥ ३-४ ॥

राज्ञस्तस्य परे प्रेष्या मंस्यन्ते मां यथा नृपम्।
भक्ष्यान्नरसपानानां भविष्यामि तथेश्वरः ॥ ५ ॥

इससे राजा विराटके दूसरे सेवक राजाके ही समान मेरा सम्मान करेंगे और मैं भक्ष्य, भोज्य, रस तथा पेय पदार्थोंका इच्छानुसार उपयोग करनेमें समर्थ होऊँगा ॥ ५ ॥

द्विपा वा बलिनो राजन् वृषभा वा महाबलाः।
विनिग्राह्या यदि मया निग्रहीष्यामि तानपि ॥ ६ ॥

राजन् ! बलवान् हाथी अथवा महाबली बैल भी यदि काबूमें करनेके लिये मुझे सौंपे जायँगे तो मैं उन्हें भी बाँधकर अपने वशमें कर लूँगा ॥ ६ ॥

ये च केचिन्नियोत्स्यन्ति समाजेषु नियोधकाः।
तानहं हि नियोत्स्यामि रतिं तस्य विवर्धयन् ॥ ७ ॥

तथा जो कोई भी मल्लयुद्ध करनेवाले पहलवान जन-समाजमें दंगल करना चाहेंगे, राजाका प्रेम बढ़ानेके लिये मैं उनसे भी भिड़ जाऊँगा ॥ ७ ॥

न त्वेतान् युद्ध्यमानान् वै हनिष्यामि कथञ्चन।
तथैतान् पातयिष्यामि यथा यास्यन्ति न क्षयम् ॥ ८ ॥

परंतु कुश्ती करनेवाले इन पहलवानोंको मैं किसी प्रकार जानसे नहीं मारूँगा; अपितु इस प्रकार नीचे गिराऊँगा, जिससे उनकी मृत्यु न हो ॥ ८ ॥

आरालिको गोविकर्ता सूपकर्ता नियोधकः।
आसं युधिष्ठिरस्याहमिति वक्ष्यामि पृच्छतः ॥ ९ ॥

महाराजके पूछनेपर मैं यह कहूँगा कि मैं राजा युधिष्ठिरके यहाँ आरालिक (मतवाले हाथियोंको भी काबूमें करनेवाला गजशिक्षक), गोविकर्ता (महाबली वृषभोंको भी पछाड़कर उन्हें नाथनेवाला), सूपकर्ता (दाल-साग आदि भाँति भाँतिके व्यञ्जन बनानेवाला) तथा नियोधक (दंगली पहलवान) रहा हूँ ॥ ९ ॥

आत्मानमात्मना रक्षंश्चरिष्यामि विशाम्पते।
इत्येतत् प्रतिजानामि विहरिष्याम्यहं यथा ॥ १० ॥

राजन् ! अपने-आप अपनी रक्षा करते हुए मैं विराटके नगरमें विचरूँगा। मुझे विश्वास है कि इस प्रकार मैं वहाँ सुखपूर्वक रह सकूँगा ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

यमग्निर्ब्राह्मणो भूत्वा समागच्छन्नृणां वरम्।
दिधक्षुः खाण्डवं दावं दाशार्हसहितं पुरा ॥ ११ ॥
महाबलं महाबाहुमजितं कुरुनन्दनम्।
सोऽयं किं कर्म कौन्तेयः करिष्यति धनंजयः ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले—जो मनुष्योंमें श्रेष्ठ महाबली और महाबाहु है, पहले भगवान् श्रीकृष्णके साथ बैठे हुए जिस अर्जुनके पास खाण्डववनको जलानेकी इच्छासे ब्राह्मणका रूप धारण करके साक्षात् अग्निदेव पधारे थे, जो कुरुकुलको आनन्द देनेवाला तथा किसीसे भी परास्त न होनेवाला है, वह कुन्तीनन्दन धनंजय विराटनगरमें कौन-सा कार्य करेगा ? ॥

योऽयमासाद्य तं दावं तर्पयामास पावकम्।
विजित्यैकरथेनेन्द्रं हत्वा पन्नगराक्षसान् ॥ १३ ॥
वासुकेः सर्पराजस्य स्वसारं हृतवांश्च यः।
श्रेष्ठो यः प्रतियोधानां सोऽर्जुनः किं करिष्यति ॥ १४ ॥

जिसने खाण्डवदाहके समय वहाँ पहुँचकर एकमात्र रथका आश्रय ले इन्द्रको पराजित कर तथा नागों एवं राक्षसोंको मारकर अग्निदेवको तृप्त किया और अपने अप्रतिम सौन्दर्यसे नागराज वासुकिकी बहिन उलूपीका चित्त चुरा लिया एवं जो सम्मुख युद्ध करनेवाले वीरोंमें सबसे श्रेष्ठ है, वह अर्जुन वहाँ क्या काम करेगा ? ॥ १३-१४ ॥

सूर्यः प्रतपतां श्रेष्ठो द्विपदां ब्राह्मणो वरः।
आशीविषश्च सर्पाणामग्निस्तेजस्विनां वरः ॥ १५ ॥
आयुधानां वरं वज्रं ककुद्मी च गवां वरः।
ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठः पर्जन्यो वर्षतां वरः ॥ १६ ॥
धृतराष्ट्रश्च नागानां हस्तिष्वैरावणो वरः।
पुत्रः प्रियाणामधिको भार्या च सुहृदां वरा ॥ १७ ॥
(गिरीणां प्रवरो मेरुर्देवानां मधुसूदनः।
ग्रहाणां प्रवरश्चन्द्रः सरसां मानसं वरम् ॥)

[1] बल्लवका अर्थ है सूपकर्ता अर्थात् रसोइया। रसोईके काममें निपुण होनेसे उनका यह नाम यथार्थ ही है।

यथैतानि विशिष्टानि जात्यां जात्यां वृकोदर।
एवं युवा गुडाकेशः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ १८ ॥

जैसे तपनेवाले तेजस्वी पदार्थोंमें सूर्य श्रेष्ठ हैं, मनुष्योंमें ब्राह्मणका स्थान ऊँचा है, जैसे सर्पोंमें आशीविष जातिवाले सर्प महान् हैं, तेजस्वियोंमें अग्नि श्रेष्ठ हैं, अस्त्र-शस्त्रोंमें वज्रका स्थान ऊँचा है, गौओंमें ऊँचे कंधेवाला साँड़ बड़ा माना गया है, जलाशयोंमें समुद्र सबसे महान् है, वर्षा करनेवाले मेघोंमें पर्जन्य श्रेष्ठ हैं, नागोंमें धृतराष्ट्र तथा हाथियोंमें ऐरावत बड़ा है, जैसे प्रिय सम्बन्धियोंमें पुत्र सबसे अधिक प्रिय है और अकारण हित चाहनेवाले सुहृदोंमें धर्मपत्नी सबसे बढ़कर है, जैसे पर्वतोंमें मेरु श्रेष्ठ है, देवताओंमें मधुसूदन भगवान् विष्णु श्रेष्ठ हैं, ग्रहोंमें चन्द्रमा श्रेष्ठ हैं और सरोवरोंमें मानसरोवर श्रेष्ठ है । भीमसेन ! अपनी-अपनी जातिमें जिस प्रकार ये पूर्वोक्त वस्तुएँ विशिष्ट मानी गयी हैं, वैसे ही सम्पूर्ण धनुर्धारियोंमें युवावस्थासे सम्पन्न यह गुडाकेश (निद्राविजयी) अर्जुन श्रेष्ठ है ॥ १५-१८ ॥

सोऽयमिन्द्रादनवरो वासुदेवान्महाद्युतिः ।
गाण्डीवधन्वा बीभत्सुःश्वेताश्वःकिं करिष्यति ॥ १९ ॥

यह देवराज इन्द्र और भगवान् श्रीकृष्णसे किसी बातमें कम नहीं है । श्वेत घोड़ोंवाले रथपर चलनेवाला यह महातेजस्वी गाण्डीवधारी बीभत्सु (अर्जुन) वहाँ कौन-सा कार्य करेगा ? ॥ १९ ॥

उषित्वा पञ्च वर्षाणि सहस्राक्षस्य वेश्मनि ।
अस्त्रयोगं समासाद्य स्ववीर्यान्मानुषाद्भुतम् ।
दिव्यान्यस्त्राणि चाप्तानि देवरूपेण भास्वता ॥ २० ॥

इसने पाँच वर्षोंतक देवराज इन्द्रके भवनमें रहकर ऐसे दिव्यास्त्र प्राप्त किये हैं, जिनका मनुष्योंमें होना एक अद्भुत-सी बात है । अपने देवोपम स्वरूपसे प्रकाशित होनेवाले अर्जुनने अनेक दिव्यास्त्र पाये हैं ॥ २० ॥

यं मन्ये द्वादशं रुद्रमादित्यानां त्रयोदशम्।
वसूनां नवमं मन्ये ग्रहाणां दशमं तथा ॥ २१ ॥

जिस अर्जुनको मैं बारहवाँ रुद्र और तेरहवाँ आदित्य मानता हूँ, नवम वसु तथा दसवाँ ग्रह स्वीकार करता हूँ ॥

यस्य बाहू समौ दीर्घौ ज्याघातकठिनत्वचौ ।
दक्षिणे चैव सव्ये च गवामिव वहः कृतः ॥ २२ ॥

जिसकी दोनों भुजाएँ एक-सी विशाल हैं; प्रत्यञ्चाके आघातसे उनकी त्वचा कठोर हो गयी है । जैसे बैलोंके कंधोंपर जुआठेकी रगड़से चिह्न बन जाता है, उसी प्रकार जिसकी दाहिनी और बायीं भुजाओंपर प्रत्यञ्चाकी रगड़से चिह्न बन गये हैं ॥ २२ ॥

हिमवानिव शैलानां समुद्रः सरितामिव ।
त्रिदशानां यथा शक्रो वसूनामिव हव्यवाट् ॥ २३ ॥

मृगाणामिव शार्दूलो गरुडः पततामिव ।
वरः संनह्यमानानां सोऽर्जुनः किं करिष्यति ॥ २४ ॥

जैसे पर्वतोंमें हिमालय, सरिताओंमें समुद्र, देवताओंमें इन्द्र, वसुओंमें हव्यवाहक अग्नि, मृगोंमें सिंह तथा पक्षियोंमें गरुड़ श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार कवचधारी वीरोंमें जिसका स्थान सबसे ऊँचा है, वह अर्जुन विराटनगरमें जाकर क्या काम करेगा ? ॥ २३-२४ ॥

अर्जुन उवाच

प्रतिज्ञां षण्ढकोऽस्मीति करिष्यामि महीपते ।
ज्याघातौ हि महान्तौ मे संवर्तुं नृप दुष्करौ ॥ २५ ॥
वलयैश्छादयिष्यामि बाहू किणकृताविमौ ।

अर्जुनने कहा—महाराज ! मैं राजाकी सभामें यह दृढ़तापूर्वक कहूँगा कि मैं षण्ढक (नपुंसक) हूँ । राजन् ! यद्यपि मेरी दायीं-बायीं भुजाओंमें धनुषकी डोरीकी रगड़से जो महान् चिह्न बन गये हैं, उन्हें छिपाना बहुत कठिन है तथापि कंगन आदि आभूषणोंसे मैं इन ज्याघातचिह्नित भुजाओंको ढक लूँगा ॥ २५½ ॥

कर्णयोः प्रतिमुच्याहं कुण्डले ज्वलनप्रभे ॥ २६ ॥
पिनद्धकम्बुः पाणिभ्यां तृतीयां प्रकृतिं गतः ।
वेणीकृतशिरा राजन् नाम्ना चैव बृहन्नला ॥ २७ ॥

मैं दोनों कानोंमें अग्निके समान कान्तिमान् कुण्डल पहनकर हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ धारण कर लूँगा । इस प्रकार तीसरी प्रकृति (नपुंसकभाव) को अपनाकर सिरपर चोटी गूँथ लूँगा और अपनेको बृहन्नला नामसे घोषित करूँगा* ॥ २६-२७ ॥

पठन्नाख्यायिकाश्चैव स्त्रीभावेन पुनः पुनः ।
रमयिष्ये महीपालमन्यांश्चान्तःपुरे जनान् ॥ २८ ॥

स्त्रीभावसे अपने स्वरूपको छिपाकर बारंबार पूर्ववर्ती राजाओंके चरित्रोंका गान करके महाराज विराट तथा अन्तःपुरकी अन्यान्य स्त्रियोंका मनोरञ्जन करूँगा ॥ २८ ॥

गीतं नृत्यं विचित्रं च वादित्रं विविधं तथा ।
शिक्षयिष्याम्यहं राजन् विराटस्य पुरस्त्रियः ॥ २९ ॥

राजन् ! मैं विराटनगरकी स्त्रियोंको गीत गाने, विचित्र ढंगसे नृत्य करने तथा भाँति-भाँतिके बाजे बजानेकी शिक्षा दूँगा ॥ २९ ॥

* इस प्रसङ्गमें अर्जुनने अपनेको षण्ढक और बृहन्नला कहा है। षण्ढक शब्दका अर्थ है नपुंसक। अर्जुन इस समय उर्वशीके शापसे नपुंसक हो गये थे । बृहन्नलाका मूल शब्द बृहन्नल है । विद्वानोंने 'र' और 'ल' को एक-सा माना है; अतः बृहन्नलका अर्थ बृहन्नर अर्थात् श्रेष्ठ या महान् मानव है । भगवान् नारायणके सखा होनेके कारण अर्जुन नरश्रेष्ठ हैं ही ।

प्रजानां समुदाचारं बहु कर्म कृतं वदन् ।
छादयिष्यामि कौन्तेय माययाऽऽत्मानमात्मना ॥ ३० ॥

कुन्तीनन्दन ! प्रजाजनोंके उत्तम आचार-विचार और उनके किये हुए अनेक प्रकारके सत्कर्मोंका वर्णन करता हुआ मैं मायामय नपुंसकवेशसे बुद्धिद्वारा अपने यथार्थ स्वरूपको छिपाये रक्खूँगा ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरस्य गेहे वै द्रौपद्याः परिचारिका ।
उषितास्मीति वक्ष्यामि पृष्टो राज्ञा च पाण्डव ॥ ३१ ॥

पाण्डुनन्दन ! यदि राजा विराटने मेरा परिचय पूछा, तो मैं कह दूँगा कि मैं महाराज युधिष्ठिरके घरमें महारानी द्रौपदीकी परिचारिका[१] रह चुकी हूँ ॥ ३१ ॥

एतेन विधिना छन्नः कृतकेन यथानलः ।
विहरिष्यामि राजेन्द्र विराटभवने सुखम् ॥ ३२ ॥

राजेन्द्र ! इस प्रकार कृत्रिम वेशभूषासे राखमें छिपी हुई अग्निके समान अपनेको छिपाकर मैं विराटके महलमें सुखपूर्वक निवास करूँगा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमन्त्रणे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी मन्त्रणाविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३३ श्लोक हैं)

तृतीयोऽध्यायः

नकुल, सहदेव तथा द्रौपदीद्वारा अपने-अपने भावी कर्तव्योंका दिग्दर्शन

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीर-
स्तथार्जुनो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
वाक्यं तथासौ विरराम भूयो
नृपोऽपरं भ्रातरमाबभाषे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तथा पुरुषोंमें महान् वीर अर्जुन इस प्रकार कहकर चुप हो गये । तब राजा युधिष्ठिर पुनः दूसरे भाईसे बोले ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं त्वं नकुल कुर्वाणस्तत्र तात चरिष्यसि ।
कर्म तत् त्वं समाचक्ष्व राज्ये तस्य महीपतेः ।
सुकुमारश्च शूरश्च दर्शनीयः सुखोचितः ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—नकुल ! तुम राजा विराटके राज्यमें कौन-सा कार्य करते हुए निवास करोगे ? वह कार्य बताओ। तात ! तुम तो शूरवीर होनेके साथ ही अत्यन्त सुकुमार, परम दर्शनीय और सर्वथा सुख भोगनेके ही योग्य हो ॥ २ ॥

नकुल उवाच

अश्वबन्धो भविष्यामि विराटनृपतेरहम् ।
सर्वथा ज्ञानसम्पन्नः कुशलः परिरक्षणे ॥ ३ ॥

नकुल बोले—राजन् ! मैं राजा विराटके यहाँ अश्वबन्ध (घोड़ोंको वशमें करनेवाला सवार) होकर रहूँगा । मैं अश्वविज्ञानसे सम्पन्न और घोड़ोंकी रक्षाके कार्यमें कुशल हूँ ॥ ३ ॥

ग्रन्थिको नाम नाम्नाहं कर्मैतत् सुप्रियं मम ।
कुशलोऽस्म्यश्वशिक्षायां तथैवाश्वचिकित्सने ।
प्रियाश्च सततं मेऽश्वाः कुरुराज यथा तव ॥ ४ ॥

मैं राजसभामें ग्रन्थिक नामसे अपना परिचय दूँगा । घोड़ोंकी देखभालका काम मुझे अत्यन्त प्रिय है । उन्हें भाँति-भाँतिकी चालें सिखाने और उनकी चिकित्सा करनेमें भी मैं निपुण हूँ । कुरुराज ! आपकी ही भाँति मुझे भी घोड़े सदैव प्रिय रहे हैं* ॥ ४ ॥

ये मामामन्त्रयिष्यन्ति विराटनगरे जनाः ।
तेभ्य एवं प्रवक्ष्यामि विहरिष्याम्यहं यथा ॥ ५ ॥
पाण्डवेन पुरा तात अश्वेष्वधिकृतः पुरा ।
विराटनगरे छन्नश्चरिष्यामि महीपते ॥ ६ ॥

विराटनगरमें जो लोग मुझसे पूछेंगे, उन्हें मैं इस प्रकार उत्तर दूँगा—'तात ! पहले पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने मुझे अश्वोंका अध्यक्ष बनाकर रख रक्खा था ।' महीपते ! मैं जिस प्रकार वहाँ विहार करूँगा, वह सब मैंने आपको बता दिया। राजा विराटके नगरमें अपनेको छिपाये रखकर ही मैं सर्वत्र विचरूँगा ॥ ५-६ ॥

---

१. परिचारिकाका एक अर्थ है सेविका और दूसरा अर्थ है सब ओर विचरण करनेवाली । इस प्रकार अर्जुनने गूढ़ अभिप्राययुक्त परिचारिका शब्दद्वारा अपनेको द्रौपदीका पति सूचित किया है ।

* नकुलने अपना नाम ग्रन्थिक बताया और अपनेको अश्वोंका अधिकारी कहा है । ग्रन्थिकका अर्थ है आयुर्वेद तथा आध्वर्यु-विद्यासम्बन्धी ग्रन्थोंको जाननेवाला । श्रुतिमें अश्विनीकुमारोंको देवताओंका वैद्य तथा अध्वर्यु कहा गया है । 'अश्विनौ वै देवानां भिषजावश्विनावध्वर्यू' । नकुल अश्विनीकुमारोंके पुत्र हैं; अतः उनका अपनेको ग्रन्थिक कहना उपयुक्त ही है । 'नास्ति श्वो येषां ते अश्वाः' जिनके कलतक जीवित रहनेकी आशा न हो, वे अश्व हैं—इस व्युत्पत्तिके अनुसार जीवनकी आशा छोड़कर युद्धमें डटे रहनेवाले वीरोंको अश्व कहते हैं । नकुल उनके अधिकारी अर्थात् वीरोंमें प्रधान हैं । अतः उनका यह परिचय यथार्थ ही है ।

युधिष्ठिर उवाच

सहदेव कथं तस्य समीपे विहरिष्यसि।
किं वा त्वं कर्म कुर्वाणः प्रच्छन्नो विहरिष्यसि॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने सहदेवसे पूछा—भैया सहदेव! तुम राजा विराटके समीप कैसे जाओगे? उनके यहाँ क्या काम करते हुए गुप्तरूपसे निवास करोगे? ॥ ७ ॥

सहदेव उवाच

गोसंख्याता भविष्यामि विराटस्य महीपतेः।
प्रतिषेद्धा च दोग्धा च संख्याने कुशलो गवाम्॥ ८ ॥

सहदेवने कहा—महाराज! मैं राजा विराटके यहाँ गौओंकी गिनती—जाँच-पड़ताल करनेवाला गोशालाध्यक्ष होकर रहूँगा। मैं गौओंको नियन्त्रणमें रखने और दुहनेका काम अच्छी तरह जानता हूँ। उन्हें गिनने और उनकी परख-पहचानके काममें भी कुशल हूँ ॥ ८ ॥

तन्तिपाल इति ख्यातो नाम्नाहं विदितस्त्वथ।
निपुणं च चरिष्यामि व्येतु ते मानसो ज्वरः॥ ९ ॥

मैं वहाँ तन्तिपाल नामसे प्रसिद्ध होऊँगा। इसी नामसे मुझे सब लोग जानेंगे। मैं बड़ी चतुराईसे अपनेको छिपाये रखकर वहाँ सब ओर विचरूँगा; अतः मेरे विषयमें आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ ९ ॥

(अरोगा बहुलाः पुष्टाः क्षीरवत्यो बहुप्रजाः।
निष्पन्नसत्त्वाः सुभृता व्यपेतज्वरकिल्बिषाः॥
नष्टचोरभया नित्यं व्याधिव्याघ्रविवर्जिताः।
गावश्च सुसुखा राजन् निरुद्विग्ना निरामयाः॥
भविष्यन्ति मया गुप्ता विराटपशवो नृप॥)

राजन्! मेरेद्वारा रक्षित होकर राजा विराटके पशु तथा गौएँ नीरोग, संख्यामें अधिक, हृष्ट-पुष्ट, अधिक दूध देनेवाली, बहुत संतानोंवाली, सत्त्वयुक्त, अच्छी तरह सम्हाल होनेसे रोगरूप पापसे रहित, चोरोंके भयसे मुक्त तथा सदा व्याधि एवं बाघ आदिके भयसे रहित होंगी। महाराज! वे उद्वेग-रहित, सुखी और निरामय तो होंगी ही।

अहं हि सततं गोषु भवता प्रहिता पुरा।
तत्र मे कौशलं सर्वमवबुद्धं विशाम्पते॥ १० ॥

भूपाल! पहले आपने मुझे सदा गौओंकी देखभालके कार्यमें नियुक्त किया है। इस कार्यमें मैं कितना दक्ष हूँ, यह सब आपको विदित ही है ॥ १० ॥

लक्षणं चरितं चापि गवां यच्चापि मङ्गलम्।
तत् सर्वं मे सुविदितमन्यच्चापि महीपते॥ ११ ॥
वृषभानपि जानामि राजन् पूजितलक्षणान्।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते॥ १२ ॥

महीपते! गौओंके जो लक्षण और चरित्र मङ्गलकारक होते हैं, वे सब मुझे भलीभाँति मालूम हैं। उनके विषयमें और भी बहुत-सी बातें मैं जानता हूँ। राजन्! इसके सिवा मैं ऐसे प्रशंसनीय लक्षणोंवाले साँड़ोंको भी जानता हूँ, जिनके मूत्रको सूँघ लेनेमात्रसे वन्ध्या स्त्री भी गर्भवती हो सकती है ॥ ११-१२ ॥

सोऽहमेवं चरिष्यामि प्रीतिरत्र हि मे सदा।
न च मां वेत्स्यते कश्चित् तोषयिष्ये च पार्थिवम्॥ १३॥

इस प्रकार मैं गौओंकी सेवा करूँगा। इस कार्यमें मुझे सदासे प्रेम रहा है। वहाँ मुझे कोई पहचान नहीं सकेगा। मैं अपने कार्यसे राजा विराटको संतुष्ट कर लूँगा* ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

इयं हि नः प्रिया भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।
मातेव परिपाल्या च पूज्या ज्येष्ठेव च स्वसा॥ १४ ॥
केन स्म द्रौपदी कृष्णा कर्मणा विचरिष्यति।
न हि किञ्चिद् विजानाति कर्म कर्तुं यथा स्त्रियः॥ १५ ॥

युधिष्ठिर बोले—यह द्रुपदकुमारी कृष्णा हमलोगोंकी प्यारी भार्या है। इसका गौरव हमारे लिये प्राणोंसे भी बढ़कर है। यह माता (पृथ्वी) की भाँति पालन करने योग्य तथा बड़ी बहन (धेनु) के समान आदरणीय है। यह तो दूसरी स्त्रियोंकी भाँति कोई काम-काज भी नहीं जानती; फिर वहाँ किस कर्मका आश्रय लेकर निवास करेगी? ॥ १४-१५ ॥

सुकुमारी च बाला च राजपुत्री यशस्विनी।
पतिव्रता महाभागा कथं नु विचरिष्यति॥ १६ ॥

इसका शरीर अत्यन्त सुकुमार है। इसकी अवस्था नयी है। यह यशस्विनी राजकुमारी परम सौभाग्यवती तथा पतिव्रता है। भला, यह विराटनगरमें किस प्रकार रहेगी? ॥ १६ ॥

माल्यगन्धानलङ्कारान् वस्त्राणि विविधानि च।
एतान्येवाभिजानाति यतो जाता हि भामिनी॥ १७ ॥

इस भामिनीने जबसे जन्म लिया है, तबसे अबतक माला, सुगन्धित पदार्थ, भाँति-भाँतिके गहने तथा अनेक प्रकारके वस्त्रोंको ही जाना है। इसने कभी कष्टका अनुभव नहीं किया है ॥ १७ ॥

---

* 'तस्य वाक्तन्तिर्नामानि दामानि' इस श्रुतिके अनुसार तन्ति शब्द वाणीका वाचक है। तन्तिपाल कहकर सहदेवने गूढ़रूपसे युधिष्ठिरको यह बताया कि मैं आपकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करूँगा। साधारण लोगोंकी दृष्टिमें तन्तिपालका अर्थ है, बैलोंको बाँधनेकी रस्सीको सुरक्षित रखनेवाला। अतः सहदेवने भी अपना परिचय यथार्थ ही दिया।

द्रौपद्युवाच

सैरन्ध्र्यो रक्षिता लोके भुजिष्याः सन्ति भारत ।
नैवमन्याः स्त्रियो यान्ति इति लोकस्य निश्चयः ॥
साहं ब्रुवाणा सैरन्ध्री कुशला केशकर्मणि ॥ १८ ॥
युधिष्ठिरस्य गेहे वै द्रौपद्याः परिचारिका ।
उषितास्मीति वक्ष्यामि पृष्टा राज्ञा च भारत ॥ १९ ॥

द्रौपदीने कहा—भारत ! इस जगत्में बहुत-सी ऐसी स्त्रियाँ हैं, जिनका दूसरोंके घरोंमें पालन होता है और जो शिल्पकर्मोंद्वारा जीवननिर्वाह करती हैं । वे अपने सदाचारसे स्वतः सुरक्षित होती हैं ! ऐसी स्त्रियोंको सैरन्ध्री कहते हैं । लोगोंको अच्छी तरह मालूम है कि सैरन्ध्रीकी भाँति दूसरी स्त्रियाँ बाहरकी यात्रा नहीं करतीं [अतः सैरन्ध्रीके वेशमें मुझे कोई पहचान नहीं सकेगा ।] इसलिये मैं सैरन्ध्री कहकर अपना परिचय दूँगी । बालोंको सँवारने और वेणी-रचना आदिके कार्यमें मैं बहुत निपुण हूँ । यदि राजा मुझसे पूछेंगे, तो कह दूँगी कि 'मैं महाराज युधिष्ठिरके महलमें महारानी द्रौपदीकी परिचारिका बनकर रही हूँ ॥ १८-१९ ॥

आत्मगुप्ता चरिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २० ॥
सुदेष्णां प्रत्युपस्थास्ये राजभार्यां यशस्विनीम् ।
सा रक्षिष्यति मां प्राप्तां मा भूत् ते दुःखमीदृशम् ॥ २१ ॥

मैं अपनी रक्षा स्वयं कर लूँगी । आप जो मुझसे पूछते हैं कि तुम वहाँ क्या करोगी ? कैसे रहोगी ? उसके उत्तरमें निवेदन है कि मैं यशस्विनी राजपत्नी सुदेष्णाके पास जाऊँगी । मुझे अपने पास आयी हुई जानकर वे रख लेंगी और सब प्रकारसे मेरी रक्षा करेंगी । अतः आपके मनमें इस बातका दुःख नहीं होना चाहिये कि द्रौपदी कैसे सुरक्षित रह सकेगी ॥ २०-२१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कल्याणं भाषसे कृष्णे कुले जातासि भामिनि ।
न पापमभिजानासि साध्वी साधुव्रते स्थिता ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर बोले—कृष्णे ! तुमने भली बात कही, इसमें कल्याण ही भरा है । क्यों न हो, तुम ऊँचे कुलमें उत्पन्न जो हुई हो । भामिनि ! तुम्हें पापका रञ्चमात्र भी ज्ञान नहीं है । तुम साध्वी हो और उत्तम व्रतके पालनमें तत्पर रहती हो ॥ २२ ॥

यथा न दुर्हृदः पापा भवन्ति सुखिनः पुनः ।
कुर्यास्तत् त्वं हि कल्याणि लक्षयेयुर्न ते तथा ॥ २३ ॥

कल्याणि ! वहाँ ऐसा बर्ताव करना, जिससे वे पापी शत्रु फिर सुखी होनेका अवसर न पा सकें; वे तुम्हें किसी तरह पहचान न सकें ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमन्त्रणे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी परस्पर मन्त्रणाविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

चतुर्थोऽध्यायः

धौम्यका पाण्डवोंको राजाके यहाँ रहनेका ढंग बताना और सबका अपने-अपने अभीष्ट स्थानोंको जाना

युधिष्ठिर उवाच

कर्माण्युक्तानि युष्माभिर्यानि यानि करिष्यथ ।
मम चापि यथा बुद्धिरुचिता विधिनिश्चयात् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—विराटके यहाँ रहकर तुम्हें जो-जो कार्य करने हैं, वे सब तुमने बताये । मुझे भी अपनी बुद्धिके अनुसार जो कार्य उचित प्रतीत हुआ, वह कह चुका । जान पड़ता है, विधाताका यही निश्चय है ॥ १ ॥

पुरोहितोऽयमस्माकमग्निहोत्राणि रक्षतु ।
सूदपौरोगवैः सार्द्धं द्रुपदस्य निवेशने ॥ २ ॥
इन्द्रसेनमुखाश्चेमे रथानादाय केवलान् ।
यान्तु द्वारवतीं शीघ्रमिति मे वर्तते मतिः ॥ ३ ॥

अब मेरी सलाह यह है कि ये पुरोहित धौम्यजी रसोइयों तथा पाकशालाध्यक्षके साथ राजा द्रुपदके घर जाकर रहें और वहाँ हमारे अग्निहोत्रकी अग्नियोंकी रक्षा करें तथा ये इन्द्रसेन आदि सेवकगण केवल रथोंको लेकर शीघ्र यहाँसे द्वारकाको चले जायँ ॥ २-३ ॥

इमाश्च नार्यो द्रौपद्याः सर्वाश्च परिचारिकाः ।
पाञ्चालानेव गच्छन्तु सूदपौरोगवैः सह ॥ ४ ॥

और ये जो द्रौपदीकी सेवा करनेवाली स्त्रियाँ हैं, वे सब रसोइयों और पाकशालाध्यक्षके साथ पाञ्चालदेशको ही चली जायँ ॥ ४ ॥

सर्वैरपि च वक्तव्यं न प्राज्ञायन्त पाण्डवाः ।
गता ह्यस्मानपाहाय सर्वे द्वैतवनादिति ॥ ५ ॥

वहाँ सब लोग यही कहें—'हमें पाण्डवोंका कुछ भी पता नहीं है । वे सब द्वैतवनसे ही हमें छोड़कर न जाने कहाँ चले गये ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं तेऽन्योन्यमामन्त्र्य कर्माण्युक्त्वा पृथक् पृथक् ।
धौम्यमामन्त्रयामासुः स च तान् मन्त्रमब्रवीत् ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार आपसमें एक-दूसरेकी सलाह लेकर और अपने पृथक्-पृथक् कर्म बतलाकर पाण्डवोंने पुरोहित धौम्यकी भी सम्मति ली। तब पुरोहित धौम्यने उन्हें इस प्रकार सलाह दी ॥ ६ ॥

धौम्य उवाच

विहितं पाण्डवाः सर्वं ब्राह्मणेषु सुहृत्सु च।
याने प्रहरणे चैव तथैवाग्निषु भारत ॥ ७ ॥
त्वया रक्षा विधातव्या कृष्णायाः फाल्गुनेन च।
विदितं वो यथा सर्वं लोकवृत्तमिदं तव ॥ ८ ॥

धौम्यजी बोले—पाण्डवो ! ब्राह्मणों, सुहृदों, सवारी या युद्ध-यात्रा, आयुध या युद्ध तथा अग्नियोंके प्रति जो शास्त्रविहित कर्तव्य हैं, उन्हें तुम अच्छी तरह जानते हो और तदनुकूल तुमने जो व्यवस्था की है, वह सब ठीक है। भारत ! अब मैं तुमसे यह कहना चाहता हूँ कि तुम और अर्जुन सावधान रहकर सदा द्रौपदीकी रक्षा करना। लोकव्यवहार-की सभी बातें अथवा साधारण लोगोंके व्यवहार तुम सब लोगोंको विदित हैं ॥ ७-८ ॥

विदिते चापि वक्तव्यं सुहृद्भिरनुरागतः।
एष धर्मश्च कामश्च अर्थश्चैव सनातनः ॥ ९ ॥

विदित होनेपर भी हितैषी सुहृदोंका कर्तव्य है कि वे स्नेहवश हितकी बात बतावें। यही सनातन धर्म है और इसीसे काम एवं अर्थकी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

अतोऽहमपि वक्ष्यामि हेतुमत्र निबोधत।
हन्तेमां राजवसतिं राजपुत्रा ब्रवीम्यहम् ॥ १० ॥
यथा राजकुलं प्राप्य सर्वान् दोषांस्तरिष्यथ।
दुर्वसं चैव कौरव्य जानता राजवेश्मनि ॥ ११ ॥

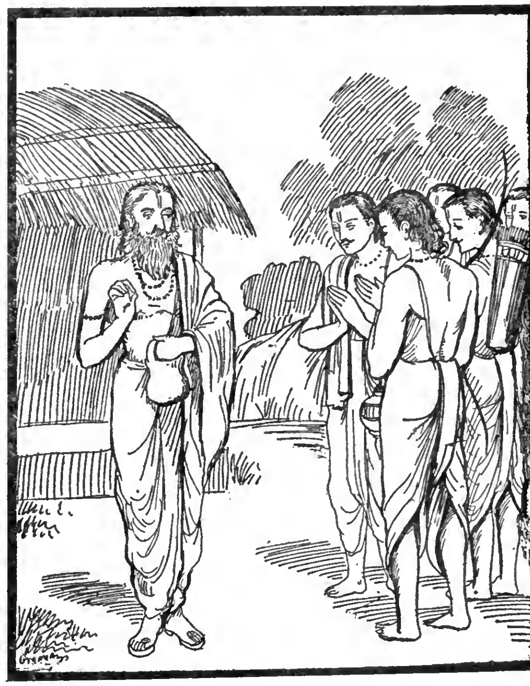
इसलिये मैं भी जो युक्तियुक्त बातें बताऊँगा, उन्हें यहाँ ध्यान देकर सुनो। राजपुत्रो ! मैं यह बता रहा हूँ कि राजाके घरमें रहकर कैसा बर्ताव करना चाहिये ? उसके अनुसार राजकुलमें रहते हुए भी तुमलोग वहाँके सब दोषोंसे पार हो जाओगे। कुरुनन्दन ! विवेकी पुरुषके लिये भी राजमहलमें निवास करना अत्यन्त कठिन है ॥ १०-११ ॥

अमानितैर्मानितैर्वा अज्ञातैः परिवत्सरम्।
ततश्चतुर्दशे वर्षे चरिष्यथ यथासुखम् ॥ १२ ॥

वहाँ तुम्हारा अपमान हो या सम्मान, सब कुछ सहकर एक वर्षतक अज्ञातभावसे रहना चाहिये। तदनन्तर चौदहवें वर्षमें तुमलोग अपनी इच्छाके अनुसार सुखपूर्वक विचरण कर सकोगे ॥ १२ ॥

दृष्टद्वारो लभेद् द्रष्टुं राजस्वेषु न विश्वसेत्।
तदेवासनमन्विच्छेद् यत्र नाभिपतेत् परः ॥ १३ ॥

राजासे मिलना हो, तो पहले द्वारपालसे मिलकर राजाको



सूचना देनी चाहिये और मिलनेके लिये उनकी आज्ञा मँगा लेनी चाहिये। इन राजाओंपर पूर्ण विश्वास कभी न करे। अपने लिये वही आसन पसंद करे, जिसपर दूसरा कोई बैठनेवाला न हो ॥ १३ ॥

यो न यानं न पर्यङ्कं न पीठं न गजं रथम्।
आरोहेत् सम्मतोऽस्मीति स राजवसतिं वसेत् ॥ १४ ॥

जो 'मैं राजाका प्रिय व्यक्ति हूँ' यों मानकर कभी राजाकी सवारी, पलंग, पादुका, हाथी एवं रथ आदिपर नहीं चढ़ता है, वही राजाके घरमें कुशलपूर्वक रह सकता है ॥ १४ ॥

यत्र यत्रैनमासीनं शङ्केरन् दुष्टचारिणः।
न तत्रोपविशेद् यो वै स राजवसतिं वसेत् ॥ १५ ॥

जिन-जिन स्थानोंपर बैठनेसे दुराचारी मनुष्य संदेह करते हों, वहाँ-वहाँ जो कभी नहीं बैठता, वही राजभवनमें रह सकता है ॥ १५ ॥

न चानुशिष्याद् राजानमपृच्छन्तं कदाचन।
तूष्णीं त्वेनमुपासीत काले समभिपूजयेत् ॥ १६ ॥

बिना पूछे राजाको कभी कर्तव्यका उपदेश न दे। मौनभावसे ही उसकी सेवा करे और उपयुक्त अवसरपर राजाकी प्रशंसा भी करे ॥ १६ ॥

असूयन्ति हि राजानो जनाननृतवादिनः।
तथैव चावमन्यन्ते मन्त्रिणं वादिनं मृषा ॥ १७ ॥

झूठ बोलनेवाले मनुष्योंके प्रति राजालोग दोषदृष्टि कर

लेते हैं। इसी प्रकार वे मिथ्यावादी मन्त्रीका भी अपमान करते हैं ॥ १७ ॥

नैषां दारेषु कुर्वीत मैत्रीं प्राज्ञः कदाचन।
अन्तःपुरचरा ये च द्वेष्टि यानहिताश्च ये ॥ १८ ॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह राजाओंकी रानियोंसे मेल-जोल न करे और जो रनिवासमें आते-जाते हों, राजा जिनसे द्वेष रखते हों तथा जो लोग राजाका अहित चाहनेवाले हों, उनसे भी मैत्री स्थापित न करे ॥ १८ ॥

विदिते चास्य कुर्वीत कार्याणि सुलघून्यपि।
एवं विचरतो राज्ञि न क्षतिर्जायते क्वचित् ॥ १९ ॥

छोटे-से-छोटे कार्य भी राजाको जनाकर ही करे। राजदरबारमें ऐसा आचरण करनेवाले मनुष्योंको कभी हानि नहीं उठानी पड़ती ॥ १९ ॥

गच्छन्नपि परां भूमिमपृष्टो ह्यनियोजितः।
जात्यन्ध इव मन्येत मर्यादामनुचिन्तयन् ॥ २० ॥

बैठनेके लिये अपनेको ऊँचा आसन प्राप्त होता हो, तो भी जबतक राजा न पूछें—बैठनेका आदेश न दें, तबतक राजदरबारकी मर्यादाका खयाल करके अपनेको जन्मान्ध-सा माने; मानो उस आसनको वह देखता ही न हो। इस भावसे खड़ा रहकर राजाज्ञाकी प्रतीक्षा करता रहे ॥ २० ॥

न हि पुत्रं न नप्तारं न भ्रातरमरिंदमाः।
समतिक्रान्तमर्यादं पूजयन्ति नराधिपाः ॥ २१ ॥

क्योंकि शत्रुविजयी राजालोग मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले अपने पुत्र, नाती पोते और भाईका भी आदर नहीं करते ॥ २१ ॥

यत्नाच्चोपचरेदेनमग्निवद् देववत् त्विह।
अनृतेनोपचीर्णो हि हन्यादेव न संशयः ॥ २२ ॥

इस जगत्में राजाको अग्निके समान दाहक मानकर उसके अत्यन्त निकट न रहे और देवताके समान निग्रह तथा अनुग्रहमें समर्थ जानकर उसकी कभी अवहेलना न करे। इस प्रकार यत्नपूर्वक उसकी परिचर्यामें संलग्न रहे। इसमें संदेह नहीं कि जो मिथ्या एवं कपटपूर्ण उपचारके द्वारा राजाकी सेवा करता है, वह एक दिन अवश्य उसके हाथसे मारा जाता है ॥ २२ ॥

यद् यद् भर्तानुयुञ्जीत तत् तदेवानुवर्तयेत्।
प्रमादमवलेपं च कोपं च परिवर्जयेत् ॥ २३ ॥

राजा जिस-जिस कार्यके लिये आज्ञा दे, उसीका पालन करे। लापरवाही, घमंड और क्रोधको सर्वथा त्याग दे ॥

समर्थनासु सर्वासु हितं च प्रियमेव च।
संवर्णयेत् तदेवास्य प्रियादपि हितं भवेत् ॥ २४ ॥

कर्तव्य और अकर्तव्यके निर्णयके सभी अवसरोंपर हितकारक और प्रिय वचन कहे। यदि दोनों सम्भव न हों, तो प्रिय वचनका त्याग करके भी जो हितकारक हो, वही बात कहे (हितविरोधी प्रिय वचन कदापि न कहे) ॥ २४ ॥

अनुकूलो भवेच्चास्य सर्वार्थेषु कथासु च।
अप्रियं चाहितं यत् स्यात् तदस्मै नानुवर्णयेत् ॥ २५॥

सभी विषयों तथा सब बातोंमें राजाके अनुकूल रहे। कथावार्तामें भी राजाके सामने ऐसी बातोंकी बार-बार चर्चा न करे, जो उसे अप्रिय एवं अहितकर प्रतीत होती हों ॥२५॥

नाहमस्य प्रियोऽस्मीति मत्वा सेवेत पण्डितः।
अप्रमत्तश्च सततं हितं कुर्यात् प्रियं च यत् ॥ २६ ॥

विद्वान् पुरुष 'मैं राजाका प्रिय व्यक्ति नहीं हूँ', ऐसा मानता हुआ सदा सावधान रहकर उसकी सेवा करे। राजाके लिये जो हितकर और प्रिय हो, वही कार्य करे ॥ २६ ॥

नास्यानिष्टानि सेवेत नाहितैः सह संवदेत्।
स्वस्थानान्न विकम्पेत स राजवसतिं वसेत् ॥ २७ ॥

जो चीज राजाको पसंद न हो, उसका कदापि सेवन न करे। उसके शत्रुओंसे बातचीत न करे और अपने स्थानसे कभी विचलित न हो। ऐसा बर्ताव करनेवाला मनुष्य ही राजाके यहाँ सकुशल रह सकता है ॥ २७ ॥

दक्षिणं वाथ वामं वा पार्श्वमासीत पण्डितः।
रक्षिणां ह्यात्तशस्त्राणां स्थानं पश्चाद् विधीयते ॥ २८ ॥

विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह राजाके दाहिने या बायें भागमें बैठे; क्योंकि राजाके पीछे अस्त्र-शस्त्रधारी अङ्गरक्षक सैनिकोंका स्थान होता है ॥ २८ ॥

नित्यं हि प्रतिषिद्धं तु पुरस्तादासनं महत्।
न च संदर्शने किञ्चित् प्रवृत्तमपि संजपेत् ॥ २९ ॥

राजाके सामने किसीके लिये भी ऊँचा आसन लगाना सर्वथा निषिद्ध है। उसकी आँखोंके सामने यदि कोई पुरस्कार-वितरण या वेतनदान आदिका कार्य हो रहा हो, तो उसमें बिना बुलाये स्वयं पहले लेनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये ॥

अपि ह्येतद् दरिद्राणां व्यलीकस्थानमुत्तमम्।
न मृषाभिहितं राज्ञां मनुष्येषु प्रकाशयेत् ॥ ३० ॥

क्योंकि ऐसी ढिठाई तो दरिद्रोंको भी बहुत अप्रिय जान पड़ती है; फिर राजाओंकी तो बात ही क्या है? राजाओंकी किसी झूठी बातको दूसरे मनुष्योंके सामने प्रकाशित न करे ॥ ३० ॥

असूयन्ति हि राजानो नराननृतवादिनः।
तथैव चावमन्यन्ते नरान् पण्डितमानिनः ॥ ३१ ॥

क्योंकि झूठ बोलनेवाले मनुष्योंसे राजालोग द्वेष मान लेते हैं। इसी तरह जो लोग अपनेको पण्डित मानते हैं, उनका भी राजा तिरस्कार करते हैं ॥ ३१ ॥

शूरोऽस्मीति न दृप्तः स्याद् बुद्धिमानिति वा पुनः।
प्रियमेवाचरन् राज्ञः प्रियो भवति भोगवान् ॥ ३२ ॥

'मैं शूरवीर हूँ अथवा बड़ा बुद्धिमान् हूँ', ऐसा घमंड न करे। जो सदा राजाको प्रिय लगनेवाले कार्य ही करता है, वही उसका प्रेमपात्र तथा ऐश्वर्यभोगसे सम्पन्न होता है॥३२॥

ऐश्वर्यं प्राप्य दुष्प्रापं प्रियं प्राप्य च राजतः।
अप्रमत्तो भवेद् राज्ञः प्रियेषु च हितेषु च ॥ ३३ ॥

राजासे दुर्लभ ऐश्वर्य तथा प्रिय भोग प्राप्त होनेपर मनुष्य सदा सावधान होकर उसके प्रिय एवं हितकर कार्योंमें संलग्न रहे ॥ ३३ ॥

यस्य कोपो महाबाधः प्रसादश्च महाफलः।
कस्तस्य मनसापीच्छेदनर्थं प्राज्ञसम्मतः ॥ ३४ ॥

जिसका क्रोध बड़ा भारी संकट उपस्थित कर देता है और जिसकी प्रसन्नता महान् फल—ऐश्वर्य-भोग देनेवाली है, उस राजाका कौन बुद्धिमान् पुरुष मनसे भी अनिष्ट-साधन करना चाहेगा? ॥ ३४ ॥

न चोष्ठौ न भुजौ जानू न च वाक्यं समाक्षिपेत्।
सदा वातं च वाचं च ष्ठीवनं चाचरेच्छनैः ॥ ३५ ॥

राजाके समक्ष अपने दोनों हाथ, ओठ और घुटनोंको व्यर्थ न हिलावे; बकवाद न करे। सदा शनैः-शनैः बोले। धीरेसे थूके और दूसरोंको पता न चले, इस प्रकार अधोवायु छोड़े ॥ ३५ ॥

हास्यवस्तुषु चान्यस्य वर्तमानेषु केषुचित्।
नातिगाढं प्रहृष्येत न चाप्युन्मत्तवद्धसेत् ॥ ३६ ॥
न चातिधैर्येण चरेद् गुरुतां हि व्रजेत् ततः।
स्मितं तु मृदुपूर्वेण दर्शयेत प्रसादजम् ॥ ३७ ॥

किसी दूसरे व्यक्तिके सम्बन्धमें कोई हास्यजनक वस्तु दिखायी दे, तो अधिक हर्ष न प्रकट करे एवं पागलोंकी तरह अट्टहास न करे तथा अत्यन्त धैर्यके कारण जडवत् निश्चेष्ट होकर भी न रहे। इससे वह गौरव (सम्मान) को प्राप्त होता है। मनमें प्रसन्नता होनेपर मुखसे मृदुल (मन्द) मुसकानका ही प्रदर्शन करे ॥ ३६-३७ ॥

लाभे न हर्षयेद् यस्तु न व्यथेद् योऽवमानितः।
असम्मूढश्च यो नित्यं स राजवसतिं वसेत् ॥ ३८ ॥

जो अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेपर (अधिक) हर्षित नहीं होता अथवा अपमानित होनेपर अधिक व्यथाका अनुभव नहीं करता और सदा मोहशून्य होकर विवेकसे काम लेता है, वही राजाके यहाँ सुखपूर्वक रह सकता है ॥ ३८ ॥

राजानं राजपुत्रं वा संवर्णयति यः सदा।
अमात्यः पण्डितो भूत्वा स चिरं तिष्ठते प्रियः ॥ ३९ ॥

जो बुद्धिमान् सचिव सदा राजा अथवा राजकुमारकी प्रशंसा करता रहता है, वही राजाके यहाँ उसका प्रीतिपात्र होकर दीर्घकालतक टिक सकता है ॥ ३९ ॥

प्रगृहीतश्च योऽमात्यो निगृहीतस्त्वकारणैः।
न निर्वदति राजानं लभते सम्पदं पुनः ॥४०॥
प्रत्यक्षं च परोक्षं च गुणवादी विचक्षणः।
उपजीवी भवेद् राज्ञो विषये योऽपि वा भवेत् ॥ ४१ ॥

यदि कोई मन्त्री पहले राजाका कृपापात्र रहा हो और पीछे अकारण उसे दण्ड भोगना पड़ा हो, उस दशामें भी जो राजाकी निन्दा नहीं करता, वह पुनः अपने पूर्व वैभवको प्राप्त कर लेता है जो बुद्धिमान् राजाके आश्रित रहकर जीवननिर्वाह अथवा उसके राज्यमें निवास करता है, उसे राजाके सामने अथवा पीठ पीछे भी उसके गुणोंकी ही चर्चा करनी चाहिये ॥ ४०-४१ ॥

अमात्यो हि बलाद् भोक्तुं राजानं प्रार्थयेत यः।
न स तिष्ठेच्चिरं स्थानं गच्छेच्च प्राणसंशयम् ॥४२॥

जो मन्त्री राजाको बलपूर्वक अपने अधीन करना चाहता है, वह अधिक समयतक अपने पदपर नहीं टिक सकता। इतना ही नहीं, उसके प्राणोंपर भी संकट आ जाता है॥४२॥

श्रेयः सदाऽऽत्मनो दृष्ट्वा परं राज्ञा न संवदेत्।
विशेषयेच्च राजानं योग्यभूमिषु सर्वदा ॥४३॥

अपनी भलाई अथवा लाभ देखकर दूसरेको सदा राजाके साथ न मिलावे; न बातचीत करावे। उपयुक्त स्थान और अवसर देखकर सदा राजाकी विशेषता प्रकट करे ॥ ४३ ॥

अम्लानो बलवाञ्छूरश्छायेवानुगतः सदा।
सत्यवादी मृदुर्दान्तः स राजवसतिं वसेत् ॥४४॥

जो उत्साहसम्पन्न, बुद्धि-बलसे युक्त, शूरवीर, सत्यवादी, कोमलस्वभाव और जितेन्द्रिय होकर सदा छायाकी भाँति राजाका अनुसरण करता है, वही राजदरबारमें टिक सकता है ॥ ४४ ॥

अन्यस्मिन् प्रेष्यमाणे तु पुरस्ताद् यः समुत्पतेत्।
अहं किं करवाणीति स राजवसतिं वसेत् ॥४५॥

जब दूसरेको किसी कार्यके लिये भेजा जा रहा हो, उस समय जो स्वयं ही उठकर आगे जाय और पूछे—'मेरे लिये क्या आज्ञा है', वही राजभवनमें निवास कर सकता है॥४५॥

आन्तरे चैव बाह्ये च राज्ञा यश्चाथ सर्वदा।
आदिष्टो नैव कम्पेत स राजवसतिं वसेत् ॥४६॥

जो राजाके द्वारा आन्तरिक (धन एवं स्त्री आदिकी रक्षा) और बाह्य (शत्रुविजय आदि) कार्योंके लिये आदेश

मिलनेपर कभी शंकित या भयभीत नहीं होता, वही राजाके यहाँ रह सकता है ॥ ४६ ॥

यो वै गृहेभ्यः प्रवसन् प्रियाणां नानुसंस्मरेत् ।
दुःखेन सुखमन्विच्छेत् स राजवसतिं वसेत् ॥४७॥

जो घर-बार छोड़कर परदेशमें पड़ा रहनेपर भी प्रियजनों एवं अभीष्ट भोगोंका स्मरण नहीं करता और कष्ट सहकर सुख पानेकी इच्छा करता है, वही राजदरबारमें टिक सकता है ॥ ४७ ॥

समवेषं न कुर्वीत नोच्चैः संनिहितो वसेत् ।
न मन्त्रं बहुधा कुर्यादेवं राज्ञः प्रियो भवेत् ॥४८॥

राजाके समान वेशभूषा न धारण करे। उसके अत्यन्त निकट न रहे। उसके सामने उच्च आसनपर न बैठे। अपने साथ राजाने जो गुप्त सलाह की हो, उसे दूसरोंपर प्रकट न करे। ऐसा करनेसे ही मनुष्य राजाका प्रिय हो सकता है ॥ ४८ ॥

न कर्मणि नियुक्तः सन् धनं किञ्चिदपि स्पृशेत् ।
प्राप्नोति हि हरन् द्रव्यं बन्धनं यदि वा वधम् ॥४९ ॥

यदि राजाने किसी कामपर नियुक्त किया हो, तो उसमें घूसके रूपमें थोड़ा भी धन न ले; क्योंकि जो इस प्रकार चोरीसे धन लेता है, उसे एक दिन बन्धन अथवा वधका दण्ड भोगना पड़ता है ॥ ४९ ॥

यानं वस्त्रमलङ्कारं यच्चान्यत् सम्प्रयच्छति ।
तदेव धारयेन्नित्यमेवं प्रियतरो भवेत् ॥५०॥

राजा प्रसन्न होकर सवारी, वस्त्र, आभूषण तथा और भी जो कोई वस्तु दे, उसीको सदा धारण करे या उपयोगमें लावे। ऐसा करनेसे वह राजाका अधिक प्रिय होता है ॥५०॥

एवं संयम्य चित्तानि यत्नतः पाण्डुनन्दनाः ।
संवत्सरमिमं तात तथाशीला बुभूषत ।
अथ स्वविषयं प्राप्य यथाकामं करिष्यथ ॥५१॥

तात युधिष्ठिर एवं पाण्डवो ! इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक अपने मनको वशमें रखकर पूर्वोक्त रीतिसे उत्तम बर्ताव करते हुए इस तेरहवें वर्षको व्यतीत करो और इसी रूपमें रहकर ऐश्वर्य पानेकी इच्छा करो। तदनन्तर अपने राज्यमें आकर इच्छानुसार व्यवहार करना ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अनुशिष्टाः स्म भद्रं ते नैतद् वक्तास्ति कश्चन ।
कुन्तीमृते मातरं नो विदुरं वा महामतिम् ॥५२॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन् ! आपका भला हो। आपने हमें बहुत अच्छी शिक्षा दी। हमारी माता कुन्ती तथा महाबुद्धिमान् विदुरजीको छोड़कर दूसरा कोई नहीं है, जो हमें ऐसी बात बतावे ॥ ५२ ॥

यदेवानन्तरं कार्यं तद् भवान् कर्तुमर्हति ।
तारणायास्य दुःखस्य प्रस्थानाय जयाय च ॥५३॥

अब हमें इस दुःखसागरसे पार होने, यहाँसे प्रस्थान करने और विजय पानेके लिये जो कर्तव्य आवश्यक हो, उसे आप पूर्ण करें ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो राज्ञा धौम्योऽथ द्विजसत्तमः ।
अकरोद् विधिवत् सर्वं प्रस्थाने यद् विधीयते ॥५४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर विप्रवर धौम्यजीने यात्राके समय जो आवश्यक शास्त्रविहित कर्तव्य है, वह सब विधिपूर्वक सम्पन्न किया ॥ ५४ ॥

तेषां समिध्य तानग्नीन् मन्त्रवच्च जुहाव सः ।
समृद्धिवृद्धिलाभाय पृथिवीविजयाय च ॥५५॥

पाण्डवोंकी अग्निहोत्रसम्बन्धी अग्निको प्रज्वलित करके उन्होंने उनकी समृद्धि, वृद्धि, राज्यलाभ तथा पृथ्वीपर विजय-प्राप्तिके लिये वेदमन्त्र पढ़कर होम किया ॥ ५५ ॥

अग्नीन् प्रदक्षिणीकृत्य ब्राह्मणांश्च तपोधनान् ।
याज्ञसेनीं पुरस्कृत्य षडेवाथ प्रवव्रजुः ॥५६॥

तत्पश्चात् पाण्डवोंने अग्नि तथा तपस्वी ब्राह्मणोंकी परिक्रमा करके द्रौपदीको आगे रखकर वहाँसे प्रस्थान किया। कुल छः व्यक्ति ही आसन छोड़कर एक साथ चले थे ॥५६॥

गतेषु तेषु वीरेषु धौम्योऽथ जपतां वरः ।
अग्निहोत्राण्युपादाय पाञ्चालानभ्यगच्छत ॥५७॥

उन पाण्डव वीरोंके चले जानेपर जपयज्ञ करनेवालोंमें श्रेष्ठ धौम्यजी उस अग्निहोत्रसम्बन्धी अग्निको साथ लेकर पाञ्चालदेशमें चले गये ॥ ५७ ॥

इन्द्रसेनादयश्चैव यथोक्ताः प्राप्य यादवान् ।
रथानश्वांश्च रक्षन्तः सुखमूषुः सुसंवृताः ॥५८॥

इन्द्रसेन आदि सेवक भी पूर्वोक्त आदेश पाकर यदुवंशियोंकी नगरी द्वारकामें जा पहुँचे और वहाँ स्वयं सुरक्षित हो रथ और घोड़ोंकी रक्षा करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे ॥५८॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि धौम्योपदेशे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें धौम्योपदेशसम्बन्धी चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

पाण्डवोंका विराटनगरके समीप पहुँचकर श्मशानमें एक शमीवृक्षपर अपने अस्त्र-शस्त्र रखना

वैशम्पायन उवाच

ते वीरा बद्धनिस्त्रिंशास्तथा बद्धकलापिनः।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणाः कालिन्दीमभितो ययुः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर वे वीर पाण्डव तलवार बाँधे, पीठपर तूणीर कसे, गोहके चमड़ेसे बने हुए अङ्गुलित्र (दस्ताने) पहने (पैदल चलते-चलते) यमुनानदीके समीप जा पहुँचे॥ १॥

ततस्ते दक्षिणं तीरमन्वगच्छन् पदातयः।
निवृत्तवनवासा हि स्वराष्ट्रं प्रेप्सवस्तदा।
वसन्तो गिरिदुर्गेषु वनदुर्गेषु धन्विनः॥ २॥
विध्यन्तो मृगजातानि महेष्वासा महाबलाः।

इसके बाद वे यमुनाके दक्षिण किनारेपर पैदल ही चलने लगे। उस समय उनके मनमें यह अभिलाषा जाग उठी थी कि अब हम वनवासके कष्टसे मुक्त हो अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे। उन सबने धनुष ले रखे थे। वे महान् धनुर्धर और महापराक्रमी वीर पर्वतों और वनोंके दुर्गम प्रदेशोंमें डेरा डालते और हिंसक पशुओंको मारते हुए यात्रा कर रहे थे॥ २½॥

उत्तरेण दशार्णांस्ते पञ्चालान् दक्षिणेन च॥ ३॥
अन्तरेण यकृल्लोमान् शूरसेनांश्च पाण्डवाः।
लुब्धा ब्रुवाणा मत्स्यस्य विषयं प्राविशन् वनात्॥ ४॥
धन्विनो बद्धनिस्त्रिंशा विवर्णाः श्मश्रुधारिणः।
ततो जनपदं प्राप्य कृष्णा राजानमब्रवीत्॥ ५॥

आगे जाकर वे दशार्णसे उत्तर और पाञ्चालसे दक्षिण एवं यकृल्लोम तथा शूरसेन देशोंके बीचसे होकर यात्रा करने लगे। उन्होंने हाथोंमें धनुष धारण कर रक्खे थे। उनकी कमरमें तलवारें बँधी थीं। उनके शरीर मलिन एवं उदास थे। उन सबकी दाढ़ी-मूँछें बढ़ गयी थीं। किसीके पूछनेपर वे अपनेको मत्स्यदेशमें निवास करनेके इच्छुक बताते थे। इस प्रकार उन्होंने वनसे निकलकर मत्स्यराष्ट्रके जनपदमें प्रवेश किया। जनपदमें आनेपर द्रौपदीने राजा युधिष्ठिरसे कहा—॥ ३—५॥

पश्यैकपद्यो दृश्यन्ते क्षेत्राणि विविधानि च।
व्यक्तं दूरे विराटस्य राजधानी भविष्यति।
वसामेहापरां रात्रिं बलवान् मे परिश्रमः॥ ६॥

'महाराज! देखिये, यहाँ अनेक प्रकारके खेत और उनमें पहुँचनेके लिये बहुत-सी पगडंडियाँ दिखायी देती हैं। जान पड़ता है, विराटकी राजधानी अभी दूर होगी। मुझे बड़ी थकावट हो रही है, अतः हम एक रात और यहीं रहें'॥ ६॥

युधिष्ठिर उवाच

धनंजय समुद्यम्य पाञ्चालीं वह भारत।
राजधान्यां निवत्स्यामो विमुक्ताश्च वनादितः॥ ७॥

युधिष्ठिर बोले—धनंजय! तुम द्रौपदीको कंधेपर उठाकर ले चलो। भारत! इस वनसे निकलकर अब हमलोग राजधानीमें ही निवास करेंगे॥ ७॥

वैशम्पायन उवाच

तामादायार्जुनस्तूर्णं द्रौपदीं गजराडिव।
सम्प्राप्य नगराभ्याशमवतारयदर्जुनः॥ ८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तब गजराजके समान पराक्रमी अर्जुनने तुरंत ही द्रौपदीको उठा लिया और नगरके निकट पहुँचकर उन्हें कंधेसे उतारा॥ ८॥

स राजधानीं सम्प्राप्य कौन्तेयोऽर्जुनमब्रवीत्।
क्वायुधानि समासज्ज्य प्रवेक्ष्यामः पुरं वयम्॥ ९॥

राजधानीके समीप पहुँचकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा—भैया! हम अपने अस्त्र-शस्त्र कहाँ रखकर नगरमें प्रवेश करें?॥ ९॥

सायुधाश्च प्रवेक्ष्यामो वयं तात पुरं यदि।
समुद्वेगं जनस्यास्य करिष्यामो न संशयः॥ १०॥

'तात! यदि अपने आयुधोंके साथ हम नगरमें प्रवेश करेंगे, तो निःसंदेह यहाँके निवासियोंको उद्वेग (भय) में डाल देंगे॥ १०॥

गाण्डीवं च महद् गाढं लोके च विदितं नृणाम्।
तच्चेदायुधमादाय गच्छामो नगरं वयम्।
क्षिप्रमस्मान् विजानीयुर्मनुष्या नात्र संशयः॥ ११॥

'तुम्हारा गाण्डीव धनुष तो बहुत बड़ा और भारी है। संसारके सब लोगोंमें उसकी प्रसिद्धि है। ऐसी दशामें यदि हम अस्त्र-शस्त्र लेकर नगरमें चलेंगे तो यहाँ सब लोग हमें शीघ्र ही पहचान लेंगे। इसमें संशय नहीं है॥ ११॥

ततो द्वादश वर्षाणि प्रवेष्टव्यं वने पुनः।
एकस्मिन्नपि विज्ञाते प्रतिज्ञातं हि नस्तथा॥ १२॥

'यदि हममेंसे एक भी पहचान लिया गया, तो हमें दुबारा बारह वर्षोंके लिये वनमें प्रवेश करना पड़ेगा; क्योंकि हमने ऐसी ही प्रतिज्ञा कर रक्खी है'॥ १२॥

अर्जुन उवाच

इयं कूटे मनुष्येन्द्र गहना महती शमी।
भीमशाखा दुरारोहा श्मशानस्य समीपतः॥ १३॥

अर्जुनने कहा—राजन् ! श्मशानभूमिके समीप एक टीलेपर यह शमीका बहुत बड़ा सघन वृक्ष है। इसकी शाखाएँ बड़ी भयानक हैं, इससे इसपर चढ़ना कठिन है ॥ १३ ॥

न चापि विद्यते कश्चिन्मनुष्य इति मे मतिः।
योऽस्मान् निदधतो द्रष्टा भवेच्छस्त्राणि पाण्डवाः॥ १४॥

पाण्डवो ! मेरा विश्वास है कि यहाँ कोई ऐसा मनुष्य नहीं है, जो हमें अपने अस्त्र-शस्त्रोंको यहाँ रखते समय देख सके ॥ १४ ॥

उत्पथे हि वने जाता मृगव्यालनिषेविते।
समीपे च श्मशानस्य गहनस्य विशेषतः॥ १५॥
समाधायायुधं शम्यां गच्छामो नगरं प्रति।
एवमत्र यथायोगं विहरिष्याम भारत॥ १६॥

यह वृक्ष रास्तेसे बहुत दूर जंगलमें है। इसके आसपास हिंसक जीव और सर्प आदि रहते हैं। विशेषतः यह दुर्गम श्मशानभूमिके निकट है; (अतः यहाँतक किसीके आने या वृक्षपर चढ़नेकी सम्भावना नहीं है;) इसलिये इसी शमी-वृक्षपर हम अपने अस्त्र-शस्त्र रखकर नगरमें चलें। भारत ! ऐसा करके हम यहाँ जैसा सुयोग होगा, उसके अनुसार विचरण करेंगे ॥ १५-१६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स राजानं धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
प्रचक्रमे निधानाय शस्त्राणां भरतर्षभः॥ १७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर अर्जुन वहाँ अस्त्र-शस्त्रोंको रखनेके प्रयत्नमें लग गये ॥ १७ ॥

येन देवान् मनुष्यांश्च सर्वांश्चैकरथोऽजयत्।
स्फीताञ्जनपदांश्चान्यानजयत् कुरुपुङ्गवः॥ १८॥
तदुदारं महाघोषं सपत्नगणसूदनम्।
अपज्यमकरोत् पार्थो गाण्डीवं सुभयंकरम्॥ १९॥

कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने जिस धनुषके द्वारा एकमात्र रथका आश्रय ले सम्पूर्ण देवताओं और मनुष्योंपर विजय पायी थी तथा अन्यान्य अनेक समृद्धिशाली जनपदोंपर विजयपताका फहरायी थी; जिस धनुषने दिव्य बलसे समस्त असुरों आदिकी सेनाओंका भी संहार किया था, जिसकी टङ्कारध्वनि बहुत दूरतक फैलती है, उस उदार तथा अत्यन्त भयंकर गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चा अर्जुनने उतार डाली ॥ १८-१९ ॥

येन वीरः कुरुक्षेत्रमभ्यरक्षत् परंतपः।
अमुञ्चद् धनुषस्तस्य ज्यामक्षय्यां युधिष्ठिरः॥ २०॥

परंतप वीर युधिष्ठिरने जिसके द्वारा समूचे कुरुक्षेत्रकी रक्षा की थी, उस धनुषकी अक्षय डोरीको उन्होंने भी उतार दिया ॥ २० ॥

पाञ्चालान् येन संग्रामे भीमसेनोऽजयत् प्रभुः।
प्रत्यषेधद् बहूनेकः सपत्नांश्चैव दिग्जये॥ २१॥
निशम्य यस्य विस्फारं व्यद्रवन्त रणात् परे।
पर्वतस्येव दीर्णस्य विस्फोटमशनेरिव॥ २२॥
सैन्धवं येन राजानं पर्यामृषितवानथ।
ज्यापाशं धनुषस्तस्य भीमसेनोऽवतारयत्॥ २३॥

भीमसेनने जिसके द्वारा पाञ्चाल वीरोंपर विजय पायी थी, दिग्विजयके समय उन्होंने अकेले ही जिसकी सहायतासे बहुतेरे शत्रुओंको परास्त किया था, वज्रके फटने और पर्वतके विदीर्ण होनेके समान जिसका भयंकर टङ्कार सुनकर कितने ही शत्रु युद्ध छोड़कर भाग खड़े हुए तथा जिसके सहयोगसे उन्होंने सिन्धुराज जयद्रथको परास्त किया था, अपने उसी धनुषकी प्रत्यञ्चाको भीमसेनने भी उतार दिया ॥ २१–२३ ॥

अजयत् पश्चिमामाशां धनुषा येन पाण्डवः।
माद्रीपुत्रो महाबाहुस्ताम्रास्यो मितभाषिता॥ २४॥
तस्य मौर्वीमपाकर्षच्छूरः संक्रन्दनो युधि।
कुले नास्ति समो रूपे यस्येति नकुलः स्मृतः॥ २५॥

जिनका मुख ताँबेके समान लाल था, जो बहुत कम बोलते थे, उन महाबाहु माद्रीनन्दन नकुलने दिग्विजयके समय जिस धनुषकी सहायतासे पश्चिम दिशापर विजय प्राप्त की थी, समूचे कुरुकुलमें जिनके समान दूसरा कोई रूपवान् न होनेके कारण जिन्हें नकुल कहा जाता था, जो युद्धमें शत्रुओंको रुलानेवाले शूरवीर थे; उन वीरवर नकुलने भी अपने पूर्वोक्त धनुषकी प्रत्यञ्चा उतार दी ॥ २४-२५ ॥

दक्षिणां दक्षिणाचारो दिशं येनाजयत् प्रभुः।
अपज्यमकरोद् वीरः सहदेवस्तदायुधम्॥ २६॥

शास्त्रानुकूल तथा उदार आचार-विचारवाले शक्तिशाली वीर सहदेवने भी जिसकी सहायतासे दक्षिण दिशाको जीता था, उस धनुषकी डोरी उतार दी ॥ २६ ॥

खड्गांश्च दीप्तान् दीर्घांश्च कलापांश्च महाधनान्।
विपाठान् क्षुरधारांश्च धनुर्भिर्निदधुः सह॥ २७॥

धनुषोंके साथ-साथ पाण्डवोंने बड़े-बड़े एवं चमकीले खड्ग, बहुमूल्य तूणीर, छुरेके समान तीखी धारवाले क्षुरधार और विपाठ नामक बाण भी रख दिये ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथान्वशासन्नकुलं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
आरुह्येमां शमीं वीर धनूंष्येतानि निक्षिप॥ २८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर कुन्ती-नन्दन युधिष्ठिरने नकुलको आज्ञा दी—'वीर ! तुम इस शमीपर चढ़कर ये धनुष आदि अस्त्र-शस्त्र रख दो' ॥ २८ ॥

तामुपारुह्य नकुलो धनूंषि निदधे स्वयम्।
यानि तस्यावकाशानि दिव्यरूपाण्यमन्यत ॥ २९ ॥

तब नकुलने उस वृक्षपर चढ़कर उसके खोंखलोंमें वे धनुष आदि आयुध स्वयं अपने हाथसे रक्खे। उसके जो खोंखले थे, वे नकुलको दिव्यरूप जान पड़े ॥ २९ ॥

यत्र चापश्यत स वै तिरोवर्षाणि वर्षति।
तत्र तानि दृढैः पाशैः सुगाढं पर्यबन्धत ॥ ३० ॥

क्योंकि उन्होंने देखा, वहाँ मेघ तिरछी वृष्टि करता है (जिससे खोंखलोंमें पानी नहीं पड़ता)। उन्हींमें उन आयुधोंको रखकर मजबूत रस्सियोंसे उन्हें अच्छी तरह बाँध दिया ॥



शरीरं च मृतस्यैकं समबध्नन्त पाण्डवाः।
विवर्जयिष्यन्ति नरा दूरादेव शमीमिमाम् ॥ ३१ ॥
आबद्धं शवमत्रेति गन्धमाघ्राय पूतिकम्।
अशीतिशतवर्षेयं माता न इति वादिनः ॥ ३२ ॥
कुलधर्मोऽयमस्माकं पूर्वैराचरितोऽपि वा।
समासज्ज्याथ वृक्षेऽस्मिन्निति वै व्याहरन्ति ते ॥ ३३ ॥
आगोपालाविपालेभ्य आचक्षाणाः परंतपाः।
आजग्मुर्नगराभ्याशं पार्थाः शत्रुनिबर्हणाः ॥ ३४ ॥

इसके बाद पाण्डवोंने एक मृतकका शव लाकर उस वृक्षकी शाखामें बाँध दिया। उसे बाँधनेका उद्देश्य यह था कि इसकी दुर्गन्ध नाकमें पड़ते ही लोग समझ लेंगे कि इसमें सड़ी लाश बँधी है; अतः दूरसे ही वे इस शमीवृक्षको त्याग देंगे। परंतप पाण्डव इस प्रकार उस शमीवृक्षपर शव बाँधकर उस वनमें गाय चरानेवाले ग्वालों और भेड़ पालनेवाले गड़रियोंसे शव बाँधनेका कारण बताते हुए इस प्रकार कहते थे—'यह एक सौ अस्सी वर्षकी हमारी माता है। हमारे कुलका यह धर्म है, इसलिये ऐसा किया है। हमारे पूर्वज भी ऐसा ही करते आये हैं।'* इस प्रकार शत्रुओंका संहार करनेवाले वे कुन्तीपुत्र नगरके निकट आ पहुँचे ॥

जयो जयन्तो विजयो जयत्सेनो जयद्बलः।
इति गुह्यानि नामानि चक्रे तेषां युधिष्ठिरः ॥ ३५ ॥

तब युधिष्ठिरने क्रमशः पाँचों भाइयोंके जय, जयन्त, विजय, जयत्सेन और जयद्बल—ये गुप्त नाम रक्खे ॥ ३५ ॥

ततो यथाप्रतिज्ञाभिः प्राविशन् नगरं महत्।
अज्ञातचर्यां वत्स्यन्तो राष्ट्रे वर्षं त्रयोदशम् ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार तेरहवें वर्षका अज्ञातवास पूर्ण करनेके लिये मत्स्यराष्ट्रके उस विशाल नगरमें प्रवेश किया ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि पुरप्रवेशे अस्त्रसंस्थापने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें नगरप्रवेशके लिये अस्त्रस्थापनविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा दुर्गादेवीकी स्तुति और देवीका प्रत्यक्ष प्रकट होकर उन्हें वर देना

वैशम्पायन उवाच

विराटनगरं रम्यं गच्छमानो युधिष्ठिरः।
अस्तुवन्मनसा देवीं दुर्गां त्रिभुवनेश्वरीम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! विराटके रमणीय नगरमें प्रवेश करते समय महाराज युधिष्ठिरने मन-ही-मन त्रिभुवनकी अधीश्वरी दुर्गादेवीका इस प्रकार स्तवन किया—॥

* पाण्डवलोग शव बँधी हुई शाखाकी ओर अंगुलीसे संकेत करके कहते थे—'यह हमारी माता है।' वे अपने आयुधोंकी रक्षा करनेके कारण शमीको ही अपनी माता मानते थे और उसीकी ओर उनका वास्तविक संकेत था। शव-बन्धनके व्याजसे वे अस्त्र-संरक्षणको ही पूर्वजोंद्वारा आचरित कुलधर्म घोषित करते थे।

यशोदागर्भसम्भूतां नारायणवरप्रियाम्।
नन्दगोपकुले जातां मङ्गल्यां कुलवर्धिनीम् ॥ २ ॥
कंसविद्रावणकरीमसुराणां क्षयंकरीम्।
शिलातटविनिक्षिप्तामाकाशं प्रति गामिनीम् ॥ ३ ॥
वासुदेवस्य भगिनीं दिव्यमाल्यविभूषिताम्।
दिव्याम्बरधरां देवीं खड्गखेटकधारिणीम् ॥ ४ ॥

'जो यशोदाके गर्भसे प्रकट हुई है, जो भगवान् नारायणको अत्यन्त प्रिय है, नन्दगोपके कुलमें जिसने अवतार लिया है, जो सबका मङ्गल करनेवाली तथा कुलको बढ़ानेवाली है, जो कंसको भयभीत करनेवाली और असुरोंका संहार करनेवाली है, कंसके द्वारा पत्थरकी शिलापर पटकी जानेपर जो आकाशमें उड़ गयी थी, जिसके अङ्ग दिव्य गन्धमाला एवं आभूषणोंसे विभूषित हैं, जिसने दिव्य वस्त्र धारण कर रक्खा है, जो हाथोंमें ढाल और तलवार धारण करती है, वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी भगिनी उस दुर्गादेवीका मैं चिन्तन करता हूँ ॥ २–४ ॥

भारावतरणे पुण्ये ये स्मरन्ति सदाशिवाम्।
तान् वै तारयसे पापात् पङ्के गामिव दुर्बलाम् ॥ ५ ॥

'पृथ्वीका भार उतारनेवाली पुण्यमयी देवि ! तुम सदा सबका कल्याण करनेवाली हो। जो लोग तुम्हारा स्मरण करते हैं, निश्चय ही तुम उन्हें पाप और उसके फलस्वरूप होनेवाले दुःखसे उबार लेती हो; ठीक उसी तरह, जैसे कोई पुरुष कीचड़में फँसी हुई दुर्बल गायका उद्धार कर देता है' ॥ ५ ॥

स्तोतुं प्रचक्रमे भूयो विविधैः स्तोत्रसम्भवैः।
आमन्त्र्य दर्शनाकाङ्क्षी राजा देवीं सहानुजः ॥ ६ ॥
नमोऽस्तु वरदे कृष्णे कुमारि ब्रह्मचारिणि।
बालार्कसदृशाकारे पूर्णचन्द्रनिभानने ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिरने देवीके दर्शनकी अभिलाषा रखकर नाना प्रकारके स्तुतिपरक नामोंद्वारा उन्हें सम्बोधित करके पुनः उनकी स्तुति प्रारम्भ की—'इच्छानुसार उत्तम वर देनेवाली देवि ! तुम्हें नमस्कार है। सच्चिदानन्दमयी कृष्णे ! तुम कुमारी और ब्रह्मचारिणी हो। तुम्हारी अङ्गकान्ति प्रभातकालीन सूर्यके सदृश लाल है। तुम्हारा मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति आह्लाद प्रदान करनेवाला है ॥

चतुर्भुजे चतुर्वक्त्रे पीनश्रोणिपयोधरे।
मयूरपिच्छवलये केयूराङ्गदधारिणि ।
भासि देवि यथा पद्मा नारायणपरिग्रहः ॥ ८ ॥
स्वरूपं ब्रह्मचर्यं च विशदं गगनेश्वरी।
कृष्णच्छविसमा कृष्णा संकर्षणसमानना ॥ ९ ॥

'तुम चार भुजाओंसे सुशोभित विष्णुरूपा और चार मुखोंसे अलंकृत ब्रह्मस्वरूपा हो। तुम्हारे नितम्ब और उरोज पीन हैं। तुमने मोरपंखका कंगन धारण किया है तथा केयूर और अङ्गद पहन रक्खे हैं। देवि ! भगवान् नारायणकी धर्मपत्नी लक्ष्मीजीके समान तुम्हारी शोभा हो रही है। आकाशमें विचरनेवाली देवि ! तुम्हारा स्वरूप और ब्रह्मचर्य परम उज्ज्वल है। श्यामसुन्दर श्रीकृष्णकी छविके समान तुम्हारी श्याम कान्ति है, इसीलिये तुम कृष्णा कहलाती हो। तुम्हारा मुख संकर्षणके समान है ॥ ८-९ ॥

बिभ्रती विपुलौ बाहू शक्रध्वजसमुच्छ्रयौ।
पात्री च पङ्कजी घण्टी स्त्रीविशुद्धा च या भुवि ॥ १० ॥
पाशं धनुर्महाचक्रं विविधान्यायुधानि च।
कुण्डलाभ्यां सुपूर्णाभ्यां कर्णाभ्यां च विभूषिता ॥ ११ ॥
चन्द्रविस्पर्द्धिना देवि मुखेन त्वं विराजसे।
मुकुटेन विचित्रेण केशबन्धेन शोभिना ॥ १२ ॥
भुजङ्गाभोगवासेन श्रोणिसूत्रेण राजता।
विभ्राजसे चाबद्धेन भोगेनेवेह मन्दरः ॥ १३ ॥

'तुम (वर और अभय मुद्रा धारण करनेवाली) ऊपर उठी हुई दो विशाल भुजाओंको इन्द्रकी ध्वजाके समान धारण करती हो। तुम्हारे तीसरे हाथमें पात्र, चौथेमें कमल और पाँचवेंमें घण्टा सुशोभित है। छठे हाथमें पाश, सातवेंमें धनुष तथा आठवेंमें महान् चक्र शोभा पाता है। ये ही तुम्हारे नाना प्रकारके आयुध हैं। इस पृथ्वीपर स्त्रीका जो विशुद्ध स्वरूप है, वह तुम्हीं हो। कुण्डलमण्डित कर्णयुगल तुम्हारे मुखमण्डलकी शोभा बढ़ाते हैं। देवि ! तुम चन्द्रमासे होड़ लेनेवाले मुखसे सुशोभित होती हो। तुम्हारे मस्तकपर विचित्र मुकुट है। बँधे हुए केशोंकी वेणी साँपकी आकृतिके समान कुछ और ही शोभा दे रही है। यहाँ कमरमें बँधी हुई सुन्दर करधनीके द्वारा तुम्हारी ऐसी शोभा हो रही है, मानो नागसे लपेटा हुआ मन्दराचल हो ॥ १०–१३ ॥

ध्वजेन शिखिपिच्छानामुच्छ्रितेन विराजसे।
कौमारं व्रतमास्थाय त्रिदिवं पावितं त्वया ॥ १४ ॥

'तुम्हारी मयूरपिच्छसे चिह्नित ध्वजा आकाशमें ऊँची फहरा रही है। उससे तुम्हारी शोभा और भी बढ़ गयी है। तुमने ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके तीनों लोकोंको पवित्र कर दिया है ॥ १४ ॥

तेन त्वं स्तूयसे देवि त्रिदशैः पूज्यसेऽपि च।
त्रैलोक्यरक्षणार्थाय महिषासुरनाशिनि।
प्रसन्ना मे सुरश्रेष्ठे दयां कुरु शिवा भव ॥ १५ ॥

'देवि ! इसीलिये सम्पूर्ण देवता तुम्हारी स्तुति और पूजा भी करते हैं। तीनों लोकोंकी रक्षाके लिये महिषासुरका नाश करनेवाली देवेश्वरी ! मुझपर प्रसन्न होकर दया करो। मेरे लिये कल्याणमयी हो जाओ ॥ १५ ॥

जया त्वं विजया चैव संग्रामे च जयप्रदा।
ममापि विजयं देहि वरदा त्वं च साम्प्रतम् ॥ १६ ॥



युधिष्ठिरद्वारा देवीकी स्तुति

'तुम जया और विजया हो। तुम्हीं संग्राममें विजय देनेवाली हो, अतः मुझे भी विजय दो। इस समय तुम मेरे लिये वरदायिनी हो जाओ ॥ १६ ॥

विन्ध्ये चैव नगश्रेष्ठे तव स्थानं हि शाश्वतम्।
कालि कालि महाकालि खड्गखट्वाङ्गधारिणि ॥ १७ ॥

'पर्वतोंमें श्रेष्ठ विन्ध्याचलपर तुम्हारा सनातन निवासस्थान है। काली ! काली !! महाकाली !!! तुम खड्ग और खट्वाङ्ग धारण करनेवाली हो ॥ १७ ॥

कृतानुयात्रा भूतैस्त्वं वरदा कामचारिणि।
भारावतारे ये च त्वां संस्मरिष्यन्ति मानवाः ॥ १८ ॥
प्रणमन्ति च ये त्वां हि प्रभाते तु नरा भुवि।
न तेषां दुर्लभं किंचित् पुत्रतो धनतोऽपि वा ॥ १९ ॥

'जो प्राणी तुम्हारा अनुसरण करते हैं, उन्हें तुम मनोवाञ्छित वर देती हो। इच्छानुसार विचरनेवाली देवि ! जो मनुष्य अपने ऊपर आये हुए संकटका भार उतारनेके लिये तुम्हारा स्मरण करते हैं तथा जो मानव प्रतिदिन प्रातःकाल तुम्हें प्रणाम करते हैं, उनके लिये इस पृथ्वीपर पुत्र अथवा धन-धान्य आदि कुछ भी दुर्लभ नहीं हैं ॥ १८-१९ ॥

दुर्गात् तारयसे दुर्गे तत् त्वं दुर्गा स्मृता जनैः।
कान्तारेष्ववसन्नानां मग्नानां च महार्णवे ॥ २० ॥
दस्युभिर्वा निरुद्धानां त्वं गतिः परमा नृणाम्।
जलप्रतरणे चैव कान्तारेष्वटवीषु च ॥ २१ ॥
ये स्मरन्ति महादेवि न च सीदन्ति ते नराः।
त्वं कीर्तिः श्रीर्धृतिः सिद्धिर्ह्रीर्विद्या संततिर्मतिः॥ २२ ॥
संध्या रात्रिः प्रभा निद्रा ज्योत्स्ना कान्तिः क्षमा दया।
नृणां च बन्धनं मोहं पुत्रनाशं धनक्षयम् ॥ २३ ॥
व्याधिं मृत्युं भयं चैव पूजिता नाशयिष्यसि।
सोऽहं राज्यात् परिभ्रष्टः शरणं त्वां प्रपन्नवान् ॥ २४ ॥

'दुर्गे ! तुम दुःसह दुःखसे उद्धार करती हो, इसीलिये लोगोंके द्वारा दुर्गा कही जाती हो। जो दुर्गम वनमें कष्ट पा रहे हों, महासागरमें डूब रहे हों अथवा लुटेरोंके वशमें पड़ गये हों, उन सब मनुष्योंके लिये तुम्हीं परम गति हो—तुम्हीं उन्हें संकटसे मुक्त कर सकती हो। महादेवि ! पानीमें तैरते समय, दुर्गम मार्गमें चलते समय और जंगलोंमें भटक जानेपर जो तुम्हारा स्मरण करते हैं, वे मनुष्य क्लेश नहीं पाते। तुम्हीं कीर्ति, श्री, धृति, सिद्धि, लज्जा, विद्या, संतति, मति, संध्या, रात्रि, प्रभा, निद्रा, ज्योत्स्ना, कान्ति, क्षमा और दया हो। तुम पूजित होनेपर मनुष्योंके बन्धन, मोह, पुत्रनाश और धननाशका संकट, व्याधि, मृत्यु और सम्पूर्ण भय नष्ट कर देती हो। मैं भी राज्यसे भ्रष्ट हूँ, इसलिये तुम्हारी शरणमें आया हूँ ॥ २०—२४ ॥

प्रणतश्च यथा मूर्ध्ना तव देवि सुरेश्वरि।
त्राहि मां पद्मपत्राक्षि सत्ये सत्या भवस्व नः ॥ २५ ॥

'कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली देवि ! देवेश्वरि ! मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करता हूँ। मेरी रक्षा करो। सत्ये ! हमारे लिये वस्तुतः सत्यस्वरूपा बनो—अपनी महिमाको सत्य कर दिखाओ ॥ २५ ॥

शरणं भव मे दुर्गे शरण्ये भक्तवत्सले।
एवं स्तुता हि सा देवी दर्शयामास पाण्डवम् ॥ २६ ॥
उपगम्य तु राजानमिदं वचनमब्रवीत्।

'शरणागतोंकी रक्षा करनेवाली भक्तवत्सले दुर्गे ! मुझे शरण दो।' इस प्रकार स्तुति करनेपर देवी दुर्गाने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको प्रत्यक्ष दर्शन दिया तथा राजाके पास आकर यह बात कही ॥ २६½ ॥

देव्युवाच

शृणु राजन् महाबाहो मदीयं वचनं प्रभो ॥ २७ ॥
भविष्यत्यचिरादेव संग्रामे विजयस्तव।
मम प्रसादान्निर्जित्य हत्वा कौरववाहिनीम् ॥ २८ ॥
राज्यं निष्कण्टकं कृत्वा भोक्ष्यसे मेदिनीं पुनः।
भ्रातृभिः सहितो राजन् प्रीतिं प्राप्स्यसि पुष्कलाम् ॥ २९ ॥

देवी बोली—महाबाहु राजा युधिष्ठिर ! मेरी बात सुनो। समर्थ राजन् ! शीघ्र ही तुम्हें संग्राममें विजय प्राप्त होगी। मेरे प्रसादसे कौरवसेनाको जीतकर उसका संहार करके तुम निष्कण्टक राज्य करोगे और पुनः इस पृथ्वीका सुख भोगोगे। राजन् ! तुम्हें भाइयोंसहित पूर्ण प्रसन्नता प्राप्त होगी ॥ २७—२९ ॥

मत्प्रसादाच्च ते सौख्यमारोग्यं च भविष्यति।
ये च संकीर्तयिष्यन्ति लोके विगतकल्मषाः ॥ ३० ॥
तेषां तुष्टा प्रदास्यामि राज्यमायुर्वपुःसुतम्।
प्रवासे नगरे चापि संग्रामे शत्रुसंकटे ॥ ३१ ॥
अटव्यां दुर्गकान्तारे सागरे गहने गिरौ।
ये स्मरिष्यन्ति मां राजन् यथाहं भवता स्मृता ॥ ३२ ॥
न तेषां दुर्लभं किंचिदस्मिँल्लोके भविष्यति।
इदं स्तोत्रवरं भक्त्या शृणुयाद् वा पठेत वा ॥ ३३ ॥
तस्य सर्वाणि कार्याणि सिद्धिं यास्यन्ति पाण्डवाः।
मत्प्रसादाच्च वः सर्वान् विराटनगरे स्थितान् ॥ ३४ ॥
न प्रज्ञास्यन्ति कुरवो नरा वा तन्निवासिनः।
इत्युक्त्वा वरदा देवी युधिष्ठिरमरिंदमम्।
रक्षां कृत्वा च पाण्डूनां तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३५ ॥

मेरी कृपासे तुम्हें सुख और आरोग्य सुलभ होगा। लोकमें जो मनुष्य मेरा कीर्तन और स्तवन करेंगे, वे पापरहित होंगे और मैं संतुष्ट होकर उन्हें राज्य, बड़ी आयु, नीरोग शरीर और पुत्र प्रदान करूँगी। राजन् ! जैसे तुमने मेरा स्मरण किया है, इसी प्रकार जो लोग परदेशमें रहते समय, नगरमें, युद्धमें, शत्रुओंद्वारा संकट प्राप्त होनेपर,

घने जंगलोंमें, दुर्गम मार्गमें, समुद्रमें तथा गहन पर्वतपर भी मेरा स्मरण करेंगे, उनके लिये इस संसारमें कुछ भी दुर्लभ न होगा। पाण्डवो! जो इस उत्तम स्तोत्रको भक्तिभावसे सुनेगा या पढ़ेगा, उसके सम्पूर्ण कार्य सिद्ध हो जायँगे। मेरे कृपाप्रसादसे विराटनगरमें रहते समय तुम सब लोगोंको कौरवगण अथवा उस नगरके निवासी मनुष्य नहीं पहचान सकेंगे।

शत्रुओंका दमन करनेवाले राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर वरदायिनी देवी दुर्गा पाण्डवोंकी रक्षाका भार ले वहीं अन्तर्धान हो गयी॥ ३०—३५॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि दुर्गास्तवे षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें दुर्गास्तोत्रविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ॥ ६॥

सप्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका राजसभामें जाकर विराटसे मिलना और वहाँ आदरपूर्वक निवास पाना

वैशम्पायन उवाच

(ततस्तु ते पुण्यतमां शिवां शुभां
महर्षिगन्धर्वनिषेवितोदकाम्।
त्रिलोककान्तामवतीर्य जाह्नवी-
मृषींश्च देवांश्च पितॄनतर्पयन्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर पाण्डवोंने परम पवित्र, कल्याणमयी, मङ्गलस्वरूपा, त्रिभुवनकमनीया गङ्गामें, जिसके जलका महर्षि और गन्धर्वगण सदा सेवन करते हैं, उतरकर देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण किया॥

वरप्रदानं ह्यनुचिन्त्य पार्थिवो
हुताग्निहोत्रः कृतजप्यमङ्गलः।
दिशं तथैन्द्रीमभितः प्रपेदिवान्
कृताञ्जलिर्धर्ममुपाह्वयच्छनैः॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिर अग्निहोत्र, जप और मङ्गलपाठ करके धर्मराजके दिये हुए वरदानका चिन्तन करते हुए पूर्व दिशाकी ओर चले और हाथ जोड़कर धीरे-धीरे धर्मराजका स्मरण करने लगे॥

युधिष्ठिर उवाच

वरप्रदानं मम दत्तवान् पिता
प्रसन्नचेता वरदः प्रजापतिः।
जलार्थिनो मे तृषितस्य सोदरा
मया प्रयुक्ता विविशुर्जलाशयम्॥

युधिष्ठिर बोले—मेरे पिता प्रजापति धर्म वरदायक देवता हैं। उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर मुझे वर दिया है। मैंने प्याससे पीड़ित हो जलकी इच्छासे अपने भाइयोंको भेजा था। मेरी प्रेरणासे ही वे एक सरोवरमें उतरे॥

निपातिता यक्षवरेण ते वने
महाहवे वज्रभृतेव दानवाः।
मया च गत्वा वरदोऽभितोषितो
विवक्षता प्रश्नसमुच्चयं गुरुः॥

परंतु उस वनमें श्रेष्ठ यक्षके रूपमें आये हुए उन धर्मराजने मेरे भाइयोंको उसी प्रकार धराशायी कर दिया, जैसे वज्रधारी इन्द्र महान् संग्राममें दानवोंको मार गिराते हैं। तब मैंने वहाँ जाकर उनके प्रश्नोंका उत्तर दे उन वरदायक गुरुरूप पिताको संतुष्ट किया॥

स मे प्रसन्नो भगवान् वरं ददौ
परिष्वजंश्चाह यथैव सौहृदात्।
वृणीष्व यद् वाञ्छसि पाण्डुनन्दन
स्थितोऽन्तरिक्षे वरदोऽस्मि पश्यताम्॥

उस समय प्रसन्न हो भगवान् धर्मने बड़े स्नेहसे मुझे हृदयसे लगाया और वर देनेके लिये उद्यत हो मुझसे कहा—'पाण्डुनन्दन! तुम जो कुछ चाहते हो, वह मुझसे माँग लो। मैं तुम्हें वर देनेके लिये आकाशमें खड़ा हूँ। मेरी ओर देखो॥'

स वै मयोक्तो वरदः पिता प्रभुः
सदैव मे धर्मरता मतिर्भवेत्।
इमे च जीवन्तु ममानुजाः प्रभो
वपुश्च रूपं च बलं तथाप्नुयुः॥

तब मैंने अपने वरदायक पिता भगवान् धर्मराजसे कहा—'प्रभो! मेरी बुद्धि सदा धर्ममें ही लगी रहे तथा ये मेरे छोटे भाई जीवित हो जायँ और पहले-जैसा रूप, युवावस्था एवं बल प्राप्त कर लें॥

क्षमा च कीर्तिश्च यथेप्सितो भवेद्
व्रतं च सत्यं च समाप्तिरेव च।
वरो ममैषोऽस्तु यथानुकीर्तितो
न तन्मृषा देववरो यदब्रवीत्॥

'हमलोगोंमें इच्छानुसार क्षमा और कीर्ति हो और हम अपने सत्यव्रतको पूर्ण कर लें; यही वर हमें प्राप्त होना चाहिये।' जैसा कि मैंने बताया, वैसा ही वर उन्होंने दिया। देवेश्वर धर्मने जैसा कहा है, वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा धर्मात्मा धर्ममेवानुचिन्तयन् ।
तदैव तत्प्रसादेन रूपमेवाभजत् स्वकम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर धर्मात्मा युधिष्ठिर उस समय धर्मका ही बार-बार चिन्तन करने लगे। तब धर्मदेवके प्रसादसे उन्होंने तत्काल अपने अभीष्ट स्वरूपको प्राप्त कर लिया ॥

स वै द्विजातिस्तरुणस्त्रिदण्डधृक्
कमण्डलूष्णीषधरोऽन्वजायत ।
सुरक्तमाञ्जिष्ठवराम्बरः शिखी
पवित्रपाणिर्ददृशे तदद्भुतम् ॥

वे कमण्डलु और पगड़ी धारण किये त्रिदण्डधारी तरुण ब्राह्मण बन गये। उनके शरीरपर मँजीठके रंगके सुन्दर लाल वस्त्र शोभा पाने लगे तथा मस्तकपर शिखा दिखायी देने लगी। वे हाथमें कुश लिये अद्भुत रूपमें दृष्टिगोचर होने लगे ॥

तथैव तेषामपि धर्मचारिणां
यथेप्सिता ह्याभरणाम्बरस्रजः ।
क्षणेन राजन्नभवन्महात्मनां
प्रशस्तधर्माग्र्यफलाभिकाङ्क्षिणाम् ॥)

राजन्! इसी प्रकार उत्तम धर्मके श्रेष्ठ फलकी अभिलाषा रखनेवाले उन सभी धर्मचारी महात्मा पाण्डवोंको क्षणभरमें उनके अभीष्ट वेशके अनुरूप वस्त्र, आभूषण और माला आदि वस्तुएँ प्राप्त हो गयीं ॥

ततो विराटं प्रथमं युधिष्ठिरो
राजा सभायामुपविष्टमाव्रजत् ।
वैदूर्यरूपान् प्रतिमुच्य काञ्चना-
नक्षान् स कक्षे परिगृह्य वाससा ॥ १ ॥

तदनन्तर वैदूर्यके समान हरी, सुवर्णके समान पीली (तथा लाल और काली) चौसरकी गोटियोंसहित पासोंको कपड़ेमें बाँधकर बगलमें दबाये हुए राजा युधिष्ठिर सबसे पहले राजाके दरबारमें गये। उस समय राजा विराट सभामें बैठे थे ॥ १ ॥

नराधिपो राष्ट्रपतिं यशस्विनं
महायशाः कौरववंशवर्धनः ।
महानुभावो नरराजसत्कृतो
दुरासदस्तीक्ष्णविषो यथोरगः ॥ २ ॥
बलेन रूपेण नरर्षभो महा-
नपूर्वरूपेण यथामरस्तथा ।
महाभ्रजालैरिव संवृतो रवि-
र्यथानलो भस्मवृतश्च वीर्यवान् ॥ ३ ॥

वे बड़े यशस्वी और मत्स्यराष्ट्रके अधिपति थे। राजा युधिष्ठिर भी महान् यशस्वी, कौरववंशकी मर्यादाको बढ़ानेवाले तथा महानुभाव (अत्यन्त प्रभावशाली) थे। सब राजे-महाराजे उनका सत्कार करते थे। तीखे विषवाले सर्पकी भाँति वे दुर्धर्ष थे। बल और रूपकी दृष्टिसे मनुष्योंमें सबसे श्रेष्ठ और महान् थे। अपने अपूर्व रूपके कारण वे देवताके समान जान पड़ते थे। महामेघमालाओंसे आवृत सूर्य तथा राखमें छिपी हुई अग्निके समान उनका तेजस्वी रूप वेषभूषासे आच्छादित था। वे बड़े पराक्रमी थे ॥ २-३ ॥

तमापतन्तं प्रसमीक्ष्य पाण्डवं
विराटराडिन्दुमिवाभ्रसंवृतम् ।
समागतं पूर्णशशिप्रभाननं
महानुभावं न चिरेण दृष्टवान् ॥ ४ ॥

उनका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहा था। बादलोंसे ढके हुए चन्द्रमाकी भाँति शोभायमान महानुभाव पाण्डुनन्दनको आते देख राजा विराटकी दृष्टि सहसा उनकी ओर आकृष्ट हो गयी। निकट आनेपर शीघ्र ही उन्होंने बड़े गौरसे उनकी ओर देखा ॥ ४ ॥

मन्त्रिद्विजान् सूतमुखान् विशस्तथा
ये चापि केचित् परितः समासते ।
पप्रच्छ कोऽयं प्रथमं समेयिवान्
नृपोपमोऽयं समवेक्षते सभाम् ॥ ५ ॥

मन्त्री, ब्राह्मण, सूत-मागध आदि, वैश्यगण तथा अन्य जो कोई भी सभासद् उनके दायें-बायें सब ओर बैठे थे, उन सबसे राजाने पूछा—'ये कौन हैं? जो पहले-पहल यहाँ पधारे हैं? ये तो किसी राजाकी भाँति मेरी सभाको निहार रहे हैं ॥ ५ ॥

न तु द्विजोऽयं भविता नरोत्तमः
पतिः पृथिव्या इति मे मनोगतम् ।
न चास्य दासो न रथो न कुञ्जरः
समीपतो भ्राजति चायमिन्द्रवत् ॥ ६ ॥

इनका वेश तो ब्राह्मणका-सा है, किंतु ये ब्राह्मण नहीं हो सकते। ये नरश्रेष्ठ तो कहींके भूपति ही होंगे; ऐसा विचार मेरे मनमें उठ रहा है। परंतु इनके साथ दास, रथ और हाथी-घोड़े आदि कुछ भी नहीं हैं। फिर भी ये निकटसे इन्द्रके समान सुशोभित हो रहे हैं ॥ ६ ॥

शरीरलिङ्गैरुपसूचितो ह्ययं
मूर्द्धाभिषिक्त इति मे मनोगतम् ।
समीपमायाति च मे गतव्यथो
यथा गजस्तामरसीं मदोत्कटः ॥ ७ ॥

'इनके शरीरमें जो लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उनसे यह सूचित होता है कि ये मूर्द्धाभिषिक्त सम्राट् हैं। मेरे

मनमें तो यही बात आती है । जैसे मतवाला हाथी बेखटके किसी कमलिनीके पास जाता हो, उसी प्रकार ये बिना किसी संकोचके—व्यथारहित होकर मेरी सभामें आ रहे हैं' ॥ ७ ॥

वितर्कयन्तं तु नरर्षभस्तथा
युधिष्ठिरोऽभ्येत्य विराटमब्रवीत्।
सम्राड् विजानात्विह जीवनार्थिनं
विनष्टसर्वस्वमुपागतं द्विजम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार तर्क-वितर्कमें पड़े हुए राजा विराटके पास आकर नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरने कहा—'महाराज ! आपको विदित हो; मैं एक ब्राह्मण हूँ, मेरा सर्वस्व नष्ट हो गया है; अतः मैं आपके यहाँ जीवननिर्वाहके लिये आया हूँ ॥ ८ ॥

इहाहमिच्छामि तवानघान्तिके
वस्तुं यथा कामचरस्तथा विभो।
तमब्रवीत् स्वागतमित्यनन्तरं
राजा प्रहृष्टः प्रतिसंगृहाण च ॥ ९ ॥
तं राजसिंहं प्रतिगृह्य राजा
प्रीत्याऽऽत्मना चैनमिदं बभाषे।
कामेन ताताभिवदाम्यहं त्वां
कस्यासि राज्ञो विषयादिहागतः ॥ १० ॥

'अनघ ! मैं यहाँ आपके समीप रहना चाहता हूँ । प्रभो ! जैसी आपकी इच्छा होगी, उसी प्रकार सब कार्य करते हुए मैं यहाँ रहूँगा ।' युधिष्ठिरकी बात सुनकर राजा विराट बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'ब्रह्मन् ! आपका स्वागत है ।' तदनन्तर उन्होंने राजाओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरको सादर ग्रहण किया । ग्रहण करके राजा विराटने प्रसन्न मनसे उनसे इस प्रकार कहा—'तात ! मैं प्रेमपूर्वक आपसे पूछता हूँ, आप इस समय किस राजाके राज्यसे यहाँ आये हैं ? ॥ ९-१० ॥



गोत्रं च नामापि च शंस तत्त्वतः
किं चापि शिल्पं तव विद्यते कृतम् ॥ ११ ॥

'अपने गोत्र और नाम भी ठीक-ठीक बताइये । साथ ही यह भी कहें कि आपने किस विद्या या कलामें कुशलता प्राप्त की है' ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

युधिष्ठिरस्यासमहं पुरा सखा
वैयाघ्रपद्यः पुनरस्मि विप्रः।
अक्षान् प्रयोक्तुं कुशलोऽस्मि देविनां
कङ्केति नाम्नास्मि विराट विश्रुतः ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाराज विराट ! मैं वैयाघ्रपद-गोत्रमें उत्पन्न हुआ ब्राह्मण हूँ । लोगोंमें 'कङ्क' नामसे मेरी प्रसिद्धि है । मैं पहले राजा युधिष्ठिरके साथ रहता था । वे मुझे अपना सखा मानते थे । मैं चौसर खेलनेवालोंके बीच पासे फेंकनेकी कलामें कुशल हूँ ॥ १२ ॥

विराट उवाच

ददामि ते हन्त वरं यमिच्छसि
प्रसाधि मत्स्यान् वशगो ह्यहं तव।
प्रियाश्च धूर्ता मम देविनः सदा
भवांश्च देवोपम राज्यमर्हति ॥ १३ ॥

विराट बोले—ब्रह्मन् ! मैं आपको वर देता हूँ; आप जो चाहें, माँग लें । समूचे मत्स्यदेशपर शासन करें । मैं आपके वशमें हूँ; क्योंकि द्यूतक्रीडामें निपुण, चतुर, चालाक मनुष्य मुझे सदा प्रिय हैं । देवोपम ब्राह्मण ! आप तो राज्य पानेके योग्य हैं ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्राप्तो विवादः प्रथमं विशाम्पते
न विद्यते कंचन मत्स्य हीनतः।
न मे जितः कश्चन धारयेद् धनं
वरो ममैषोऽस्तु तव प्रसादजः ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरने कहा—मत्स्यराज ! नरनाथ ! मुझे किसी हीन वर्णके मनुष्यसे विवाद न करना पड़े, यह मैं पहला वर माँगता हूँ तथा मुझसे पराजित होनेवाला कोई भी मनुष्य हारे हुए धनको अपने पास न रखे (मुझे दे दे) । आपकी कृपासे यह दूसरा वर मुझे प्राप्त हो जाय, तो मैं रह सकता हूँ ॥ १४ ॥

विराट उवाच

हन्यामवश्यं यदि तेऽप्रियं चरेत्
प्रव्राजयेयं विषयाद् द्विजांस्तथा।

शृण्वन्तु मे जानपदाः समागताः
कङ्को यथाहं विषये प्रभुस्तथा ॥ १५ ॥

विराट बोले—ब्रह्मन् ! यदि कोई ब्राह्मणेतर मनुष्य आपका अप्रिय करेगा तो उसे मैं निश्चय ही प्राण-दण्ड दूँगा। यदि ब्राह्मणोंने आपका अपराध किया तो उन्हें देशसे निकाल दूँगा। [युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर राजा विराट अन्य सभासदोंसे बोले—] मेरे राज्यमें निवास करनेवाले और इस सभामें आये हुए लोगो ! मेरी बात सुनो; जैसे मैं इस मत्स्यदेशका स्वामी हूँ, वैसे ही ये कङ्क भी हैं ॥ १५ ॥

समानयानो भवितासि मे सखा
प्रभूतवस्त्रो बहुपानभोजनः।
पश्येस्त्वमन्तश्च बहिश्च सर्वदा
कृतं च ते द्वारमपावृतं मया ॥ १६ ॥

[फिर वे युधिष्ठिरसे बोले—] कङ्क ! आजसे आप मेरे सखा हैं। जैसी सवारीमें मैं चलता हूँ, वैसी ही आपको भी मिलेगी। पहननेके वस्त्र और भोजन-पान आदिका प्रबन्ध भी आपके लिये पर्याप्तमात्रामें रहेगा। बाहरके राज्य-कोश, उद्यान और सेना आदि तथा भीतरके धन-दारा आदिकी भी देख-भाल आप ही करें। मेरे आदेशसे आपके लिये राजमहलका द्वार सदा खुला रहेगा; आपसे कोई परदा नहीं रक्खा जायगा ॥ १६ ॥

ये त्वानुवादेऽयुरवृत्तिकर्शिता
ब्रूयाश्च तेषां वचनेन मां सदा।
दास्यामि सर्वं तदहं न संशयो
न ते भयं विद्यति संनिधौ मम ॥ १७ ॥

जो लोग जीविकाके अभावमें कष्ट पा रहे हों और अनुवादके लिये अर्थात् पहलेके स्थायी तौरपर दिये हुए खेत और बगीचे आदिको पुनः उपयोगमें लानेके निमित्त नूतन राजाज्ञा प्राप्त करनेके लिये आपके पास आवें, उनके अनुरोध-पूर्ण वचनसे आप सदा उनकी प्रार्थना मुझे सुना सकते हैं। विश्वास रखिये, आपके कथनानुसार उन याचकोंको मैं सब कुछ दूँगा; इसमें संशय नहीं है। आपको मेरे पास आने या कुछ कहनेमें भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

(एवं तु राज्ञः प्रथमः समागमो
बभूव मात्स्यस्य युधिष्ठिरस्य च।
विराटराजस्य हि तेन संगमो
बभूव विष्णोरिव वज्रपाणिना ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार वहाँ राजा युधिष्ठिर तथा मत्स्यनरेशकी प्रथम भेंट हुई। जैसे भगवान् विष्णुका वज्रधारी इन्द्रसे मिलन हुआ हो, उसी प्रकार विराटनरेशका राजा युधिष्ठिरके साथ समागम हुआ ॥

तमासनस्थं प्रियरूपदर्शनं
निरीक्षमाणो न ततर्प भूमिपः।
सभां च तां प्रज्वलयन् युधिष्ठिरः
श्रिया यथा शक्र इव त्रिविष्टपम्॥)

युधिष्ठिरके स्वरूपका दर्शन विराटराजको बहुत प्रिय लगा। जब वे आसनपर बैठ गये तब राजा विराट उन्हें एकटक निहारने लगे। उनके दर्शनसे वे तृप्त ही नहीं होते थे। जैसे इन्द्र अपनी कान्तिसे स्वर्गकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार राजा युधिष्ठिर उस सभाको प्रकाशित कर रहे थे ॥

एवं स लब्ध्वा तु वरं समागमं
विराटराजेन नरर्षभस्तदा।
उवास धीरः परमार्चितः सुखी
न चापि कश्चिच्चरितं बुबोध तत्॥ १८ ॥

धीर स्वभाववाले नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर उस समय राजा विराटके साथ इस प्रकार अच्छे ढंगसे मिलकर और उनके द्वारा परम आदर सत्कार पाकर वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे। उनका वह चरित्र किसीको भी मालूम नहीं हुआ ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरप्रवेशो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिरप्रवेशविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२ श्लोक मिलाकर कुल ३० श्लोक हैं)

अष्टमोऽध्यायः

भीमसेनका राजा विराटकी सभामें प्रवेश और राजाके द्वारा आश्वासन पाना

वैशम्पायन उवाच

अथापरो भीमबलः श्रिया ज्वल-
न्नुपाययौ सिंहविलासविक्रमः।
खजां च दर्वीं च करेण धारय-
न्नसिं च कालाङ्गमकोशमव्रणम्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर द्वितीय पाण्डव भयंकर बलशाली भीमसेन सिंहकी-सी मस्त चालसे चलते हुए राजाके दरबारमें आये। वे अपने सहज तेजसे प्रकाशित हो रहे थे। उन्होंने हाथमें मथानी, करछी और शाक काटनेके लिये एक काले रंगका तीखी धारवाला छुरा

ले रक्खा था। उनका वह छुरा टूटा-फूटा न था और न उसके ऊपर कोई आवरण था ॥ १ ॥

स सूदरूपः परमेण वर्चसा
रविर्यथा लोकमिमं प्रकाशयन् ।
स कृष्णवासा गिरिराजसारवां-
स्तं मत्स्यराजं समुपेत्य तस्थिवान् ॥ २ ॥

वे यद्यपि रसोइयेके वेशमें थे, तो भी अपने उत्कृष्ट तेजसे इस लोकको प्रकाशित करनेवाले सूर्यदेवकी भाँति सुशोभित हो रहे थे। उनके वस्त्र काले थे और उनका शरीर पर्वतराज मेरुके समान सुदृढ़ था। वे मत्स्यराज विराटके समीप आकर खड़े हो गये ॥ २ ॥

तं प्रेक्ष्य राजा रमयन्नुपागतं
ततोऽब्रवीज्जानपदान् समागतान् ।
सिंहोन्नतांसोऽयमतीव रूपवान्
प्रदृश्यते को नु नरर्षभो युवा ॥ ३ ॥

अपने पास आये हुए भीमसेनको देखकर उन्हें प्रसन्न करते हुए राजा विराट मत्स्य जनपदके निवासी समागत सभासदोंसे बोले—'सिंहके समान ऊँचे कंधोंवाला और मनुष्योंमें श्रेष्ठ यह जो अत्यन्त रूपवान् युवक दिखायी दे रहा है, कौन है? ॥ ३ ॥

अदृष्टपूर्वः पुरुषो रविर्यथा
वितर्कयन् नास्य लभामि निश्चयम् ।
तथास्य चित्तं ह्यपि संवितर्कयन्
नरर्षभस्यास्य न यामि तत्त्वतः ॥ ४ ॥

'आजसे पहले कभी इसका दर्शन नहीं हुआ है। यह वीर पुरुष सूर्यके समान तेजस्वी है। मैं बहुत सोच-विचारकर भी इसके विषयमें किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाता। यहाँ आनेमें इस श्रेष्ठ पुरुषका आन्तरिक अभिप्राय क्या है? इसपर भी मैंने बहुत तर्क-वितर्क किया है; परंतु किसी वास्तविक परिणामतक नहीं पहुँच पा रहा हूँ ॥ ४ ॥

दृष्ट्वैव चैनं तु विचारयाम्यहं
गन्धर्वराजो यदि वा पुरंदरः ।
जानीत कोऽयं मम दर्शने स्थितो
यदीप्सितं तल्लभतां च मा चिरम् ॥ ५ ॥

'इसे देखकर ही मैं सोचने लगा हूँ कि यह गन्धर्वराज है या देवराज इन्द्र? मेरी दृष्टिके सामने खड़ा हुआ यह युवक कौन है, इसका पता लगाओ और यह जो कुछ पाना चाहता हो, वह सब इसे मिल जाना चाहिये; इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये' ॥ ५ ॥

विराटवाक्येन च तेन चोदिता
नरा विराटस्य सुशीघ्रगामिनः ।
उपेत्य कौन्तेयमथाब्रुवंस्तदा
यथा स राजावदताच्युतानुजम् ॥ ६ ॥

राजा विराटके पूर्वोक्त आदेशसे प्रेरित हो दरबारीलोग शीघ्रतापूर्वक धर्मराज युधिष्ठिरके छोटे भाई कुन्तीपुत्र भीमसेनके समीप गये तथा राजाने जैसे कहा था, उसी प्रकार उनका परिचय पूछा ॥ ६ ॥

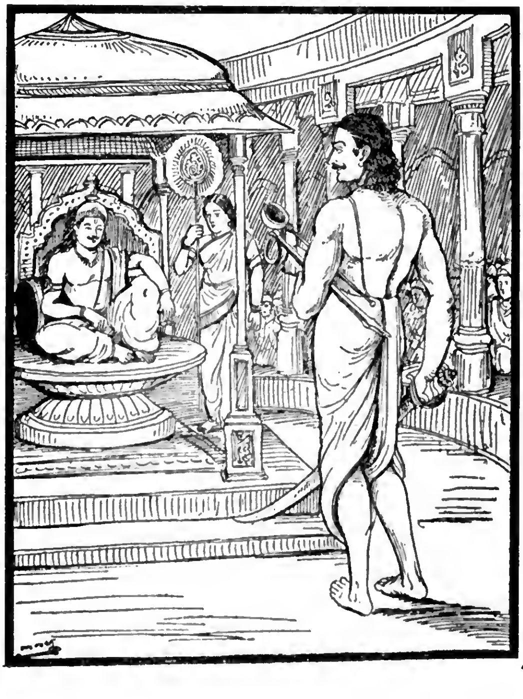
ततो विराटं समुपेत्य पाण्डव-
स्त्वदीनरूपं वचनं महामनाः ।
उवाच सूदोऽस्मि नरेन्द्र बल्लवो
भजस्व मां व्यञ्जनकारमुत्तमम् ॥ ७ ॥

तब महामना पाण्डुनन्दन भीम विराटके अत्यन्त निकट जाकर दीनतारहित वाणीमें बोले—'नरेन्द्र! मैं रसोइया हूँ। मेरा नाम बल्लव है। मैं बहुत उत्तम व्यञ्जन बनाता हूँ। आप मुझे अपने यहाँ इस कार्यके लिये रख लीजिये' ॥

विराट उवाच

न सूदतां बल्लव श्रद्दधामि ते
सहस्रनेत्रप्रतिमो विराजसे ।
श्रिया च रूपेण च विक्रमेण च
प्रभाससे त्वं नृवरो नरेष्विव ॥ ८ ॥

विराट बोले—बल्लव! तुम रसोइये हो, इस बातपर मुझे विश्वास नहीं होता। तुम तो इन्द्रके समान तेजस्वी दिखायी देते हो। अपने अद्भुत रूप, दिव्य शोभा और महान् पराक्रमसे तुम मनुष्योंमें कोई श्रेष्ठ पुरुष अथवा राजा प्रतीत होते हो ॥ ८ ॥





विराटके यहाँ पाण्डव

भीम उवाच

नरेन्द्र सूदः परिचारकोऽस्मि ते
जानामि सूपान् प्रथमं च केवलान्।
आस्वादिता ये नृपते पुराभवन्
युधिष्ठिरेणापि नृपेण सर्वशः ॥ ९ ॥

भीमसेनने कहा—महाराज ! मैं रसोई बनानेवाला आपका सेवक हूँ । मैं भाँति-भाँतिके व्यञ्जन बनाना जानता हूँ जिनका बनाना केवल मुझे ही ज्ञात है। मेरे बनाये हुए व्यञ्जन उत्तम श्रेणीके होते हैं । राजन्! पहले महाराज युधिष्ठिरने भी उन सब प्रकारके व्यञ्जनोंका आस्वादन किया है ॥ ९ ॥

बलेन तुल्यश्च न विद्यते मया
नियुद्धशीलश्च सदैव पार्थिव ।
गजैश्च सिंहैश्च समेयिवानहं
सदा करिष्यामि तवानघ प्रियम् ॥ १० ॥

इसके सिवा शारीरिक बलमें भी मेरी समता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। भूपाल ! मैं सदा कुश्ती लड़नेवाला पहलवान हूँ ; हाथियों और सिंहोंसे भी भिड़ जाता हूँ । अनघ ! मैं सदा आपको प्रिय लगनेवाला कार्य करूँगा ॥ १० ॥

विराट उवाच

ददामि ते हन्त वरान् महानसे
तथा च कुर्याः कुशलं प्रभाषसे ।
न चैव मन्ये तव कर्म यत् समं
समुद्रनेमिं पृथिवीं त्वमर्हसि ॥ ११ ॥

विराट बोले—बल्लव ! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें अभीष्ट वर देता हूँ । तुम अपनेको भोजन बनानेके काममें कुशल बताते हो, तो मेरी पाकशालामें रहकर वही करो। किंतु मैं यह कार्य तुम्हारे योग्य नहीं समझता । तुम तो समुद्रसे घिरी हुई समूची पृथ्वीका शासन करनेके योग्य हो ॥ ११ ॥

तथा हि कामो भवतस्तथा कृतं
महानसे त्वं भव मे पुरस्कृतः।
नराश्च ये तत्र समाहिताः पुरा
भवांश्च तेषामधिपो मया कृतः ॥ १२ ॥

तथापि जैसी तुम्हारी रुचि है, मैंने वैसा किया है । तुम मेरी पाकशालामें अग्रणी होकर रहो । जो लोग वहाँ पहलेसे नियुक्त हैं, मैंने तुम्हें उन सबका स्वामी बनाया ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा स भीमो विहितो महानसे
विराटराज्ञो दयितोऽभवद् दृढम्।
उवास राज्ये न च तं पृथग् जनो
बुबोध तत्रानुचराश्च केचन ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार भीमसेन पाकशालामें नियुक्त हो राजा विराटके अत्यन्त प्रिय व्यक्ति होकर रहने लगे । उस राज्यके किसी भी मनुष्यने उनका रहस्य नहीं जाना और न उस पाकशालाके कोई सेवक ही उन्हें पहचान सके ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि भीमप्रवेशे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशमें भीमप्रवेशसम्बन्धी आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

द्रौपदीका सैरन्ध्रीके वेशमें विराटके रनिवासमें जाकर रानी सुदेष्णासे वार्तालाप करना और वहाँ निवास पाना

वैशम्पायन उवाच

ततः केशान् समुत्क्षिप्य वेल्लिताग्राननिन्दितान्।
कृष्णान् सूक्ष्मान् मृदून् दीर्घान् समुद्ग्रथ्य शुचिस्मिता॥
जुगूहे दक्षिणे पार्श्वे मृदूनसितलोचना।
वासश्च परिधायैकं कृष्णा सुमलिनं महत् ॥ २ ॥
कृत्वा वेषं च सैरन्ध्र्यास्ततो व्यचरदार्तवत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पवित्र मन्द मुसकान और कजरारे नेत्रोंवाली द्रौपदीने अपने सुन्दर, महीन, कोमल और बड़े-बड़े, काले एवं घुँघुराले केशोंकी चोटी गूँथकर उन मृदुल अलकोंको दाहिने भागमें छिपा दिया और एक अत्यन्त मलिन वस्त्र धारण करके सैरन्ध्रीका वेश बनाये वह दीन-दुखियोंकी भाँति नगरमें विचरने लगी ॥ १-२½ ॥

तां नराः परिधावन्तीं स्त्रियश्च समुपाद्रवन् ॥ ३ ॥
अपृच्छंश्चैव तां दृष्ट्वा का त्वं किं च चिकीर्षसि।

उसे इधर-उधर भटकती देख बहुत-सी स्त्रियाँ और पुरुष उसके पास दौड़े आये तथा पूछने लगे—'तुम कौन हो ? और क्या करना चाहती हो ?' ॥ ३½ ॥

सा तानुवाच राजेन्द्र सैरन्ध्र्यहमिहागता ॥ ४ ॥
कर्म चेच्छामि वै कर्तुं तस्य यो मां युयुक्षति।
तस्या रूपेण वेषेण श्लक्ष्णया च तथा गिरा।
न श्रद्दधत तां दासीमन्नहेतोरुपस्थिताम् ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! उनके इस प्रकार पूछनेपर द्रौपदीने उनसे कहा—'मैं सैरन्ध्री * हूँ। जो मुझे अपने यहाँ नियुक्त करना चाहे, उसीके यहाँ मैं सैरन्ध्रीका कार्य करना चाहती हूँ और इसीलिये यहाँ आयी हूँ।' उसके रूप, वेष और मधुर वाणीसे किसीको यह विश्वास नहीं हुआ कि यह दासी है और अन्न-वस्त्रके लिये यहाँ उपस्थित हुई है ॥ ४-५ ॥

विराटस्य तु कैकेयी भार्या परमसम्मता।
आलोकयन्ती ददृशे प्रासादाद् द्रुपदात्मजाम् ॥ ६ ॥

इतनेमें ही राजा विराटकी अत्यन्त प्यारी भार्या केकयराजकुमारी सुदेष्णाने, जो अपने महलपर खड़ी हुई नगरकी शोभा निहार रही थी, वहींसे द्रुपदकुमारीको देखा ॥ ६ ॥

सा समीक्ष्य तथारूपामनाथामेकवाससम्।
समाहूयाब्रवीद् भद्रे का त्वं किं च चिकीर्षसि ॥ ७ ॥

वह एक वस्त्र धारण किये थी एवं अनाथा-सी जान पड़ती थी। ऐसे दिव्य रूपवाली तरुणीको उस अवस्थामें देखकर रानीने उसे अपने पास बुलाया और पूछा—'भद्रे ! तुम कौन हो और क्या करना चाहती हो ?' ॥ ७ ॥

सा तामुवाच राजेन्द्र सैरन्ध्र्यहमुपागता।
कर्म चेच्छाम्यहं कर्तुं तस्य यो मां युयुक्षति ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! तब द्रौपदीने रानी सुदेष्णासे कहा—'मैं सैरन्ध्री हूँ। जो मुझे अपने यहाँ नियुक्त करना चाहे, उसके यहाँ रहकर मैं सैरन्ध्रीका कार्य करना चाहती हूँ और इसीलिये यहाँ आयी हूँ' ॥ ८ ॥

सुदेष्णोवाच

नैवंरूपा भवन्त्येव यथा वदसि भामिनि।
प्रेषयन्तीव वै दासीर्दासांश्च विविधान् बहून् ॥ ९ ॥

सुदेष्णाने कहा—भामिनि ! तुम जैसा कह रही हो, उसपर विश्वास नहीं होता, क्योंकि तुम्हारी-जैसी रूपवती स्त्रियाँ सैरन्ध्री (दासी) नहीं हुआ करतीं। तुम तो बहुत-सी दासियों और नाना प्रकारके बहुतेरे दासोंको आज्ञा देनेवाली रानी-जैसी जान पड़ती हो ॥ ९ ॥

नोच्चगुल्फा संहतोरुस्त्रिगम्भीरा षडुन्नता।
रक्ता पञ्चसु रक्तेषु हंसगद्गदभाषिणी ॥ १० ॥
सुकेशी सुस्तनी श्यामा पीनश्रोणिपयोधरा।
तेन तेनैव सम्पन्ना काश्मीरीव तुरङ्गमी ॥ ११ ॥
अरालपक्ष्मनयना बिम्बोष्ठी तनुमध्यमा।
कम्बुग्रीवा गूढशिरा पूर्णचन्द्रनिभानना ॥ १२ ॥

तुम्हारे गुल्फ ऊँचे नहीं हैं, दोनों जाँघें परस्पर सटी हुई हैं। तुम्हारी नाभि, वाणी और बुद्धि तीनोंमें गम्भीरता है। नाक, कान, आँख, स्तन, नख और घाँटी—इन छहों अङ्गोंमें ऊँचाई है। हाथों और पैरोंके तलवे, आँखके कोने, ओठ, जिह्वा और नख—इन पाँचों अङ्गोंमें स्वाभाविक लालिमा है। हंसोंकी भाँति मधुर एवं गद्गद वाणी है। तुम्हारे केश काले और चिकने हैं। स्तन बहुत सुन्दर हैं। अङ्गकान्ति श्याम है। नितम्ब और उरोज पीन हैं। ऊपर कही हुई प्रत्येक विशेषतासे तुम सम्पन्न हो। काश्मीरदेशकी घोड़ीके समान तुममें अनेक शुभ लक्षण हैं। तुम्हारे नेत्रोंकी पलकें काली और तिरछी हैं। ओष्ठ पके हुए बिम्बफलके समान लाल हैं। कमर पतली है। गर्दन शङ्खकी शोभाको छीने लेती है। नसें मांससे ढकी हुई हैं तथा मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाको लज्जित कर रहा है ॥ १०-१२ ॥

शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया।
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण सदृशी श्रिया ॥ १३ ॥

तुम रूपमें उन्हीं लक्ष्मीके समान हो, जिनके नेत्र शरद्-ऋतुके विकसित कमलदलके समान विशाल हैं, जिनके अङ्गोंसे शरत्कालीन कमलकी सी सुगन्ध फैलती रहती है तथा जो शरदृतुके कमलोंका सेवन करती हैं ॥ १३ ॥



का त्वं ब्रूहि यथा भद्रे नासि दासी कथंचन।
यक्षी वा यदि वा देवी गन्धर्वी यदि वाप्सराः ॥ १४ ॥
देवकन्या भुजङ्गी वा नगरस्याथ देवता।
विद्याधरी किन्नरी वा यदि वा रोहिणी स्वयम् ॥ १५ ॥

कल्याणी ! बताओ, तुम वास्तवमें कौन हो ? दासी तो तुम किसी प्रकार भी नहीं हो सकतीं। तुम यक्षी हो या देवी ? गन्धर्वकन्या हो या अप्सरा ? देवकन्या हो या नागकन्या ?

* सैरन्ध्री किसे कहते हैं, यह स्वयं द्रौपदीने इसके पूर्व तीसरे अध्यायके १८ वें श्लोकमें बताया है।

अथवा इस नगरकी अधिष्ठात्री देवी तो नहीं हो? विद्याधरी, किन्नरी या साक्षात् चन्द्रदेवकी पत्नी रोहिणी तो नहीं हो? ॥ १४-१५ ॥

अलम्बुषा मिश्रकेशी पुण्डरीकाथ मालिनी।
इन्द्राणी वारुणी वा त्वं त्वष्टुर्धातुः प्रजापतेः।
देव्यो देवेषु विख्यातास्तासां त्वं कतमा शुभे ॥ १६ ॥

तुम अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका अथवा मालिनी नामकी अप्सरा तो नहीं हो? क्या तुम इन्द्राणी, वारुणी देवी, विश्वकर्माकी पत्नी अथवा प्रजापति ब्रह्माकी शक्ति सावित्री हो? शुभे! देवताओंके यहाँ जो प्रसिद्ध देवियाँ हैं, उनमेंसे तुम कौन हो? ॥ १६ ॥

द्रौपद्युवाच

नास्मि देवी न गन्धर्वी नासुरी न च राक्षसी।
सैरन्ध्री तु भुजिष्यास्मि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १७ ॥

द्रौपदी बोली—रानीजी! मैं न तो देवी हूँ, न गन्धर्वी; न असुरपत्नी हूँ, न राक्षसी। मैं तो सेवा करनेवाली सैरन्ध्री हूँ। यह मैं आपसे सच-सच कह रही हूँ॥

केशाञ्जानाम्यहं कर्तुं पिंषे साधु विलेपनम्।
मल्लिकोत्पलपद्मानां चम्पकानां तथा शुभे ॥ १८ ॥
ग्रथयिष्ये विचित्राश्च स्रजः परमशोभनाः।

मैं केशोंका श्रृङ्गार करना जानती हूँ तथा उबटन या अङ्गराग बहुत अच्छा पीस लेती हूँ। शुभे! मैं मल्लिका, उत्पल, कमल और चम्पा आदि फूलोंके बहुत सुन्दर एवं विचित्र हार भी गूँथ सकती हूँ ॥ १८½ ॥

आराधयं सत्यभामां कृष्णस्य महिषीं प्रियाम् ॥ १९ ॥
कृष्णां च भार्यां पाण्डूनां कुरूणामेकसुन्दरीम्।

पहले मैं श्रीकृष्णकी प्यारी रानी सत्यभामा तथा कुरुकुलकी एकमात्र सुन्दरी पाण्डवोंकी धर्मपत्नी द्रौपदीकी सेवामें रह चुकी हूँ ॥ १९½ ॥

तत्र तत्र चराम्येवं लभमाना सुभोजनम् ॥ २० ॥
वासांसि यावन्ति लभे तावत् तावद् रमे तथा।
मालिनीत्येव मे नाम स्वयं देवी चकार सा।
साहमभ्यागता देवि सुदेष्णे त्वन्निवेशनम् ॥ २१ ॥

मैं भिन्न-भिन्न स्थानोंमें सेवा करके उत्तम भोजन पाती हुई विचरती हूँ। मुझे जितने वस्त्र मिल जाते हैं, उतनोंमें ही मैं प्रसन्न रहती हूँ। स्वयं देवी द्रौपदीने मेरा नाम 'मालिनी' रख दिया था। देवि सुदेष्णे! आज वही मैं सैरन्ध्री आपके महलमें आयी हूँ ॥ २०-२१ ॥

सुदेष्णोवाच

मूर्ध्नि त्वां वासयेयं वै संशयो मे न विद्यते।
न चेदिच्छति राजा त्वां गच्छेत् सर्वेण चेतसा ॥ २२ ॥

सुदेष्णाने कहा—सुन्दरी! यदि मेरे मनमें संदेह न होता, तो मैं तुम्हें अपने सिर-माथे रख लेती। यदि राजा तुम्हें चाहने न लगें—सम्पूर्ण चित्तसे तुमपर आसक्त न हो जायँ तो तुम्हें रखनेमें मुझे कोई आपत्ति न होगी ॥ २२ ॥

स्त्रियो राजकुले याश्च याश्चेमा मम वेश्मनि।
प्रसक्तास्त्वां निरीक्षन्ते पुमांसं कं न मोहयेः ॥ २३ ॥

इस राजकुलमें जितनी स्त्रियाँ हैं तथा मेरे महलमें भी जो ये सुन्दरियाँ हैं, वे सब एकटक तुम्हारी ओर निहार रही हैं; फिर पुरुष कौन ऐसा होगा, जिसे तुम मोहित न कर सको? ॥ २३ ॥

वृक्षांश्चावस्थितान् पश्य य इमे मम वेश्मनि।
तेऽपि त्वां संनमन्तीव पुमांसं कं न मोहयेः ॥ २४ ॥

देखो, मेरे भवनमें जो ये वृक्ष खड़े हैं वे भी तुम्हें देखनेके लिये मानो झुके-से पड़ते हैं। फिर पुरुष कौन ऐसा होगा, जिसे तुम मोहित न कर लो? ॥ २४ ॥

राजा विराटः सुश्रोणि दृष्ट्वा वपुरमानुषम्।
विहाय मां वरारोहे गच्छेत् सर्वेण चेतसा ॥ २५ ॥

सुन्दर नितम्बोंवाली सुन्दरी! तुम्हारे सम्पूर्ण अङ्ग सुन्दर हैं। राजा विराट तुम्हारा यह दिव्य रूप देखते ही मुझे छोड़कर सम्पूर्ण चित्तसे तुम्हींमें आसक्त हो जायँगे ॥ २५ ॥

यं हि त्वमनवद्याङ्गि तरलायतलोचने।
प्रसक्तमभिवीक्षेथाः स कामवशगो भवेत् ॥ २६ ॥

निर्दोष अङ्गों तथा चञ्चल एवं विशाल नेत्रोंवाली सैरन्ध्री! जिस पुरुषकी ओर तुम ध्यानसे देख लोगी; वही कामके अधीन हो जायगा ॥ २६ ॥

यश्च त्वां सततं पश्येत् पुरुषश्चारुहासिनि।
एवं सर्वानवद्याङ्गि स चानङ्गवशो भवेत् ॥ २७ ॥

शुभाङ्गि! चारुहासिनि! इसी प्रकार जो पुरुष प्रतिदिन तुम्हें देखेगा, वह भी कामदेवके वशीभूत हो जायगा ॥ २७ ॥

अध्यारोहेद् यथा वृक्षान् वधायैवात्मनो नरः।
राजवेश्मनि ते सुभ्रु गृहे तु स्यात् तथा मम ॥ २८ ॥

सुभ्रु! जैसे कोई मूर्ख मनुष्य आत्महत्याके लिये (गिरनेके उद्देश्यसे) वृक्षोंपर चढ़े, उसी प्रकार राजमहलमें या अपने घरमें तुम्हें रखना मेरे लिये अनिष्टकारी हो सकता है ॥ २८ ॥

यथा च कर्कटी गर्भमाधत्ते मृत्युमात्मनः।
तथाविधमहं मन्ये वासं तव शुचिस्मिते ॥ २९ ॥

शुचिस्मिते! जैसे केंकड़ेकी मादा अपने मृत्युके लिये ही गर्भ धारण करती है, उसी प्रकार तुम्हें इस घरमें ठहराना मैं अपने लिये मरणके तुल्य मानती हूँ ॥ २९ ॥

द्रौपद्युवाच

नास्मि लभ्या विराटेन न चान्येन कदाचन।
गन्धर्वाः पतयो मह्यं युवानः पञ्च भामिनि ॥ ३० ॥

द्रौपदी बोली—भामिनि ! मुझे राजा विराट या दूसरा कोई पुरुष कभी नहीं पा सकता। पाँच तरुण गन्धर्व मेरे पति हैं ॥ ३० ॥

पुत्रा गन्धर्वराजस्य महासत्त्वस्य कस्यचित्।
रक्षन्ति ते च मां नित्यं दुःखाचारा तथा ह्यहम् ॥ ३१ ॥

वे सब किसी महान् शक्तिशाली गन्धर्वराजके* पुत्र हैं। वे ही मेरी प्रतिदिन रक्षा करते हैं तथा मैं स्वयं भी दुर्धर्ष हूँ ॥ ३१ ॥

यो मे न दद्यादुच्छिष्टं न च पादौ प्रधावयेत्।
प्रीणेरंस्तेन वासेन गन्धर्वाः पतयो मम ॥ ३२ ॥

जो मुझे जूठा अन्न नहीं देता और मुझसे अपने पैर नहीं धुलवाता, उसके उस व्यवहारसे मेरे पति गन्धर्वलोग प्रसन्न रहते हैं ॥ ३२ ॥

यो हि मां पुरुषो गृद्ध्येद् यथान्याः प्राकृताः स्त्रियः।
तामेव निवसेद् रात्रिं प्रविश्य च परां तनुम् ॥ ३३ ॥

परंतु जो पुरुष मुझे अन्य प्राकृत स्त्रियोंके समान समझकर (बलपूर्वक) प्राप्त करना चाहता है, उसका उसी रातमें परलोकवास हो जाता है ॥ ३३ ॥

न चाप्यहं चालयितुं शक्या केनचिदङ्गने।
दुःखशीला हि गन्धर्वास्ते च मे बलिनः प्रियाः ॥ ३४ ॥
प्रच्छन्नाश्चापि रक्षन्ति ते मां नित्यं शुचिस्मिते।

अतः कल्याणि ! मुझे कोई भी सतीत्वसे विचलित नहीं कर सकता। शुचिस्मिते ! यद्यपि मेरे पति गन्धर्वगण इस समय दुःखमें पड़े हैं; तथापि वे बड़े बलवान् हैं और गुप्तरूपसे सदा मेरी रक्षा करते रहते हैं ॥ ३४½ ॥

सुदेष्णोवाच

एवं त्वां वासयिष्यामि यथा त्वं नन्दिनीच्छसि ॥ ३५ ॥
न च पादौ न चोच्छिष्टं स्प्रक्ष्यसि त्वं कथंचन।

सुदेष्णाने कहा—आनन्ददायिनी सुन्दरी ! यदि (तुम्हारा शील-स्वभाव) ऐसा है, तो मैं जैसी तुम्हारी इच्छा है, उसके अनुसार तुम्हें अवश्य अपने घरमें ठहराऊँगी। तुम्हें किसी प्रकार पैर या जूठन नहीं छूने पड़ेंगे ॥ ३५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं कृष्णा विराटस्य भार्यया परिसान्त्विता ॥ ३६ ॥
उवास नगरे तस्मिन् पतिधर्मवती सती।
न चैनां वेद तत्रान्यस्तत्त्वेन जनमेजय ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—विराटकी रानीने जब इस प्रकार आश्वासन दिया तब पातिव्रत्य धर्मका पालन करनेवाली सती द्रौपदी उस नगरमें रहने लगी। जनमेजय ! वहाँ दूसरा कोई मनुष्य उसका वास्तविक परिचय न पा सका ॥ ३६-३७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि द्रौपदीप्रवेशे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें द्रौपदीप्रवेशसम्बन्धी नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

सहदेवका राजा विराटके साथ वार्तालाप और गौओंकी देखभालके लिये उनकी नियुक्ति

वैशम्पायन उवाच

सहदेवोऽपि गोपानां कृत्वा वेषमनुत्तमम्।
भाषां चैषां समास्थाय विराटमुपयादथ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर सहदेव भी ग्वालोंका परम उत्तम वेष बनाकर उन्हींकी भाषामें बोलते हुए राजा विराटके यहाँ गये ॥ १ ॥

गोष्ठमासाद्य तिष्ठन्तं भवनस्य समीपतः।
राजाथ दृष्ट्वा पुरुषान् प्राहिणोज्जातविस्मयः ॥ २ ॥

राजभवनके पास ही गोशाला थी; वहाँ पहुँचकर वे खड़े हो गये। राजा उन्हें दूरसे ही देखकर आश्चर्यमें पड़ गये और उनके पास कुछ लोगोंको भेजा ॥ २ ॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य भ्राजमानं नरर्षभम्।
समुपस्थाय वै राजा पप्रच्छ कुरुनन्दनम् ॥ ३ ॥

[अपने सेवकोंके बुलानेपर उनके साथ] दिव्य कान्तिसे सुशोभित नरश्रेष्ठ सहदेवको राजसभाकी ओर आते देख राजा विराट स्वयं उठकर उनके पास चले गये और कुरुकुलको आनन्द देनेवाले सहदेवसे पूछने लगे— ॥ ३ ॥

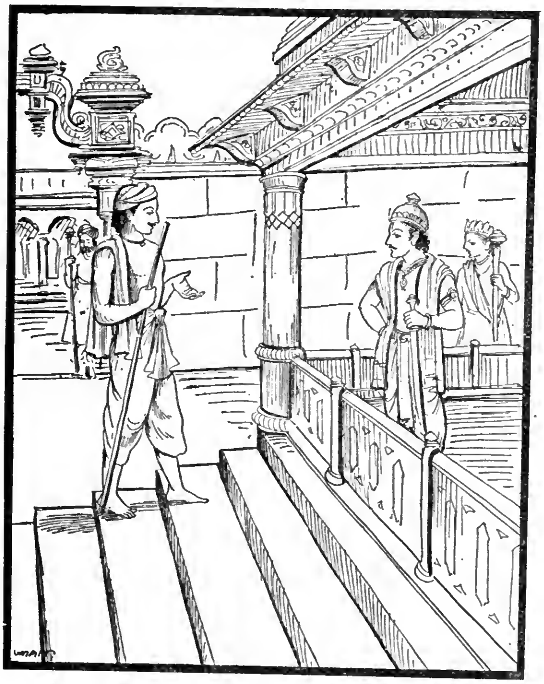
कस्य वा त्वं कुतो वा त्वं किं वा त्वं तु चिकीर्षसि।
न हि मे दृष्टपूर्वस्त्वं तत्त्वं ब्रूहि नरर्षभ ॥ ४ ॥

'पुरुषप्रवर ! तुम किसके पुत्र हो, कहाँसे आये हो और क्या करना चाहते हो? मैंने आजसे पहले तुम्हें कभी नहीं देखा है; अतः अपना ठीक-ठीक परिचय दो' ॥ ४ ॥

* यहाँ 'गन्धर्वराज' कहनेका गूढ़ अभिप्राय यह है कि वे गन्धर्वतुल्य राजा पाण्डुके पुत्र हैं।

सम्प्राप्य राजानममित्रतापनं
ततोऽब्रवीन्मेघमहौघनिःस्वनः ।
वैश्योऽस्मि नाम्नाहमरिष्टनेमि-
र्गोसंख्य आसं कुरुपुङ्गवानाम् ॥ ५ ॥
वस्तुं त्वयीच्छामि विशां वरिष्ठ
तान् राजसिंहान् न हि वेद्मि पार्थान् ।
न शक्यते जीवितुमन्यकर्मणा
न च त्वदन्यो मम रोचते नृपः ॥ ६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा विराटके निकट पहुँचकर सहदेव मेघोंकी घनघोर घटाके समान गम्भीर स्वरमें बोले—



'महाराज ! मैं वैश्य हूँ । मेरा नाम अरिष्टनेमि है । नृपश्रेष्ठ ! मैं कुरुवंशशिरोमणि पाण्डवोंके यहाँ गौओंकी गणना तथा देखभाल करता रहा हूँ । अब आपके यहाँ रहना चाहता हूँ; क्योंकि राजाओंमें सिंहके समान पाण्डव कहाँ हैं ? यह मैं नहीं जानता । बिना काम किये जीविका चल नहीं सकती और आपके सिवा दूसरा कोई राजा मुझे पसंद नहीं है' ॥ ५-६ ॥

विराट उवाच

त्वं ब्राह्मणो यदि वा क्षत्रियोऽसि
समुद्रनेमीश्वररूपवानसि ।
आचक्ष्व मे तत्त्वममित्रकर्शन
न वैश्यकर्म त्वयि विद्यते क्षमम् ॥ ७ ॥

विराटने कहा—शत्रुतापन ! मुझे तो ऐसा लगता है कि तुम ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय हो । समुद्रसे घिरी हुई समूची पृथ्वीके सम्राट्की भाँति तुम्हारा भव्य रूप है; अतः मुझे अपना ठीक-ठीक परिचय दो । यह वैश्य कर्म (गोपालन) तुम्हारे योग्य नहीं है ॥ ७ ॥

कस्यासि राज्ञो विषयादिहागतः
किं चापि शिल्पं तव विद्यते कृतम् ।
कथं त्वमस्मासु निवत्स्यसे सदा
वदस्व किं चापि तवेह वेतनम् ॥ ८ ॥

तुम किस राजाके राज्यसे यहाँ आये हो ? और तुमने किस कलाकी शिक्षा प्राप्त की है ? बोलो, हमारे यहाँ कैसे सदा रह सकोगे ? और यहाँ तुम्हारा वेतन क्या होगा ? ॥ ८ ॥

सहदेव उवाच

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरः ।
तस्याष्टशतसाहस्रा गवां वर्गाः शतं शतम् ॥ ९ ॥

सहदेव बोले—राजन् ! पाँचों पाण्डवोंमें सबसे बड़े भाई युधिष्ठिर हैं । उनके पास एक प्रकारकी गौओंके आठ लाख झुंड थे और प्रत्येक झुंडमें सौ-सौ गायें थीं ॥ ९ ॥

अपरे शतसाहस्रा द्विस्तावन्तस्तथा परे ।
तेषां गोसंख्य आसं वै तन्तिपालेति मां विदुः ॥ १० ॥
भूतं भव्यं भविष्यं च यच्च संख्यागतं गवाम् ।
न मेऽस्त्यविदितं किंचित् समन्ताद् दशयोजनम् ॥ ११ ॥

इनके सिवा, दूसरे प्रकारकी गौओंके एक लाख झुंड तथा तीसरे प्रकारकी गौओंके उनसे दुगुने अर्थात् दो लाख झुंड थे । (प्रत्येक झुंडमें सौ-सौ गायें थीं) पाण्डवोंकी उन गौओंका मैं गणक और निरीक्षक था । वे लोग मुझे 'तन्तिपाल' कहा करते थे । चारों ओर दस योजनकी दूरीमें जितनी गौएँ हों; उनकी भूत, वर्तमान और भविष्यमें जितनी संख्या थी, है और होगी, उन सबको मैं जानता हूँ । गौओंके सम्बन्धमें तीनों कालमें होनेवाली कोई ऐसी बात नहीं है, जो मुझे ज्ञात न हो ॥ १०-११ ॥

गुणाः सुविदिता ह्यासन् मम तस्य महात्मनः ।
असकृत् स मया तुष्टः कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥
क्षिप्रं च गावो बहुला भवन्ति
न तासु रोगो भवतीह कश्चन ।
तैस्तैरुपायैर्विदितं ममैत-
देतानि शिल्पानि मयि स्थितानि ॥ १३ ॥
ऋषभांश्चापि जानामि राजन् पूजितलक्षणान् ।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते ॥ १४ ॥

महात्मा राजा युधिष्ठिरको मेरे ये गुण भली भाँति विदित थे । वे कुरुराज युधिष्ठिर सदा मेरे ऊपर संतुष्ट रहते थे । किन-किन उपायोंसे गौओंकी संख्या शीघ्र बढ़ जाती है और उनमें कोई रोग नहीं पैदा होता, यह सब मुझे ज्ञात है । महाराज ! ये ही कलाएँ मुझमें विद्यमान हैं । इनके सिवा मैं

उन उत्तम लक्षणोंवाले बैलोंको भी जानता हूँ, जिनके मूत्रको सूँघ लेनेमात्रसे वन्ध्या स्त्री भी गर्भधारण एवं संतान उत्पन्न करने योग्य हो जाती है ॥ १२–१४ ॥

विराट उवाच

शतं सहस्राणि समाहितानि
सवर्णवर्णस्य विमिश्रितान् गुणैः ।
पशून् सपालान् भवते ददाम्यहं
त्वदाश्रया मे पशवो भवन्त्विह॥ १५ ॥

विराटने कहा—तन्तिपाल ! मेरे यहाँ एक लाख पशु संगृहीत हैं। उनमेंसे कुछ तो एक ही रंगके हैं और कुछ मिश्रित रंगके। वे सब विभिन्न गुणोंसे संयुक्त हैं। मैं उन पशुओं और पशुपालोंको आजसे तुम्हारे हाथमें सौंपता हूँ। मेरे पशु अबसे तुम्हारे ही अधीन रहेंगे ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा स राज्ञोऽविदितो विशाम्पते-
रुवास तत्रैव सुखं नरोत्तमः ।
न चैनमन्येऽपि विदुः कथंचन
प्रादाच्च तस्मै भरणं यथेप्सितम् ॥ १६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार प्रजापालक राजा विराटसे अपरिचित रहकर नरश्रेष्ठ सहदेव वहीं गोशालामें रहने लगे। दूसरे लोग भी उन्हें किसी तरह पहचान न सके। राजाने उनके लिये उनकी इच्छाके अनुसार भरण-पोषणकी व्यवस्था कर दी ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि सहदेवप्रवेशे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें सहदेवप्रवेशविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

अर्जुनका राजा विराटसे मिलना और राजाके द्वारा कन्याओंको नृत्य आदिकी शिक्षा देनेके लिये उनको नियुक्त करना

वैशम्पायन उवाच

अथापरोऽदृश्यत रूपसम्पदा
स्त्रीणामलङ्कारधरो बृहत्पुमान् ।
प्राकारवप्रे प्रतिमुच्य कुण्डले
दीर्घे च कम्बूपरि हाटके शुभे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर नगरकी चहारदीवारीके पीछे जो मिट्टीका ऊँचा टीला था, उसके समीप रूप-सम्पदासे सुशोभित एक दूसरा पुरुष दिखायी दिया। उसका डील-डौल ऊँचा था। उसने स्त्रियोंके लिये उचित आभूषण पहन रक्खे थे तथा कानोंमें बड़े-बड़े कुण्डल और हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ पहनकर उनके ऊपर सोनेके सुन्दर कंगन धारण कर लिये थे ॥ १ ॥

बाहू च दीर्घान् प्रविकीर्य मूर्धजान्
महाभुजो वारणतुल्यविक्रमः ।
गतेन भूमिं प्रतिकम्पयंस्तदा
विराटमासाद्य सभासमीपतः ॥ २ ॥

अपने बड़े-बड़े केशोंकी लटोंको खोलकर हाथोंतक फैलाये वह महाबाहु पुरुष उस समय हाथीके समान मस्तानी चालसे चलता और पग-पगपर मानो पृथ्वीको कँपाता हुआ राजसभाके समीप राजा विराटके पास आकर खड़ा हुआ ॥ २ ॥

तं प्रेक्ष्य राजोपगतं सभातले
व्याजात् प्रतिच्छन्नमरिप्रमाथिनम् ।
विराजमानं परमेण वर्चसा
सुतं महेन्द्रस्य गजेन्द्रविक्रमम् ॥ ३ ॥
सर्वानपृच्छच्च सभानुचारिणः
कुतोऽयमायाति पुरा न मे श्रुतः ।
न चैनमूचुर्विदितं तदा नराः
सविस्मयं वाक्यमिदं नृपोऽब्रवीत् ॥ ४॥

छद्मवेशसे अपने स्वरूपको छिपाकर सभाभवनमें आया हुआ वह शत्रुविजयी वीर पुरुष अपने उत्कृष्ट तेजसे प्रकाशित हो रहा था। गजराजके समान बल-विक्रमवाले उस महेन्द्रपुत्र अर्जुनको देखकर राजाने समस्त सभासदोंसे पूछा—'यह कहाँसे आया है ? आजसे पहले मैंने कभी इसके विषयमें नहीं सुना है।' राजाके पूछनेपर उन मनुष्योंमेंसे किसीने उस पुरुषको अपना परिचित नहीं बताया। तब राजाने आश्चर्ययुक्त होकर यह बात कही— ॥ ३-४ ॥

सत्त्वोपपन्नः पुरुषोऽमरोपमः
श्यामो युवा वारणयूथपोपमः ।
आमुच्य कम्बूपरि हाटके शुभे
विमुच्य वेणीमपिनह्य कुण्डले ॥ ५ ॥
स्रग्वी सुकेशः परिधाय चान्यथा
शुशोभ धन्वी कवची शरी यथा ।

आरुह्य यानं परिधावतां भवान्
सुतैः समो मेभव वा मया समः ॥ ६ ॥

'तात ! तुम शक्ति और धैर्यसे सम्पन्न देवोपम पुरुष हो। तुम्हारी अङ्गकान्ति श्याम है। तुम तरुण हो और हाथियोंके यूथके अधिपति महान् गजराजके समान शोभा पा रहे हो। तुमने हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ पहनकर उनके ऊपर सोनेके सुन्दर कंगन डाल लिये हैं, वेणी खोलकर केशोंकी लटें छितरा ली हैं तथा कानोंमें कुण्डल धारणकर गलेमें गजरा डाल रक्खा है। तुम्हारे केश बहुत ही सुन्दर हैं। तुम नारीजनोचित वेश-भूषा धारण करके भी उसके विपरीत धनुष-बाण और कवच धारण करनेवाले वीरके समान शोभा पा रहे हो। तुम रथ आदि वाहनोंपर बैठकर इच्छानुसार भ्रमण करो और मेरे पुत्रोंके अथवा मेरे ही समान होकर रहो।५-६।

वृद्धो ह्यहं वै परिहारकामः
सर्वान् मत्स्यांस्तरसा पालयस्व।
नैवंविधाः क्लीबरूपा भवन्ति
कथंचनेति प्रतिभाति मे मनः ॥ ७ ॥

'मैं बूढ़ा हो गया हूँ; अब राजकाज छोड़ना चाहता हूँ; अतः तुम सम्पूर्ण मत्स्यदेशका शीघ्र ही पालन करो। तुम्हारे-जैसे स्वरूपवाले किसी तरह नपुंसक नहीं हो सकते। मेरे मनको ऐसा ही प्रतीत होता है' ॥ ७ ॥

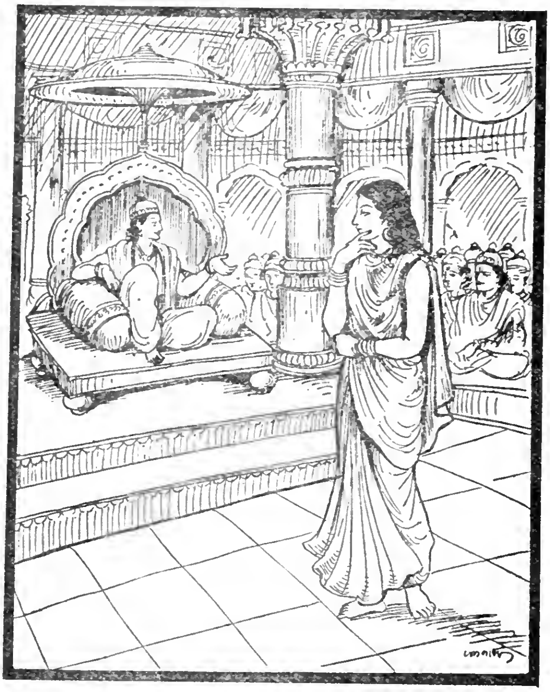
(*अर्जुन उवाच*

वेणीं प्रकुर्यां रुचिरे च कुण्डले
तथा स्रजः प्रावरणानि संहरे।
स्नानं चरेयं विमृजे च दर्पणं
विशेषकेष्वेव च कौशलं मम ॥
क्लीबेषु बालेषु जनेषु नर्तने
शिक्षाप्रदानेषु च योग्यता मम।
करोमि वेणीषु च पुष्पपूरणं
न मे स्त्रियः कर्मणि कौशलाधिकाः ॥

अर्जुन बोले—मैं वेणी-रचना अच्छी कर सकता हूँ, मनोहर कुण्डल बनाना जानता हूँ, फूलोंके हार तथा ओढ़नेकी चादरें सुन्दर ढंगसे बनाता हूँ, स्नान करा सकता हूँ, दर्पणकी सफाई करता हूँ और चन्दन आदिसे अनेक प्रकारकी रेखाएँ बनाकर श्रृङ्गार करनेकी क्रियामें मुझे विशेष कुशलता प्राप्त है। नपुंसकों, बालकों एवं साधारण लोगोंमें नाचने तथा संगीत एवं नृत्यकी शिक्षामें मेरी अच्छी योग्यता है। स्त्रियोंकी वेणीमें फूल गूँथनेका कार्य भी मैं अच्छे ढंगसे सम्पन्न करता हूँ। इन सब कार्योंमें स्त्रियाँ भी मुझसे अधिक कुशल नहीं हैं ॥

तमब्रवीत् प्रांशुमुदीक्ष्य विस्मितो
विराटराजोपसृतं महायशाः ॥

निकट आनेपर उसका कद बहुत ऊँचा देखकर महायशस्वी राजा विराट अत्यन्त विस्मित होकर बोले ॥



विराट उवाच

नार्हस्तु वेषोऽयमनूर्जितस्ते
नापुंस्त्वमर्हो नरदेवसिंह।
तवैष वेशोऽशुभवेषभूषणै-
र्विभूषितो भूतपतेरिव प्रभो ॥
विभाति भानोरिव रश्मिमालिनो
घनावरुद्धे गगने घनैरिव।
धनुर्हि मन्ये तव शोभयेद् भुजौ
तथा हि पीनावतिमात्रमायतौ ॥)

विराटने कहा—नरदेवसिंह ! ओज और बलसे रहित नपुंसकका-सा यह वेष तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम क्लीब होनेके योग्य नहीं हो। प्रभो ! तुम्हारा यह वेष भगवान् भूतनाथकी भाँति अशुभ वेष-भूषासे विभूषित है। जैसे बादलोंकी घटासे आच्छादित आकाशमें भी अंशुमाली सूर्यका मण्डल सुशोभित होता है, उसी प्रकार इस क्लीबवेषमें भी तुम पौरुषसे प्रकाशित हो रहे हो। मेरा ऐसा विश्वास है कि तुम्हारी इन मोटी और अत्यन्त विशाल भुजाओंको धनुष ही सुशोभित कर सकता है ॥

अर्जुन उवाच

गायामि नृत्याम्यथ वादयामि
भद्रोऽस्मि नृत्ये कुशलोऽस्मि गीते।
त्वमुत्तरायै प्रदिशस्व मां स्वयं
भवामि देव्या नरदेव नर्तकः ॥ ८ ॥

अर्जुनने कहा—नरदेव ! मैं गाता, नाचता और बाजे बजाता हूँ। नृत्यकलामें निपुण और संगीत-कलामें भी कुशल हूँ। आप उत्तराको शिक्षा देनेके लिये मुझे रख लें। मैं स्वयं राजकुमारी उत्तराको नृत्य सिखलाऊँगा ॥ ८ ॥

इदं तु रूपं मम येन किं तव
प्रकीर्तयित्वा भृशशोकवर्धनम्।
बृहन्नलां मां नरदेव विद्धि
सुतं सुतां वा पितृमातृवर्जिताम्॥ ९ ॥

मेरा ऐसा रूप जिस कारणसे हुआ है, उसे आपके सामने कहनेसे क्या लाभ है ? वह अधिक शोक बढ़ानेवाली बात है। राजन् ! आप मुझे बृहन्नला समझें और पिता-मातासे रहित पुत्र या पुत्री मान लें ॥ ९ ॥

विराट उवाच

ददामि ते हन्त वरं बृहन्नले
सुतां च मे नर्तय याश्च तादृशीः।
इदं तु ते कर्म समं न मे मतं
समुद्रनेमिं पृथिवीं त्वमर्हसि ॥ १० ॥

विराट बोले—बृहन्नले ! मैं तुम्हें अभीष्ट वर देता हूँ। तुम मेरी पुत्रीको तथा उसके समान अवस्थावाली अन्य राजकुमारियोंको नृत्यकला सिखलाओ। परंतु मुझे यह कर्म तुम्हारे योग्य नहीं जान पड़ता। तुम तो समुद्रसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीके शासक होने योग्य हो ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

बृहन्नलां तामभिवीक्ष्य मत्स्यराट्
कलासु नृत्येषु तथैव वादिते।
सम्मन्त्र्य राजा विविधैः स्वमन्त्रिभिः
परीक्ष्य चैनं प्रमदाभिराशु वै ॥ ११ ॥
अपुंस्त्वमप्यस्य निशम्य च स्थिरं
ततः कुमारीपुरमुत्ससर्ज तम्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर मत्स्यनरेशने बृहन्नलाकी गीत, नृत्य और बाजे बजानेकी कलाओंमें परीक्षा करके अपने अनेक मन्त्रियोंसे यह सलाह की कि इसे अन्तःपुरमें रखना चाहिये या नहीं। फिर तरुणी स्त्रियोंद्वारा शीघ्र ही उनके नपुंसकत्वकी जाँच करायी। जब सब तरहसे उनका नपुंसक होना ठीक प्रमाणित हो गया, तब यह सुन-समझकर उन्होंने बृहन्नलाको कन्याके अन्तःपुरमें जानेकी आज्ञा दी ॥ ११ ॥

स शिक्षयामास च गीतवादितं
सुतां विराटस्य धनंजयः प्रभुः॥ १२ ॥
सखीश्च तस्याः परिचारिकास्तथा
प्रियश्च तासां स बभूव पाण्डवः॥ १३ ॥
तथा स सत्रेण धनंजयो वसन्
प्रियाणि कुर्वन् सह ताभिरात्मवान्।
तथा च तं तत्र न जज्ञिरे जना
बहिश्चरा वाप्यथ चान्तरेचराः॥ १४ ॥

शक्तिशाली अर्जुन विराटकन्या उत्तरा, उसकी सखियों तथा सेविकाओंको भी गीत, वाद्य एवं नृत्यकलाकी शिक्षा देने लगे। इससे वे उन सबके प्रिय हो गये। छद्मवेशमें कन्याओंके साथ रहते हुए भी अर्जुन अपने मनको सदा पूर्णरूपसे वशमें रखते और उन सबको प्रिय लगनेवाले कार्य करते थे। इस रूपमें वहाँ रहते हुए अर्जुनको बाहर अथवा अन्तःपुरके कोई भी मनुष्य पहचान न सके ॥ १२—१४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि अर्जुनप्रवेशो नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें अर्जुनप्रवेशनामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल १८½ श्लोक हैं)

द्वादशोऽध्यायः

नकुलका विराटके अश्वोंकी देखरेखमें नियुक्त होना

वैशम्पायन उवाच

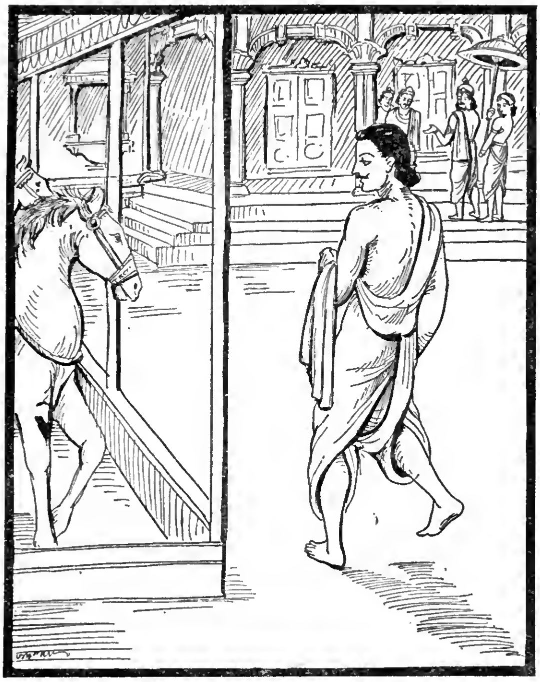
अथापरोऽदृश्यत पाण्डवः प्रभु-
र्विराटराजं तरसा समेयिवान्।
तमापतन्तं ददृशे पृथग्जनो
विमुक्तमभ्रादिव सूर्यमण्डलम्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर अन्य पाण्डुपुत्र शक्तिशाली नकुल बड़े वेगसे चलते हुए राजा विराटके यहाँ आये। उन्हें आते समय साधारण लोगोंने देखा; उस समय वे मेघमालाकी ओटसे निकले हुए सूर्यमण्डलके समान तेजस्वी जान पड़ते थे ॥ १ ॥

स वै हयानैक्षत तांस्ततस्ततः
समीक्षमाणं स ददर्श मत्स्यराट्।
ततोऽब्रवीत्ताननुगान् नरेश्वरः
कुतोऽयमायाति नरोऽमरोपमः॥ २ ॥
स्वयं हयानीक्षति मामकान् दृढं
ध्रुवं हयज्ञो भविता विचक्षणः।

प्रवेश्यतामेष समीपमाशु मे
विभाति वीरो हि यथामरस्तथा ॥ ३ ॥

आते ही उन्होंने इधर-उधर घूमकर घोड़ोंको देखना



प्रारम्भ किया। इस प्रकार उन अश्वोंका निरीक्षण करते समय उन्हें मत्स्यराज विराटने देखा। तब वे नरेश वहाँ बैठे हुए अनुचरोंसे बोले—'पता तो लगाओ, यह देवोपम पुरुष कहाँसे आ रहा है ? यह बिना कहे-सुने स्वयं मेरे घोड़ोंको बहुत ध्यानसे देख रहा है; अतः यह अवश्य घोड़ोंको पहचाननेवाला और अश्वविद्याका विद्वान् होगा। इसलिये इसे शीघ्र मेरे समीप ले आओ। यह वीर देवताओंकी भाँति सुशोभित हो रहा है' ॥ २-३ ॥

अभ्येत्य राजानममित्रहाब्रवी-
ज्जयोऽस्तु ते पार्थिव भद्रमस्तु वः।
हयेषु युक्तो नृप सम्मतः सदा
तवाश्वसूतो निपुणो भवाम्यहम् ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् राजसेवकोंके साथ राजाके समीप आकर शत्रुहन्ता नकुलने कहा—'राजन्! आपकी जय हो। आपका कल्याण हो। मैं घोड़ोंको शिक्षा देनेमें निपुण हूँ और अनेक राजाओंसे सम्मानित हूँ। मैं सदा आपके घोड़ोंका चतुर सारथि हो सकता हूँ ॥ ४ ॥

विराट उवाच

ददामि यानानि धनं निवेशनं
ममाश्वसूतो भवितुं त्वमर्हसि।
कुतोऽसि कस्यासि कथं त्वमागतः
प्रब्रूहि शिल्पं तव विद्यते च यत् ॥ ५ ॥

विराटने कहा—भद्र पुरुष ! मैं तुम्हें सवारी, धन और रहनेके लिये घर देता हूँ। तुम मेरे घोड़ोंको शिक्षा देनेवाले सारथि हो सकते हो, किंतु मैं पहले यह जानना चाहता हूँ कि तुम कहाँसे आये हो ? किसके पुत्र हो और किसलिये तुम्हारा यहाँ आगमन हुआ है ? तुममें जो कला-कौशल हो, उसे भी बताओ ॥ ५ ॥

नकुल उवाच

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरः।
तेनाहमश्वेषु पुरा नियुक्तः शत्रुकर्शन ॥ ६ ॥
अश्वानां प्रकृतिं वेद्मि विनयं चापि सर्वशः।
दुष्टानां प्रतिपत्तिं च कृत्स्नं चैव चिकित्सितम् ॥ ७ ॥

नकुल बोले—शत्रुदमन ! सुनिये, पाँचों पाण्डवोंमें जो बड़े भ्राता युधिष्ठिर हैं, उन्होंने पहले मुझे घोड़ोंकी देख-भालके कामपर लगा रक्खा था। मैं घोड़ोंकी जाति पहचानता हूँ एवं उन्हें सब प्रकारकी शिक्षा देनेकी कला भी जानता हूँ। दुष्ट घोड़ोंकी दुष्टता-निवारणका ढंग भी मुझे मालूम है तथा घोड़ोंकी चिकित्सा भी मैं पूर्णरूपसे जानता हूँ ॥ ६-७ ॥

न कातरं स्यान्मम जातु वाहनं
न मेऽस्ति दुष्टा वडवा कुतो हयाः।
जनस्तु मामाह स चापि पाण्डवो
युधिष्ठिरो ग्रन्थिकमेव नामतः ॥ ८ ॥

मेरा सिखाया हुआ घोड़ा कभी कायर नहीं हो सकता। मेरी सिखायी हुई घोड़ीमें भी कोई ऐब नहीं आता, फिर घोड़े तो बिगड़ ही कैसे सकते हैं ? मुझे साधारण लोग तथा पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर भी 'ग्रन्थिक' नामसे ही पुकारा करते थे ॥ ८ ॥

(मातलिरिव देवपतेर्दशरथनृपतेःसुमन्त्र इव यन्ता।
सुमह इव जामदग्नेस्तथैव तव शिक्षयाम्यश्वान् ॥
युधिष्ठिरस्य राजेन्द्र नरराजस्य शासनात्।
शतसाहस्रकोटीनामश्वानामस्मि रक्षिता ॥)

जैसे देवराज इन्द्रके सारथि मातलि हैं, जैसे राजा दशरथके रथचालक सुमन्त्र हैं और जैसे जमदग्निनन्दन परशुरामके सूत सुमह हैं, उसी प्रकार मैं आपका सारथि होकर आपके घोड़ोंको शिक्षा दूँगा। राजेन्द्र ! मैं महाराज युधिष्ठिरके आदेशसे उनके यहाँ लक्षकोटि अश्वोंका संरक्षक रहा हूँ ॥

विराट उवाच

यदस्ति किंचिन्मम वाजिवाहनं
तदस्तु सर्वं त्वदधीनमद्य वै।
ये चापि केचिन्मम वाजियोजका-
स्त्वदाश्रयाः सारथयश्च सन्तु मे ॥ ९ ॥

विराटने कहा—ग्रन्थिक ! मेरे पास जो भी घोड़े और अन्य वाहन हैं, वे सब आजसे ही तुम्हारे अधीन हो जायँ। इसके सिवा जो कोई भी मेरे घोड़ोंको जोतनेवाले सारथि हैं, वे सब तुम्हारे अधिकारमें रहें ॥ ९ ॥

इदं तवेष्टं यदि वै सुरोपम
ब्रवीहि यत् ते प्रसमीक्षितुं वसु।
न तेऽनुरूपं हयकर्म विद्यते
प्रभासि राजेव हि सम्मतो मम ॥१०॥
युधिष्ठिरस्येव हि दर्शनेन मे
समं तवेदं प्रियमत्र दर्शनम्।
कथं तु भृत्यैः स विनाकृतो वने
वसत्यनिन्द्यो रमते च पाण्डवः ॥११॥

देवोपम पुरुष ! यदि यही कार्य तुम्हें प्रिय है, तो बताओ, इसके लिये वेतनरूपसे कितना धन लेनेका तुमने विचार किया है ? यह घोड़ोंकी शिक्षाका कार्य तुम्हारे अनुरूप नहीं है। तुम तो राजाकी भाँति शोभा पा रहे हो और मुझे भी अत्यन्त प्रिय लगते हो। आज मुझे तुम्हारा जो यहाँ दर्शन हुआ है, यह राजा युधिष्ठिरके ही दर्शनके समान मुझे अत्यन्त प्रिय है। अहो ! सर्वथा प्रशंसाके योग्य पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर सेवकोंके बिना वनमें कैसे रहते होंगे और कैसे उनका मन वहाँ लगता होगा ? ॥ १०-११ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा स गन्धर्ववरोपमो युवा
विराटराज्ञा मुदितेन पूजितः।
न चैनमन्येऽपि विदुः कथंचन
प्रियाभिरामं विचरन्तमन्तरा ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार प्रसन्न हुए राजा विराटके द्वारा सम्मानित हो श्रेष्ठ गन्धर्वके सदृश शोभा पानेवाले युवावस्थासम्पन्न नकुल वहाँ रहने लगे। उनका स्वरूप बड़ा ही प्रिय और नयनाभिराम था। वे नगरके भीतर विचरते रहते थे, तो भी उन्हें राजा तथा अन्य मनुष्य किसी प्रकार पहचान न सके ॥ ॥ १२ ॥

एवं हि मत्स्ये न्यवसन्त पाण्डवा
यथाप्रतिज्ञाभिरमोघदर्शनाः ।
अज्ञातचर्यां व्यचरन् समाहिताः
समुद्रनेमीपतयोऽतिदुःखिताः ॥१३॥

जिनका दर्शन अमोघ है, वे पाण्डवगण इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार मत्स्यदेशमें रहने और एकाग्रतापूर्वक अज्ञातवासका समय व्यतीत करने लगे। वे सागरसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीके अधिपति होकर भी अत्यन्त कष्ट उठा रहे थे ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि नकुलप्रवेशे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें नकुलप्रवेशसम्बन्धी बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १५ श्लोक हैं)

(समयपालनपर्व)

त्रयोदशोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा जीमूत नामक विश्वविख्यात मल्लका वध

जनमेजय उवाच

एवं ते मत्स्यनगरे प्रच्छन्नाः कुरुनन्दनाः।
अत ऊर्ध्वं महावीर्याः किमकुर्वत वै द्विज ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! इस प्रकार मत्स्यदेशकी राजधानीमें गुप्तरूपसे निवास करनेवाले महापराक्रमी पाण्डुपुत्रोंने इसके बाद क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं मत्स्यस्य नगरे प्रच्छन्नाः कुरुनन्दनाः।
आराधयन्तो राजानं यदकुर्वत तच्छृणु ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! इस प्रकार मत्स्यदेशकी राजधानीमें गुप्तरूपसे निवास करनेवाले पाण्डवोंने राजा विराटकी सेवा करते हुए जो-जो कार्य किया, वह सुनो ॥ २ ॥

तृणबिन्दुप्रसादाच्च धर्मस्य च महात्मनः।
अज्ञातवासमेवं तु विराटनगरेऽवसन् ॥ ३ ॥
युधिष्ठिरः सभास्तारो मत्स्यानामभवत् प्रियः।
तथैव च विराटस्य सपुत्रस्य विशाम्पते ॥ ४ ॥
स ह्यक्षहृदयज्ञस्तान् क्रीडयामास पाण्डवः।
अक्षवत्यां यथाकामं सूत्रबद्धानिव द्विजान् ॥ ५ ॥

राजर्षि तृणबिन्दु और महात्मा धर्मके प्रसादसे पाण्डव लोग इस प्रकार विराटके नगरमें अज्ञातवासके दिन पूरे करने लगे। महाराज युधिष्ठिर राजसभाके प्रमुख सदस्य और मत्स्यदेशकी प्रजाके अत्यन्त प्रिय थे। राजन् ! इसी प्रकार पुत्रसहित राजा विराटका भी उनपर विशेष प्रेम था। वे पासोंका मर्म जानते थे। जैसे कोई सूतमें बाँधे हुए पक्षियोंको इच्छानुसार उड़ावे, उसी प्रकार वे द्यूतशालामें पासोंको

अपने इच्छानुसार फेंकते हुए राजा आदिको जूआ खेलाया करते थे ॥ ३-५ ॥

अज्ञातं च विराटस्य विजित्य वसु धर्मराट् ।
भ्रातृभ्यः पुरुषव्याघ्रो यथार्हं सम्प्रयच्छति ॥ ६ ॥

पुरुषसिंह धर्मराज युधिष्ठिर जूएमें धन जीतकर अपने भाइयोंको यथायोग्य बाँट देते थे।' इसका राजा विराटको भी पता नहीं लगता था ॥ ६ ॥

भीमसेनोऽपि मांसानि भक्ष्याणि विविधानि च ।
अतिसृष्टानि मत्स्येन विक्रीणीते युधिष्ठिरे ॥ ७ ॥

भीमसेन भी नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थ, जो मत्स्यनरेशद्वारा उन्हें पुरस्काररूपमें प्राप्त होते, बेच देते और उससे मिला हुआ धन युधिष्ठिरकी सेवामें अर्पित करते थे ॥ ७ ॥

वासांसि परिजीर्णानि लब्धान्यन्तःपुरेऽर्जुनः ।
विक्रीणानश्च सर्वेभ्यः पाण्डवेभ्यः प्रयच्छति ॥ ८ ॥

अर्जुनको अन्तःपुरमें जो पुराने उतारे हुए बहुमूल्य वस्त्र प्राप्त होते, उन्हें वे बेचते और बेचनेसे मिला हुआ मूल्य सब पाण्डवोंको देते थे ॥ ८ ॥

सहदेवोऽपि गोपानां वेषमास्थाय पाण्डवः ।
दधि क्षीरं घृतं चैव पाण्डवेभ्यः प्रयच्छति ॥ ९ ॥

पाण्डुनन्दन सहदेव भी ग्वालोंका वेश धारणकर पाण्डवोंको दही, दूध और घी दिया करते थे ॥ ९ ॥

नकुलोऽपि धनं लब्ध्वा कृते कर्मणि वाजिनाम् ।
तुष्टे तस्मिन् नरपतौ पाण्डवेभ्यः प्रयच्छति ॥१०॥

नकुल भी घोड़ोंके शिक्षणका कार्य करके महाराज विराटके संतुष्ट होनेपर उनसे पुरस्कारस्वरूप जो धन पाते, उसे सब पाण्डवोंको बाँट दिया करते थे ॥ १० ॥

कृष्णा तु सर्वान् भर्तृंस्तान् निरीक्षन्ती तपस्विनी।
यथा पुनरविज्ञाता तथा चरति भामिनी ॥११॥

तपस्विनी एवं सुन्दरी द्रौपदी भी उन सब पतियोंकी देखभाल करती हुई ऐसा बर्ताव करती, जिससे फिर कोई उसे पहचान न सके ॥ ११ ॥

एवं सम्पादयन्तस्ते तदान्योन्यं महारथाः ।
विराटनगरे चेरुः पुनर्गर्भधृता इव ॥१२॥

इस प्रकार एक दूसरेका सहयोग करते हुए वे महारथी पाण्डव विराटनगरमें बहुत छिपकर रहते थे; मानो पुनः माताके गर्भमें निवास कर रहे हों ॥ १२ ॥

साशङ्का धार्तराष्ट्रस्य भयात् पाण्डुसुतास्तदा ।
प्रेक्षमाणास्तदा कृष्णामूषुश्छन्ना नराधिप ॥१३॥

राजन् ! दुर्योधनद्वारा पहचान लिये जानेके भयसे पाण्डव सदा सशङ्क रहते थे; अतः वे उस समय द्रौपदीकी देखभाल करते हुए भी छिपकर ही वहाँ निवास करते थे ॥

अथ मासे चतुर्थे तु ब्रह्मणः सुमहोत्सवः ।
आसीत् समृद्धो मत्स्येषु पुरुषाणां सुसम्मतः ॥१४॥
तत्र मल्लाः समापेतुर्दिग्भ्यो राजन् सहस्रशः ।
समाजे ब्रह्मणो राजन् यथा पशुपतेरिव ॥१५॥

तदनन्तर चौथा महीना प्रारम्भ होनेपर मत्स्यदेशमें ब्रह्माजीकी पूजाका महान् उत्सव मनाया जाने लगा। इसमें बड़ा समारोह होता था। मत्स्यदेशके लोगोंको यह बहुत प्रिय था। जनमेजय ! उस समय विराटनगरमें चारों दिशाओंसे हजारों कुश्ती लड़नेवाले मल्ल जुटने लगे। इसी अवसरपर ब्रह्माजी और भगवान् शङ्करकी सभाके समान उस राजधानीमें लोगोंका जमाव होता था ॥ १४-१५ ॥

महाकाया महावीर्याः कालखञ्जा इवासुराः ।
वीर्योन्मत्ता बलोदग्रा राज्ञा समभिपूजिताः ॥१६॥

वहाँ आये हुए विशालकाय और महान् बलशाली मल्ल कालखञ्ज नामक असुरोंके समान जान पड़ते थे। वे सब अपनी शक्ति और पराक्रमके मदसे उन्मत्त थे एवं बलमें बहुत बढ़े-चढ़े थे। राजा विराटने उन सबका खूब स्वागत-सत्कार किया ॥ १६ ॥

सिंहस्कन्धकटिग्रीवाः स्ववदाता मनस्विनः ।
असकृल्लब्धलक्षास्ते रङ्गे पार्थिवसंनिधौ ॥१७॥

उनके कंधे, कमर और कण्ठ सिंहके समान थे। वे निर्मल यशसे सुशोभित और मनस्वी थे। उन्होंने अनेक बार राजाके समीप रंगभूमि (अखाड़े) में विजय पायी थी ॥१७॥

तेषामेको महानासीत् सर्वमल्लानथाह्वयत् ।
आवल्गमानं तं रङ्गे नोपतिष्ठति कश्चन ॥१८॥

उन सबमें एक बहुत बड़ा पहलवान था, जो दूसरे सब पहलवानोंको अपने साथ लड़नेके लिये ललकारता था। जब वह अखाड़ेमें उतरकर उछलने लगा, उस समय कोई भी उसके समीप खड़ा न हो सका ॥ १८ ॥

यदा सर्वे विमनसस्ते मल्ला हतचेतसः ।
अथ सूदेन तं मल्लं योधयामास मत्स्यराट् ॥१९॥

जब वे सभी मल्ल उदासीन हो हिम्मत हार बैठे, तब मत्स्यनरेशने अपने रसोइयेसे उस पहलवानको लड़ानेका निश्चय किया ॥ १९ ॥

नोद्यमानस्तदा भीमो दुःखेनैवाकरोन्मतिम् ।
न हि शक्नोति विवृते प्रत्याख्यातुं नराधिपम् ॥२०॥

उस समय राजासे प्रेरित होनेपर भीमसेनने [पहचाने जानेके भयसे] दुखी होकर ही उससे लड़नेका विचार

किया । वे राजाकी बातको प्रकटरूपमें टाल नहीं सकते थे ॥ २० ॥

ततः स पुरुषव्याघ्रः शार्दूलशिथिलश्चरन् ।
प्रविवेश महारङ्गं विराटमभिपूजयन् ॥२१॥

तदनन्तर पुरुषसिंह भीमने सिंहके समान धीमी चालसे चलते हुए राजा विराटका मान रखनेके लिये उस विशाल रंगभूमिमें प्रवेश किया ॥ २१ ॥

बबन्ध कक्षां कौन्तेयस्ततः संहर्षयञ्जनम् ।
ततस्तु वृत्रसंकाशं भीमो मल्लं समाह्वयत् ॥२२॥
जीमूतं नाम तं तत्र मल्लं प्रख्यातविक्रमम् ।

फिर लोगोंमें हर्षका संचार करते हुए उन्होंने लँगोट बाँधा और उस प्रसिद्ध पराक्रमी जीमूत नामक मल्लको, जो वृत्रासुरके समान दिखायी देता था, युद्धके लिये ललकारा ॥ २२½ ॥

तावुभौ सुमहोत्साहावुभौ भीमपराक्रमौ ॥२३॥
मत्ताविव महाकायौ वारणौ षष्टिहायनौ ।

वे दोनों बड़े उत्साहमें भरे थे ; दोनों ही प्रचण्ड पराक्रमी थे, ऐसा लगता था मानो साठ वर्षके दो मतवाले एवं विशालकाय गजराज एक दूसरेसे भिड़नेको उद्यत हों ॥ २३½ ॥

ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुयुद्धं समीयतुः ॥२४॥
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ ।
आसीत् सुभीमः सम्पातो वज्रपर्वतयोरिव ॥ २५॥

अत्यन्त हर्षमें भरकर एक दूसरेको जीत लेनेकी इच्छावाले वे दोनों नरश्रेष्ठ वीर बाहुयुद्ध करने लगे । उस समय उन दोनोंमें बड़ी भयंकर भिड़न्त हुई । उनके परस्परके आघातसे इस प्रकार चटचट शब्द होने लगा, मानो वज्र और पर्वत एक दूसरेसे टकरा गये हों ॥ २४-२५ ॥

उभौ परमसंहृष्टौ बलेनातिबलावुभौ ।
अन्योन्यस्यान्तरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ ॥२६॥

दोनों अत्यन्त प्रसन्न थे । बलकी दृष्टिसे दोनों ही अत्यन्त बलशाली थे और एक दूसरेपर चोट करनेका अवसर देखते हुए विजयके अभिलाषी हो रहे थे ॥ २६ ॥

उभौ परमसंहृष्टौ मत्ताविव महागजौ ।
कृतप्रतिकृतैश्चित्रैर्बाहुभिश्च सुसङ्कटैः ।
संनिपातावधूतैश्च प्रमाथोन्मथनैस्तथा ॥२७॥

दोनोंमें भरपूर हर्ष और उत्साह भरा था । दोनों ही मतवाले गजराजोंकी भाँति एक दूसरेसे भिड़े हुए थे । जब एक दूसरेका कोई अङ्ग जोरसे दबाता, तब दूसरा फौरन उसका प्रतीकार करता—उस अङ्गको उसकी पकड़से छुड़ा लेता था । दोनों एक दूसरेके हाथोंको मुट्ठीसे पकड़कर विवश कर देते और विचित्र ढंगसे परस्पर प्रहार करते थे । दोनों आपसमें गुँथ जाते और फिर धक्के देकर एक दूसरेको दूर हटा देते । कभी एक दूसरेको पटककर जमीनपर रगड़ता, तो दूसरा नीचेसे ही कुलाँचकर ऊपरवालेको दूर फेंक देता या उसे लिये-दिये खड़ा हो अपने शरीरसे दबाकर उसके अङ्गोंको भी मथ डालता था ॥ २७ ॥

क्षेपणैर्मुष्टिभिश्चैव वराहोद्धूतनिःस्वनैः ।
तलैर्वज्रनिपातैश्च प्रसृष्टाभिस्तथैव च ॥२८॥

कभी दोनों दोनोंको बलपूर्वक पीछे हटाते और मुक्कोंसे एक-दूसरेकी छातीपर चोट करते थे । कभी एकको दूसरा अपने कंधेपर उठा लेता और उसका मुँह नीचे करके घुमाकर पटक देता था, जिससे ऐसा शब्द होता; मानो किसी शूकरने चोट की हो । कभी परस्पर तर्जनी और अँगूठेके मध्यभागको फैलाकर चाँटोंकी मार होती और कभी हाथकी अङ्गुलियोंको फैलाकर वे एक-दूसरोंको थप्पड़ मारते थे ॥ २८ ॥

शलाकानखपातैश्च पादोद्धूतैश्च दारुणैः ।
जानुभिश्चाश्मनिर्घोषैः शिरोभिश्चावघट्टनैः ॥२९॥

कभी वे रोषपूर्वक अङ्गुलियोंके नखोंसे एक-दूसरेको बकोटते । कभी पैरोंमें उलझाकर दोनों दोनोंको गिरा देते । कभी घुटने और सिरसे टक्कर मारते; जिससे पत्थर टकरानेके समान भयंकर शब्द होता था ॥ २९ ॥

तद् युद्धमभवद् घोरमशस्त्रं बाहुतेजसा ।
बलप्राणेन शूराणां समाजोत्सवसंनिधौ ॥३०॥
अरज्यत जनः सर्वः सोत्कृष्टनिनदोत्थितः ।
बलिनोः संयुगे राजन् वृत्रवासवयोरिव ॥३१॥
प्रकर्षणाकर्षणयोरभ्याकर्षविकर्षणैः ।*
आकर्षतुरथान्योन्यं जानुभिश्चापि जघ्नतुः ॥३२॥

१—प्रमाथ तथा उन्मथन आदि मल्लयुद्धके दाँव-पेचोंके नाम हैं । इनकी व्याख्या नीलकण्ठी आदि टीकाओंमें मल्लशास्त्रके अनुसार इस प्रकार दी गयी है—

निपात्य पेषणं भूमौ प्रमाथ इति कथ्यते ।
यत् तूत्थायाङ्गमथनं तदुन्मथनमुच्यते ॥

२—क्षेपणं कथ्यते यत् तु स्थानात् प्रच्यावनं हठात् ॥

३—उभयोर्भुजयोर्मुष्टिरुरोर्मध्ये निपात्यते ।
मुष्टिरित्युच्यते तज्ज्ञैर्मल्लविद्याविशारदैः ॥

४—अवाङ्मुखं स्कन्धगतं भ्रामयित्वा तदैव यः ।
क्षिप्तस्य शब्दः स भवेद् वराहोद्धूतनिःस्वनः ॥

५—तर्जन्यङ्गुष्ठमध्येन प्रसारितकरो हि यः ।
सम्प्रहारतलाख्यस्तु संग्राहो वज्रमिष्यते ॥

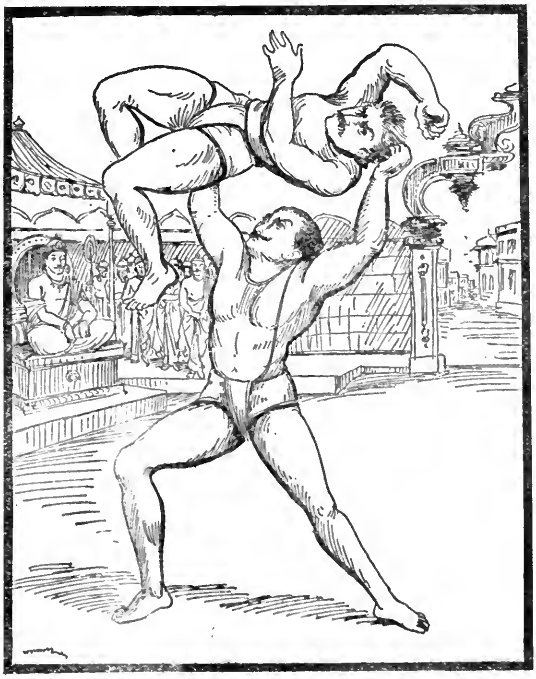
६—अङ्गुल्यः प्रसृता यास्तु ताः प्रसृष्टा उदीरिताः ॥

* आकृष्य क्रोडीकरणं प्रकर्षणमुदाहृतम् ।
आकर्षणं लीलयैव सम्मुखीकरणं स्मृतम् ॥
पुरः पश्चात् पार्श्वयोश्चाभ्याकर्षो भ्रमणं तथा ।
पश्चात् प्रपातनं वेगाद् विकर्षणमुदाहृतम् ॥

कभी वे प्रतिपक्षीको गोदमें घसीट लाते, कभी खेलमें ही उसे सामने खींच लेते, कभी आगे-पीछे, दायें-बायें पैंतरे बदलते और कभी सहसा पीछे ढकेलकर पटक देते थे। इस तरह दोनों दोनोंको अपनी ओर खींचते और घुटनोंसे एक-दूसरेपर प्रहार करते थे। उस सामूहिक उत्सवमें पहलवानों और जन-समुदायके निकट उन दोनोंमें केवल बाहुबल, शारीरिक बल तथा प्राणबलसे किसी अस्त्र-शस्त्रके बिना बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। राजन्! इन्द्र और वृत्रासुरके समान भीम और जीमूतके उस मल्लयुद्धमें सब लोगोंका बड़ा मनोरञ्जन हुआ। सभी दर्शक जीतनेवालेका उत्साह बढ़ानेके लिये जोर-जोरसे हर्षनाद कर उठते थे॥ ३०—३२॥

ततः शब्देन महता भर्त्सयन्तौ परस्परम्।
व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ।
बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव॥ ३३॥
चकर्ष दोर्भ्यामुत्पात्य भीमो मल्लममित्रहा।
निनदन्तमभिक्रोशन् शार्दूल इव वारणम्॥ ३४॥
समुद्यम्य महाबाहुर्भ्रामयामास वीर्यवान्।
ततो मल्लाश्च मत्स्याश्च विस्मयं चक्रिरे परम्॥ ३५॥

तदनन्तर चौड़ी छाती और लंबी भुजावाले, कुश्तीके दाँव-पेचमें कुशल वे दोनों वीर गम्भीर गर्जनाके साथ एक-दूसरेको डाँट बताते हुए लोहेके परिघ (मोटे डंडे)-जैसी बाँहोंसे बाँहें मिलाकर परस्पर भिड़ गये। फिर विपुलपराक्रमी शत्रुहन्ता महाबाहु भीमसेनने गर्जना करते हुए, जैसे सिंह हाथीपर झपटे, उसी प्रकार झपटकर जीमूतको दोनों हाथोंसे पकड़कर खींचा और ऊपर उठाकर उसे घुमाना आरम्भ किया। यह देख वहाँ आये हुए पहलवानों तथा मत्स्यदेशकी प्रजाको बड़ा आश्चर्य हुआ॥ ३३—३५॥



भ्रामयित्वा शतगुणं गतसत्त्वमचेतनम्।
प्रत्यपिंषन्महाबाहुर्मल्लं भुवि वृकोदरः॥ ३६॥

सौ बार घुमानेपर जब वह धैर्य, साहस और चेतनासे भी हाथ धो बैठा, तब बड़ी-बड़ी बाहुओंवाले वृकोदरने उसे पृथ्वीपर गिराकर मसल डाला॥ ३६॥

तस्मिन् विनिहते वीरे जीमूते लोकविश्रुते।
विराटः परमं हर्षमगच्छद् बान्धवैः सह॥ ३७॥

इस प्रकार उस लोकविख्यात वीर जीमूतके मारे जानेपर राजा विराटको अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ३७॥

प्रहर्षात् प्रददौ वित्तं बहु राजा महामनाः।
बल्लवाय महारङ्गे यथा वैश्रवणस्तथा॥ ३८॥

उस समय कुबेरके समान महामनस्वी राजा विराटने अत्यन्त हर्षमें भरकर बल्लवको उस विशाल रंगभूमिमें ही बहुत धन दिया॥ ३८॥

एवं स सुबहून् मल्लान् पुरुषांश्च महाबलान्।
विनिघ्नन् मत्स्यराजस्य प्रीतिमाहरदुत्तमाम्॥ ३९॥

इसी तरह बहुत-से पहलवानों और महाबली पुरुषोंको मारकर भीमसेनने मत्स्यनरेश विराटका उत्तम प्रेम प्राप्त किया॥

यदास्य तुल्यः पुरुषो न कश्चित् तत्र विद्यते।
ततो व्याघ्रैश्च सिंहैश्च द्विरदैश्चाप्ययोधयत्॥ ४०॥

जब वहाँ उनकी जोड़का कोई पहलवान नहीं रह गया, तब विराट उन्हें व्याघ्रों, सिंहों और हाथियोंसे लड़ाने लगे॥ ४०॥

पुनरन्तःपुरगतः स्त्रीणां मध्ये वृकोदरः।
योध्यते स विराटेन सिंहैर्मत्तैर्महाबलैः॥ ४१॥

कभी-कभी विराटकी प्रेरणासे स्त्रियोंके अन्तःपुरमें जाकर भीमसेन उन्हें दिखानेके लिये महान् बलवान् और मतवाले सिंहोंके साथ लड़ा करते थे॥ ४१॥

बीभत्सुरपि गीतेन स्वनृत्येन च पाण्डवः।
विराटं तोषयामास सर्वाश्चान्तःपुरस्त्रियः॥ ४२॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनने भी अपने गीत और नृत्यसे राजा विराट तथा अन्तःपुरकी सम्पूर्ण स्त्रियोंको संतुष्ट कर लिया था॥ ४२॥

अश्वैर्विनीतैर्जवनैस्तत्र तत्र समागतैः।
तोषयामास राजानं नकुलो नृपसत्तमम्॥ ४३॥
तस्मै प्रदेयं प्रायच्छत् प्रीतो राजा धनं बहु।

विनीतान् वृषभान् दृष्ट्वा सहदेवस्य चाभितः ।
धनं ददौ बहुविधं विराटः पुरुषर्षभः ॥ ४४ ॥

इसी प्रकार नकुलने जहाँ-तहाँसे आये हुए वेगवान् घोड़ोंको सुशिक्षित करके नृपश्रेष्ठ विराटको प्रसन्न किया था। प्रसन्न होकर राजाने पुरस्काररूपमें उन्हें बहुत धन दिया था। इसी तरह सहदेवके द्वारा शिक्षित एवं विनीत किये हुए बैलोंको देखकर नरश्रेष्ठ विराटने उन्हें भी इनाममें बहुत धन दिया ॥ ४३-४४ ॥

द्रौपदी प्रेक्ष्य तान् सर्वान् क्लिश्यमानान् महारथान् ।
नातिप्रीतमना राजन् निःश्वासपरमाभवत् ॥ ४५ ॥

राजन्! अपने सम्पूर्ण महारथी पतियोंको इस प्रकार क्लेश उठाते देख द्रौपदीके मनमें खेद होता था और वह लंबी साँसें भरती रहती थी ॥ ४५ ॥

एवं ते न्यवसंस्तत्र प्रच्छन्नाः पुरुषर्षभाः ।
कर्माणि तस्य कुर्वाणा विराटनृपतेस्तदा ॥ ४६ ॥

इस प्रकार वे पुरुषशिरोमणि पाण्डव उस समय राजा विराटके भिन्न-भिन्न कार्य सँभालते हुए वहाँ छिपकर रहते थे ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि समयपालनपर्वणि जीमूतवधे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत समयपालनपर्वमें जीमूतवधसम्बन्धी तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३ ॥

(कीचकवधपर्व)

चतुर्दशोऽध्यायः

कीचकका द्रौपदीपर आसक्त हो उससे प्रणययाचना करना और द्रौपदीका उसे फटकारना

वैशम्पायन उवाच

वसमानेषु पार्थेषु मत्स्यस्य नगरे तदा ।
महारथेषु छन्नेषु मासा दश समाययुः ॥ १ ॥
याज्ञसेनी सुदेष्णां तु शुश्रूषन्ती विशाम्पते ।
आवसत् परिचारार्हा सुदुःखं जनमेजय ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय कुन्तीके उन महारथी पुत्रोंको मत्स्यराजके नगरमें छिपकर रहते हुए धीरे-धीरे दस महीने बीत गये। राजन्! यज्ञसेन-कुमारी द्रौपदी, जो स्वयं स्वामिनीकी भाँति सेवाके योग्य थी, रानी सुदेष्णाकी शुश्रूषा करती हुई बड़े कष्टसे वहाँ रहती थी ॥ १-२ ॥

तथा चरन्ती पाञ्चाली सुदेष्णाया निवेशने ।
तां देवीं तोषयामास तथा चान्तःपुरस्त्रियः ॥ ३ ॥

सुदेष्णाके महलमें पूर्वोक्तरूपसे सेवा करती हुई पाञ्चालीने महारानी तथा अन्तःपुरकी अन्य स्त्रियोंको पूर्ण प्रसन्न कर लिया ॥ ३ ॥

तस्मिन् वर्षे गतप्राये कीचकस्तु महाबलः ।
सेनापतिर्विराटस्य ददर्श द्रुपदात्मजाम् ॥ ४ ॥

जब वह वर्ष पूरा होनेमें कुछ ही समय बाकी रह गया, तबकी बात है; एक दिन राजा विराटके सेनापति महाबली कीचकने द्रुपदकुमारीको देखा ॥ ४ ॥

तां दृष्ट्वा देवगर्भाभां चरन्तीं देवतामिव ।
कीचकः कामयामास कामबाणप्रपीडितः ॥ ५ ॥

राजमहलमें देवाङ्गनाकी भाँति विचरती हुई देवकन्याके समान कान्तिवाली द्रौपदीको देखकर कीचक कामबाणसे अत्यन्त पीड़ित हो उसे चाहने लगा ॥ ५ ॥

स तु कामाग्निसंतप्तः सुदेष्णामभिगम्य वै ।
प्रहसन्निव सेनानीरिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

कामवासनाकी आगमें जलता हुआ सेनापति कीचक अपनी बहिन रानी सुदेष्णाके पास गया और हँसता हुआ-सा उससे इस प्रकार बोला—॥ ६ ॥

नेयं मया जातु पुरेह दृष्टा
राज्ञो विराटस्य निवेशने शुभा ।
रूपेण चोन्मादयतीव मां भृशं
गन्धेन जाता मदिरेव भामिनी ॥ ७ ॥

'सुदेष्णे! यह सुन्दरी जो अपने रूपसे मुझे अत्यन्त उन्मत्त-सा किये देती है, पहले कभी राजा विराटके इस महलमें मेरेद्वारा नहीं देखी गयी थी। यह भामिनी अपनी दिव्य गन्धसे मेरेलिये मदिरा-सी मादक हो रही है ॥ ७ ॥

का देवरूपा हृदयङ्गमा शुभे
ह्याचक्ष्व मे कस्य कुतोऽत्र शोभने ।
चित्तं हि निर्मथ्य करोति मां वशे
न चान्यदत्रौषधमस्ति मे मतम् ॥ ८ ॥

'शुभे! यह कौन है? इसका रूप देवाङ्गनाके समान है। यह मेरे हृदयमें समा गयी है। शोभने! मुझे बताओ, यह किसकी स्त्री है और कहाँसे आयी है? यह मेरे मनको मथकर मुझे वशमें किये लेती है। मेरे इस रोगकी ओषधि

इसकी प्राप्तिके सिवा दूसरी कोई नहीं जान पड़ती ॥ ८ ॥

अहो तवेयं परिचारिका शुभा
प्रत्यग्ररूपा प्रतिभाति मामियम्।
अयुक्तरूपं हि करोति कर्म ते
प्रशास्तु मां यच्च ममास्ति किंचन॥ ९ ॥

'अहो ! बड़े आश्चर्यकी बात है कि यह सुन्दरी तुम्हारे यहाँ दासीका काम कर रही है। मुझे ऐसा लगता है, इसका रूप नित्य नवीन है। तुम्हारे यहाँ जो काम यह करती है, वह इसके योग्य कदापि नहीं है। मैं चाहता हूँ, यह मेरी गृहस्वामिनी होकर मुझपर और मेरे पास जो कुछ है, उसपर भी एकच्छत्र शासन करे ॥ ९ ॥

प्रभूतनागाश्वरथं महाजनं
समृद्धियुक्तं बहुपानभोजनम्।
मनोहरं काञ्चनचित्रभूषणं
गृहं महच्छोभयतामियं मम ॥ १० ॥

'मेरे घरमें बहुत-से हाथी, घोड़े और रथ हैं, बहुत-से सेवा करनेवाले परिजन हैं तथा उसमें प्रचुर सम्पत्ति भरी है। भोजन और पेयकी उसमें अधिकता है। देखनेमें भी वह मनोहर है। सुवर्णमय चित्र उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। मेरे उस विशाल भवनमें चलकर यह सुन्दरी उसे सुशोभित करे' ॥

ततः सुदेष्णामनुमन्त्र्य कीचक-
स्ततः समभ्येत्य नराधिपात्मजाम्।
उवाच कृष्णामभिसान्त्वयंस्तदा
मृगेन्द्रकन्यामिव जम्बुको वने ॥ ११ ॥

तदनन्तर रानी सुदेष्णाकी सम्मति ले कीचक राजकुमारी द्रौपदीके पास आकर उसे सान्त्वना देता हुआ बोला, मानो वनमें कोई सियार किसी सिंहकी कन्याको फुसला रहा हो ॥

का त्वं कस्यासि कल्याणि कुतो वा त्वं वरानने।
प्राप्ता विराटनगरं तत् त्वमाचक्ष्व शोभने ॥ १२ ॥

(उसने द्रौपदीसे पूछा—) 'कल्याणि ! तुम कौन हो और किसकी कन्या हो ? अथवा सुमुखि ! तुम कहाँसे इस विराटनगरमें आयी हो ? शोभने ! ये सब बातें मुझे सच-सच बताओ ॥

रूपमग्र्यं तथा कान्तिः सौकुमार्यमनुत्तमम्।
कान्त्या विभाति वक्त्रं ते शशाङ्क इव निर्मलम्॥ १३ ॥

'तुम्हारा यह श्रेष्ठ और सुन्दर रूप, यह दिव्य कान्ति और यह सुकुमारता संसारमें सबसे उत्तम है और तुम्हारा निर्मल मुख तो अपनी छविसे निष्कलङ्क चन्द्रमाकी भाँति शोभा पा रहा है ॥ १३ ॥

नेत्रे सुविपुले सुभ्रु पद्मपत्रनिभे शुभे।
वाक्यं ते चारुसर्वाङ्गि परपुष्टरुतोपमम् ॥ १४ ॥

'सुन्दर भौंहोंवाली सर्वाङ्गसुन्दरी ! तुम्हारे ये उत्तम और विशाल नेत्र कमलदलके समान सुशोभित हैं। तुम्हारी वाणी क्या है, कोकिलकी कूक है ॥ १४ ॥

एवंरूपा मया नारी काचिदन्या महीतले।
न दृष्टपूर्वा सुश्रोणि यादृशी त्वमनिन्दिते ॥ १५ ॥

'सुश्रोणि ! अनिन्दिते ! जैसी तुम हो, ऐसे मनोहर रूपवाली कोई दूसरी स्त्री इस पृथ्वीपर मैंने आजसे पहले कभी नहीं देखी थी ॥ १५ ॥

लक्ष्मीः पद्मालया का त्वमथ भूतिः सुमध्यमे।
ह्रीः श्रीः कीर्तिरथो कान्तिरासां का त्वं वरानने॥ १६ ॥

'सुमध्यमे ! तुम कमलोंमें निवास करनेवाली लक्ष्मी हो अथवा साकार विभूति ? सुमुखि ! लज्जा, श्री, कीर्ति और कान्ति—इन देवियोंमेंसे तुम कौन हो ? ॥ १६ ॥

अतीवरूपिणी किं त्वमनङ्गाङ्गविहारिणी।
अतीव भ्राजसे सुभ्रु प्रभेवेन्दोरनुत्तमा ॥ १७ ॥

'क्या तुम कामदेवके अङ्गोंसे क्रीड़ा करनेवाली अतिशय रूपवती रति हो ? सुभ्रु ! तुम चन्द्रमाकी परम उत्तम प्रभाके समान अत्यन्त उद्भासित हो रही हो ॥ १७ ॥

अपि चेक्षणपक्ष्माणां स्मितं ज्योत्स्नोपमं शुभम्।
दिव्यांशुरश्मिभिर्वृत्तं दिव्यकान्तिमनोरमम् ॥ १८ ॥
निरीक्ष्य वक्त्रचन्द्रं ते लक्ष्म्यानुपमया युतम्।
कृत्स्ने जगति को नेह कामस्य वशगो भवेत् ॥ १९ ॥

'तुम्हारा सुन्दर मुखचन्द्र अनुपम लक्ष्मीसे अलंकृत है, तुम्हारे नेत्रोंकी अधखुली पलकें चाँदनीके समान मनको आह्लादित करनेवाली हैं। दिव्य रश्मियोंसे आवृत तुम्हारा यह मुखचन्द्र दिव्य छविके द्वारा मनको रमा लेनेवाला है। इसे देखकर सम्पूर्ण जगत्में कौन ऐसा पुरुष है, जो कामके अधीन न हो जाय ? ॥ १८-१९ ॥

हारालंकारयोग्यौ तु स्तनौ चोभौ सुशोभनौ।
सुजातौ सहितौ लक्ष्म्या पीनौ वृत्तौ निरन्तरौ ॥ २० ॥

'तुम्हारे दोनों स्तन हार आदि आभूषणोंके योग्य और परम सुन्दर हैं। वे ऊँचे, श्रीसम्पन्न, स्थूल, गोल-गोल और परस्पर सटे हुए हैं॥ २० ॥

कुड्मलाम्बुरुहाकारौ तव सुभ्रु पयोधरौ।
कामप्रतोदाविव मां तुदतश्चारुहासिनि ॥ २१ ॥

'सुन्दर भौंहों तथा मनोरम मुसकानवाली सुन्दरी ! कमलकोशके समान आकारवाले तुम्हारे दोनों उरोज कामदेवके चाबुककी भाँति मुझे पीड़ा दे रहे हैं ॥ २१ ॥

वलीविभङ्गचतुरं स्तनभारविनामितम्।
कराग्रसम्मितं मध्यं तवेदं तनुमध्यमे ॥ २२ ॥

'तनुमध्यमे ! तुम्हारी कमर इतनी पतली है कि हाथोंके

अग्रभागसे (अँगूठेसे लेकर तर्जनीतकके बित्तेसे) माप ली जा सकती है । वह त्रिवलीकी तीन रेखाओंसे परम सुन्दर दीखती है । तुम्हारे स्तनोंके भारने उसे कुछ झुका दिया है ॥

दृष्ट्वैव चारु जघनं सरित्पुलिनसंनिभम् ।
कामव्याधिरसाध्यो मामप्याक्रामति भामिनि ॥ २३ ॥

'भामिनि ! नदीके दो किनारोंके समान तुम्हारे मनोहर जघनको देख लेनेसे ही कामरूपी असाध्य रोग मुझ-जैसे वीरपर भी आक्रमण कर रहा है ॥ २३ ॥

जज्वाल चाग्निमदनो दावाग्निरिव निर्दयः ।
त्वत्सङ्गमाभिसंकल्पविवृद्धो मां दहत्ययम् ॥ २४ ॥

'निर्दयी कामदेव अग्निस्वरूप होकर दावानलकी भाँति मेरे हृदयरूपी वनमें जल उठा है । तुम्हारे समागमका संकल्प इसमें घीका काम करता है । इससे अत्यन्त प्रज्वलित होकर यह काम मुझे जला रहा है ॥ २४ ॥

आत्मप्रदानवर्षेण संगमाम्भोधरेण च ।
शमयस्व वरारोहे ज्वलन्तं मन्मथानलम् ॥ २५ ॥

'वरारोहे ! तुम अपने संगमरूपी मेघसे आत्मसमर्पणरूपी वर्षाद्वारा इस प्रज्वलित मदनाग्निको बुझा दो ॥ २५ ॥

मच्चित्तोन्मादनकरा मन्मथस्य शरोत्कराः ।
त्वत्संगमाशानिशितास्तीव्राः शशिनिभानने ।
मह्यं विदार्य हृदयमिदं निर्दयवेगिताः ॥ २६ ॥
प्रविष्टा ह्यसितापाङ्गि प्रचण्डाश्चण्डदारुणाः ।
अत्युन्मादसमारम्भाः प्रीत्युन्मादकरा मम ।
आत्मप्रदानसम्भोगैर्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ॥ २७ ॥

'चन्द्रमुखी ! मेरे मनको उन्मत्त बना देनेवाले कामदेवके बाण-समूह तुम्हारे समागमकी आशारूपी शानपर चढ़कर अत्यन्त तीखे और तीव्र हो गये हैं । कजरारे नयनप्रान्तोंवाली सुन्दरी ! अत्यन्त क्रोधपूर्वक चलाये हुए कामके वे प्रचण्ड एवं भयंकर बाण दयाशून्य हो वेगसे आकर मेरे इस हृदयको विदीर्ण करके भीतर घुस गये हैं और अतिशय उन्माद (सन्निपातजनित बेहोशी) पैदा कर रहे हैं । वे मेरे लिये प्रेमोन्मादजनक हो रहे हैं । अब तुम्हीं आत्मदानजनित सम्भोगरूप औषधके द्वारा यहाँ मेरा उद्धार कर सकती हो ॥

चित्रमाल्याम्बरधरा सर्वाभरणभूषिता ।
कामं प्रकामं सेव त्वं मया सह विलासिनि ॥ २८ ॥

'विलासिनि ! विचित्र माला और सुन्दर वस्त्र धारण करके समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो मेरे साथ अतिशय कामभोगका सेवन करो ॥ २८ ॥

नार्हसीहासुखं वस्तुं सुखार्हा सुखवर्जिता ।
प्राप्नुह्यनुत्तमं सौख्यं मत्तस्त्वं मत्तगामिनि ॥ २९ ॥

'यहाँ अनेक प्रकारके कष्ट हैं । अतः तुम ऐसे स्थानमें निवास करने योग्य नहीं हो । तुम सुख भोगनेके योग्य हो, किंतु यहाँ सुखसे वञ्चित हो । मस्तीभरी चालसे चलनेवाली सैरन्ध्री ! तुम मुझसे सर्वोत्तम सुखभोग प्राप्त करो ॥ २९ ॥

स्वादून्यमृतकल्पानि पेयानि विविधानि च ।
पिबमाना मनोज्ञानि रममाणा यथासुखम् ॥ ३० ॥

'अमृतके समान स्वादिष्ठ और मनोहर भाँति-भाँतिके पेय रसोंका पान करती हुई तुम्हें जैसे सुख मिले, उसी प्रकार रमण करो ॥ ३० ॥

भोगोपचारान् विविधान् सौभाग्यं चाप्यनुत्तमम् ।
पानं पिब महाभागे भोगैश्चानुत्तमैः शुभैः ॥ ३१ ॥

इदं हि रूपं प्रथमं तवानघे
निरर्थकं केवलमद्य भामिनि ।
अधार्यमाणा स्रगिवोत्तमा शुभा
न शोभसे सुन्दरि शोभना सती॥ ३२ ॥

'महाभागे ! नाना प्रकारकी भोग-सामग्री तथा सर्वोत्तम सौभाग्य पाकर उत्तमोत्तम शुभ भोगोंके साथ पीने योग्य रसोंका आस्वादन करो । अनघे ! तुम्हारा यह सर्वोत्कृष्ट रूप-सौन्दर्य आजकी परिस्थितिमें केवल व्यर्थ जा रहा है । भामिनि ! जैसे उत्तम हारको यदि किसीने गलेमें धारण नहीं किया, तो उसकी शोभा नहीं होती, उसी प्रकार सुन्दरि ! तुम शुभस्वरूपा और शोभामयी होकर भी किसीके गलेका हार न बन सकनेके कारण सुशोभित नहीं होती हो ॥ ३१-३२ ॥

त्यजामि दारान् मम ये पुरातना
भवन्तु दास्यस्तव चारुहासिनि ।
अहं च ते सुन्दरि दासवत् स्थितः
सदा भविष्ये वशगो वरानने ॥ ३३ ॥

'चारुहासिनि ! यदि तुम चाहो तो मैं पहली स्त्रियोंको त्याग दूँगा अथवा वे सब तुम्हारी दासी बनकर रहेंगी । सुन्दरि ! सुमुखि ! मैं स्वयं भी दासकी भाँति सदा तुम्हारे अधीन रहूँगा' ॥ ३३ ॥

द्रौपद्युवाच

अप्रार्थनीयामिह मां सूतपुत्राभिमन्यसे ।
निहीनवर्णां सैरन्ध्रीं बीभत्सां केशकारिणीम् ॥ ३४ ॥

द्रौपदीने कहा—सूतपुत्र ! तुम मुझे चाहते हो । छिः छिः; मुझसे इस तरहकी याचना करना तुम्हारे लिये कदापि योग्य नहीं है । एक तो मेरी जाति छोटी है, दूसरे मैं सैरन्ध्री (दासी) हूँ; बीभत्स वेषवाली स्त्री हूँ तथा केश सँवारनेका काम करनेवाली एक तुच्छ सेविका हूँ ॥ ३४ ॥

(स्वेषु दारेषु मेधावी कुरुते यत्नमुत्तमम् ।
स्वदारनिरतो ह्याशु नरो भद्राणि पश्यति ॥

बुद्धिमान् पुरुष अपनी पत्नीको ही अनुकूल बनाये रखनेके लिये उत्तम यत्न करता है। अपनी स्त्रीमें अनुराग रखनेवाला मनुष्य शीघ्र ही कल्याणका भागी होता है ॥

न चाधर्मेण लिप्येत न चाकीर्तिमवाप्नुयात्।
स्वदारेषु रतिर्धर्मो मृतस्यापि न संशयः ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह पापमें लिप्त न हो, अपयशका पात्र न बने, अपनी ही पत्नीके प्रति अनुराग रखना परम धर्म है। वह मृत पुरुषके लिये भी कल्याणकारी होता है, इसमें संशय नहीं है ॥

स्वजातिदारा मर्त्यस्य इहलोके परत्र च।
प्रेतकार्याणि कुर्वन्ति निवापैस्तर्पयन्ति च ॥

अपनी जातिकी स्त्रियाँ मनुष्यके लिये इहलोक और परलोकमें भी हितकारिणी होती हैं। वे प्रेतकार्य (अन्त्येष्टि-संस्कार) करती और जलाञ्जलि देकर मृतात्माको तृप्त करती हैं ॥

तदक्षय्यं च धर्म्यं च स्वर्ग्यमाहुर्मनीषिणः।
स्वजातिदारजाः पुत्रा जायन्ते कुलपूजिताः ॥

उनके इस कार्यको मनीषी पुरुषोंने अक्षय, धर्मसङ्गत एवं स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला बताया है। अपनी जातिकी स्त्रीसे उत्पन्न हुए पुरुष कुलमें सम्मानित होते हैं ॥

प्रिया हि प्राणिनां दारास्तस्मात् त्वं धर्मभाग् भव।
परदाररतो मर्त्यो न च भद्राणि पश्यति ॥)

सभी प्राणियोंको अपनी ही पत्नी प्यारी होती है। इसलिये तुम भी ऐसा करके धर्मके भागी बनो। परस्त्रीलम्पट पुरुष कभी कल्याण नहीं देखता ॥

परदारास्मि भद्रं ते न युक्तं तव साम्प्रतम्।
दयिताः प्राणिनां दारा धर्मं समनुचिन्तय ॥

सबसे बड़ी बात यह है कि मैं दूसरेकी पत्नी हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। इस समय मुझसे इस तरहकी बातें करना तुम्हारे लिये किसी तरह उचित नहीं है। जगत्‌के सब प्राणियोंके लिये अपनी ही स्त्री प्रिय होती है। तुम धर्मका विचार करो॥

परदारे न ते बुद्धिर्जातु कार्या कथंचन।
विवर्जनं ह्यकार्याणामेतत् सुपुरुषव्रतम् ॥ ३६ ॥

परायी स्त्रीमें तुम्हें कभी किसी तरह भी मन नहीं लगाना चाहिये। न करने योग्य अनुचित कर्मोंको सर्वथा त्याग दिया जाय, यही श्रेष्ठ पुरुषोंका व्रत है ॥ ३६ ॥

मिथ्याभिगृध्नो हि नरः पापात्मा मोहमास्थितः।
अयशः प्राप्नुयाद् घोरं महद् वा प्राप्नुयाद् भयम् ॥ ३७ ॥

झूठे विषयोंमें आसक्त होनेवाला पापात्मा मनुष्य मोहमें पड़कर भयंकर अपयश पाता है अथवा उसे बड़े भारी भय (मृत्यु) का सामना करना पड़ता है ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु सैरन्ध्र्या कीचकः काममोहितः।
जानन्नपि सुदुर्बुद्धिः परदाराभिमर्शने ॥ ३८ ॥
दोषान् बहून् प्राणहरान् सर्वलोकविगर्हितान्।
प्रोवाचेदं सुदुर्बुद्धिर्द्रौपदीमजितेन्द्रियः ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सैरन्ध्रीके इस प्रकार समझानेपर भी कीचकको होश न हुआ। वह कामसे मोहित हो रहा था। यद्यपि उस दुर्बुद्धिको यह मालूम था कि परायी स्त्रीके स्पर्शसे बहुत-से ऐसे दोष प्रकट होते हैं, जिनकी सब लोग निन्दा करते हैं तथा जिनके कारण प्राणोंसे भी हाथ धोना पड़ता है; तो भी उस अजितेन्द्रिय तथा अत्यन्त दुर्बुद्धिने द्रौपदीसे इस प्रकार कहा— ॥ ३८-३९ ॥

नार्हस्येवं वरारोहे प्रत्याख्यातुं वरानने।
मां मन्मथसमाविष्टं त्वत्कृते चारुहासिनि ॥ ४० ॥

'वरारोहे! सुमुखि! तुम्हें इस प्रकार मेरी प्रार्थना नहीं ठुकरानी चाहिये। चारुहासिनि! मैं तुम्हारे लिये कामवेदनासे पीड़ित हूँ ॥ ४० ॥

प्रत्याख्याय च मां भीरु वशगं प्रियवादिनम्।
नूनं त्वमसितापाङ्गि पश्चात्तापं करिष्यसि ॥ ४१ ॥

'भीरु! मैं तुम्हारे वशमें हूँ और प्रिय वचन बोलता हूँ। कजरारे नयनोंवाली सैरन्ध्री! मुझे ठुकराकर तुम निश्चय ही पश्चात्ताप करोगी ॥ ४१ ॥

अहं हि सुभ्रु राज्यस्य कृत्स्नस्यास्य सुमध्यमे।
प्रभुर्वासयिता चैव वीर्ये चाप्रतिमः क्षितौ ॥ ४२ ॥

'सुभ्रु! सुमध्यमे! मैं इस सम्पूर्ण राज्यका स्वामी और इसे बसानेवाला हूँ। बल और पराक्रममें इस पृथ्वीपर मेरी समानता करनेवाला कोई नहीं है ॥ ४२ ॥

पृथिव्यां मत्समो नास्ति कश्चिदन्यः पुमानिह।
रूपयौवनसौभाग्यैर्भोगैश्चानुत्तमैः शुभैः ॥ ४३ ॥

'रूप, यौवन, सौभाग्य और सर्वोत्तम शुभ भोगोंकी दृष्टिसे इस भूतलपर मेरी समता करनेवाला दूसरा कोई पुरुष नहीं है॥

सर्वकामसमृद्धेषु भोगेष्वनुपमेष्विह।
भोक्तव्येषु च कल्याणि कस्माद् दास्ये रता ह्यसि ॥ ४४ ॥

'कल्याणि! जब सम्पूर्ण मनोरथोंसे सम्पन्न अनुपम भोग यहाँ भोगनेके लिये तुम्हें सुलभ हो रहे हैं, तब तुम दासीपनमें क्यों आसक्त हो? ॥ ४४ ॥

मया दत्तमिदं राज्यं स्वामिन्यसि शुभानने।
भजस्व मां वरारोहे भुङ्क्ष्व भोगाननुत्तमान् ॥ ४५ ॥

'शुभानने! मैंने यह सम्पूर्ण राज्य तुम्हें अर्पित कर दिया। अब तुम्हीं इसकी स्वामिनी हो। वरारोहे! मुझे अपना लो और मेरे साथ उत्तमोत्तम भोगोंका उपभोग करो' ॥ ४५ ॥

एवमुक्ता तु सा साध्वी कीचकेनाशुभं वचः।
कीचकं प्रत्युवाचेदं गर्हयन्त्यस्य तद् वचः ॥४६॥

कीचकके इस प्रकार अशुभ (पापपूर्ण) वचन कहनेपर सती-साध्वी द्रौपदीने उसकी उन ओछी बातोंकी निन्दा करते हुए इस प्रकार उत्तर दिया ॥ ४६ ॥

सैरन्ध्र्युवाच

मा सूतपुत्र मुह्यस्व माद्य त्यक्ष्यस्व जीवितम्।
जानीहि पञ्चभिर्घोरैर्नित्यं मामभिरक्षिताम् ॥४७॥

सैरन्ध्री बोली—सूतपुत्र ! तू आज इस प्रकार मोहके फंदेमें न पड़। अपनी जान न गँवा। तुझे मालूम होना चाहिये कि पाँच भयंकर गन्धर्व मेरी नित्य रक्षा करते हैं ॥



न चाप्यहं त्वया लभ्या गन्धर्वाः पतयो मम।
ते त्वां निहन्युः कुपिताःसाध्वलं मा व्यनीनशः ॥४८॥

वे गन्धर्व ही मेरे पति हैं। तू कदापि मुझे पा नहीं सकता। मेरे पति कुपित होकर तुझे मार डालेंगे; अतः सँभल जा। इस पापबुद्धिका त्याग कर दे। अपना सर्वनाश न कर ॥ ४८ ॥

अशक्यरूपं पुरुषैरध्वानं गन्तुमिच्छसि।
यथा निश्चेतनो बालः कूलस्थः कूलमुत्तरम्।
तर्तुमिच्छति मन्दात्मा तथा त्वं कर्तुमिच्छसि ॥४९॥

अरे ! तू उस राहपर जाना चाहता है, जहाँ दूसरे पुरुष नहीं जा सकते। जैसे नदीके एक किनारेपर बैठा हुआ कोई मन्दबुद्धि अचेत बालक दूसरे किनारेपर तैरकर जाना चाहता हो, वैसा ही विनाशकारी कार्य तू भी करना चाहता है॥

अन्तर्महीं वा यदि वोर्ध्वमुत्पतेः
समुद्रपारं यदि वा प्रधावसि।
तथापि तेषां न विमोक्षमर्हसि
प्रमाथिनो देवसुता हि खेचराः ॥५०॥

सूतपुत्र ! मुझपर कुदृष्टि डालकर पृथ्वीके भीतर (पातालमें) घुस जा, आकाशमें उड़ जा अथवा समुद्रके उस पार भाग जा, तथापि मेरे पतियोंके हाथसे तू छूट नहीं सकता; क्योंकि मेरे पति देवताओंके पुत्र तथा आकाशमें विचरनेवाले हैं। वे अपने शत्रुओंको मथ डालनेकी शक्ति रखते हैं ॥ ५० ॥

(मां हि त्वमवमन्वानः सूतपुत्र विनङ्क्ष्यसि।
आशु चाद्यैव नचिरात् सपुत्रः सहबान्धवः॥

सूतपूत्र ! तू मेरा अपमान कर रहा है; अतः पुत्रों तथा बन्धु-बान्धवोंसहित तू आज ही शीघ्र नष्ट हो जायगा। तेरे विनाशमें अब विलम्ब नहीं है ॥

दुर्लभामभिमन्वानो मां वीरैरभिरक्षिताम्।
पतिष्यस्यवशस्तूर्णं वृन्तात् तालफलं यथा॥

मैं वीर गन्धर्वोंद्वारा सुरक्षित होनेके कारण तेरे लिये सर्वथा दुर्लभ हूँ। मेरा अपमान करनेसे शीघ्र ही विवशतापूर्वक तेरा उसी प्रकार पतन होगा, जैसे ताड़का फल अपने मूलस्थानसे नीचे गिरता है ॥

यो मामज्ञाय कामार्तः अबद्धानि प्रभाषसे।
अशक्तस्तु पुमाञ्छैलं न लङ्घयितुमर्हति॥

तू मुझे नहीं जानता, इसीलिये कामातुर होकर बहकी-बहकी बातें कर रहा है। परंतु कोई असमर्थ पुरुष कितना ही प्रयत्न करे, वह पर्वतको नहीं लाँघ सकता ॥

दिशः प्रपन्नो गिरिगह्वराणि वा
गुहां प्रविष्टोऽन्तरितोऽपि वा क्षितेः॥
जुह्वञ्जपन् वा प्रपतन् गिरेस्तटा-
द्धुताशनादित्यगतिं गतोऽपि वा।
भार्याभिमन्ता पुरुषो महात्मनां
न जातु मुच्येत कथंचनाहतः॥

चाहे कोई सम्पूर्ण दिशाओंकी शरण लेता फिरे, पर्वतकी बड़ी-बड़ी कन्दराओं अथवा दुर्गम गुफाओंमें छिप जाय या पृथ्वीके अंदर ही रहने लगे, होम और जपमें संलग्न रहे, पर्वतके शिखरसे कूद पड़े, जलती आग अथवा सूर्यकी प्रचण्ड रश्मियों-की शरण ले तो भी महात्मा गन्धर्वोंकी पत्नीका अपमान करनेवाला पुरुष कभी किसी तरह भी उनके हाथसे जीवित नहीं बच सकता ॥

मोघं तवेदं वचनं भविष्यति
प्रतोलनं वा तुलया महागिरेः।

हुताशनं प्रज्वलितं महावने
निदाघमध्याह्न इवातुरः स्वयम्॥
प्रवेष्टुकामोऽसि वधाय चात्मनः
कुलस्य सर्वस्य विनाशनाय च ।

तेरी ये सब बातें व्यर्थ होंगी । तेरे लिये मुझे पाना किसी महान् पर्वतको तराजूपर तौलनेके समान महान् असम्भव है। गर्मीकी दोपहरीमें जब किसी महान् वनके भीतर प्रचण्ड दावानल धधक चुका हो, उस समय उसमें स्वयं ही घुसनेवाले किसी आतुर पुरुषकी भाँति तू भी अपने और समस्त कुलके विनाशके लिये ही वहाँ प्रवेश करना चाहता है ॥

सदेवगन्धर्वमहर्षिसंनिधौ
सनागलोकासुरराक्षसालये ॥
गूढस्थितां मामवमन्य चेतसा
न जीवितार्थी शरणं त्वमाप्स्यसि ॥)

मैं यहाँ अपने स्वरूपको छिपाकर रहती हूँ। फिर भी तू मनसे समझ-बूझकर मेरा अपमान करना चाहता है । किंतु याद रख, तू ऐसा करके यदि अपना जीवन बचानेके लिये देवताओं, गन्धर्वों और महर्षियोंके निकट चला जाय अथवा नागलोक, असुरलोक तथा राक्षसोंके निवासस्थानमें भी पहुँच जाय, तो भी तू वहाँ शरण नहीं पा सकेगा ॥

त्वं कालरात्रीमिव कश्चिदातुरः
किं मां दृढं प्रार्थयसेऽद्य कीचक।
किं मातुरङ्के शयितो यथा शिशु-
श्चन्द्रं जिघृक्षुरिव मन्यसे हि माम्॥ ५१॥

कीचक ! जैसे कोई रोगी कालरात्रिका आवाहन करे, उसी प्रकार मुझे प्राप्त करनेके लिये तू क्यों आज दुराग्रह-पूर्ण प्रार्थना कर रहा है ? अरे ! जैसे माताकी गोदमें सोया हुआ शिशु चन्द्रमाको ग्रहण करना चाहे, क्या तू उसी प्रकार मुझे पाना चाहता है ? ॥ ५१ ॥

तेषां प्रियां प्रार्थयतो न ते भुवि
गत्वा दिवं वा शरणं भविष्यति।
न वर्तते कीचक ते दृशा शुभं
या तेन संजीवनमर्थयेत सा ॥ ५२॥

कीचक ! उन गन्धर्वोंकी प्रियतमासे ऐसी अनुचित प्रार्थना करके पृथ्वी अथवा आकाशमें भाग जानेपर भी तुझे कोई शरण देनेवाला नहीं मिलेगा । (तू इतना कामान्ध हो गया है कि) तुझे वह शुभ दृष्टि—वह बुद्धि नहीं प्राप्त होती, जो तेरी मङ्गलकामना करे—जिससे तेरा जीवन सुरक्षित रह सके ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचककृष्णासंवादे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें कीचक-द्रौपदी-संवादविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२ श्लोक मिलाकर कुल ६४ श्लोक हैं)

पञ्चदशोऽध्यायः

रानी सुदेष्णाका द्रौपदीको कीचकके घर भेजना

वैशम्पायन उवाच

प्रत्याख्यातो राजपुत्र्या सुदेष्णां कीचकोऽब्रवीत्।
अमर्यादेन कामेन घोरेणाभिपरिप्लुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजकुमारी द्रौपदीके द्वारा इस प्रकार ठुकरा दिये जानेपर कीचक असीम एवं भयंकर कामसे विवश होकर अपनी बहिन सुदेष्णासे बोला—॥ १ ॥

यथा कैकेयि सैरन्ध्री समेयात् तद् विधीयताम् ।
येनोपायेन सैरन्ध्री भजेन्मां गजगामिनी ।
तं सुदेष्णे परीप्सस्व प्राणान् मोहात् प्रहासिषम्॥ २ ॥

'केकयराजनन्दिनि ! जिस उपायसे भी वह गजगामिनी सैरन्ध्री मेरे पास आवे और मुझे अङ्गीकार कर ले, वह करो। सुदेष्णे ! तुम स्वयं ही ऊहापोह करके युक्तिसे वह उचित उपाय ढूँढ़ निकालो, जिससे मुझे (मोहके वश हो) प्राणोंका त्याग न करना पड़े' ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य सा बहुशः श्रुत्वा वाचं विलपतस्तदा ।
विराटमहिषी देवी कृपां चक्रे मनस्विनी ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार बारंबार विलाप करते हुए कीचककी बात सुनकर उस समय राजा विराटकी मनस्विनी महारानी सुदेष्णाके मनमें उसके प्रति दयाभाव प्रकट हो गया ॥ ३ ॥

(सुदेष्णोवाच

शरणागतेयं सुश्रोणी मया दत्ताभया च सा ।
शुभाचारा च भद्रं ते नैनां वक्तुमिहोत्सहे ॥

सुदेष्णा बोली—भाई ! यह सुन्दरी सैरन्ध्री मेरी शरण-में आयी है । इसे मैंने अभय दे रक्खा है । तुम्हारा कल्याण हो । यह बड़ी सदाचारिणी है । मैं इससे तुम्हारी मनोगत बात नहीं कह सकती ॥

नैषा शक्या हि चान्येन स्प्रष्टुं पापेन चेतसा।
गन्धर्वाः किल पञ्चैनां रक्षन्ति रमयन्ति च ॥

इसे कोई भी दूसरा पुरुष मनमें दूषित भाव लेकर नहीं छू सकता । सुनते हूँ, पाँच गन्धर्व इसकी रक्षा करते हैं और इसे सुख पहुँचाते हैं ॥

एवमेषा ममाचष्टे तथा प्रथमसंगमे ।
तथैव गजनासोरुः सत्यमाह ममान्तिके ॥
ते हि क्रुद्धा महात्मानो नाशयेयुर्हि जीवितम् ।

इसने यह बात मुझसे उसी समय जब कि मेरी इससे पहले-पहल भेंट हुई थी, बता दी थी। इसी प्रकार हाथीकी सूँड़के समान जाँघोंवाली इस सुन्दरीने मेरे निकट यह सत्य ही कहा है कि यदि किसीने मेरा अपमान किया, तो मेरे महात्मा पति कुपित होकर उसके जीवनको ही नष्ट कर देंगे ॥

राजा चैव समीक्ष्यैनां सम्मोहं गतवानिह ॥
मया च सत्यवचनैरनुनीतो महीपतिः ।

राजा भी इसे यहाँ देखकर मोहित हो गये थे, तब मैंने इसकी कही हुई सच्ची बातें बताकर उन्हें किसी प्रकार समझा-बुझाकर शान्त किया ॥

सोऽप्येनामनिशं दृष्ट्वा मनसैवाभ्यनन्दत ॥
भयाद् गन्धर्वमुख्यानां जीवितस्योपघातिनाम्।
मनसापि ततस्त्वेनां न चिन्तयति पार्थिवः॥

तबसे वे भी सदा इसे देखकर मन-ही-मन इसका अभिनन्दन करते हैं। जीवनका विनाश करनेवाले उन श्रेष्ठ गन्धर्वोंके भयसे महाराज कभी मनसे भी इसका चिन्तन नहीं करते हैं॥

ते हि क्रुद्धा महात्मानो गरुडानिलतेजसः ।
दहेयुरपि लोकांस्त्रीन् युगान्तेष्विव भास्कराः ॥

वे महात्मा गन्धर्व गरुड़ और वायुके समान तेजस्वी हैं। वे कुपित होनेपर प्रलयकालके सूर्योंकी भाँति तीनों लोकोंको दग्ध कर सकते हैं ॥

सैरन्ध्र्या ह्येतदाख्यातं मम तेषां महद् बलम् ।
तव चाहमिदं गुह्यं स्नेहादाख्यामि बन्धुवत् ॥

सैरन्ध्रीने स्वयं ही मुझसे उनके महान् बलका परिचय दिया है। भ्रातृस्नेहके कारण मैंने तुमसे यह गोपनीय बात भी बता दी है ॥

मा गमिष्यसि वै कृच्छ्रां गतिं परमदुर्गमाम् ।
बलिनस्ते रुजं कुर्युः कुलस्य च धनस्य च ॥

इसे ध्यानमें रखनेसे तुम अत्यन्त दुःखदायिनी संकट-पूर्ण परिस्थितिमें नहीं पड़ोगे। गन्धर्वलोग बलवान् हैं। वे तुम्हारे कुल और सम्पत्तिका भी नाश कर सकते हैं॥

तस्मान्नास्यां मनः कर्तुं यदि प्राणाः प्रियास्तव।
मा चिन्तयेथा मा गास्त्वं मत्प्रियं च यदीच्छसि॥

इसलिये यदि तुम्हें अपने प्राण प्रिय हैं और यदि तुम मेरा भी प्रिय करना चाहते हो, तो इस सैरन्ध्रीमें मन न लगाओ। उसका चिन्तन छोड़ दो और उसके पास कभी न जाओ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु दुष्टात्मा भगिनीं कीचकोऽब्रवीत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! सुदेष्णाके ऐसा कहनेपर दुष्टात्मा कीचक अपनी बहिनसे बोला॥

कीचक उवाच

गन्धर्वाणां शतं वापि सहस्रमयुतानि वा ॥
अहमेको हनिष्यामि गन्धर्वान् पञ्च किं पुनः ।

कीचकने कहा—बहिन! मैं सैकड़ों, सहस्रों तथा अयुत गन्धर्वोंको भी अकेला ही मार गिराऊँगा, फिर पाँच-की तो बात ही क्या है? ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता सुदेष्णा तु शोकेनाभिप्रपीडिता ॥
अहो दुःखमहो कृच्छ्रमहो पापमिति स्म ह ।
प्रारुदद् भृशदुःखार्ता विपाकं तस्य वीक्ष्य सा ॥
पातालेषु पतत्येष विलपन् वडवामुखे ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कीचकके ऐसा कहनेपर सुदेष्णा शोकसे अत्यन्त व्यथित हो उठी और मन-ही-मन कहने लगी—'अहो! यह महान् दुःख, महान् संकट और महान् पापकी बात हो रही है।' इस कर्मके भावी परिणाम-पर दृष्टिपात करके वह अत्यन्त दुःखसे आतुर हो रोने लगी और मन-ही-मन बोली—'मेरा यह भाई तो ऊटपटाँग बातें बोलकर स्वयं ही पाताल अथवा वडवानलके मुखमें गिर रहा है।'(तत्पश्चात् वह कीचकको सुनाकर कहने लगी—)

त्वत्कृते विनशिष्यन्ति भ्रातरः सुहृदश्च मे ॥
किं नु शक्यं मया कर्तुं यत् त्वमेवमभिप्लुतः।
न च श्रेयोऽभिजानीषे काममेवानुवर्तसे ॥

मैं देखती हूँ; तेरे कारण मेरे सभी भाई और सुहृद् नष्ट हो जायँगे। तू ऐसी अनुचित इच्छाको अपने मनमें स्थान दे रहा है; मैं इसके लिये क्या कर सकती हूँ? अपनी भलाई किस बातमें है, यह तू नहीं समझता है और केवल कामका ही गुलाम हो रहा है ॥

ध्रुवं गतायुस्त्वं पाप यदेवं काममोहितः ।
अकर्तव्ये हि मां पापे नियुनङ्क्षि नराधम ॥

'पापी! निश्चय ही तेरी आयु समाप्त हो गयी है; तभी तू इस प्रकार कामसे मोहित हो रहा है। नराधम! तू मुझे ऐसे पापपूर्ण कार्यमें लगा रहा है, जो कदापि करने योग्य नहीं है ॥

अपि चैतत् पुरा प्रोक्तं निपुणैर्मनुजोत्तमैः ।
एकस्तु कुरुते पापं स्वजातिस्तेन हन्यते ॥

'प्राचीनकालके श्रेष्ठ एवं कुशल मनुष्योंने यह ठीक ही कहा है कि कुलमें एक मनुष्य पाप करता है और उसके कारण सभी जाति-भाई मारे जाते हैं ॥

गतस्त्वं धर्मराजस्य विषयं नात्र संशयः।
अदूषकमिमं सर्वं स्वजनं घातयिष्यसि ॥

'तू यमराजके लोकमें गया हुआ ही है, इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं रह गया है। तू अपने साथ इन समस्त निरपराध स्वजनोंको भी मरवा डालेगा ॥

एतत् तु मे दुःखतरं येनाहं भ्रातृसौहृदात्।
विदितार्था करिष्यामि तुष्टो भव कुलक्षयात् ॥)

'मेरे लिये सबसे महान् दुःखकी बात यह है कि मैं सारे परिणामोंको समझ-बूझकर भी भ्रातृ-स्नेहके कारण तेरी आज्ञाका पालन करूँगी। तू अपने कुलका संहार करके संतुष्ट हो ले' ॥

स्वमन्त्रमभिसंधाय तस्यार्थमनुचिन्त्य च।
उद्योगं चैव कृष्णायाः सुदेष्णा सूतमब्रवीत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर सुदेष्णाने अपने कार्यका विचार करके कीचकके मनोभावपर ध्यान दिया और फिर उसे द्रौपदीकी प्राप्ति करानेके लिये उचित उपायका निश्चय करके उसने सूतसे कहा— ॥ ४ ॥

पर्वणि त्वं समुद्दिश्य सुरामन्नं च कारय।
तत्रैनां प्रेषयिष्यामि सुराहारीं तवान्तिकम् ॥ ५ ॥

'कीचक! तुम किसी पर्व या त्योहारके दिन अपने घरमें मदिरा तथा अन्न-भोजनकी सामग्री तैयार कराओ। फिर मैं इस सैरन्ध्रीको वहाँसे सुरा ले आनेके बहाने तुम्हारे पास भेजूँगी ॥ ५ ॥

तत्र सम्प्रेषितामेनां विजने निरवग्रहे।
सान्त्वयेथा यथाकामं सान्त्व्यमाना रमेद् यदि ॥ ६ ॥

'वहाँ भेजी हुई इस सेविकाको एकान्तमें, जहाँ कोई विघ्न-बाधा न हो, अपनी इच्छाके अनुसार समझाना-बुझाना। सम्भव है, तुम्हारी सान्त्वना मिलनेपर यह रमणके लिये उद्यत हो जाय' ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स विनिष्क्रम्य भगिन्या वचनात् तदा।
सुरामाहारयामास राजार्हां सुपरिष्कृताम् ॥ ७ ॥
भक्ष्यांश्च विविधाकारान् बहूंश्चोच्चावचांस्तदा।
कारयामास कुशलैरन्नं पानं सुशोभनम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! बहिनके वचनसे इस प्रकार आश्वासन मिलनेपर कीचक उस समय वहाँसे चला गया और घर जाकर उसने यथासमय चतुर रसोइयोंके द्वारा राजाओंके उपयोगमें आने योग्य उत्तम एवं परिष्कृत मदिरा मँगवायी और भाँति-भाँतिके अनेक विशिष्ट और साधारण भक्ष्य पदार्थ एवं परम उत्तम अन्न-पानकी तैयारी करायी ॥ ७-८ ॥

तस्मिन् कृते तदा देवी कीचकेनोपमन्त्रिता।

उसकी व्यवस्था हो जानेपर कीचकने सुदेष्णाको भोजनके लिये आमन्त्रित किया ॥ ८½ ॥

(त्वरावान् कालपाशेन कण्ठे बद्धः पशुर्यथा।
नावबुध्यत मूढात्मा मरणं समुपस्थितम् ॥

मूढात्मा कीचक कण्ठमें कालपाशसे बँधे हुए पशुकी भाँति अपने निकट आयी हुई मृत्युको नहीं जान पाता था। वह द्रौपदीको पानेके लिये उतावला हो रहा था ॥

कीचक उवाच

मधु मद्यं बहुविधं भक्ष्याश्च विविधाः कृताः।
सुदेष्णे ब्रूहि सैरन्ध्रीं यथा सा मे गृहं व्रजेत् ॥

कीचक बोला—सुदेष्णे! मैंने नाना प्रकारकी मीठी मदिरा मँगा ली है और विविध प्रकारकी रसोई भी तैयार कर ली है। अब तुम सैरन्ध्रीसे कह दो, जिससे वह मेरे घरमें पधारे ॥

केनचित् त्वद्य कार्येण त्वर शीघ्रं मम प्रियम् ॥
अहं हि शरणं देवं प्रपद्ये वृषभध्वजम्।
समागमं मे सैरन्ध्र्या मरणं वा दिशेति वै ॥

किसी कामके बहाने उसे जल्दी मेरे यहाँ भेजो। मेरा प्रिय कार्य सिद्ध करनेमें शीघ्रता करो। मैं भगवान् शंकरकी शरण लेकर यह प्रार्थना करता हूँ कि प्रभो! मुझे सैरन्ध्रीसे मिला दो अथवा मृत्यु प्रदान करो ॥

वैशम्पायन उवाच

सा तमाह विनिःश्वस्य प्रतिगच्छ स्वकं गृहम्।
एषाहमपि सैरन्ध्रीं सुरार्थे तूर्णमादिशे ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब सुदेष्णा लंबी साँस खींचकर उससे बोली—'तुम अपने घर लौट जाओ। मैं सैरन्ध्रीको शीघ्र ही वहाँसे मदिरा ले आनेके लिये आज्ञा देती हूँ'॥

एवमुक्तस्तु पापात्मा कीचकस्त्वरितः पुनः।
स्वगृहं प्राविशत् तूर्णं सैरन्ध्रीगतमानसः ॥)

उसके ऐसा कहनेपर सैरन्ध्रीका चिन्तन करता हुआ पापात्मा कीचक फिर तुरंत ही अपने घरको लौट गया ॥

सुदेष्णा प्रेषयामास सैरन्ध्रीं कीचकालयम् ॥ ९ ॥

तब सुदेष्णाने सैरन्ध्रीको कीचकके घर जानेके लिये कहा ॥ ९ ॥

सुदेष्णोवाच

उत्तिष्ठ गच्छ सैरन्ध्रि कीचकस्य निवेशनम्।
पानमानय कल्याणि पिपासा मां प्रबाधते ॥ १० ॥

सुदेष्णा बोली—सैरन्ध्री ! उठो और कीचकके घर जाओ। कल्याणी ! मुझे प्यास विशेष कष्ट दे रही है; अतः वहाँसे मेरे पीने योग्य रस ले आओ ॥ १० ॥

सैरन्ध्र्युवाच

न गच्छेयमहं तस्य राजपुत्रि निवेशनम्।
त्वमेव राज्ञि जानासि यथा स निरपत्रपः ॥ ११ ॥

सैरन्ध्रीने कहा—राजकुमारी ! मैं उसके घर नहीं जा सकती। महारानी ! आप तो जानती ही हैं कि वह कैसा निर्लज्ज है ॥ ११ ॥

न चाहमनवद्याङ्गि तव वेश्मनि भामिनि।
कामवृत्ता भविष्यामि पतीनां व्यभिचारिणी ॥ १२ ॥

निर्दोष अङ्गोंवाली देवि ! मैं आपके महलमें अपने पतियोंकी दृष्टिमें व्यभिचारिणी और स्वेच्छाचारिणी होकर नहीं रहूँगी ॥

त्वं चैव देवि जानासि यथा स समयः कृतः।
प्रविशन्त्या मया पूर्वं तव वेश्मनि भामिनि ॥ १३ ॥

भामिनि ! देवि ! पहले आपके इस राजभवनमें प्रवेश करते समय मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसे भी आप जानती ही हैं ॥ १३ ॥

कीचकस्तु सुकेशान्ते मूढो मदनदर्पितः।
सोऽवमंस्यति मां दृष्ट्वा न यास्ये तत्र शोभने ॥ १४ ॥

कमनीय केशोंवाली सुन्दरी ! मूर्ख कीचक तो काममदसे उन्मत्त हो रहा है। वह मुझे देखते ही अपमानित कर बैठेगा। इसलिये मैं वहाँ नहीं जाऊँगी ॥ १४ ॥

सन्ति बह्व्यस्तव प्रेष्या राजपुत्रि वशानुगाः।
अन्यां प्रेषय भद्रं ते स हि मामवमंस्यते ॥ १५ ॥

राजपुत्री ! आपके अधीन तो और भी बहुत-सी दासियाँ हैं; उन्हींमेंसे किसी दूसरीको भेज दीजिये। आपका कल्याण हो। मेरे जानेसे कीचक मेरा अपमान करेगा ॥१५॥

सुदेष्णोवाच

नैव त्वां जातु हिंस्यात् स इतः सम्प्रेषितां मया।
इत्युक्त्वा प्रददौ पात्रं सपिधानं हिरण्मयम् ॥ १६ ॥

सुदेष्णा बोली—शुभे ! मैंने तुम्हें यहाँसे भेजा है, अतः वह कभी तुम्हें कष्ट नहीं देगा।

यह कहकर सुदेष्णाने द्रौपदीके हाथमें ढक्कनसहित एक सुवर्णमय पात्र दे दिया ॥ १६ ॥

सा शङ्कमाना रुदती दैवं शरणमीयुषी।
प्रातिष्ठत सुराहारी कीचकस्य निवेशनम् ॥ १७ ॥

द्रौपदी मदिरा लानेके लिये उस पात्रको लेकर शङ्कित हो रोती हुई कीचकके घरकी ओर चली और अपने सतीत्व-की रक्षाके लिये मन-ही-मन भगवान् सूर्यकी शरणमें गयी ॥

सैरन्ध्र्युवाच

यथाहमन्यं भर्तृभ्यो नाभिजानामि कंचन।
तेन सत्येन मां प्राप्तां मा कुर्यात् कीचको वशे ॥ १८ ॥

सैरन्ध्रीने कहा—भगवन् ! यदि मैं अपने पतियोंके सिवा दूसरे किसी पुरुषको मनमें नहीं लाती, तो इस सत्यके प्रभाव-से कीचक अपने घरमें आयी हुई मुझ अबलाको अपने वशमें न कर सके ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

उपातिष्ठत सा सूर्यं मुहूर्तमबला ततः।
स तस्यास्तनुमध्यायाः सर्वं सूर्योऽवबुद्धवान् ॥ १९ ॥
अन्तर्हितं ततस्तस्या रक्षो रक्षार्थमादिशत्।
तच्चैनां नाजहात् तत्र सर्वावस्थास्वनिन्दिताम् ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सब प्रकार-के बलसे रहित द्रौपदी दो घड़ीतक भगवान् सूर्यकी उपासना करती रही। तदनन्तर श्रीसूर्यदेवने पतले कटिभागवाली द्रुपदकुमारीको सारी परिस्थिति समझ ली और उसकी रक्षाके लिये अदृश्यरूपसे एक राक्षसको नियुक्त कर दिया। वह राक्षस किसी भी अवस्थामें सती-साध्वी द्रौपदीको वहाँ असहाय नहीं छोड़ता था ॥ १९-२० ॥

तां मृगीमिव संत्रस्तां दृष्ट्वा कृष्णां समीपगाम्।
उदतिष्ठन्मुदा सूतो नावं लब्ध्वेव पारगः ॥ २१ ॥

डरी हुई हरिणीकी भाँति भयभीत द्रौपदीको समीप आयी देख सूत कीचक आनन्दमें भरकर खड़ा हो गया; मानो नदीके पार जानेवाला पथिक नौका पाकर प्रसन्न हो गया हो ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीसुराहरणे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीके द्वारा मदिरानयनसम्बन्धी पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २५ श्लोक मिलाकर कुल ४६ श्लोक हैं)

षोडशोऽध्यायः

कीचकद्वारा द्रौपदीका अपमान

कीचक उवाच

स्वागतं ते सुकेशान्ते सुव्युष्टा रजनी मम।
स्वामिनी त्वमनुप्राप्ता प्रकुरुष्व मम प्रियम्॥ १॥

कीचकने कहा—सुन्दर अलकोंवाली सैरन्ध्री! तुम्हारा स्वागत है। आजकी रातका प्रभात मेरे लिये बड़ा मङ्गलमय है। अब तुम मेरी स्वामिनी होकर मेरा प्रिय कार्य करो॥ १॥

सुवर्णमालाः कम्बूश्च कुण्डले परिहाटके।
नानापत्तनजे शुभ्रे मणिरत्नं च शोभनम्॥ २॥
आहरन्तु च वस्त्राणि कौशिकान्यजिनानि च।

मैं दासियोंको आज्ञा देता हूँ; वे तुम्हारे लिये सोनेके हार, शङ्खकी चूड़ियाँ, विभिन्न नगरोंमें बने हुए शुभ्र सुवर्णमय कर्ण-फूलके जोड़े, सुन्दर मणि-रत्नमय आभूषण, रेशमी साड़ियाँ तथा मृगचर्म आदि ले आवें॥ २½॥

अस्ति मे शयनं दिव्यं त्वदर्थमुपकल्पितम्।
एहि तत्र मया सार्द्धं पिबस्व मधुमाधवीम्॥ ३॥

मैंने तुम्हारे लिये पहलेसे ही यह दिव्य शय्या बिछा रक्खी है। आओ, यहाँ मेरे साथ बैठकर मधुर माध्वीरसका पान करो॥ ३॥

द्रौपद्युवाच

(नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुं निषादेनेव ब्राह्मणी।
मा गमिष्यसि दुर्बुद्धे गतिं दुर्गान्तरान्तराम्॥

द्रौपदी बोली—दुर्बुद्धे! जैसे निषाद ब्राह्मणीका स्पर्श नहीं कर सकता, उसी प्रकार तुम भी मुझे छू नहीं सकते। तुम मेरा तिरस्कार करके भारीसे भारी दुर्गतिमें न पड़ो॥

यत्र गच्छन्ति बहवः परदाराभिमर्शकाः।
नराः सम्भिन्नमर्यादाः कीटवच्च गुहाशयाः॥)

उस दुरवस्थामें न जाओ, जहाँ धर्ममर्यादाका छेदन करनेवाले बहुत-से परस्त्रीगामी मनुष्य बिलमें सोनेवाले कीड़ोंकी भाँति जाया करते हैं॥

अप्रैषीद् राजपुत्री मां सुराहारीं तवान्तिकम्।
पानमाहर मे क्षिप्रं पिपासा मेऽति चाब्रवीत्॥ ४॥

राजकुमारी सुदेष्णाने मुझे मदिरा लानेके लिये तुम्हारे पास भेजा है। उनका कहना है—'मुझे बड़े जोरकी प्यास लगी है; अतः शीघ्र मेरे लिये पीने योग्य रस ले आओ'॥ ४॥

कीचक उवाच

अन्या भद्रे नयिष्यन्ति राजपुत्र्याः प्रतिश्रुतम्।
इत्येतां दक्षिणे पाणौ सूतपुत्रः परामृशत्॥ ५॥

कीचकने कहा—कल्याणी! राजपुत्री सुदेष्णाकी मँगायी हुई वस्तु दूसरी दासियाँ पहुँचा देंगी।

ऐसा कहकर सूतपुत्रने द्रौपदीका दाहिना हाथ पकड़ लिया॥ ५॥

द्रौपद्युवाच

यथैवाहं नाभिचरे कदाचित्
पतीन् मदाद् वै मनसापि जातु।
तेनैव सत्येन वशीकृतं त्वां
द्रष्टास्मि पापं परिकृष्यमाणम्॥ ६॥

द्रौपदी बोली—ओ पापी! यदि मैंने आजतक कभी मनसे भी अभिमानवश अपने पतियोंके विरुद्ध आचरण न किया हो, तो इस सत्यके प्रभावसे मैं देखूँगी कि तू शत्रुके अधीन होकर पृथ्वीपर घसीटा जा रहा है॥ ६॥

वैशम्पायन उवाच

स तामभिप्रेक्ष्य विशालनेत्रां
जिघृक्षमाणः परिभर्त्सयन्तीम्।
जग्राह तामुत्तरवस्त्रदेशे
स कीचकस्तां सहसाऽऽक्षिपन्तीम्॥ ७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! बड़े-बड़े नेत्रोंवाली द्रौपदीको इस प्रकार फटकारती देख कीचकने उसे पकड़ लेनेकी इच्छा की; किंतु वह सहसा झटका देकर पीछेकी ओर हटने लगी; इतनेमें ही झपटकर कीचकने उसके दुपट्टेका छोर पकड़ लिया॥ ७॥

प्रगृह्यमाणा तु महाजवेन
मुहुर्विनिःश्वस्य च राजपुत्री।
तया समाक्षिप्ततनुः स पापः
पपात शाखीव निकृत्तमूलः॥ ८॥

अब वह बड़े वेगसे उसे काबूमें लानेका प्रयत्न करने लगा। इधर राजकुमारी द्रौपदी बारंबार लंबी साँसें भरती हुई उससे छूटनेका प्रयत्न करने लगी। उसने सँभालकर दोनों हाथोंसे कीचकको बड़े जोरका धक्का दिया; जिससे वह पापी जड़-मूलसे कटे वृक्षकी भाँति (धम्मसे) जमीनपर जा गिरा॥ ८॥

सा गृहीता विधुन्वाना भूमावाक्षिप्य कीचकम्।
सभां शरणमागच्छद् यत्र राजा युधिष्ठिरः॥ ९॥

इस प्रकार पकड़में आनेपर कीचकको धरतीपर गिराकर भयसे काँपती हुई द्रौपदीने भागकर उस राजसभाकी शरण ली, जहाँ राजा युधिष्ठिर विद्यमान थे॥ ९॥

तां कीचकः प्रधावन्तीं केशपाशे परामृशत्।
अथैनां पश्यतो राज्ञः पातयित्वा पदावधीत्॥ १०॥

कीचकने भी उठकर भागती हुई द्रौपदीका पीछा किया और उसका केश पकड़ लिया। फिर उसने राजाके देखते-देखते उसे पृथ्वीपर गिराकर लात मारी॥ १०॥

तस्य योऽसौ तदार्केण राक्षसः संनियोजितः।
स कीचकमपोवाह वातवेगेन भारत॥ ११॥

भारत! इतनेमें ही भगवान् सूर्यने जिस राक्षसको द्रौपदीकी रक्षाके लिये नियुक्त कर रक्खा था, उसने कीचकको पकड़कर आँधीके समान वेगसे दूर फेंक दिया॥ ११॥

स पपात तदा भूमौ रक्षोबलसमाहतः।
विघूर्णमानो निश्चेष्टश्छिन्नमूल इव द्रुमः॥ १२॥

राक्षसद्वारा बलपूर्वक आहत होकर कीचकके सारे शरीरमें चक्कर आ गया और वह जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति निश्चेष्ट होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ १२॥

(सभायां पश्यतो राज्ञो विराटस्य महात्मनः।
ब्राह्मणानां च वृद्धानां क्षत्रियाणां च पश्यताम्॥
तस्याः पादाभितप्ताया मुखाद् रुधिरमास्रवत्।
तां दृष्ट्वा तत्र ते सभ्या हाहाभूता समन्ततः॥
न युक्तं सूतपुत्रेति कीचकेति च मानवाः।
किमियं वध्यते बाला कृपणा चाप्यबान्धवा॥)

सभामें महामना राजा विराटके तथा वृद्ध ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके देखते-देखते कीचकके पादप्रहारसे पीड़ित हुई द्रौपदीके मुँहसे रक्त बहने लगा। उसे उस अवस्थामें देखकर समस्त सभासद् सब ओरसे हाहाकार कर उठे और सब लोग कहने लगे—'सूतपुत्र कीचक! तुम्हारा यह कार्य उचित नहीं है। यह बेचारी अबला अपने बन्धु-बान्धवोंसे रहित है। इसे क्यों पीड़ा दे रहे हो?'

तां चासीनौ ददृशतुर्भीमसेनयुधिष्ठिरौ।
अमृष्यमाणौ कृष्णायाः कीचकेन पराभवम्॥ १३॥

उस समय भीमसेन और युधिष्ठिर भी राजसभामें बैठे हुए थे। उन्होंने कीचकके द्वारा द्रौपदीका यह अपमान अपनी आँखों देखा, जिसे वे सहन न कर सके॥ १३॥

तस्य भीमो वधं प्रेप्सुः कीचकस्य दुरात्मनः।
दन्तैर्दन्तांस्तदा रोषान्निष्पिपेष महामनाः॥ १४॥

महामना भीमसेन दुरात्मा कीचकको मार डालनेकी इच्छासे उस समय रोषवश दाँतोंसे दाँत पीसने लगे॥ १४॥

धूमच्छाया ह्यभजतां नेत्रे चोच्छ्रितपक्ष्मणी।
सस्वेदा भ्रुकुटी चोग्रा ललाटे समवर्तत॥ १५॥

उनकी आँखोंकी पलकें ऊपरको उठकर तन गयीं। उनमें धूआँ-सा छा गया, ललाटमें पसीना निकल आया और भौंहें टेढ़ी होकर भयंकर प्रतीत होने लगीं॥ १५॥

हस्तेन ममृजे चैव ललाटं परवीरहा।
भूयश्च त्वरितः क्रुद्धः सहसोत्थातुमैच्छत॥ १६॥

शत्रुहन्ता भीम हाथसे माथेका पसीना पोंछने लगे। फिर तुरंत ही प्रचण्ड कोपमें भर गये और सहसा उठनेकी इच्छा करने लगे॥ १६॥

अथावमृद्नादङ्गुष्ठमङ्गुष्ठेन युधिष्ठिरः।
प्रबोधनभयाद् राजा भीमं तं प्रत्यषेधयत्॥ १७॥

तब राजा युधिष्ठिरने रहस्य प्रकट हो जानेके डरसे अपने अँगूठेसे भीमका अँगूठा दबाया और इस प्रकार उन्हें उत्तेजित होनेसे रोका॥ १७॥

तं मत्तमिव मातङ्गं वीक्षमाणं वनस्पतिम्।
स तमावारयामास भीमसेनं युधिष्ठिरः॥ १७॥

भीमसेन मतवाले गजराजकी भाँति एक वृक्षकी ओर देख रहे थे। तब युधिष्ठिरने उन्हें रोकते हुए कहा—॥ १८॥

आलोकयसि किं वृक्षं सूद दारुकृतेन वै।
यदि ते दारुभिः कृत्यं बहिर्वृक्षान्निगृह्यताम्॥ १९॥

'बल्लव! क्या तुम ईंधनके लिये वृक्षकी ओर देखते हो? यदि रसोईके लिये सूखी लकड़ी चाहिये, तो बाहर जाकर वृक्षसे ले लो॥ १९॥

(यस्य चार्द्रस्य वृक्षस्य शीतच्छायां समाश्रयेत्।
न तस्य पर्णं द्रुह्येत पूर्ववृत्तमनुस्मरन्॥

जिस हरे-भरे वृक्षकी शीतल छायाका आश्रय लेकर रहा जाय, उसके किसी एक पत्तेसे भी द्रोह नहीं करना चाहिये। उसके पहलेके उपकारोंको सदा याद रखकर उसकी रक्षा करनी चाहिये'॥

इङ्गितज्ञः स तु भ्रातुस्तूष्णीमासीद् वृकोदरः॥
भीमस्य तु समारम्भं दृष्ट्वा राज्ञश्च चेष्टितम्।
द्रौपद्यभ्यधिकं क्रुद्धा प्रारुदत् सा पुनः पुनः॥
कीचकेनानुगमनात् कृष्णा ताम्रायतेक्षणा।)

तब भाईके संकेतको समझनेवाले भीमसेन उस समय चुप हो गये! भीमके उस क्रोधको तथा राजा युधिष्ठिरकी शान्तिपूर्ण चेष्टाको देखकर द्रौपदी अधिक क्रुद्ध हो उठी। कीचकके पीछा करनेसे कृष्णाकी आँखें रोषसे लाल हो रही थीं। वह खीझके कारण बार-बार रोने लगी॥

सा सभाद्वारमासाद्य रुदती मत्स्यमब्रवीत्।
अवेक्षमाणा सुश्रोणी पतींस्तान् दीनचेतसः॥ २०॥

इधर सुन्दर कटि प्रान्तवाली द्रौपदी राजसभाके द्वारपर आकर अपने दीन हृदयवाले पतियोंकी ओर देखती हुई मत्स्यनरेशसे बोली॥ २०॥



विराटकी राजसभामें कीचकद्वारा सैरन्ध्रीका अपमान

आकारमभिरक्षन्ती प्रतिज्ञाधर्मसंहिता।
दह्यमानेव रौद्रेण चक्षुषा द्रुपदात्मजा ॥ २१ ॥

उस समय वह प्रतिज्ञारूप धर्मसे आबद्ध होनेके कारण अपने स्वरूपको छिपा रही थी; किंतु उसके नेत्र मानो जला रहे हों, इस प्रकार भयंकर हो उठे थे ॥ २१ ॥

(द्रौपद्युवाच

प्रजारक्षणशीलानां राज्ञां ह्यमिततेजसाम्।
कार्यं हि पालनं नित्यं धर्मे सत्ये च तिष्ठताम् ॥
स्वप्रजायां प्रजायां च विशेषं नाधिगच्छताम्।

द्रौपदीने कहा—जो स्वभावसे ही प्रजाजनोंकी रक्षामें लगे हुए हैं, सदा धर्म और सत्यके मार्गमें स्थित हैं तथा प्रजा और अपनी संतानमें कोई अन्तर नहीं समझते, उन अमित-तेजस्वी राजाओंको चाहिये कि वे सदा आश्रितजनोंका पालन एवं संरक्षण करें ॥

प्रियेष्वपि च द्वेष्येषु समत्वं ये समाश्रिताः ॥
विवादेषु प्रवृत्तेषु समं कार्यानुदर्शिना।
राज्ञा धर्मासनस्थेन जितौ लोकावुभावपि ॥

जो प्रियजनों तथा द्वेषपात्रोंमें भी समानभाव रखते हैं, प्रजाजनोंमें विवाद आरम्भ होनेपर जो राजा धर्मासनपर बैठकर समानभावसे प्रत्येक कार्यपर विचार करते हैं, वे दोनों लोकोंको जीत लेते हैं ॥

राजन् धर्मासनस्थोऽपि रक्ष मां त्वमनागसीम् ॥
अहं त्वनपराध्यन्ती कीचकेन दुरात्मना।
पश्यतस्ते महाराज हता पादेन दासवत् ॥

राजन्! आप धर्मके आसनपर बैठे हैं। मुझ निरपराध अबलाकी रक्षा कीजिये। महाराज! मैंने कोई अपराध नहीं किया है, तो भी दुरात्मा कीचकने आपके देखते-देखते मुझको लात मारी है; मेरे साथ (खरीदे हुए) दासका-सा बर्ताव किया है।

मत्स्याधिप प्रजा रक्ष पिता पुत्रानिवौरसान् ॥
यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्मा कुरुते नृपः।
अचिरात् तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥

मत्स्यराज! जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार आप अपने प्रजाजनोंका संरक्षण कीजिये। जो मोहमें डूबा हुआ राजा अधर्मयुक्त कार्य करता है, उस दुरात्माको उसके शत्रु शीघ्र ही वशमें कर लेते हैं ॥

मत्स्यानां कुलजस्त्वं हि तेषां सत्यं परायणम्।
त्वं किलैवंविधो जातः कुले धर्मपरायणे ॥

आप मत्स्यकुलमें उत्पन्न हुए हैं। सत्य ही मत्स्यनरेशोंका महान् आश्रय रहा है। आप भी इस धर्मपरायण कुलमें ऐसे ही धर्मात्मा पैदा हुए हैं ॥

अतस्त्वाहमभिक्रन्दे शरणार्थं नराधिप।
त्राहि मामद्य राजेन्द्र कीचकात् पापपूरुषात् ॥

अतः नरेश्वर! मैं आपसे शरण देनेके लिये रुदन करती हूँ। राजेन्द्र! आज मुझे इस पापी कीचकसे बचाइये ॥

अनाथामिह मां ज्ञात्वा कीचकः पुरुषाधमः।
प्रहरत्येव नीचात्मा न तु धर्ममवेक्षते ॥

पुरुषाधम कीचक यहाँ मुझे असहाय जानकर मार रहा है। यह नीच अपने धर्मकी ओर नहीं देखता है ॥

अकार्याणामनारम्भात् कार्याणामनुपालनात्।
प्रजासु ये सुवृत्तास्ते स्वर्गमायान्ति भूमिपाः ॥

जो भूमिपाल न करने योग्य कार्योंका आरम्भ नहीं करते, करनेयोग्य कर्तव्योंका निरन्तर पालन करते हैं और सदा प्रजाके साथ उत्तम बर्ताव करते हैं, वे स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥

कार्याकार्यविशेषज्ञाः कामकारेण पार्थिव।
प्रजासु किल्बिषं कृत्वा नरकं यान्त्यधोमुखाः ॥

परंतु राजन्! जो राजा कर्तव्य और अकर्तव्यके अन्तरको जानते हुए भी स्वेच्छाचारितावश प्रजावर्गके साथ पापाचार करते हैं, वे अधोमुख हो नरकमें जाते हैं ॥

नैव यज्ञैर्न वा दानैर्न गुरोरुपसेवया।
प्राप्नुवन्ति तथा धर्मं यथा कार्यानुपालनात् ॥

राजालोग यज्ञ, दान अथवा गुरुसेवनसे भी वैसा धर्म (पुण्य) नहीं पाते हैं, जैसा कि अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेसे प्राप्त करते हैं ॥

क्रियायामक्रियायां च प्रापणे पुण्यपापयोः ॥
प्रजायां सृज्यमानायां पुरा ह्येतदुदाहृतम्।
एतद् वो मानुषाः सम्यक् कार्यं द्वन्द्वतया भुवि।
अस्मिन् सुनीते दुर्नीते लभते कर्मजं फलम् ॥

पूर्वकालमें सृष्टिकी रचनाके समय ब्रह्माजीने क्रिया करने और न करनेकी स्थितिमें पुण्य और पापकी प्राप्तिके विषयमें इस प्रकार कहा था—'मनुष्यो! तुमलोगोंको इस पृथ्वीलोकमें द्वन्द्वरूपमें प्राप्त धर्म और अधर्मके विषयमें भलीभाँति समझकर कर्म करना चाहिये; क्योंकि अच्छी या बुरी जैसी नीयतसे काम किया जाता है, वैसा ही कर्मजनित फल मिलता है ॥

कल्याणकारी कल्याणं पापकारी च पापकम्।
तेन गच्छति संसर्गं स्वर्गाय नरकाय वा ॥

'कल्याणकारी मनुष्य कल्याणका और पापाचारी पुरुष पापके फलस्वरूप दुःखका भागी होता है। जो इनके संसर्गमें आता है, वह भी (कर्मानुसार) स्वर्ग या नरकमें जाता है ॥

सुकृतं दुष्कृतं वापि कृत्वा मोहेन मानवः।
पश्चात्तापेन तप्येत स्वबुद्ध्या मरणं गतः ॥

'मनुष्य मोहपूर्वक सत्कर्म या दुष्कर्म करके मृत्युके बाद भी मन-ही-मन पश्चात्ताप करता रहता है' ॥

एवमुक्त्वा परं वाक्यं विससर्ज शतक्रतुम्।
शक्रोऽप्यापृच्छ्य ब्रह्माणं देवराज्यमपालयत्॥

इस प्रकार उत्तम वचन कहकर ब्रह्माजीने इन्द्रको विदा कर दिया। इन्द्र भी ब्रह्माजीसे पूछकर देवलोकमें आये और देवसाम्राज्यका पालन करने लगे ॥

यथोक्तं देवदेवेन ब्रह्मणा परमेष्ठिना।
तथा त्वमपि राजेन्द्र कार्याकार्ये स्थिरो भव॥

राजेन्द्र ! देवाधिदेव परमेष्ठी ब्रह्माजीने जैसा उपदेश दिया है, उसके अनुसार आप भी कर्तव्य और अकर्तव्यके निर्णयमें दृढ़तापूर्वक लगे रहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विलपमानायां पाञ्चाल्यां मत्स्यपुङ्गवः।
अशक्तः कीचकं तत्र शासितुं बलदर्पितम्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीके इस प्रकार विलाप करनेपर भी मत्स्यराज विराट बलाभिमानी कीचकपर शासन करनेमें असमर्थ ही रहे ॥

विराटराजः सूतं तु सान्त्वेनैव न्यवारयत्।
कीचकं मत्स्यराजेन कृतागसमनिन्दिता॥
नापराधानुरूपेण दण्डेन प्रतिपादितम्।
पाञ्चालराजस्य सुता दृष्ट्वा सुरसुतोपमा॥
धर्मज्ञा व्यवहाराणां कीचकं कृतकिल्बिषम्।
पुनः प्रोवाच राजानं स्मरन्ती धर्ममुत्तमम्॥
सम्प्रेक्ष्य च वरारोहा सर्वांस्तत्र सभासदः।
विराटं चाह पाञ्चाली दुःखेनाविष्टचेतना॥)

उन्होंने शान्तिपूर्वक समझा-बुझाकर ही सूतको वैसा करनेसे मना किया। यद्यपि कीचकने भारी अपराध किया था, तो भी मत्स्यराजने उसे अपराधके अनुसार दण्ड नहीं दिया; यह देख देवकन्याके समान सुन्दरी एवं व्यवहार-धर्मको जाननेवाली साध्वी द्रौपदी उत्तम धर्मका स्मरण करती हुई राजा विराट तथा समस्त सभासदोंकी ओर देखकर दुखी हृदयसे इस प्रकार बोली—॥

येषां वैरी न स्वपिति षष्ठेऽपि विषये वसन्।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत्॥२२॥

'जिन मेरे पतियोंके वैरीको पाँच देशोंको पार करके छठे देशमें रहनेपर भी भयके मारे नींद नहीं आती, आज उन्हींकी मानिनी पत्नी मुझ असहाय अबलाको एक सूतपुत्रने लातसे मारा है ॥ २२ ॥

ये दद्युर्न च याचेयुर्ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत्॥२३॥

'जो सदा दूसरोंको देते हैं, किंतु किसीसे याचना नहीं करते, जो ब्राह्मणभक्त तथा सत्यवादी हैं, उन्हींकी मुझ मानिनी पत्नीको सूतपुत्रने लात मारी है ॥ २३ ॥

येषां दुन्दुभिनिर्घोषो ज्याघोषः श्रूयतेऽनिशम्।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत्॥२४॥

'जिनके धनुषकी टङ्कार सदा देव-दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनिके समान सुनायी पड़ती है, उन्हींकी मुझ मानिनी पत्नीको सूतपुत्रने लातसे मारा है ॥ २४ ॥

ये च तेजस्विनो दान्ता बलवन्तोऽतिमानिनः।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत्॥२५॥

'जो तेजस्वी, जितेन्द्रिय, बलवान् और अत्यन्त मानी हैं, उन्हींकी मुझ मानिनी पत्नीपर सूतपुत्रने पैरसे आघात किया है ॥ २५ ॥

सर्वलोकमिमं हन्युर्धर्मपाशसितास्तु ये।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत्॥२६॥

'मेरे पति इस सम्पूर्ण संसारको मार सकते हैं; किंतु वे धर्मके बन्धनमें बँधे हैं, इसीसे आज उनकी मुझ मानिनी पत्नीपर सूतपुत्रने पैरसे प्रहार किया है ॥ २६ ॥

शरणं ये प्रपन्नानां भवन्ति शरणार्थिनाम्।
चरन्ति लोके प्रच्छन्नाः क्व नु तेऽद्य महारथाः॥२७॥

'जो शरण चाहनेवाले अथवा शरणमें आये हुए सब लोगोंको शरण देते हैं, वे मेरे महारथी पति अपने स्वरूपको छिपाकर आज जगत्में कहाँ विचर रहे हैं ? ॥ २७ ॥

कथं ते सूतपुत्रेण वध्यमानां प्रियां सतीम्।
मर्षयन्ति यथा क्लीबा बलवन्तोऽमितौजसः॥२८॥

'जो अमिततेजस्वी और बलवान् हैं, वे (मेरे पति) एक सूतपुत्रद्वारा मारी जाती हुई अपनी सती-साध्वी प्रिय पत्नीका अपमान कायरों और नपुंसकोंकी भाँति कैसे सहन कर रहे हैं ? ॥

क्व नु तेषाममर्षश्च वीर्यं तेजश्च वर्तते।
न परीप्सन्ति ये भार्यां वध्यमानां दुरात्मना॥२९॥

'आज उनका अमर्ष, पराक्रम और तेज कहाँ है ? जो एक दुरात्माकी मार खाती हुई अपनी पत्नीकी रक्षा नहीं करते हैं ॥ २९ ॥

मयात्र शक्यं किं कर्तुं विराटे धर्मदूषके।
यः पश्यन् मां मर्षयति वध्यमानामनागसम्॥३०॥

'यहाँका राजा विराट भी धर्मको कलङ्कित करनेवाला है, जो मुझ निरपराध अबलाको अपने सामने मार खाती देखकर भी सहन किये जाता है। भला, इसके रहते मैं इस अपमान-का बदला चुकानेके लिये क्या कर सकती हूँ ? ॥ ३० ॥

न राजा राजवत् किंचित् समाचरति कीचके।
दस्यूनामिव धर्मस्ते न हि संसदि शोभते॥३१॥

नाहमेतेन युक्तं वै हन्तुं मत्स्य तवान्तिके ।
सभासदोऽत्र पश्यन्तु कीचकस्य व्यतिक्रमम् ॥ ३२॥

'यह राजा होकर भी कीचकके प्रति कुछ भी राजोचित न्याय नहीं कर रहा है । मत्स्यराज ! तुम्हारा यह लुटेरोंका-सा धर्म इस राजसभामें शोभा नहीं देता । तुम्हारे निकट इस कीचकद्वारा मुझपर मार पड़ी, यह कदापि उचित नहीं कहा जा सकता । यहाँ जो सभासद् बैठे हैं, वे भी कीचकका यह अत्याचार देखें ॥ ३१-३२ ॥

कीचको न च धर्मज्ञो न च मत्स्यः कथंचन ।
सभासदोऽप्यधर्मज्ञा य एनं पर्युपासते ॥ ३३॥

'कीचकको धर्मका ज्ञान नहीं है और यह मत्स्यराज भी किसी प्रकार धर्मज्ञ नहीं है तथा जो इस अधर्मी राजाके पास बैठते हैं, वे सभासद् भी धर्मके ज्ञाता नहीं हैं' ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विधैर्वचोभिः सा तदा कृष्णाश्रुलोचना ।
उपालभत राजानं मत्स्यानां वरवर्णिनी ॥ ३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उत्तम वर्णवाली द्रौपदीने उस समय आँखोंमें आँसू भरकर ऐसे वचनोंद्वारा मत्स्यराजको बहुत फटकारा और उलाहना दिया ॥ ३४ ॥

विराट उवाच

परोक्षं नाभिजानामि विग्रहं युवयोरहम् ।
अर्थतत्त्वमविज्ञाय किं नु स्यात् कौशलं मम ॥ ३५॥

तब विराट बोले—सैरन्ध्री ! हमारे परोक्षमें तुम दोनोंमें किस प्रकार कलह हुआ है; इसे मैं नहीं जानता और वास्तविक बातको जाने बिना न्याय करनेमें मेरा क्या कौशल प्रकट होगा ? ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तु सभ्या विज्ञाय कृष्णां भूयोऽभ्यपूजयन् ।
साधु साध्विति चाप्याहुः कीचकं च व्यगर्हयन् ॥ ३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर सभासदोंने सारा रहस्य जानकर द्रौपदीकी बार-बार सराहना की । उसे अनेक बार साधुवाद दिया और कीचककी निन्दा करते हुए उसे बहुत धिक्कारा ॥ ३६ ॥

सभ्या ऊचुः

यस्येयं चारुसर्वाङ्गी भार्या स्यादायतेक्षणा ।
परो लाभस्तु तस्य स्यान्न च शोचेत् कथंचन ॥ ३७॥

सभासद् बोले—सम्पूर्ण मनोहर अङ्गोंसे सुशोभित यह बड़े-बड़े नेत्रोंवाली साध्वी जिसकी धर्मपत्नी है, उसे जीवनमें बहुत बड़ा लाभ मिला है । वह किसी प्रकार शोक नहीं कर सकता ॥ ३७ ॥

(यस्या गात्रं शुभं पीनं मुखं जयति पङ्कजम् ।
गतिर्हंसं स्मितं कुन्दं सैषा नार्हति पद्वधम् ॥

जिसका शरीर शुभ और हृष्ट-पुष्ट है, जिसका मुख अपने सौन्दर्यसे कमलको पराजित कर रहा है तथा जिसकी मन्द-मन्द गति हंसको और मुस्कान कुन्दपुष्पोंकी शोभाको तिरस्कृत कर रही है, वही यह नारी पदप्रहारके योग्य नहीं है ॥

द्वात्रिंशद् दशना यस्याः श्वेता मांसनिबन्धनाः ।
स्निग्धाश्च मृदवः केशाः सैषा नार्हति पद्वधम् ॥

जिसके बत्तीसों दाँत मसूड़ोंमें दृढ़तापूर्वक आबद्ध और उज्ज्वल हैं, जिसके केश चिकने और कोमल हैं, वैसी यह नारी लात मारने योग्य कदापि नहीं है ॥

पद्मं चक्रं ध्वजं शङ्खं प्रासादो मकरस्तथा ।
यस्याः पाणितले सन्ति सैषा नार्हति पद्वधम् ॥

जिसकी हथेलीमें कमल, चक्र, ध्वजा, शङ्ख, मन्दिर और मगरके चिह्न हैं, वह शुभलक्षणा नारी पैरोंसे ठुकरायी जाय, यह कदापि उचित नहीं है ॥

आवर्ताः खलु चत्वारः सर्वे चैव प्रदक्षिणाः ।
समं गात्रं शुभं स्निग्धं यस्या नार्हति पद्वधम् ॥

जिसके शरीरमें चार आवर्त हैं और वे सब-के-सब प्रदक्षिणभावसे सुशोभित हैं, जिसके अङ्ग समान (सुडौल), शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न और स्निग्ध हैं, वह लात मारने योग्य नहीं है ॥

अच्छिद्रहस्तपादा च अच्छिद्रदशना च या ।
कन्या कमलपत्राक्षी कथमर्हति पद्वधम् ॥

जिसके हाथों, पैरों और दाँतोंमें छिद्र नहीं दिखायी देते हैं, वह कमलदललोचना कन्या पैरोंसे ठोकर मारने योग्य कैसे हो सकती है ? ॥

सेयं लक्षणसम्पन्ना पूर्णचन्द्रनिभानना ।
सुरूपिणी सुवदना नेयं योग्या पदा वधम् ॥

यह समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न है । इसका मुख पूर्ण-चन्द्रके समान मनोहर है । यह सुन्दर रूपवाली सुमुखी नारी पैरोंसे ठुकराने योग्य नहीं है ॥

देवदेवीव सुभगा शक्रदेवीव शोभना ।
अप्सरा इव सौरूप्यान्नेयं योग्या पदा वधम् ॥)

यह देवाङ्गनाके समान सौभाग्यशालिनी, इन्द्राणीके समान शोभासम्पन्न तथा अप्सराके समान सुन्दर रूप धारण करने-वाली है । यह लात मारने योग्य कदापि नहीं है ॥

न हीदृशी मनुष्येषु सुलभा वरवर्णिनी ।
नारी सर्वानवद्याङ्गी देवीं मन्यामहे वयम् ॥ ३८॥

मनुष्य-जातिमें तो ऐसी सती-साध्वी और सुन्दरी स्त्री सुलभ ही नहीं होती । इसके सम्पूर्ण अङ्ग निर्दोष हैं । हम तो इसे मानवी नहीं देवी मानते हैं ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्पूजयन्तस्ते कृष्णां प्रेक्ष्य सभासदः ।
युधिष्ठिरस्य कोपात् तु ललाटे स्वेद आगमत् ॥३९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! जब इस प्रकार द्रौपदीको देखकर सभासद् उसकी प्रशंसा कर रहे थे, उस समय कीचकके प्रति क्रोध होनेके कारण युधिष्ठिरके ललाटमें पसीना आ गया ॥ ३९ ॥

(सा विनिःश्वस्य सुश्रोणी भूमावन्तर्मुखी स्थिता ।
तूष्णीमासीत् तदा दृष्ट्वा विवक्षन्तं युधिष्ठिरम् ॥)

तदनन्तर सुन्दरी द्रौपदी लंबी साँस खींचकर नीचा मुख किये भूमिपर खड़ी हो गयी और राजा युधिष्ठिरको कुछ कहनेके लिये उद्यत देख वह स्वयं मौन रह गयी ॥

अथाब्रवीद् राजपुत्रीं कौरव्यो महिषीं प्रियाम् ।
गच्छ सैरन्ध्रि मात्र स्थाः सुदेष्णाया निवेशनम्॥४०॥

तब उन कुरुनन्दनने अपनी प्यारी रानीसे इस प्रकार कहा—'सैरन्ध्री ! अब तू यहाँ न ठहर । रानी सुदेष्णाके महलमें चली जा ॥ ४० ॥

भर्तारमनुरुन्धन्त्यः क्लिश्यन्ते वीरपत्नयः ।
शुश्रूषया क्लिश्यमानाः पतिलोकं जयन्त्युत ॥४१॥

'पतिका अनुसरण करनेवाली वीरपत्नियाँ सब क्लेश चुपचाप सहन कर लेती हैं । जो पतिसेवापूर्वक क्लेश उठाती हैं, वे साध्वी देवियाँ पतिलोकपर विजय पा लेती हैं ॥ ४१ ॥

मन्ये न कालं क्रोधस्य पश्यन्ति पतयस्तव ।
तेन त्वां नाभिधावन्ति गन्धर्वाः सूर्यवर्चसः ॥४२॥

'मैं समझता हूँ, तुम्हारे सूर्यके समान तेजस्वी पति गन्धर्वगण अभी क्रोध करनेका अवसर नहीं देखते; इसीलिये तुम्हारे पास दौड़कर नहीं आ रहे हैं ॥ ४२ ॥

(श्रूयन्तां ते सुकेशान्ते मोक्षधर्माश्रयाः कथाः ।
यथा धर्मः कुलस्त्रीणां दृष्टो धर्मानुरोधनात् ॥

'सुन्दर केशप्रान्तवाली सैरन्ध्री ! तुम मोक्षधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें सुनो । धर्मशास्त्रके अनुसार कुलवती स्त्रियोंका धर्म इस प्रकार देखा गया है ॥

नास्ति कश्चित् स्त्रिया यज्ञो न श्राद्धं नाप्युपोषणम् ।
या च भर्तरि शुश्रूषा सा स्वर्गायाभिजायते ॥

'स्त्रीके लिये न तो कोई यज्ञ है, न श्राद्ध है और न उपवासका ही विधान है । स्त्रियोंके द्वारा जो पतिकी सेवा होती है, वही उन्हें स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाली है ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

'कुमारावस्थामें पिता, युवावस्थामें पति और वृद्धावस्थामें पुत्र नारीकी रक्षा करता है । स्त्रीको कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये ॥

भर्तॄन् प्रति तथा पत्न्यो न क्रुध्यन्ति कदाचन ।
बहुभिश्च परिक्लेशैरवज्ञाताश्च शत्रुभिः ॥

'पतिव्रता स्त्रियाँ नाना प्रकारके क्लेश सहकर तथा शत्रुओंद्वारा अपमानित होकर भी अपने पतियोंपर कभी क्रोध नहीं करतीं ॥

अनन्यभावशुश्रूषाः पुण्यलोकं व्रजन्त्युत ।
न क्रुद्धान् प्रति यायाद् वै पतींस्ते वृत्रहा अपि ॥

'इस प्रकार अनन्यभावसे पतिकी शुश्रूषा करनेवाली स्त्रियाँ पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेती हैं । सैरन्ध्री ! तुम्हारे पतियोंके कुपित होनेपर तो वृत्रहन्ता इन्द्र भी युद्धमें उनका सामना नहीं कर सकते ॥

यदि ते समयः कश्चित् कृतो ह्यायतलोचने ।
तं स्मरस्व क्षमाशीले क्षमा धर्मो ह्यनुत्तमः ॥

'विशाललोचने ! यदि उनके साथ तेरी कोई शर्त हुई हो, तो उसे याद कर ले । क्षमाशीले ! क्षमा सबसे उत्तम धर्म है ॥

क्षमा सत्यं क्षमा दानं क्षमा धर्मः क्षमा तपः ।
क्षमावतामयं लोकः परलोकः क्षमावताम् ॥
द्व्यंशिनो द्वादशाङ्गस्य चतुर्विंशतिपर्वणः ।
कः षष्टित्रिशतारस्य मासोनस्याक्षमी भवेत् ॥

'क्षमा सत्य है, क्षमा दान है, क्षमा धर्म है और क्षमा ही तप है । क्षमाशील मनुष्योंके लिये ही यह लोक और परलोक है । जिसके दो (उत्तरायण एवं दक्षिणायन) अंश हैं, बारह (मास) अङ्ग हैं, चौबीस (पक्ष) पर्व हैं और तीन सौ साठ (दिन) अरे हैं, उस कालचक्रके पूर्ण होनेमें यदि एक मासकी ही कमी रह गयी हो; तो कौन उसकी प्रतीक्षा न करके क्षमाका त्याग कर सकता है ?' ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्ते तिष्ठन्तीं पुनरेवाह धर्मराट् ।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इतना कहनेपर भी जब द्रौपदी वहाँ खड़ी ही रह गयी, तब धर्मराजने पुनः उससे कहा—॥

अकालज्ञासि सैरन्ध्रि शैलूषीव विरोदिषि ।
विघ्नं करोषि मत्स्यानां दीव्यतां राजसंसदि ॥४३॥

'सैरन्ध्री ! तू अवसरको नहीं पहचानती; इसीलिये नटीकी भाँति राजसभामें रो रही है और द्यूतक्रीड़ामें लगे हुए मत्स्यराजकुमारोंके खेलमें विघ्न डालती है ॥ ४३ ॥

गच्छ सैरन्ध्रि गन्धर्वाः करिष्यन्ति तव प्रियम्।
व्यपनेष्यन्ति ते दुःखं येन ते विप्रियं कृतम् ॥ ४४ ॥

'सैरन्ध्री ! जाओ, गन्धर्व तुम्हारा प्रिय करेंगे । जिसने तुम्हारा अपकार किया है, उसे मारकर तुम्हारा दुःख दूर कर देंगे' ॥ ४४ ॥

सैरन्ध्र्युवाच

अतीव तेषां घृणिनामर्थेऽहं धर्मचारिणी।
तस्य तस्यैव ते वध्या येषां ज्येष्ठोऽक्षदेविता ॥ ४५ ॥

सैरन्ध्री बोली—जिनके बड़े भाई सदा जूआ खेला करते हैं, उन दयालु गन्धर्वोंके लिये मैं अत्यन्त धर्मपरायणा रहूँगी । मेरा अपकार करनेवाले दुरात्मा उन सबके लिये वध्य हों ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्राद्रवत् कृष्णा सुदेष्णाया निवेशनम्।
केशान् मुक्त्वा च सुश्रोणी संरम्भाल्लोहितेक्षणा॥ ४६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यों कहकर सुन्दर कटिप्रान्तवाली द्रौपदी तीव्र गतिसे रानी सुदेष्णाके महलको चली गयी। उसके केश खुले हुए थे और क्रोधसे उसकी आँखें लाल हो रही थीं ॥ ४६ ॥

शुशुभे वदनं तस्या रुदत्याः सुचिरं तदा।
मेघलेखाविनिर्मुक्तं दिवीव शशिमण्डलम् ॥ ४७ ॥

उस समय रोती हुई द्रौपदीका मुख इस प्रकार सुशोभित हो रहा था, मानो आकाशमें मेघमालाके आवरणसे मुक्त चन्द्रबिम्ब शोभा पा रहा हो ॥ ४७ ॥

(पांसुकुण्ठितसर्वाङ्गी गजराजवधूरिव।
प्रतस्थे नागनासोरूर्भर्तुराज्ञाय शासनम् ॥

समस्त अङ्गोंमें धूलिसे धूसरित गजराजवधूकी भाँति शोभा पानेवाली तथा हाथीकी सूँड़के समान जाँघोंवाली द्रौपदी स्वामीकी आज्ञा शिरोधार्य करके राजसभासे अन्तःपुरमें चली गयी ॥

विमुक्ता मृगशावाक्षी निरन्तरपयोधरा।
प्रभा नक्षत्रराजस्य कालमेघैरिवावृता ॥

उसके स्तन एक दूसरेसे सटे हुए थे तथा नेत्र मृगशावकोंके समान चञ्चल हो रहे थे। वह कीचकके हाथसे छूटकर शोक और दुःखसे इस प्रकार मलिन हो रही थी, मानो चन्द्रमाकी प्रभा वर्षाकालके मेघोंसे आच्छादित हो गयी हो ॥

यस्या ह्यर्थे पाण्डवेयास्त्यजेयुरपि जीवितम्।
तां ते दृष्ट्वा तथा कृष्णां क्षमिणो धर्मचारिणः ॥
समयं नातिवर्तन्ते वेलामिव महोदधिः ॥)

जिसके लिये समस्त पाण्डव अपने प्राणतक दे सकते थे, उसी कृष्णाको उस दशामें देखकर भी धर्मात्मा पाण्डव क्षमा धारण किये बैठे थे। जैसे समुद्र अपने तटकी सीमाका उल्लङ्घन नहीं करता, उसी प्रकार वे अज्ञातवासके लिये स्वीकृत समयका अतिक्रमण नहीं कर रहे थे ॥

सुदेष्णोवाच

कस्त्वावधीद् वरारोहे कस्माद् रोदिषि शोभने।
कस्याद्य न सुखं भद्रे केन ते विप्रियं कृतम् ॥ ४८ ॥

सुदेष्णाने पूछा—वरारोहे ! तुम्हें किसने मारा है ? शोभने ! तू क्यों रोती है ? भद्रे ! आज किसका सुख समाप्त हो गया ? किसने तुम्हारा अपराध किया है ? ॥ ४८ ॥

(किमिदं पद्मसंकाशं सुदन्तोष्ठाक्षिनासिकम्।
रुदन्त्या अवमृष्टास्रं पूर्णेन्दुसमवर्चसम् ॥

कमलके समान कमनीय, सुन्दर दाँत, ओठ, नेत्र और नासिकासे सुशोभित तथा पूर्णचन्द्रके समान कान्तिमान् तुम्हारा यह मनोहर मुख ऐसा (मलिन) क्यों हो रहा है ? तुम रोती हुई अपने मुखपर बहे हुए आँसुओंको पोंछ रही हो ॥

बिम्बोष्ठं कृष्णताराभ्यामत्यन्तरुचिरप्रभम्।
नयनाभ्यामजिह्माभ्यां मुखं ते मुञ्चते जलम् ॥

काली पुतलीवाले सरल नेत्रोंसे सुशोभित, बिम्बफलके समान अरुण अधरोंसे उपलक्षित और अत्यन्त मनोहर प्रभासे प्रकाशित तुम्हारा मुख इस समय आँसू क्यों गिरा रहा है ?

वैशम्पायन उवाच

तां निःश्वस्याब्रवीत् कृष्णा जानन्ती नाम पृच्छसि।
भ्रात्रे त्वं मामनुप्रेष्य किमेवं त्वं विकत्थसे ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब कृष्णाने लंबी साँसें खींचकर कहा—'तुम सब कुछ जानती हुई भी मुझसे क्या पूछ रही हो ? स्वयं ही मुझे अपने भाईके पास भेजकर अब इस प्रकारकी बातें क्यों बना रही हो ?

द्रौपद्युवाच

कीचको मावधीत् तत्र सुराहारीं गतां तव।
सभायां पश्यतो राज्ञो यथैव विजने वने ॥ ४९ ॥

द्रौपदी फिर बोली—मैं तुम्हारे लिये मदिरा लाने गयी थी ! वहाँ कीचकने राजसभामें महाराजके देखते-देखते मुझपर प्रहार किया है; ठीक उसी तरह, जैसे कोई निर्जन वनमें किसी असहाय अबलापर आघात करता हो ॥ ४९ ॥

सुदेष्णोवाच

घातयामि सुकेशान्ते कीचकं यदि मन्यसे।
योऽसौ त्वां कामसम्मत्तो दुर्लभामवमन्यते ॥ ५० ॥

सुदेष्णाने कहा—सुन्दर लटोंवाली सुन्दरी ! यदि तुम्हारी सम्मति हो, तो मैं कीचकको मरवा डालूँ; जो कामसे उन्मत्त होकर तुझ-जैसी दुर्लभ देवीका अपमान कर रहा है ॥ ५० ॥

सैरन्ध्र्युवाच

अन्ये चैनं वधिष्यन्ति येषामागः करोति सः ।
मन्ये चैवाद्य सुव्यक्तं यमलोकं गमिष्यति ॥ ५१ ॥

सैरन्ध्री बोली—महारानी ! उसे दूसरे ही लोग मार डालेंगे, जिनका कि अपराध वह कर रहा है । मैं तो समझती हूँ, अब वह निश्चय ही यमलोककी यात्रा करेगा ॥

(भ्रातुः प्रयच्छ त्वरिता जीवश्राद्धं त्वमद्य वै ।
सुदृष्टं कुरु वै चैनं नासून् मन्ये धरिष्यति ॥

रानी ! आज तुम अपने भाईके लिये शीघ्र ही जीवित-श्राद्ध कर लो । उसके लिये आवश्यक दान दे लो । साथ ही उसे आँख भरकर अच्छी तरह देख लो । मेरा विश्वास है कि अब उसके प्राण नहीं रहेंगे ॥

तेषां हि मम भर्तॄणां पञ्चानां धर्मचारिणाम् ।
एको दुर्धर्षणोऽत्यर्थं बले चाप्रतिमो भुवि ॥
निर्मनुष्यमिमं लोकं कुर्यात् क्रुद्धो निशामिमाम् ।
न च संक्रुध्यते तावद् गन्धर्वः कामरूपधृक् ॥

मेरे पाँच धर्मात्मा पतियोंमेंसे एक अत्यन्त दुःसह एवं अमर्षशील वीर हैं । भूतलपर बलमें उनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है । वे कुपित होनेपर इस रातमें ही इस संसारको मनुष्योंसे शून्य कर सकते हैं । परन्तु इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वे गन्धर्व न जाने क्यों अभीतक क्रोध नहीं कर रहे हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

सुदेष्णामेवमुक्त्वा तु सैरन्ध्री दुःखमोहिता ।
कीचकस्य वधार्थाय व्रतदीक्षामुपागमत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! रानी सुदेष्णासे ऐसा कहकर दुःखसे मोहित हुई सैरन्ध्रीने कीचकके वधके लिये व्रतकी दीक्षा ग्रहण की ॥

अभ्यर्थिता च नारीभिर्मानिता च सुदेष्णया ।
न च स्नाति न चाश्नाति न पांसून् परिमार्जति ॥

दूसरी स्त्रियोंने उससे बहुत प्रार्थना की । रानी सुदेष्णाने भी उसे बहुत मनाया; तथापि न वह स्नान करती, न भोजन करती और न अपने शरीरकी धूल ही झाड़ती थी ॥

रुधिरक्लिन्नवदना बभूव रुदितेक्षणा ॥
तां तथा शोकसंतप्तां दृष्ट्वा प्ररुदितां स्त्रियः ।
कीचकस्य वधं सर्वा मनाभिश्च शशंसिरे ॥

उसका मुँह रक्तसे भीगा हुआ था, आँखोंमें रुलाईके आँसू भरे हुए थे । उसे इस प्रकार शोकसे संतप्त होकर रोती देख सब स्त्रियाँ मन-ही-मन कीचकके वधकी इच्छा करने लगीं ॥

जनमेजय उवाच

अहो दुःखतरं प्राप्ता कीचकेन पदा हता ।
पतिव्रता महाभागा द्रौपदी योषितां वरा ॥

जनमेजय बोले—विप्रवर ! संसारकी युवतियोंमें श्रेष्ठ एवं पतिव्रता महाभागा द्रौपदीको कीचकने लात मार दी; इससे वह महान् दुःखमें डूब गयी । अहो ! यह कितने कष्टकी बात है ॥

दुःशलां मानयन्ती या भर्तॄणां भगिनीं शुभाम् ।
नाशपत् सिन्धुराजं तं बलात्कारेण वाहिता ॥

जिस समय सिन्धुराज जयद्रथने बलपूर्वक उसका अपहरण किया था, उस समय उसने अपने पतियोंकी बहिन दुःशलाका सम्मान करते हुए वह कष्ट सह लिया और शुभ-लक्षणा सिन्धुराजको शाप नहीं दिया ॥

किमर्थं धर्षणं प्राप्ता कीचकेन दुरात्मना ।
नाशपत् तं महाभागा कृष्णा पादेन ताडिता ॥

परंतु जब दुरात्मा कीचकने उसका तिरस्कार किया और उसे लातसे मारा, उस समय महाभागा कृष्णाने उस दुष्टको शाप क्यों नहीं दे दिया ?

तेजोराशिरियं देवी धर्मज्ञा सत्यवादिनी ।
केशपक्षे परामृष्टा मर्षयिष्यत्यशक्तवत् ॥
नैतत् कारणमल्पं हि श्रोतुकामोऽस्मि सत्तम ।
कृष्णायास्तु परिक्लेशान्मनो मे दूयते भृशम् ॥

देवी द्रौपदी तेजकी राशि थी । वह धर्मज्ञा और सत्यवादिनी थी । उसके-जैसी तेजस्विनी स्त्री अपने केश पकड़ लिये जानेपर असमर्थकी भाँति चुपचाप सह लेगी, यह सम्भव नहीं है । यदि उसने सह लिया, तो इसका कोई छोटा कारण नहीं होगा । साधुशिरोमणे ! मैं वह कारण सुनना चाहता हूँ । कृष्णाके क्लेशकी बात सुनकर मेरा मन अत्यन्त व्यथित हो रहा है ॥

कस्य वंशे समुद्भूतः स च दुर्ललितो मुने ।
बलोन्मत्तः कथं चासीच्छ्यालो मात्स्यस्य कीचकः ॥

मुने ! मत्स्यराजका साला दुष्ट कीचक किसके कुलमें उत्पन्न हुआ था ? और वह बलसे उन्मत्त क्यों हो गया था ?

वैशम्पायन उवाच

त्वदुक्तोऽयमनुप्रश्नः कुरूणां कीर्तिवर्धन ।
एतत् सर्वं तथा वक्ष्ये विस्तरेणैव पार्थिव ॥

वैशम्पायनजीने कहा—कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले

नरेश ! तुम्हारा उठाया हुआ यह प्रश्न ठीक है। मैं यह सब विस्तारपूर्वक बताऊँगा ।

ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जातः सूतो भवति पार्थिव।
प्रातिलोम्येन जातानां स ह्येको द्विज एव तु ॥

राजन् ! क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी मातासे उत्पन्न हुआ बालक 'सूत' कहलाता है। प्रतिलोमसंकर जातियोंमें अकेली यह सूत जाति ही द्विज कही गयी है ॥

रथकारमितीमं हि क्रियायुक्तं द्विजन्मनाम्।
क्षत्रियादवरं वैश्याद् विशिष्टमिति चक्षते ॥

द्विजोचित कर्मोंसे युक्त उस सूतको ही रथकार भी कहते हैं। इसे क्षत्रियसे हीन और वैश्यसे श्रेष्ठ बताते हैं ॥

सह सूतेन सम्बन्धः कृतपूर्वो नरेश्वरैः ।
तथापि तैर्महीपाल राजशब्दो न लभ्यते ॥

राजन् ! पहलेके नरेशोंने सूतजातिके साथ भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया है, परंतु उन्हें राजाकी उपाधि नहीं प्राप्त होती थी ॥

तेषां तु सूतविषयः सूतानां नामतः कृतः ।
उपजीव्य च यत् क्षत्रं लब्धं सूतेन तत् पुरा ॥

उनके लिये सूतोंके नामसे सूतराज्य ही नियत कर दिया गया था। वह राज्य सूतजातिके एक पुरुषने किसी क्षत्रियकी सेवा करके ही प्राप्त किया था ॥

सूतानामधिपो राजा केकयो नाम विश्रुतः ॥
राजकन्यासमुद्भूतः सारथ्येऽनुपमोऽभवत् ।

सुप्रसिद्ध केकय नामक राजा सूतोंके ही अधिपति थे। उनका जन्म किसी क्षत्रियकन्याके गर्भसे हुआ था। वे सारथिके कर्ममें अनुपम थे ॥

पुत्रास्तस्य कुरुश्रेष्ठ मालव्यां जज्ञिरे तदा ॥
तेषामतिबलो ज्येष्ठः कीचकः सर्वजित् प्रभो ।

कुरुश्रेष्ठ ! उनके मालवीके गर्भसे कई पुत्र उत्पन्न हुए। प्रभो ! उन पुत्रोंमें कीचक ही सबसे बड़ा था। वह अत्यन्त बलवान् और सर्वविजयी योद्धा था ॥

द्वितीयायां तु मालव्यां चित्रा ह्यवरजाभवत्।
तां सुदेष्णेति वै प्राहुर्विराटमहिषीं प्रियाम् ॥

राजा केकयकी दूसरी रानी भी मालवकन्या ही थी। उसके गर्भसे चित्रा नामवाली कन्या उत्पन्न हुई, जो समस्त कीचकबन्धुओंकी छोटी बहिन थी। उसीको सुदेष्णा भी कहते हैं। वही आगे चलकर महाराज विराटकी प्यारी पटरानी हुई ॥

तां विराटस्य मात्स्यस्य केकयः प्रददौ मुदा।
सुरथायां मृतायां तु कौसल्यां श्वेतमातरि ॥

विराटकी बड़ी रानी कोशल देशकी राजकुमारी सुरथा, जो श्वेतकी जननी थी, उसकी मृत्यु हो जानेपर केकय-नरेशने अपनी कन्या सुदेष्णाका विवाह मत्स्यराज विराटके साथ प्रसन्नतापूर्वक कर दिया ॥

सुदेष्णां महिषीं लब्ध्वा राजा दुःखमपानुदत् ॥
उत्तरं चोत्तरां चैव विराटात् पृथिवीपते ।
सुदेष्णा सुषुवे देवी कैकेयी कुलवृद्धये ॥

सुदेष्णाको महारानीके रूपमें पाकर राजा विराटका दुःख दूर हो गया। जनमेजय ! केकयकुमारी रानी सुदेष्णाने राजा विराटसे अपने कुलकी वृद्धिके लिये उत्तर और उत्तरा नामक दो संतानोंको उत्पन्न किया ॥

मातृष्वसृसुतां राजन् कीचकस्तामनिन्दिताम्।
सदा परिचरन् प्रीत्या विराटे न्यवसत् सुखी ॥

राजन् ! कीचक अपनी मौसीकी बेटी सती-साध्वी सुदेष्णाकी प्रेमपूर्वक परिचर्या करता हुआ विराटके यहाँ सुखपूर्वक रहने लगा ॥

भ्रातरस्तस्य विक्रान्ताः सर्वे च तमनुव्रताः।
विराटस्यैव संहृष्टा बलं कोशं च वर्धयन् ॥

उसके सभी पराक्रमी भाई कीचकके ही प्रेमी भक्त थे; अतः वे भी विराटके ही बल और कोषको बढ़ाते हुए प्रसन्नतापूर्वक वहाँ रहने लगे ॥

कालेया नाम दैतेयाः प्रायशो भुवि विश्रुताः।
जज्ञिरे कीचका राजन् बाणो ज्येष्ठस्ततोऽभवत् ॥
स हि सर्वास्त्रसम्पन्नो बलवान् भीमविक्रमः ।
कीचको नष्टमर्यादो बभूव भयदो नृणाम् ।

राजन् ! कालेय नामक दैत्य ही, जो प्रायः इस भूमण्डलमें विख्यात थे, कीचकोंके रूपमें उत्पन्न हुए थे। कालेयोंमें बाण सबसे बड़ा था। वही सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न, भयंकर पराक्रमी और महाबली कीचक हुआ, जो धर्मकी मर्यादाको तोड़ने और मनुष्योंके भयको बढ़ानेवाला था ॥

तं प्राप्य बलसम्मत्तं विराटः पृथिवीपतिः ॥
जिगाय सर्वांश्च रिपून् यथेन्द्रो दानवानिव।

उस बलोन्मत्त कीचककी सहायता पाकर, जैसे इन्द्र दानवोंपर विजय पाते हैं, उसी प्रकार राजा विराटने भी समस्त शत्रुओंपर विजय प्राप्त की ॥

मेखलांश्च त्रिगर्तांश्च दशार्णांश्च कशेरुकान्।
मालवान् यवनांश्चैव पुलिन्दान् काशिकोसलान्।
अङ्गान् वङ्गान् कलिङ्गांश्च तङ्गणान् परतङ्गणान्।
मलदान् निषधांश्चैव तुण्डिकेरांश्च कोङ्कणान्।
करदांश्च निषिद्धांश्च शिवान् दुश्छलिकांस्तथा।

अन्ये च बहवः शूराः नानाजनपदेश्वराः ।
कीचकेन रणे भग्ना व्यद्रवन्त दिशो दश ॥

मेखल, त्रिगर्त, दशार्ण, कशेरुक, मालव, यवन, पुलिन्द, काशी, कोशल, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, तङ्गण, परतङ्गण, मलद, निषध, तुण्डिकेर, कोङ्कण, करद, निषिद्ध, शिव, दुश्छिल्लिक तथा अन्य नाना जनपदोंके स्वामी अनेक शूरवीर नरेश रणभूमिमें कीचकसे पराजित हो दशों दिशाओंमें भाग गये ॥

तमेवं वीर्यसम्पन्नं नागायुतबलं रणे ।
विराटस्तत्र सेनायाश्चकार पतिमात्मनः ॥

ऐसे पराक्रमसम्पन्न कीचकको, जो संग्राममें दस हजार हाथियोंका बल रखता था, राजा विराटने अपना सेनापति बना लिया ॥

विराटभ्रातरश्चैव दश दाशरथोपमाः ।
ते चैनानन्ववर्तन्त कीचकान् बलवत्तरान् ॥

विराटके दस भाई ऐसे थे, जो दशरथनन्दन श्रीरामके समान शक्तिशाली समझे जाते थे । वे भी इन प्रबलतर कीचकबन्धुओंका अनुसरण करने लगे ॥

एवंविधबलोपेताः कीचकास्ते न तद्विधाः ।
राज्ञः श्याला महात्मानो विराटस्य हितैषिणः ।

ऐसे बलसम्पन्न कीचक, जो राजा विराटके साले लगते थे, शौर्यमें अपना सानी नहीं रखते थे । वे महामना विराटके बड़े हितैषी थे ।

एतत् ते कथितं सर्वं कीचकस्य पराक्रमम् ॥
द्रौपदी न शशापैनं यस्मात् तद् गदतः शृणु ।

जनमेजय ! इस प्रकार मैंने तुमसे कीचकके पराक्रमकी सारी बातें बता दीं । अब यह भी सुन लो कि द्रौपदीने उसे शाप क्यों नहीं दिया ? ॥

क्षरतीति तपः क्रोधादृषयो न शपन्ति हि ॥
जानन्ती तद् यथातत्त्वं पाञ्चाली न शशाप तम् ।

क्रोधसे तपस्या नष्ट होती है, इसीलिये ऋषि भी सहसा किसीको शाप नहीं देते हैं । द्रौपदी इस बातको अच्छी तरह जानती थी; इसीलिये उसने उसे शाप नहीं दिया ॥

क्षमा धर्मः क्षमा दानं क्षमा यज्ञः क्षमा यशः ।
क्षमा सत्यं क्षमा शीलं क्षमा कीर्तिः क्षमा परम् ॥
क्षमा पुण्यं क्षमा तीर्थं क्षमा सर्वमिति श्रुतिः ।
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ।
एतत् सर्वं विजानन्ती सा क्षमामन्वपद्यत ॥

क्षमा धर्म है, क्षमा दान है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा यश है, क्षमा सत्य है, क्षमा शील है, क्षमा कीर्ति है, क्षमा सबसे उत्कृष्ट तत्त्व है, क्षमा पुण्य है, क्षमा तीर्थ है और क्षमा सब कुछ है; ऐसा श्रुतिका कथन है । यह लोक क्षमावानोंका ही है । परलोक भी क्षमावानोंका ही है । द्रौपदी यह सब कुछ जानती थी, इसलिये उसने क्षमाका ही आश्रय लिया ॥

भर्तॄणां मतमाज्ञाय क्षमिणां धर्मचारिणाम् ।
नाशपत् तं विशालाक्षी सती शक्तापि भारत ॥

भरतनन्दन ! क्षमाशील एवं धर्मात्मा पतियोंका मत जानकर विशाल नेत्रोंवाली सती-साध्वी द्रौपदीने समर्थ होते हुए भी कीचकको शाप नहीं दिया ॥

पाण्डवाश्चापि ते सर्वे द्रौपदीं प्रेक्ष्य दुःखिताः ।
क्रोधाग्निना व्यदह्यन्त तदा कालव्यपेक्षया ॥

समस्त पाण्डव भी द्रौपदीकी दुरवस्था देखकर दुखी हो समयकी प्रतीक्षा करते हुए क्रोधाग्निमें जलते रहे ॥

अथ भीमो महाबाहुः सूदयिष्यंस्तु कीचकम् ।
वारितो धर्मपुत्रेण वेलयेव महोदधिः ॥

महाबाहु भीमसेन तो कीचकको तत्काल मार डालनेके लिये उद्यत थे; परंतु जैसे बेला (तटकी सीमा) महासागरके वेगको रोके रहती है, उसी प्रकार धर्मपुत्र युधिष्ठिरने उन्हें रोक दिया ॥

संधार्य मनसा रोषं दिवारात्रं विनिःश्वसन् ।
महानसे तदा कृच्छ्रात् सुष्वाप रजनीं च ताम् ॥

वे मनमें क्रोधको रोककर दिन-रात लंबी साँसें खींचते रहते थे । उस दिन पाकशालामें जाकर वे रातमें बड़े कष्टसे सोये ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीपरिभवे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीतिरस्कारसम्बन्धी सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९२ श्लोक मिलाकर कुल १४३ श्लोक हैं)

सप्तदशोऽध्यायः

द्रौपदीका भीमसेनके समीप जाना

वैशम्पायन उवाच

सा हता सूतपुत्रेण राजपत्नी यशस्विनी।
वधं कृष्णा परीप्सन्ती सेनावाहस्य भामिनी॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! सूतपुत्र सेनापति कीचकने जबसे लात मारी थी, तभीसे यशस्विनी राजपत्नी भामिनी द्रौपदी उसके वधकी बात सोचने लगी॥ १॥

जगामावासमेवाथ सा तदा द्रुपदात्मजा।
कृत्वा शौचं यथान्यायं कृष्णा सा तनुमध्यमा॥ २ ॥
गात्राणि वाससी चैव प्रक्षाल्य सलिलेन सा।
चिन्तयामास रुदती तस्य दुःखस्य निर्णयम्॥ ३ ॥

वह अपने निवासस्थानपर गयी। उस समय सूक्ष्म कटि-भागवाली द्रुपदकुमारी कृष्णाने वहाँ यथायोग्य शौच-स्नान करके जलसे अपने शरीर और वस्त्र धोये तथा वह रोती हुई उस दुःखके निवारणका उपाय सोचने लगी—॥ २-३॥

किं करोमि क्व गच्छामि कथं कार्यं भवेन्मम।
इत्येवं चिन्तयित्वा सा भीमं वै मनसागमत्॥ ४ ॥

'क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? कैसे मेरा अभीष्ट कार्य होगा?' इस प्रकार चिन्तन करके उसने मन-ही-मन भीमसेनका स्मरण किया॥ ४॥

नान्यः कर्ता ऋते भीमान्ममाद्य मनसः प्रियम्।
तत उत्थाय रात्रौ सा विहाय शयनं स्वकम्॥ ५ ॥
प्राद्रवन्नाथमिच्छन्ती कृष्णा नाथवती सती।
भवनं भीमसेनस्य क्षिप्रमायतलोचना॥ ६ ॥
दुःखेन महता युक्ता मानसेन मनस्विनी।

'भीमसेनके सिवा दूसरा कोई आज मेरे मनको प्रिय लगनेवाला कार्य नहीं कर सकता'—ऐसा निश्चय करके वह विशाल नेत्रोंवाली सती-साध्वी सनाथा कृष्णा रातको अपनी शय्या छोड़कर उठी और अपने नाथ (रक्षक) से मिलनेकी इच्छा रखकर शीघ्रतापूर्वक भीमसेनके भवनमें गयी। उस समय मनस्विनी द्रौपदी महान् मानसिक दुःखसे पीड़ित थी॥ ५-६½॥

सैरन्ध्युवाच

तस्मिञ्जीवति पापिष्ठे सेनावाहे मम द्विषि॥ ७ ॥
तत् कर्म कृतवानद्य कथं निद्रां निषेवसे।

वहाँ पहुँचते ही सैरन्ध्री बोली—आर्यपुत्र! मुझसे द्वेष रखनेवाले उस महापापी सेनापतिके, जिसने मेरे साथ वैसा अपमानजनक बर्ताव किया था, जीते-जी तुम आज नींद कैसे ले रहे हो?॥ ७½॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वाथ तां शालां प्रविवेश मनस्विनी॥ ८ ॥
यस्यां भीमस्तथा शेते मृगराज इव श्वसन्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहती हुई मनस्विनी द्रौपदीने उस भवनमें प्रवेश किया, जिसमें सिंहकी भाँति साँसें खींचते हुए भीमसेन सो रहे थे॥ ८½॥

तस्या रूपेण सा शाला भीमस्य च महात्मनः॥ ९ ॥
सम्मूर्छितेव कौरव्य प्रजज्वाल च तेजसा।
सा वै महानसं प्राप्य भीमसेनं शुचिस्मिता॥ १० ॥
सर्वश्वेतेव माहेयी वने जाता त्रिहायणी।
उपातिष्ठत पाञ्चाली वासितेव नरर्षभम्॥ ११ ॥

कुरुनन्दन! द्रौपदीके दिव्य रूपसे महात्मा भीमकी वह पाकशाला शोभा-समृद्धिको प्राप्त होकर तेजसे प्रकाशित हो उठी। पवित्र मुसकानवाली द्रौपदी पाकशालामें पहुँचकर क्रमशः [बक, साँड़ और गजराजके पास जानेवाली] जलमें उत्पन्न हुई बकी, तीन सालकी पार्थिव गौ तथा हथिनीके समान श्रेष्ठ पुरुष भीमसेनके समीप गयी॥ ९—११॥

सा लतेव महाशालं फुल्लं गोमतितीरजम्।
परिष्वजत पाञ्चाली मध्यमं पाण्डुनन्दनम्॥ १२ ॥

जैसे लता गोमतीके तटपर उत्पन्न एवं खिले हुए ऊँचे शालवृक्षमें लिपट जाती है, उसी प्रकार सती-साध्वी पाञ्चालीने मध्यम[1] पाण्डव भीमसेनका आलिङ्गन किया॥ १२॥

बाहुभ्यां परिरभ्यैनं प्राबोधयदनिन्दिता।
सिंहं सुप्तं वने दुर्गे मृगराजवधूरिव॥ १३ ॥

उसने उन्हें दोनों भुजाओंसे कसकर जगाया; ठीक वैसे ही, जैसे दुर्गम वनमें सोये हुए सिंहको सिंहिनी जगाती है॥ १३॥

भीमसेनमुपाश्लिष्यद्धस्तिनीव महागजम्।
वीणेव मधुरालापा गान्धारं साधु मूर्छती।
अभ्यभाषत पाञ्चाली भीमसेनमनिन्दिता॥ १४ ॥

जैसे हथिनी महान् गजराजका आलिङ्गन करती है, उसी प्रकार निर्दोष पाञ्चालराजकुमारी भीमसेनसे सटकर गान्धार स्वरमें मधुर ध्वनि फैलाती हुई वीणाकी भाँति मीठे वचनोंमें बोली—॥ १४॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे भीमसेन यथा मृतः।
नामृतस्य हि पापीयान् भार्यामालभ्य जीवति॥ १५ ॥

'भीमसेन! उठो, उठो, क्यों मुर्देकी तरह सो रहे हो? क्योंकि (तुम्हारे-जैसे वीर) पुरुषके जीवित रहते हुए उसकी पत्नी-का स्पर्श करके कोई महापापी मनुष्य जीवित नहीं रह सकता'॥

स सम्प्रहाय शयनं राजपुत्र्या प्रबोधितः।
उपातिष्ठत मेघाभः पर्यङ्के सोपसंग्रहे॥ १६ ॥

---

१. नकुल-सहदेव जुड़वें पैदा हुए थे; अतः वे दोनों कनिष्ठ (छोटे) भाई हैं। युधिष्ठिर बड़े हैं। भीमसेन और अर्जुन मध्यम हैं। विराटपर्वके प्रसंगमें अर्जुन पुरुष नहीं रह गये हैं। अतः भीमसेन ही यहाँ प्रधानरूपसे मध्यम पाण्डव कहे गये हैं।

अथाब्रवीद् राजपुत्रीं कौरव्यो महिषीं प्रियाम्।
केनास्यर्थेन सम्प्राप्ता त्वरितेव ममान्तिकम् ॥ १७ ॥
न ते प्रकृतिमान् वर्णः कृशा पाण्डुश्च लक्ष्यसे।
आचक्ष्व परिशेषेण सर्वं विद्यामहं यथा ॥ १८ ॥

राजकुमारी द्रौपदीके जानेपर मेघके समान श्याम वर्णवाले कुरुनन्दन भीमसेन तोशक बिछे हुए पलंगपर शयन छोड़कर उठ बैठे और अपनी प्यारी रानीसे बोले—'देवि! किस कार्यसे तुम इतनी उतावली-सी होकर मेरे पास आयी हो, तुम्हारे शरीरकी कान्ति स्वाभाविक नहीं रह गयी है। तुमपर उदासी छायी है। तुम दुबली और पीली दिखायी देती हो। पूरी बात बताओ, जिससे मैं सब कुछ जान सकूँ॥ १६—१८॥



सुखं वा यदि वा दुःखं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम्।
यथावत् सर्वमाचक्ष्व श्रुत्वा ज्ञास्यामि यत् क्षमम् ॥ १९ ॥

'तुम्हें सुख हो या दुःख, बुरा हुआ हो या भला, सब बातें ठीक-ठीक कह जाओ! वह सब सुनकर मैं उसके निवारणके लिये उचित उपाय सोचूँगा॥ १९॥

अहमेव हि ते कृष्णे विश्वास्यः सर्वकर्मसु।
अहमापत्सु चापि त्वां मोक्षयामि पुनः पुनः ॥ २० ॥

'कृष्णे! सब कार्योंके लिये मैं ही तुम्हारा विश्वासपात्र हूँ। मैं ही सब प्रकारकी विपत्तियोंमें बार-बार सहायता करके तुम्हें संकटसे मुक्त करता हूँ॥ २०॥

शीघ्रमुक्त्वा यथाकामं यत् ते कार्यं विवक्षितम्।
गच्छ वै शयनायैव पुरा नान्येन बुध्यते ॥ २१ ॥

'अतः जैसी तुम्हारी रुचि हो और जिस कार्यके लिये कुछ कहना चाहती हो, उसे शीघ्र कहकर पहले ही अपने शयन-गृहमें चली जाओ, जिससे दूसरे किसीको इसका पता न चल सके'॥ २१॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदी-भीम-संवादविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १७॥

अष्टादशोऽध्यायः

द्रौपदीका भीमसेनके प्रति अपने दुःखके उद्गार प्रकट करना

वैशम्पायन उवाच

(सा लज्जमाना भीता च अधोमुखमुखी ततः।
नोवाच किंचिद् वचनं बाष्पदूषितलोचना॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय लज्जित और भयभीत हुई द्रौपदीके नेत्रोंमें आँसू भर आये थे। वह मुँह नीचा किये मौन बैठी रही; कुछ भी बोल न सकी॥

अथाब्रवीद् भीमपराक्रमो बली
वृकोदरः पाण्डवमुख्यसम्मतः।
प्रब्रूहि किं ते करवाणि सुन्दरि
प्रियं प्रिये वारणखेलगामिनि ॥)

तब पाण्डवप्रवर युधिष्ठिरके परम प्रिय भयंकर पराक्रमी महाबली भीम इस प्रकार बोले—'सुन्दरि! गजराजकी भाँति लीला-विलासपूर्वक मन्दगतिसे चलनेवाली प्रिये! बताओ; मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?'॥

द्रौपद्युवाच

अशोच्यत्वं कुतस्तस्य यस्या भर्ता युधिष्ठिरः।
जानन् सर्वाणि दुःखानि किं मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली—जिस स्त्रीके पति राजा युधिष्ठिर हों, वह बिना शोकके रहे, यह कैसे सम्भव हो सकता है? तुम मेरे सारे दुःखोंको जानते हुए भी मुझसे कैसे पूछते हो?॥ १॥

यन्मां दासीप्रवादेन प्रातिकामी तदानयत्।
सभापरिषदो मध्ये तन्मां दहति भारत ॥ २ ॥

दुर्योधनके सेवकके रूपमें दुःशासन मुझे दासी कहकर जो उस समय कौरवोंके सभाभवनमें जनसमाजके भीतर घसीट ले गया, वह अपमानकी आग मुझे आजतक जला रही है ॥ २ ॥

(क्षत्रियैस्तत्र कर्णाद्यैर्दृष्टा दुर्योधनेन च।
श्वशुराभ्यां च भीष्मेण विदुरेण च धीमता ॥
द्रोणेन च महाबाहो कृपेण च परंतप।

शत्रुओंको संताप देनेवाले महाबाहु भीम! उस समय वहाँ बैठे हुए कर्ण आदि क्षत्रियोंने, दुर्योधनने, मेरे दोनों ससुर भीष्म और बुद्धिमान् विदुरने तथा द्रोणाचार्य और कृपाचार्यने भी मुझे उस दुरवस्थामें देखा था ॥

साहं श्वशुरयोर्मध्ये भ्रातृमध्ये च पाण्डव ॥
केशे गृहीत्वैव सभां नीता जीवति वै त्वयि।)

पाण्डुनन्दन! इस प्रकार तुम्हारे जीते-जी मेरे केश पकड़कर मुझे दोनों श्वशुरों तथा दुर्योधन आदि भ्राताओंके बीच राजसभामें लाया गया।

पार्थिवस्य सुता नाम का नु जीवति मादृशी।
अनुभूयेदृशं दुःखमन्यत्र द्रौपदीं प्रभो ॥ ३ ॥

स्वामिन्! मुझ द्रुपदकन्याको छोड़कर दूसरी मेरी-जैसी कौन राजकुमारी होगी, जो ऐसा दुःख भोगकर जी रही हो ॥

वनवासगतायाश्च सैन्धवेन दुरात्मना।
परामर्शो द्वितीयो वै सोढुमुत्सहते तु का ॥ ४ ॥

वनवासमें जानेपर दुरात्मा सिन्धुराज जयद्रथने जो मेरा स्पर्श कर लिया, यह दूसरा अपमान था। उसे भी कौन सह सकती है? ॥ ४ ॥

(पद्भ्यां पर्यचरं चाहं देशान् विषमसंस्थितान्।
दुर्गाञ्छ्वापदसंकीर्णांस्त्वयि जीवति पाण्डव ॥

पाण्डुकुमार! तुम्हारे जीते-जी मुझे हिंसक जन्तुओंसे भरे हुए विषम एवं दुर्गम प्रदेशोंमें पैदल विचरना पड़ा ॥

ततोऽहं द्वादशे वर्षे वन्यमूलफलाशना।
इदं पुरमनुप्राप्ता सुदेष्णापरिचारिका ॥
परस्त्रियमुपातिष्ठे सत्यधर्मपथस्थिता।

तदनन्तर बारहवें वर्षके अन्तमें मैं जंगली फल-मूलोंका आहार करती हुई इस विराटनगरमें आयी और सुदेष्णाकी सेविका बन गयी। मैं सत्यधर्मके मार्गमें स्थित होकर आज दूसरी स्त्रीकी सेवा करती हूँ ॥

गोशीर्षकं पद्मकं च हरिश्यामं च चन्दनम् ॥
नित्यं पिंषे विराटस्य त्वयि जीवति पाण्डव ॥
साहं बहूनि दुःखानि गणयामि न ते कृते।

द्रुपदस्य सुता चाहं धृष्टद्युम्नस्य चानुजा।
अग्निकुण्डात् समुद्भूता नोर्व्यां जातु चरामि भोः ॥)

पाण्डुपुत्र! तुम्हारे जीते-जी मैं प्रतिदिन राजा विराटके लिये गोशीर्ष, पद्मकाष्ठ और हरिश्याम आदि चन्दन पीसती हूँ। फिर भी तुम्हारे संतोषके लिये मैं ऐसे बहुत-से दुःखोंको कुछ भी नहीं गिनती। मैं द्रुपदकी पुत्री और धृष्टद्युम्नकी बहिन हूँ। अग्निकुण्डसे मेरी उत्पत्ति हुई है। मैं कभी धरतीपर पैदल नहीं चलती थी (परंतु अब यहाँ यह दुर्दशा भोग रही हूँ)।

मत्स्यराजसमक्षं तु तस्य धूर्तस्य पश्यतः।
कीचकेन परामृष्टा का नु जीवति मादृशी ॥ ५ ॥

मत्स्यदेशके राजा विराटके सामने उस जुआरीके देखते-देखते कीचकने जो लात मारकर मेरा अपमान किया है उसको सहकर मेरी-जैसी कौन राजकुमारी जीवित रह सकती है? ॥ ५ ॥

एवं बहुविधैः क्लेशैः क्लिश्यमानां च भारत।
न मां जानासि कौन्तेय किं फलं जीवितेन मे ॥ ६ ॥

भरतकुलभूषण कुन्तीनन्दन! ऐसे बहुत-से क्लेशोंद्वारा मैं निरन्तर पीड़ित रहती हूँ; क्या तुम यह नहीं जानते? फिर मेरे जीनेका ही क्या प्रयोजन है? ॥ ६ ॥

योऽयं राज्ञो विराटस्य कीचको नाम भारत।
सेनानीः पुरुषव्याघ्र श्यालः परमदुर्मतिः ॥ ७ ॥
स मां सैरन्ध्रिवेषेण वसन्तीं राजवेश्मनि।
नित्यमेवाह दुष्टात्मा भार्या मम भवेति वै ॥ ८ ॥

भारत! पुरुषसिंह! राजा विराटका जो यह कीचक नामक सेनापति है, वह उनका साला लगता है। उसकी बुद्धि बड़ी खोटी है। राजमहलमें सैरन्ध्रीके वेशमें निवास करती हुई मुझे देखकर वह दुष्टात्मा प्रतिदिन ही आकर मुझसे कहता है—'मेरी ही पत्नी हो जाओ' ॥ ७-८ ॥

तेनोपमन्त्र्यमाणाया वधार्हेण सपत्नहन्।
कालेनेव फलं पक्वं हृदयं मे विदीर्यते ॥ ९ ॥

शत्रुदमन! उस मार डालने योग्य पापीके द्वारा रोज-रोज यह घृणित प्रस्ताव सुनते-सुनते समयसे पके हुए फलकी भाँति मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है ॥ ९ ॥

(विजानामि तवामर्षं बलं वीर्यं च पाण्डव।
ततोऽहं परिदेवामि चाग्रतस्ते महाबल ॥

महाबली पाण्डुनन्दन! मैं तुम्हारे अमर्ष, बल और पराक्रमको जानती हूँ; इसीलिये मैं तुम्हारे आगे रोती-बिलखती हूँ ॥

यथा यूथपतिर्मत्तः कुञ्जरः षष्टिहायनः।
भूमौ निपतितं बिल्वं पद्भ्यामाक्रम्य पीडयेत् ॥

तथैव च शिरस्तस्य निपात्य धरणीतले।
वामेन पुरुषव्याघ्र मर्द पादेन पाण्डव॥

पुरुषसिंह पाण्डुपुत्र ! जैसे साठ वर्षका मतवाला यूथपति गजराज धरतीपर गिरे हुए बेलके फलको पैरोंसे दबाकर कुचल डाले, उसी प्रकार कीचकके मस्तकको पृथ्वीपर गिराकर बायें पैरसे मसल डालो॥

स चेदुद्यन्तमादित्यं प्रातरुत्थाय पश्यति।
कीचकः शर्वरीं व्युष्टां नाहं जीवितुमुत्सहे॥)

यदि कीचक इस रात्रिके बीतनेपर प्रातःकाल उठकर उगते हुए सूर्यका दर्शन कर लेगा, तो मैं जीवित नहीं रह सकूँगी॥

भ्रातरं च विगर्हस्व ज्येष्ठं दुर्द्यूतदेविनम्।
यस्यास्मि कर्मणा प्राप्ता दुःखमेतदनन्तकम्॥ १०॥

दूषित द्यूतक्रीड़ामें लगे रहनेवाले अपने उस बड़े भाईकी निन्दा करो, जिसकी करतूतसे मैं इस अनन्त दुःखमें पड़ गयी हूँ॥ १०॥

को हि राज्यं परित्यज्य सर्वस्वं चात्मना सह।
प्रव्रज्यायैव दीव्येत विना दुर्द्यूतदेविनम्॥ ११॥

निन्दनीय जूएमें आसक्त रहनेवाले उस जुआरीको छोड़कर दूसरा कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपने साथ ही राज्य तथा सर्वस्वका परित्याग करके वनवास लेनेकी शर्तपर जूआ खेल सकता हो ?॥ ११॥

यदि निष्कसहस्रेण यच्चान्यत् सारवद् धनम्।
सायम्प्रातरदेविष्यदपि संवत्सरान् बहून्॥ १२॥
रुक्मं हिरण्यं वासांसि यानं युग्यमजाविकम्।
अश्वाश्वतरसङ्घांश्च न जातु क्षयमावहेत्॥ १३॥

यदि वे प्रतिदिन शाम-सवेरे एक सहस्र स्वर्णमुद्राओंसे जूआ खेलते तथा जो दूसरे बहुमूल्य धन थे, उनको—सोने, चाँदी, वस्त्र, सवारी, रथ, बकरी, भेड़, घोड़े और खच्चरों आदिके समूहको बहुत वर्षोंतक भी दाँवपर लगाते रहते, तो भी हमारा राज्य-वैभव कभी क्षीण नहीं होता॥ १२-१३॥

सोऽयं द्यूतप्रवादेन श्रियः प्रत्यवरोपितः।
तूष्णीमास्ते यथा मूढः स्वानि कर्माणि चिन्तयन्॥ १४॥

जूएकी आसक्तिने इन्हें राज्यलक्ष्मीके सिंहासनसे नीचे उतार दिया है और अब ये अपने उन कर्मोंका चिन्तन करते हुए अज्ञकी भाँति चुपचाप बैठे रहते हैं॥ १४॥

दश नागसहस्राणि हयानां हेममालिनाम्।
यं यान्तमनुयान्तीह सोऽयं द्यूतेन जीवति॥ १५॥

जिनके कहीं यात्रा करते समय दस हजार हाथी और सोनेकी मालाएँ पहने हुए सहस्रों घोड़े पीछे-पीछे चलते थे, वे ही महाराज यहाँ जूएसे जीविका चलाते हैं॥ १५॥

रथाः शतसहस्राणि नृपाणाममितौजसाम्।
उपासन्त महाराजमिन्द्रप्रस्थे युधिष्ठिरम्॥ १६॥
शतं दासीसहस्राणां यस्य नित्यं महानसे।
पात्रीहस्तं दिवारात्रमतिथीन् भोजयन्त्युत॥ १७॥
एष निष्कसहस्राणि प्रदाय ददतां वरः।
द्यूतजेन ह्यनर्थेन महता समुपाश्रितः॥ १८॥

इन्द्रप्रस्थमें जिनकी सवारीके लिये एक लाख रथ प्रस्तुत रहते थे और जिन महाराज युधिष्ठिरकी सेवामें सहस्रों महापराक्रमी राजा बैठा करते थे, जिनके भोजनालयमें नित्य एक लाख दासियाँ सोनेके पात्र हाथमें लिये दिन-रात अतिथियोंको भोजन कराया करती थीं तथा जो दाताओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर रोज सहस्रों स्वर्णमुद्राएँ दानमें बाँटा करते थे, वे ही धर्मराज यहाँ जूएमें कमाये हुए महान् अनर्थकारी धनसे जीवन-निर्वाह कर रहे हैं॥ १६-१८॥

एनं हि स्वरसम्पन्ना बहवः सूतमागधाः।
सायम्प्रातरुपातिष्ठन् सुमृष्टमणिकुण्डलाः॥ १९॥

इन्द्रप्रस्थमें विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण करनेवाले बहुत-से सूत और मागध मधुर स्वरसे संयुक्त वाणीद्वारा सायंकाल और प्रातःकाल इन महाराजकी स्तुति किया करते थे॥ १९॥

सहस्रमृषयो यस्य नित्यमासन् सभासदः।
तपःश्रुतोपसम्पन्नाः सर्वकामैरुपस्थिताः॥ २०॥

तपस्या और वेदज्ञानसे सम्पन्न सहस्रों पूर्णकाम ऋषि-महर्षि प्रतिदिन इनकी राजसभामें बैठा करते थे॥ २०॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः॥ २१॥

अट्ठासी हजार स्नातक गृहस्थ ब्राह्मणोंका जिनमेंसे एक-एककी सेवाके लिये तीस-तीस दासियाँ थीं, राजा युधिष्ठिर अपने यहाँ पालन करते थे॥ २१॥

अप्रतिग्राहिणां चैव यतीनामूर्ध्वरेतसाम्।
दश चापि सहस्राणि सोऽयमास्ते नरेश्वरः॥ २२॥

साथ ही ये महाराज दान न लेनेवाले दस हजार ऊर्ध्वरेता संन्यासियोंका भी स्वयं ही भरण-पोषण करते थे। आज वे ही इस अवस्थामें रह रहे हैं॥ २२॥

आनृशंस्यमनुक्रोशं संविभागस्तथैव च।
यस्मिन्नेतानि सर्वाणि सोऽयमास्ते नरेश्वरः॥ २३॥

जिनमें कोमलता, दया और सबको अन्न-वस्त्र देना आदि समस्त सद्गुण विद्यमान थे, वे ही ये महाराज आज इस दुरवस्थामें पड़े हैं॥ २३॥

अन्धान् वृद्धांस्तथानाथान् बालान् राष्ट्रेषु दुर्गतान्।
बिभर्ति विविधान् राजा धृतिमान् सत्यविक्रमः।
संविभागमना नित्यमानृशंस्याद् युधिष्ठिरः॥ २४॥

धैर्यवान् तथा सत्यपराक्रमी राजा युधिष्ठिर अपने कोमल स्वभावके कारण सदा सबको भोजन आदि देनेमें ही मन लगाते थे और अपने राज्यके अनेक अंधों, बूढ़ों, अनाथों, बालकों तथा दुर्गतिमें पड़े हुए लोगोंका भरण-पोषण करते रहते थे ॥ २४ ॥

स एष निरयं प्राप्तो मत्स्यस्य परिचारकः।
सभायां देविता राज्ञः कङ्को ब्रूते युधिष्ठिरः॥ २५॥

वे ही ये युधिष्ठिर आज मत्स्यराजके सेवक होकर परतन्त्रतारूपी नरकमें पड़े हुए हैं। ये सभामें राजाको जूआ खेलाते और कङ्क कहकर अपना परिचय देते हैं ॥ २५ ॥

इन्द्रप्रस्थे निवसतः समये यस्य पार्थिवाः।
आसन् बलिभृतः सर्वे सोऽद्यान्यैर्भृत्तिमिच्छति॥२६॥

इन्द्रप्रस्थमें रहते समय जिन्हें सब राजा भेंट देते थे, वे ही आज दूसरोंसे अपने भरण-पोषणके लिये धन पानेकी इच्छा रखते हैं ॥ २६ ॥

पार्थिवाः पृथिवीपाला यस्यासन् वशवर्तिनः।
स वशे विवशो राजा परेषामद्य वर्तते॥ २७॥

इस पृथ्वीका पालन करनेवाले बहुत-से भूपाल जिनकी आज्ञाके अधीन थे, वे ही महाराज आज विवश होकर दूसरोंके वशमें रहते हैं ॥ २७ ॥

प्रताप्य पृथिवीं सर्वां रश्मिमानिव तेजसा।
सोऽयं राज्ञो विराटस्य सभास्तारो युधिष्ठिरः॥ २८॥

सूर्यकी भाँति अपने तेजसे सम्पूर्ण भूमण्डलको प्रकाशित-कर अब ये धर्मराज युधिष्ठिर राजा विराटकी सभाके एक साधारण सदस्य बने हुए हैं ॥ २८ ॥

यमुपासन्त राजानः सभायामृषिभिः सह।
तमुपासीनमद्यान्यं पश्य पाण्डव पाण्डवम्॥ २९॥

पाण्डुनन्दन! देखो, राजसभामें ऋषियोंके साथ अनेक राजा जिनकी उपासना करते थे, वे ही पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर आज दूसरेकी उपासना कर रहे हैं ॥ २९ ॥

सदस्यं यमुपासीनं परस्य प्रियवादिनम्।
दृष्ट्वा युधिष्ठिरं कोपो वर्धते मामसंशयम्॥ ३०॥

एक सामान्य सदस्यकी हैसियतसे दूसरेकी सेवामें बैठे हुए वे विराटके मनको प्रिय लगनेवाली बातें करते हैं। महाराज युधिष्ठिरको इस दशामें देखकर निश्चय ही मेरा क्रोध बढ़ जाता है ॥ ३० ॥

अतदर्हं महाप्राज्ञं जीवितार्थेऽभिसंस्थितम्।
दृष्ट्वा कस्य न दुःखं स्याद् धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्॥ ३१॥

जो धर्मात्मा और परम बुद्धिमान् हैं, जिनका कभी इस दुरवस्थामें पड़ना उचित नहीं है, वे ही जीविकाके लिये आज दूसरेके घरमें पड़े हैं। महाराज युधिष्ठिरको इस दशामें देखकर किसे दुःख न होगा? ॥ ३१ ॥

उपास्ते स्म सभायां यं कृत्स्ना वीर वसुन्धरा।
तमुपासीनमप्यन्यं पश्य भारत भारतम्॥ ३२॥

वीर! पहले राजसभामें समस्त भूमण्डलके लोग जिनकी सब ओरसे उपासना करते थे, भारत! अब उन्हीं भरतवंश-शिरोमणिको आज दूसरे राजाकी सभामें बैठे देख लो ॥ ३२ ॥

एवं बहुविधैर्दुःखैः पीड्यमानामनाथवत्।
शोकसागरमध्यस्थां किं मां भीम न पश्यसि॥ ३३॥

भीमसेन! इस प्रकार अनेक दुःखोंसे अनाथकी भाँति पीड़ित होती हुई मैं शोकके महासागरमें डूब रही हूँ, क्या तुम मेरी यह दुर्दशा नहीं देखते? ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे अष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीभीमसंवादविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३½ श्लोक मिलाकर कुल ४६½ श्लोक हैं)

एकोनविंशोऽध्यायः

पाण्डवोंके दुःखसे दुःखित द्रौपदीका भीमसेनके सम्मुख विलाप

द्रौपद्युवाच

इदं तु ते महद् दुःखं यत् प्रवक्ष्यामि भारत।
न मेऽभ्यसूया कर्तव्या दुःखादेतद् ब्रवीम्यहम्॥ १॥

द्रौपदी बोली—भारत! अब जो दुःख मैं तुमसे निवेदन करनेवाली हूँ, वह तो मेरे लिये और भी महान् है। तुम इसके लिये मुझे दोष न देना। मैं दुःखसे व्यथित होनेके कारण ही यह सब कह रही हूँ ॥ १ ॥

सूदकर्मणि हीने त्वमसमे भरतर्षभ।
ब्रुवन् बल्लवजातीयः कस्य शोकं न वर्धयेः॥ २॥

भरतर्षभ! जो तुम्हारे लिये सर्वथा अयोग्य है, ऐसे रसोइयेके नीच काममें लगे हो और अपनेको 'बल्लव' जाति-का मनुष्य बताते हो। इस अवस्थामें तुम्हें देखकर किसका शोक न बढ़ेगा? ॥ २ ॥

सूपकारं विराटस्य बल्लवं त्वां विदुर्जनाः।
प्रेष्यत्वं समनुप्राप्तं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ३॥

लोग तुम्हें राजा विराटके रसोइये बल्लवके नामसे जानते

हैं। तुम स्वामी होकर भी आज सेवककी दशामें पड़े हो। इससे बढ़कर महान् कष्ट मेरे लिये और क्या हो सकता है ? ॥ ३ ॥

यदा महानसे सिद्धे विराटमुपतिष्ठसि।
ब्रुवाणो वल्लवः सूदस्तदा सीदति मे मनः॥ ४ ॥

जब पाकशालामें भोजन बना लेनेपर तुम विराटकी सेवामें उपस्थित होते हो और कहते हो—'महाराज ! वल्लव रसोइया आपको भोजनके लिये बुलाने आया है', तब यह सब सुनकर मेरा मन दुःखित हो जाता है ॥ ४ ॥

यदा प्रहृष्टः सम्राट् त्वां संयोधयति कुञ्जरैः।
हसन्त्यन्तःपुरे नार्यो मम तूद्विजते मनः॥ ५ ॥

जब विराटनरेश प्रसन्न होकर तुम्हें हाथियोंसे लड़ाते हैं, उस समय रनिवासकी दूसरी स्त्रियाँ तो हँसती हैं और मेरा हृदय शोकसे व्याकुल हो उठता है ॥ ५ ॥

शार्दूलैर्महिषैः सिंहैरागारे योध्यसे यदा।
कैकेय्याः प्रेक्षमाणायास्तदा मे कश्मलं भवेत्॥ ६ ॥

जब रानी सुदेष्णा दर्शक बनकर बैठती हैं और तुम महलके आँगनमें व्याघ्रों, सिंहों तथा भैंसोंसे लड़ते हो, उस समय मुझे बड़ी व्यथा होती है ॥ ६ ॥

तत उत्थाय कैकेयी सर्वास्ताः प्रत्यभाषत।
प्रेष्याः समुत्थिताश्चापि कैकेयीं ताः स्त्रियोऽब्रुवन्॥ ७॥
प्रेक्ष्य मामनवद्याङ्गीं कश्मलोपहतामिव।

एक दिन उक्त पशुओंसे तुम्हारा युद्ध देखकर उठनेके बाद मुझ निर्दोष अङ्गोंवाली अबलाको इसी कारण शोकपीड़ित-सी देख केकयराजकुमारी सुदेष्णा अपने साथ आयी हुई सम्पूर्ण दासियोंसे और वे खड़ी हुई दासियाँ रानी कैकेयीसे इस प्रकार कहने लगीं—॥ ७½ ॥

स्नेहात् संवासजाद् धर्मात् सूदमेषा शुचिस्मिता॥८॥
योध्यमानं महावीर्यमियं समनुशोचति।
कल्याणरूपा सैरन्ध्री वल्लवश्चापि सुन्दरः॥ ९ ॥

'यह पवित्र मुस्कानवाली सैरन्ध्री पहले (युधिष्ठिरके यहाँ) एक स्थानमें साथ-साथ रहनेके कारण पैदा होनेवाले स्नेहसे अथवा धर्मसे प्रेरित होकर उस महापराक्रमी रसोइयेको पशुओंसे लड़ते देख उसके लिये बार-बार शोक करने लगती है । सैरन्ध्रीका रूप तो मङ्गलमय है ही; वल्लव भी बड़ा सुन्दर है ॥ ८-९ ॥

स्त्रीणां चित्तं च दुर्ज्ञेयं युक्तरूपौ च मे मतौ।
सैरन्ध्री प्रियसंवासान्नित्यं करुणवादिनी॥ १० ॥

'स्त्रियोंके हृदयको समझ लेना बहुत कठिन है; हमें तो यह जोड़ी अच्छी जान पड़ती है । सैरन्ध्री अपने प्रिय सम्बन्धके कारण जब रसोइयेको हाथी आदिसे लड़ानेकी बात की जाती है, तब (अत्यन्त दीन-सी होकर) सदा करुणायुक्त वचन बोलने लगती है ॥ १० ॥

अस्मिन् राजकुले चेमौ तुल्यकालनिवासिनौ।
इति ब्रुवाणा वाक्यानि सा मां नित्यमतर्जयत्॥ ११ ॥

'क्यों न हो, इस राजपरिवारमें भी तो ये दोनों एक ही समयसे निवास करते हैं ?' इस तरहकी बातें कहकर रानी सुदेष्णा प्रायः नित्य मुझे झिड़का करती हैं ॥ ११ ॥

क्रुध्यन्तीं मां च सम्प्रेक्ष्य समशङ्कत मां त्वयि।
तस्यां तथा ब्रुवत्यां तु दुःखं मां महदाविशत्॥ १२ ॥

और मुझे क्रोध करती देख तुम्हारे प्रति मेरे गुप्त प्रेमकी आशङ्का कर बैठती हैं । जब-जब वे वैसी बातें कहती हैं, उस समय मुझे बहुत दुःख होता है ॥ १२ ॥

त्वय्येवं निरयं प्राप्ते भीमे भीमपराक्रमे।
शोके यौधिष्ठिरे मग्ना नाहं जीवितुमुत्सहे॥ १३ ॥

भीम भयंकर पराक्रम दिखानेवाले होकर भी तुम ऐसे नरकतुल्य कष्ट भोग रहे हो और उधर महाराज युधिष्ठिरको भी भारी शोक सहन करना पड़ता है । इस प्रकार मैं दुःखके समुद्रमें डूबी हुई हूँ । अब मुझे जीवित रहनेका तनिक भी उत्साह नहीं है ॥ १३ ॥

यः सदेवान् मनुष्यांश्च सर्वांश्चैकरथोऽजयत्।
सोऽयं राज्ञो विराटस्य कन्यानां नर्तको युवा॥ १४ ॥

वह तरुण वीर अर्जुन, जो अकेले ही रथमें बैठकर सम्पूर्ण मनुष्यों तथा देवताओंपर भी विजय पा चुका है, आज राजा विराटकी कन्याओंको नाचना सिखाता है ॥१४॥

योऽतर्पयदमेयात्मा खाण्डवे जातवेदसम्।
सोऽन्तःपुरगतः पार्थ कूपेऽग्निरिव संवृतः॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो असीम आत्मबलसे सम्पन्न है, जिसने खाण्डववनमें साक्षात् अग्निदेवको तृप्त किया था, वही वीर अर्जुन आज कुएँमें पड़ी हुई अग्निकी तरह अन्तःपुरमें छिपा हुआ है ॥ १५ ॥

यस्माद् भयममित्राणां सदैव पुरुषर्षभात्।
स लोकपरिभूतेन वेषेणास्ते धनंजयः॥ १६ ॥

जो पुरुषोंमें श्रेष्ठ है, जिससे शत्रुओंको सदा ही भय प्राप्त होता आया है, वही धनंजय आज लोकनिन्दित नपुंसकवेषमें रह रहा है ॥ १६ ॥

यस्य ज्याक्षेपकठिनौ बाहू परिघसंनिभौ।
स शङ्खपरिपूर्णाभ्यां शोचन्नास्ते धनंजयः॥ १७॥

जिसकी परिघ (लोहदण्ड) के समान मोटी भुजाएँ प्रत्यञ्चा खींचते-खींचते कठोर हो गयी थीं, वही धनंजय आज हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ पहनकर दुःख भोग रहा है ॥ १७ ॥

यस्य ज्यातलनिर्घोषात् समकम्पन्त शत्रवः।
स्त्रियो गीतस्वनं तस्य मुदिताः पर्युपासते ॥ १८ ॥

जिसके धनुषकी टंकारसे समस्त शत्रु थर्रा उठते थे, आज अन्तःपुरकी स्त्रियाँ उसीके गीतोंकी ध्वनि सुनती और प्रसन्न होती हैं ॥ १८ ॥

किरीटं सूर्यसंकाशं यस्य मूर्द्धन्यशोभत।
वेणीविकृतकेशान्तः सोऽयमद्य धनंजयः ॥ १९ ॥

जिसके मस्तकपर सूर्यके समान तेजस्वी किरीट शोभा पाता था, सिरपर चोटी धारण करनेके कारण उसी अर्जुनके केशोंकी शोभा बिगड़ गयी है ॥ १९ ॥

तं वेणीकृतकेशान्तं भीमधन्वानमर्जुनम्।
कन्यापरिवृतं दृष्ट्वा भीम सीदति मे मनः ॥ २० ॥

भीम! भयंकर गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले वीर अर्जुनको अपने सिरपर केशोंकी चोटी धारण किये कन्याओंसे घिरा देख मेरा हृदय विषादसे भर जाता है ॥ २० ॥

यस्मिन्नस्त्राणि दिव्यानि समस्तानि महात्मनि।
आधारः सर्वविद्यानां स धारयति कुण्डले ॥ २१ ॥

जिस महात्मामें सम्पूर्ण दिव्यास्त्र प्रतिष्ठित हैं तथा जो समस्त विद्याओंका आधार है, वह आज कानोंमें (स्त्रियोंकी भाँति) कुण्डल धारण करता है ॥ २१ ॥

यं स्म राजसहस्राणि तेजसाप्रतिमानि वै।
समरे नाभ्यवर्तन्त वेलामिव महार्णवः ॥ २२ ॥
सोऽयं राज्ञो विराटस्य कन्यानां नर्तको युवा।
आस्ते वेषप्रतिच्छन्नः कन्यानां परिचारकः ॥ २३ ॥

जैसे महासागर तट सीमाको नहीं लाँघ पाता, उसी प्रकार सहस्रों अप्रतिम तेजवाले राजा जिस वीरको वशीभूत करनेके लिये आगे न बढ़ सके, वही तरुण अर्जुन इस समय राजा विराटकी कन्याओंको नाचना सिखा रहा है और हीजड़ेके वेषमें छिपकर उन कन्याओंकी सेवा करता है ॥२२-२३॥

यस्य स्म रथघोषेण समकम्पत मेदिनी।
सपर्वतवना भीम सहस्थावरजङ्गमा ॥ २४ ॥
यस्मिञ्जाते महाभागे कुन्त्याः शोको व्यनश्यत।
स शोचयति मामद्य भीमसेन तवानुजः ॥ २५ ॥

भीमसेन! जिसके रथकी घर्घराहटसे पर्वत, वन और चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वी काँप उठती थी, जिस महान् भाग्यशाली पुत्रके उत्पन्न होनेपर माता कुन्तीका सारा शोक नष्ट हो गया था, वही तुम्हारा छोटा भाई अर्जुन आज अपनी दुरवस्थाके कारण मुझे शोकमग्न किये देता है ॥ २४-२५ ॥

भूषितं तमलंकारैः कुण्डलैः परिहाटकैः।
कम्बुपाणिनमायान्तं दृष्ट्वा सीदति मे मनः ॥ २६ ॥

अर्जुनको स्त्रीजनोचित आभूषणों तथा सुवर्णमय कुण्डलोंसे विभूषित हो हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ धारण किये आते देख मेरा हृदय दुःखित हो जाता है ॥ २६ ॥

यस्य नास्ति समो वीर्ये कश्चिदुर्व्यां धनुर्धरः।
सोऽद्य कन्यापरिवृतो गायन्नास्ते धनंजयः ॥ २७ ॥

इस भूतलपर जिसके बल-पराक्रमकी समानता करनेवाला कोई धनुर्धर वीर नहीं है, वही धनंजय आज राजकन्याओंके बीचमें बैठकर गीत गाया करता है ॥ २७ ॥

धर्मे शौर्ये च सत्ये च जीवलोकस्य सम्मतम्।
स्त्रीवेषविकृतं पार्थं दृष्ट्वा सीदति मे मनः ॥ २८ ॥

धर्म, शूरवीरता और सत्यभाषणमें जो सम्पूर्ण जीव-जगत्के लिये एक आदर्श था, उसी अर्जुनको अब स्त्रीवेषमें विकृत हुआ देखकर मेरा हृदय शोकमें डूब जाता है ॥२८॥

यदा ह्येनं परिवृतं कन्याभिर्देवरूपिणम्।
प्रभिन्नमिव मातङ्गं परिकीर्णं करेणुभिः ॥ २९ ॥
मत्स्यमर्थपतिं पार्थं विराटं समुपस्थितम्।
पश्यामि तूर्यमध्यस्थं दिशो नश्यन्ति मे तदा ॥ ३० ॥

हथिनियोंसे घिरे हुए गण्डस्थलसे मधुकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति जब वाद्ययन्त्रोंके बीचमें बैठे हुए देवरूपधारी कुन्तीनन्दन अर्जुनको (नृत्यशालामें) कन्याओंसे घिरकर धनपति मत्स्यराज विराटकी सेवामें उपस्थित देखती हूँ, उस समय मेरी आँखोंमें अँधेरा छा जाता है; मुझे दिशाएँ नहीं सूझती हैं ॥ २९-३० ॥

नूनमार्या न जानाति कृच्छ्रं प्राप्तं धनंजयम्।
अजातशत्रुं कौरव्यं मग्नं दुर्द्यूतदेविनम् ॥ ३१ ॥

निश्चय ही मेरी सास कुन्ती नहीं जानती होंगी कि मेरा पुत्र धनंजय ऐसे संकटमें पड़ा है और खोटे जूएके खेलमें आसक्त कुरुवंशशिरोमणि अजातशत्रु युधिष्ठिर भी शोकमें डूबे हुए हैं ॥ ३१ ॥

(ऐन्द्रवारुणवायव्यब्राह्माग्नेयैश्च वैष्णवैः।
अग्नीन् संतर्पयन् पार्थः सर्वांश्चैकरथोऽजयत् ॥
दिव्यैरस्त्रैरचिन्त्यात्मा सर्वशत्रुनिबर्हणः ॥
दिव्यं गान्धर्वमस्त्रं च वायव्यमथ वैष्णवम्।
ब्राह्मं पाशुपतं चैव स्थूणाकर्णं च दर्शयन् ॥
पौलोमान् कालकेयांश्च इन्द्रशत्रून् महासुरान्।
निवातकवचैः सार्धं घोरानेकरथोऽजयत्।
सोऽन्तःपुरगतः पार्थः कूपेऽग्निरिव संवृतः ॥

जिन कुन्तीकुमार अर्जुनने ऐन्द्र, वारुण, वायव्य, ब्राह्म, आग्नेय और वैष्णव अस्त्रोंद्वारा अग्निदेवको तृप्त करते हुए एकमात्र रथकी सहायतासे सब देवताओंको जीत लिया, जिनका आत्मबल अचिन्त्य है, जो अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा समस्त शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ हैं, जिन्होंने एकमात्र

रथपर आरूढ़ हो दिव्य गान्धर्व, वायव्य, वैष्णव, ब्राह्म, पाशुपत तथा स्थूणाकर्ण नामक अस्त्रोंका प्रदर्शन करते हुए युद्धमें निवातकवचोंसहित भयंकर पौलोम और कालकेय आदि महान् असुरोंको, जो इन्द्रसे शत्रुता रखनेवाले थे, परास्त कर दिया था, वे ही अर्जुन आज अन्तःपुरमें उसी प्रकार छिपे बैठे हैं, जैसे प्रज्वलित अग्नि कुएँमें ढक दी गयी हो ॥

कन्यापुरगतं दृष्ट्वा गोष्ठेष्विव महर्षभम् ।
स्त्रीवेषविकृतं पार्थं कुन्तीं गच्छति मे मनः ॥)

जैसे बड़ा भारी साँड़ गोशालाओंमें आबद्ध हो, उसी प्रकार स्त्रियोंके वेषसे विकृत अर्जुनको कन्याओंके अन्तःपुरमें देखकर मेरा मन बार-बार कुन्तीदेवीकी याद करता है ॥

तथा दृष्ट्वा यवीयांसं सहदेवं गवां पतिम्।
गोषु गोवेषमायान्तं पाण्डुभूतास्मि भारत ॥ ३२ ॥

भारत ! इसी प्रकार तुम्हारे छोटे भाई सहदेवको, जो गौओंका पालक बनाया गया है, जब मैं गौओंके बीच ग्वालेके वेशमें आते देखती हूँ, तो मेरा रक्त सूख जाता है और सारा शरीर पीला पड़ जाता है ॥ ३२ ॥

सहदेवस्य वृत्तानि चिन्तयन्ती पुनः पुनः ।
न निद्रामभिगच्छामि भीमसेन कुतो रतिम् ॥ ३३ ॥

भीमसेन ! सहदेवकी दुर्दशाका बार-बार चिन्तन करनेके कारण मुझे कभी नींदतक नहीं आती; फिर सुख कहाँसे मिल सकता है ? ॥ ३३ ॥

न विन्दामि महाबाहो सहदेवस्य दुष्कृतम् ।
यस्मिन्नेवंविधं दुःखं प्राप्नुयात् सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥

महाबाहो ! जहाँतक मैं जानती हूँ, सहदेवने कभी कोई पाप नहीं किया है, जिससे इस सत्यपराक्रमी वीरको ऐसा दुःख उठाना पड़े ॥ ३४ ॥

दूयामि भरतश्रेष्ठ दृष्ट्वा ते भ्रातरं प्रियम् ।
गोषु गोवृषसंकाशं मत्स्येनाभिनिवेशितम् ॥ ३५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! साँड़के समान हृष्ट-पुष्ट तुम्हारे प्रिय भ्राता सहदेवको राजा विराटके द्वारा गौओंकी सेवामें लगाया गया देख मुझे बड़ा दुःख होता है ॥ ३५ ॥

संरब्धं रक्तनेपथ्यं गोपालानां पुरोगमम् ।
विराटमभिनन्दन्तमथ मे भवति ज्वरः ॥ ३६ ॥

गेरू आदिसे लाल रंगका शृङ्गार धारण किये ग्वालोंके अगुआ बने हुए सहदेवको उद्विग्न होनेपर भी जब मैं राजा विराटका अभिनन्दन करते देखती हूँ, तब मुझे बुखार चढ़ आता है ॥ ३६ ॥

सहदेवं हि मे वीर नित्यमार्या प्रशंसति ।
महाभिजनसम्पन्नः शीलवान् वृत्तवानिति ॥ ३७ ॥

वीर ! आर्या कुन्ती मुझसे सहदेवकी सदा प्रशंसा किया करती थीं कि यह महान् कुलमें उत्पन्न, शीलवान् और सदाचारी है ॥ ३७ ॥

ह्रीनिषेवो मधुरवाग्धार्मिकश्च प्रियश्च मे ।
स तेऽरण्येषु वोढव्यो याज्ञसेनि क्षपास्वपि ॥ ३८ ॥
सुकुमारश्च शूरश्च राजानं चाप्यनुव्रतः ।
ज्येष्ठापचायिनं वीरं स्वयं पाञ्चालि भोजयेः ॥ ३९ ॥
इत्युवाच हि मां कुन्ती रुदती पुत्रगृद्धिनी ।
प्रव्रजन्तं महारण्यं तं परिष्वज्य तिष्ठती ॥ ४० ॥

मुझे स्मरण है, जब सहदेव महान् वनमें आने लगे, उस समय पुत्रवत्सला माता कुन्ती उन्हें हृदयसे लगाकर खड़ी हो गयीं और रोती हुई मुझसे यों कहने लगीं—'याज्ञसेनी ! सहदेव बड़ा लज्जाशील, मधुरभाषी और धार्मिक है । यह मुझे अत्यन्त प्रिय है । इसे वनमें रात्रिके समय तुम स्वयं सँभालकर (हाथ पकड़कर) ले जाना; क्योंकि यह सुकुमार है (सम्भव है, थकावटके कारण चल न सके) । मेरा सहदेव शूरवीर, राजा युधिष्ठिरका भक्त, अपने बड़े भाईका पुजारी और वीर है । पाञ्चालराजकुमारी ! तुम इसे अपने हाथों भोजन कराना ॥ ३८-४० ॥

तं दृष्ट्वा व्यापृतं गोषु वत्सचर्मक्षपाशयम् ।
सहदेवं युधां श्रेष्ठं किं नु जीवामि पाण्डव ॥ ४१ ॥

पाण्डुनन्दन ! योद्धाओंमें श्रेष्ठ उसी सहदेवको जब मैं गौओंकी सेवामें तत्पर और बछड़ोंके चमड़ेपर रातमें सोते देखती हूँ, तब किसलिये जीवन धारण करूँ ? ॥ ४१ ॥

यस्त्रिभिर्नित्यसम्पन्नो रूपेणास्त्रेण मेधया ।
सोऽश्वबन्धो विराटस्य पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ ४२ ॥

इसी प्रकार जो सुन्दर रूप, अस्त्रबल और मेधाशक्ति—इन तीनोंसे सदा सम्पन्न रहता है, वह वीरवर नकुल आज विराटके यहाँ घोड़े बाँधता है । देखो, कालकी कैसी विपरीत गति है ? ॥ ४२ ॥

अभ्यकीर्यन्त वृन्दानि दामग्रन्थिमुदीक्ष्य तम् ।
विनयन्तं जवेनाश्वान् महाराजस्य पश्यतः ॥ ४३ ॥

जिसे देखकर शत्रुओंके समुदाय बिखर जाते—भाग खड़े होते हैं, वही अब ग्रन्थिक बनकर घोड़ोंकी रास खोलता और बाँधता है तथा महाराजके सामने अश्वोंको वेगसे चलनेकी शिक्षा देता है ॥ ४३ ॥

अपश्यमेनं श्रीमन्तं मत्स्यं भ्राजिष्णुमुत्तमम् ।
विराटमुपतिष्ठन्तं दर्शयन्तं च वाजिनः ॥ ४४ ॥

मैंने शोभासम्पन्न, तेजस्वी तथा उत्तम रूपवाले नकुलको अपनी आँखों देखा है । वह मत्स्यनरेश विराटको भाँति-भाँतिके घोड़े दिखाता और उनकी सेवामें खड़ा रहता है ॥

किं नु मां मन्यसे पार्थ सुखिनीति परंतप ।
एवं दुःखशताविष्टा युधिष्ठिरनिमित्ततः ॥ ४५ ॥

कुन्तीनन्दन ! शत्रुदमन ! क्या तुम समझते हो, यह सब देखकर मैं सुखी हूँ ? राजा युधिष्ठिरके कारण ऐसे सैकड़ों दुःख मुझे सदा घेरे रहते हैं ॥ ४५ ॥

अतः प्रतिविशिष्टानि दुःखान्यन्यानि भारत ।
वर्तन्ते मयि कौन्तेय वक्ष्यामि शृणु तान्यपि ॥ ४६ ॥

भारत ! कुन्तीकुमार ! इनसे भी भारी दूसरे दुःख मुझपर आ पड़े हैं, उनका भी वर्णन करती हूँ, सुनो ॥ ४६ ॥

युष्मासु ध्रियमाणेषु दुःखानि विविधान्युत ।
शोषयन्ति शरीरं मे किं नु दुःखमतः परम् ॥ ४७ ॥

तुम सबके जीते-जी नाना प्रकारके कष्ट मेरे शरीरको सुखा रहे हैं, इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है ? ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीभीमसेनसंवादविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ५२ श्लोक हैं)

विंशोऽध्यायः

द्रौपदीद्वारा भीमसेनसे अपना दुःख निवेदन करना

द्रौपद्युवाच

अहं सैरन्ध्रिवेषेण चरन्ती राजवेश्मनि ।
शौचदास्मि सुदेष्णाया अक्षधूर्तस्य कारणात् ॥ १ ॥

द्रौपदी कहती है—परंतप ! तुम्हारे जूएमें चतुर चालाक भाईके कारण आज मैं राजमहलमें सैरन्ध्रीका वेश धारण करके टहल बजाती और रानी सुदेष्णाको स्नानकी वस्तुएँ जुटाकर देती हूँ ॥ १ ॥

विक्रियां पश्य मे तीव्रां राजपुत्र्याः परंतप ।
आत्मकालमुदीक्षन्ती सर्वं दुःखं किलान्तवत् ॥ २ ॥

राजपुत्री होकर भी मुझे कैसा भारी हीन कार्य करना पड़ता है, यह अपनी आँखों देख लो; परंतु सब लोग अपने अभ्युदयका अवसर देखते रहते हैं; क्योंकि यदि दुःख आता है, तो उसका अन्त भी होता ही है ॥२॥

अनित्या किल मर्त्यानामर्थसिद्धिर्जयाजयौ ।
इति कृत्वा प्रतीक्षामि भर्तॄणामुदयं पुनः ॥ ३ ॥

मनुष्योंकी अर्थ-सिद्धि या जय-पराजय अनित्य हैं । वे सदा स्थिर नहीं रहते । यही सोचकर मैं अपने पतियोंके पुनः अभ्युदयकी प्रतीक्षा करती हूँ ॥ ३ ॥

चक्रवत्परिवर्तन्ते ह्यर्थाश्च व्यसनानि च ।
इति कृत्वा प्रतीक्षामि भर्तॄणामुदयं पुनः ॥ ४ ॥

धन और व्यसन (सम्पत्ति और विपत्ति) सदा गाड़ीके पहियेकी तरह घूमा करते हैं; ऐसा विचारकर मैं पतियोंके पुनः अभ्युदयकालकी प्रतीक्षा करती हूँ ॥ ४ ॥

य एव हेतुर्भवति पुरुषस्य जयावहः ।
पराजये च हेतुश्च स इति प्रतिपालये ।
किं मां न प्रतिजानीषे भीमसेन मृतामिव ॥ ५ ॥

जो काल मनुष्यके लिये विजयदायक होता है, वही उसकी पराजयका भी कारण बन जाता है । ऐसा विचारकर मैं अपने पक्षकी विजयके अवसरकी राह देखती हूँ । भीमसेन ! क्या तुम नहीं जानते कि इन दुःखोंके आघातसे मैं मरी हुई-सी हो गयी हूँ ॥ ५ ॥

दत्त्वा याचन्ति पुरुषा हत्वा वध्यन्ति चापरे ।
पातयित्वा च पात्यन्ते परैरिति च मे श्रुतम् ॥ ६ ॥

मैंने सुना है, जो मनुष्य दान करते हैं, वे ही कभी याचनाके लिये विवश हो जाते हैं । दूसरे बहुत-से मनुष्य ऐसे हैं, जो दूसरोंको मारकर स्वयं भी दूसरोंके द्वारा मारे जाते हैं तथा जो दूसरोंको नीचे गिराते हैं, वे स्वयं भी दूसरे प्रतिपक्षियोंद्वारा नीचे गिराये जाते हैं ॥ ६ ॥

न दैवस्यातिभारोऽस्ति न चैवास्यातिवर्तनम् ।
इति चाप्यागमं भूयो दैवस्य प्रतिपालये ॥ ७ ॥

अतः दैवके लिये कुछ भी दुष्कर नहीं है । दैवके विधानको लाँघ जाना भी असम्भव है । इसलिये मैं दैवकी प्रधानता बतानेवाले शास्त्र-वचनोंका पालन करती—उन्हें आदर देती हूँ ॥ ७ ॥

स्थितं पूर्वं जलं यत्र पुनस्तत्रैव गच्छति ।
इति पर्यायमिच्छन्ती प्रतीक्षे उदयं पुनः ॥ ८ ॥

पानी जहाँ पहले स्थिर होता है, वह फिर भी वहीं ठहरता है । इस क्रमको चाहती हुई मैं पुनः अभ्युदयकालकी प्रतीक्षा करती हूँ ॥ ८ ॥

दैवेन किल यस्यार्थः सुनीतोऽपि विपद्यते ।
दैवस्य चागमे यत्नस्तेन कार्यो विजानता ॥ ९ ॥

उत्तम नीतिद्वारा सुरक्षित पदार्थ भी यदि दैव प्रतिकूल हो, तो उसके द्वारा नष्ट हो जाता है; अतः विज्ञ पुरुषको दैवको अनुकूल बनानेका ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ ९ ॥

यत् तु मे वचनस्यास्य कथितस्य प्रयोजनम्।
पृच्छ मां दुःखितां तत्त्वं पृष्टा चात्र ब्रवीमि ते ॥ १० ॥

मैंने इस समय जो ये बातें कही हैं, इनका क्या प्रयोजन है ? यह मुझ दुखियासे पूछो । तुम्हारे पूछनेपर यहाँ मैं यथार्थ बात बताती हूँ, सुनो ॥ १० ॥

महिषी पाण्डुपुत्राणां दुहिता द्रुपदस्य च ।
इमामवस्थां सम्प्राप्ता मदन्या का जिजीविषेत् ॥ ११ ॥

मैं पाण्डवोंकी पटरानी और द्रुपदकी पुत्री होकर भी ऐसी दुर्दशामें पड़ी हूँ । मेरे सिवा दूसरी कौन स्त्री ऐसी अवस्थामें जीना चाहेगी ? ॥ ११ ॥

कुरून् परिभवेत् सर्वान् पञ्चालानपि भारत ।
पाण्डवेयांश्च सम्प्राप्तो मम क्लेशो ह्यरिंदम ॥ १२ ॥

भारत ! शत्रुदमन ! मुझपर पड़ा हुआ यह क्लेश समस्त कौरवों, पाञ्चालों और पाण्डवोंके लिये अपमानकी बात है ॥ १२ ॥

भ्रातृभिः श्वशुरैः पुत्रैर्बहुभिः परिवारिता ।
एवं समुदिता नारी का त्वन्या दुःखिता भवेत् ॥ १३ ॥

जिसके बहुत-से भाई, श्वशुर और पुत्र हों, जो इन सबसे घिरी हुई हो तथा भलीभाँति अभ्युदयशील हो, ऐसी परिस्थितिमें मेरे सिवा दूसरी कौन स्त्री दुःख भोगनेके लिये विवश हुई होगी ? ॥ १३ ॥

नूनं हि बालया धातुर्मया वै विप्रियं कृतम् ।
यस्य प्रसादाद् दुर्नीतं प्राप्तास्मि भरतर्षभ ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जान पड़ता है, बचपनमें मैंने विधाताका निश्चय ही महान् अपराध किया है, जिसके फलस्वरूप मैं आज इस दुर्दशामें पड़ गयी हूँ ॥ १४ ॥

वर्णावकाशमपि मे पश्य पाण्डव यादृशम् ।
तादृशो मे न तत्रासीद् दुःखे परमके तदा ॥ १५ ॥

पाण्डुनन्दन ! देखो, मेरे शरीरकी कान्ति कैसी फीकी पड़ गयी है ! यहाँ नगरमें मेरी जो अवस्था है, वह उन दिनों अत्यन्त दुःखपूर्ण वनवासके समय भी नहीं थी ॥१५॥

त्वमेव भीम जानीषे यन्मे पार्थ सुखं पुरा ।
साहं दासीत्वमापन्ना न शान्तिमवशा लभे ॥ १६ ॥
नादैविकमहं मन्ये यत्र पार्थो धनंजयः ।
भीमधन्वा महाबाहुरास्ते छन्न इवानलः ॥ १७ ॥

भीमसेन ! तुम्हीं जानते हो, पहले मुझे कितना सुख था । यहाँ आकर जबसे मैं दासीभावको प्राप्त हुई हूँ, तभीसे परतन्त्र होनेके कारण मुझे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती है । इसे मैं दैवकी ही लीला मानती हूँ । जहाँ प्रचण्ड धनुष धारण करनेवाले महाबाहु अर्जुन भी राखसे ढकी हुई अग्निकी भाँति रनिवासमें छिपकर रहते हैं ॥ १६ १७ ॥

अशक्या वेदितुं पार्थ प्राणिनां वै गतिर्नरैः ।
विनिपातमिमं मन्ये युष्माकं ह्यविचिन्तितम् ॥ १८ ॥

कुन्तीनन्दन ! दैवाधीन प्राणियोंकी कब क्या गति होगी, इसे जानना मनुष्योंके लिये सर्वथा असम्भव है । मैं तो समझती हूँ, तुमलोगोंकी जो यह अवनति हुई है, इसकी किसीके मनमें कल्पनातक नहीं थी ॥ १८ ॥

यस्या मम मुखप्रेक्षा यूयमिन्द्रसमाः सदा ।
सा प्रेक्षे मुखमन्यासामवराणां वरा सती ॥ १९ ॥

एक दिन वह था कि इन्द्रके समान पराक्रमी तुम सब भाई सदा मेरा मुँह निहारा करते थे । आज वही मैं श्रेष्ठ होकर भी अपनेसे निकृष्ट दूसरी स्त्रियोंका मुँह जोहती रहती हूँ ॥ १९ ॥

पश्य पाण्डव मेऽवस्थां यथा नार्हामि वै तथा ।
युष्मासु ध्रियमाणेषु पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ २० ॥
यस्याः सागरपर्यन्ता पृथिवी वशवर्तिनी ।
आसीत् साद्य सुदेष्णाया भीताहं वशवर्तिनी ॥ २१ ॥

पाण्डुनन्दन ! देखो, तुम सबके जीते-जी मैं ऐसी बुरी हालतमें पड़ी हूँ, जो मेरे लिये कदापि उचित नहीं है । समयके इस उलट-फेरको तो देखो; एक दिन समुद्रके पास-तककी सारी पृथ्वी जिसके अधीन थी, वही मैं आज सुदेष्णाके वशमें होकर उससे डरती रहती हूँ ॥ २०-२१ ॥

यस्याः पुरःसरा आसन् पृष्ठतश्चानुगामिनः ।
साहमद्य सुदेष्णायाः पुरः पश्चाच्च गामिनी ॥ २२ ॥

जिसके आगे और पीछे बहुत-से सेवक रहा करते थे, वही मैं अब रानी सुदेष्णाके आगे और पीछे चलती हूँ ॥

इदं तु दुःखं कौन्तेय ममासह्यं निबोध तत् ।
या न जातु स्वयं पिंषे गात्रोद्वर्तनमात्मनः ।
अन्यत्र कुन्त्या भद्रं ते सा पिनष्म्यद्य चन्दनम्॥ २३ ॥
पश्य कौन्तेय पाणी मे नैवाभूतां हि यौ पुरा ।

कुन्तीकुमार ! इसके सिवा मेरे एक और असह्य दुःखको तो देखो । पहले मैं माता कुन्तीको छोड़कर (और किसीके लिये तो क्या) स्वयं अपने लिये भी कभी उबटन नहीं पीसती थी; किंतु वही मैं आज दूसरोंके लिये चन्दन घिसती हूँ । पार्थ ! देखो, ये मेरे दोनों हाथ, जिनमें घट्ठे पड़ गये हैं, पहले ये ऐसे नहीं थे ॥ २३½ ॥

इत्यस्य दर्शयामास किणवन्तौ करावुभौ ॥ २४ ॥

ऐसा कहकर द्रौपदीने भीमसेनको अपने दोनों हाथ दिखाये, जिनमें चन्दन रगड़नेसे काले दाग पड़ गये थे ॥

बिभेमि कुन्त्या या नाहं युष्माकं वा कदाचन।
साद्याग्रतो विराटस्य भीता तिष्ठामि किङ्करी ॥ २५ ॥

(फिर वह सिसकती हुई बोली–) 'नाथ ! जो पहले कभी आर्या कुन्तीसे अथवा तुमलोगोंसे भी नहीं डरती थी, वही द्रौपदी आज दासी होकर राजा विराटके आगे भयभीत-सी खड़ी रहती है' ॥ २५ ॥

किं नु वक्ष्यति सम्राण्मां वर्णकः सुकृतो न वा।
नान्यपिष्टं हि मत्स्यस्य चन्दनं किल रोचते ॥ २६ ॥

उस समय मैं सोचती हूँ, 'न जाने सम्राट् मुझे क्या कहेंगे ? यह उबटन अच्छा बना है या नहीं !' मेरे सिवा दूसरेका पीसा हुआ चन्दन मत्स्यराजको अच्छा ही नहीं लगता ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा कीर्तयन्ती दुःखानि भीमसेनस्य भामिनी।
रुरोद शनकैः कृष्णा भीमसेनमुदीक्षती ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं–राजन् ! भामिनी द्रौपदी इस प्रकार भीमसेनसे अपने दुःख बताकर उनके मुखकी ओर देखती हुई धीरे-धीरे रोने लगी ॥ २७ ॥

सा बाष्पकलया वाचा निःश्वसन्ती पुनः पुनः।
हृदयं भीमसेनस्य घट्टयन्तीदमब्रवीत् ॥ २८ ॥

वह बार-बार लंबी साँसें लेती हुई आँसुओंसे गद्गद वाणीमें भीमसेनके हृदयको कम्पित करती हुई इस प्रकार बोली––॥ २८ ॥

नाल्पं कृतं मया भीम देवानां किल्बिषं पुरा।
अभाग्या यत्र जीवामि कर्तव्ये सति पाण्डव ॥ २९ ॥

'पाण्डुनन्दन भीमसेन ! मैंने पूर्वकालमें देवताओंका थोड़ा अपराध नहीं किया है, तभी तो मुझ अभागिनीको जहाँ मर जाना चाहिये, उस दशामें भी मैं जी रही हूँ ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तस्याः करौ सूक्ष्मौ किणबद्धौ वृकोदरः।
मुखमानीय वै पत्न्या रुरोद परवीरहा ॥ ३० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं– जनमेजय ! तदनन्तर शत्रुहन्ता भीमसेन अपनी पत्नी द्रौपदीके दुबले-पतले हाथोंको, जिनमें घट्ठे पड़ गये थे, अपने मुखपर लगाकर रो पड़े ॥

तौ गृहीत्वा च कौन्तेयो बाष्पमुत्सृज्य वीर्यवान्।
ततः परमदुःखार्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

फिर पराक्रमी भीमने उन हाथोंको पकड़कर आँसू बहाते हुए अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो इस प्रकार कहा ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदी-भीम-संवादविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

भीमसेन और द्रौपदीका संवाद

भीमसेन उवाच

धिगस्तु मे बाहुबलं गाण्डीवं फाल्गुनस्य च।
यत् ते रक्तौ पुरा भूत्वा पाणी कृतकिणाविमौ ॥ १ ॥

भीमसेन बोले–देवि ! मेरे बाहुबलको तथा अर्जुनके गाण्डीव धनुषको भी धिक्कार है; क्योंकि तुम्हारे ये दोनों कोमल हाथ, जो पहले लाल थे, अब घट्ठे पड़नेसे काले हो गये हैं ॥ १ ॥

सभायां तु विराटस्य करोमि कदनं महत्।
तत्र मे कारणं भाति कौन्तेयो यत् प्रतीक्षते ॥ २ ॥

मैं तो उसी दिन विराटकी सभामें ही भारी संहार मचा देता, किंतु ऐसा न करनेमें कारण बन गये कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर। वे प्रकट हो जानेका भय सूचित करते हुए मेरी ओर देखने लगे ॥ २ ॥

अथवा कीचकस्याहं पोथयामि पदा शिरः।
ऐश्वर्यमदमत्तस्य क्रीडन्निव महाद्विपः ॥ ३ ॥

अथवा ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हुए उस कीचकका मस्तक मैं उसी प्रकार पैरोंसे रौंद डालता जैसे क्रीडा करता हुआ महान् गजराज कीचक (बाँस) के वृक्षको मसल डालता है ॥

अपश्यं त्वां यदा कृष्णे कीचकेन पदा हताम्।
तदैवाहं चिकीर्षामि मत्स्यानां कदनं महत् ॥ ४ ॥

कृष्णे ! जब कीचकने तुम्हें लातसे मारा था, उस समय मैं वहीं था और अपनी आँखों यह घटना मैंने देखी थी। उसी क्षण मेरी इच्छा हुई कि आज इन मत्स्यदेशवासियोंका महासंहार कर डालूँ ॥ ४ ॥

तत्र मां धर्मराजस्तु कटाक्षेण न्यवारयत्।
तदहं तस्य विज्ञाय स्थित एवास्मि भामिनि ॥ ५ ॥

किंतु धर्मराजने वहाँ नेत्रोंसे संकेत करके मुझे ऐसा करनेसे रोक दिया। भामिनि ! उनके उस इशारेको समझकर ही मैं चुप रह गया ॥ ५ ॥

यच्च राष्ट्रात् प्रच्यवनं कुरूणामवधश्च यः।
सुयोधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौबलस्य च ॥ ६ ॥
दुःशासनस्य पापस्य यन्मया नाहृतं शिरः।

तन्मे दहति गात्राणि हृदि शल्यमिवार्पितम्।
मा धर्मं जहि सुश्रोणि क्रोधं जहि महामते ॥ ७ ॥

जिस दिन हमें राज्यसे वञ्चित किया गया, उसी दिन जो कौरवोंका वध नहीं हुआ, दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा पापी दुःशासनके मस्तक मैंने नहीं काट डाले, यह सब सोचकर मेरे हृदयमें काँटा-सा चुभ जाता है और शरीरमें आग लग जाती है। सुश्रोणि! तुम बड़ी बुद्धिमती हो, धर्मको न छोड़ो; क्रोधका त्याग करो ॥ ६-७ ॥

इमं तु समुपालम्भं त्वत्तो राजा युधिष्ठिरः।
शृणुयाद् वापि कल्याणि कृत्स्नं जह्यात् स जीवितम्।८।

कल्याणी! यदि राजा युधिष्ठिर तुम्हारे मुखसे यह सारा उपालम्भ सुन लेंगे, तो वे प्राण त्याग देंगे ॥ ८ ॥

धनंजयो वा सुश्रोणि यमौ वा तनुमध्यमे।
लोकान्तरगतेष्वेषु नाहं शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ ९ ॥

सुश्रोणि! तनुमध्यमे! धनंजय अथवा नकुल-सहदेव भी इसे सुनकर जीवित नहीं रह सकते। इन सबके परलोकवासी हो जानेपर मैं भी नहीं जी सकूँगा ॥ ९ ॥

पुरा सुकन्या भार्या च भार्गवं च्यवनं वने।
वल्मीकभूतं शाम्यन्तमन्वपद्यत भामिनी ॥ १० ॥
नारायणी चेन्द्रसेना रूपेण यदि ते श्रुता।
पतिमन्वचरद् वृद्धं पुरा वर्षसहस्रिणम् ॥ ११ ॥

प्राचीन कालकी बात है; भृगुनन्दन महर्षि च्यवन तपस्या करते-करते बाँबीके समान हो गये थे; मानो अब उनका जीवन-दीप बुझ जायगा; ऐसी दशा हो गयी थी, तो भी उनकी कल्याणमयी पत्नी सुकन्याने उन्हींका अनुसरण किया—वह उन्हींकी सेवा-शुश्रूषामें लगी रही। नारायणी इन्द्रसेना भी अपने रूप-सौन्दर्यके कारण विख्यात थी। तुमने भी उसका नाम सुना होगा। पूर्वकालमें उसने अपने हजार वर्षके बूढ़े पति मुद्गल ऋषिकी निरन्तर सेवा की थी ॥ १०-११ ॥

दुहिता जनकस्यापि वैदेही यदि ते श्रुता।
पतिमन्वचरत् सीता महारण्यनिवासिनम् ॥ १२ ॥

जनकनन्दिनी वैदेही सीताका नाम तो तुम्हारे कानोंमें पड़ा ही होगा। उन्होंने अत्यन्त घोर वनमें निवास करनेवाले अपने पति श्रीरामचन्द्रजीका अनुगमन किया था ॥ १२ ॥

रक्षसा निग्रहं प्राप्य रामस्य महिषी प्रिया।
क्लिश्यमानापि सुश्रोणि राममेवान्वपद्यत ॥ १३ ॥

सुश्रोणि! जानकी श्रीरामकी प्यारी रानी थीं। वे राक्षसकी कैदमें पड़कर दीर्घकालतक क्लेश उठाती रहीं, तो भी उन्होंने श्रीरामको ही अपनाये रक्खा; अपना धर्म नहीं छोड़ा ॥ १३ ॥

लोपामुद्रा तथा भीरु वयोरूपसमन्विता।
अगस्तिमन्वयाद्धित्वा कामान् सर्वानमानुषान्॥ १४ ॥

भीरु! नयी अवस्था और अनुपम रूप-सौन्दर्यसे सम्पन्न राजकुमारी लोपामुद्राने सम्पूर्ण अलौकिक सुख-भोगोंपर लात मारकर अपने पति महर्षि अगस्त्यका ही अनुसरण किया था ॥ १४ ॥

द्युमत्सेनसुतं वीरं सत्यवन्तमनिन्दिता।
सावित्र्यनुचचारैका यमलोकं मनस्विनी ॥ १५ ॥

सती-साध्वी मनस्विनी सावित्री द्युमत्सेनके पुत्र वीरवर सत्यवान्के मर जानेपर उनके पीछे-पीछे अकेली ही यमलोककी ओर गयी थी ॥ १५ ॥

यथैताः कीर्तिता नार्यो रूपवत्यः पतिव्रताः।
तथा त्वमपि कल्याणि सर्वैः समुदिता गुणैः ॥ १६ ॥

कल्याणि! इन रूपवती पतिव्रता नारियोंका जैसा आदर्श बताया गया है, उसी प्रकार तुम भी समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हो ॥ १६ ॥

मादीर्घं क्षम कालं त्वं मासमर्धं च सम्मितम्।
पूर्णे त्रयोदशे वर्षे राज्ञां राज्ञी भविष्यसि ॥ १७ ॥

अब तुम थोड़े दिनोंतक और ठहर जाओ। वर्ष पूरा होनेमें महीना—आध-महीना और रह गया है। तेरहवें वर्ष पूर्ण होते ही तुम राजरानी बनोगी ॥ १७ ॥

(सत्येन ते शपे चाहं भविता नान्यथेति ह।
सर्वासां परमस्त्रीणां प्रामाण्यं कर्तुमर्हसि।

देवि! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, ऐसा ही होगा यह टल नहीं सकता। तुम्हें सभी श्रेष्ठ स्त्रियोंके समक्ष अपना आदर्श उपस्थित करना चाहिये ॥

सर्वेषां च नरेन्द्राणां मूर्ध्नि स्थास्यसि भामिनि ॥
भर्तृभक्त्या च वृत्तेन भोगान् प्राप्स्यसि दुर्लभान्)॥

भामिनि! तुम अपनी पतिभक्ति तथा सदाचारसे सम्पूर्ण नरेशोंके मस्तकपर स्थान प्राप्त करोगी और तुम्हें दुर्लभ भोग सुलभ होंगे ॥

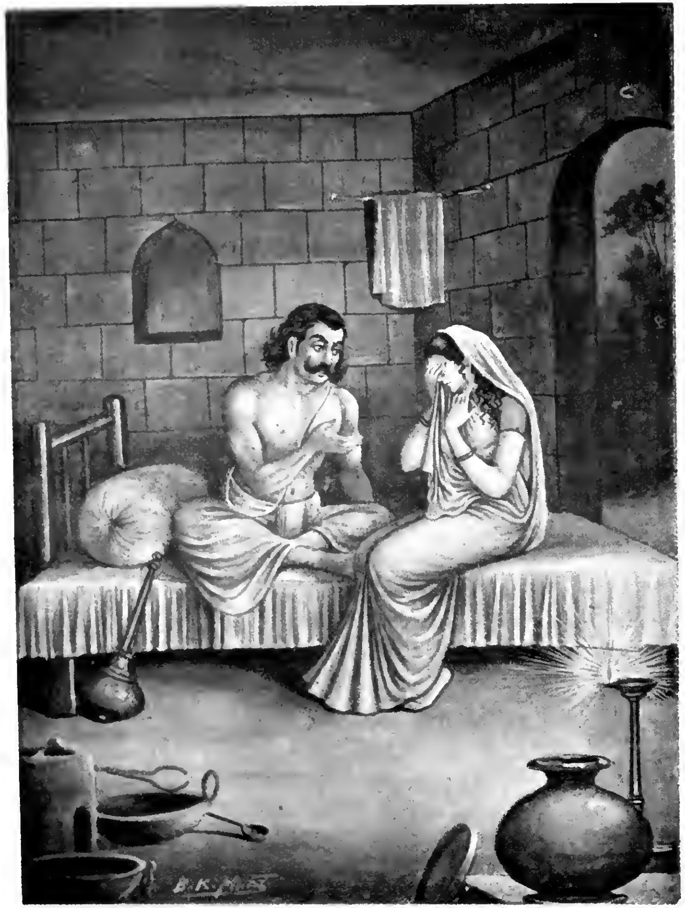
द्रौपद्युवाच

आर्तयैतन्मया भीम कृतं बाष्पप्रमोचनम्।
अपारयन्त्या दुःखानि न राजानमुपालभे ॥ १८ ॥

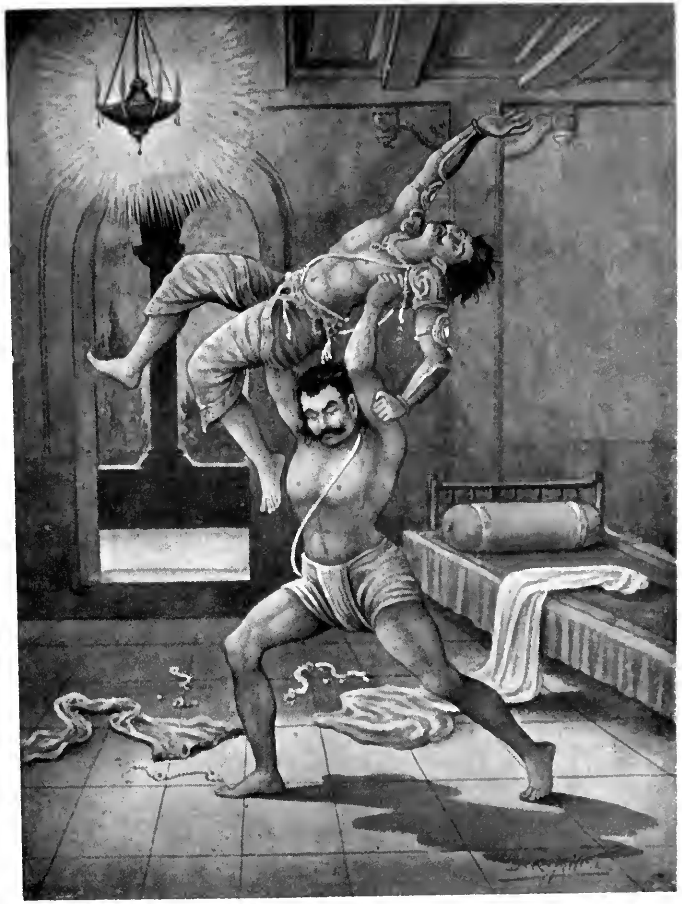
द्रौपदीने कहा—प्राणनाथ भीम! इधर अनेक प्रकारके दुःखोंको सहन करनेमें असमर्थ एवं आर्त होकर ही मैंने ये आँसू बहाये हैं। मैं राजा युधिष्ठिरको उलाहना नहीं दूँगी॥ १८ ॥

किमुक्तेन व्यतीतेन भीमसेन महाबल।
प्रत्युपस्थितकालस्य कार्यस्यानन्तरो भव ॥ १९ ॥

महाबली भीमसेन! अब बीती बातोंको दुहरानेसे क्या



भीमसेन और द्रौपदी



कीचक-वध

लाभ ! इस समय जिसका अवसर उपस्थित है, उस कार्यके लिये तैयार हो जाओ ॥ १९ ॥

ममेह भीम कैकेयी रूपाभिभवशङ्कया ।
नित्यमुद्विजते राजा कथं नेयादिमामिति ॥ २० ॥

भीम ! केकयकुमारी सुदेष्णा यहाँ मेरे रूपसे पराजित होनेके कारण सदा इस शङ्कासे उद्विग्न रहती है कि राजा विराट किसी प्रकार इसपर आसक्त न हो जायँ ॥ २० ॥

तस्या विदित्वा तं भावं स्वयं चानृतदर्शनः ।
कीचकोऽयं सुदुष्टात्मा सदा प्रार्थयते हि माम् ॥ २१ ॥

जिसका देखना भी अनृत (पापमय) है, वही यह परम दुष्टात्मा कीचक रानी सुदेष्णाके उक्त मनोभावको जानकर सदा स्वयं आकर मेरे आगे प्रार्थना किया करता है ॥ २१ ॥

तमहं कुपिता भीम पुनः कोपं नियम्य च ।
अब्रुवं कामसम्मूढमात्मानं रक्ष कीचक ॥ २२ ॥

भीम ! पहले-पहल उसके ऐसा कहनेपर मैं कुपित हो उठी; किंतु पुनः क्रोधके वेगको रोककर बोली—'कीचक ! तू कामसे मोहित हो रहा है । अरे ! तू अपने आपकी रक्षा कर ॥ २२ ॥

गन्धर्वाणामहं भार्या पञ्चानां महिषी प्रिया ।
ते त्वां निहन्युः कुपिताः शूराः साहसकारिणः ॥ २३ ॥

'मैं पाँच गन्धर्वोंकी पत्नी तथा प्यारी रानी हूँ । वे साहसी तथा शूरवीर गन्धर्व तुम्हें कुपित होकर मार डालेंगे' ॥

एवमुक्तः सुदुष्टात्मा कीचकः प्रत्युवाच ह ।
नाहं बिभेमि सैरन्ध्रि गन्धर्वाणां शुचिस्मिते ॥ २४ ॥

मेरे ऐसा कहनेपर महा दुष्टात्मा कीचकने उत्तर दिया—'पवित्र मुसकानवाली सैरन्ध्री ! मैं गन्धर्वोंसे नहीं डरता ॥ २४ ॥

शतं शतसहस्राणि गन्धर्वाणामहं रणे ।
समागतं हनिष्यामि त्वं भीरु कुरु मे क्षणम् ॥ २५ ॥

'भीरु ! यदि युद्धमें मेरे सामने एक करोड़ गन्धर्व भी आ जायँ, तो मैं उन्हें मार डालूँगा; परंतु तुम मुझे स्वीकार कर लो' ॥ २५ ॥

इत्युक्ते चाब्रुवं मत्तं कामातुरमहं पुनः ।
न त्वं प्रतिबलश्चैषां गन्धर्वाणां यशस्विनाम् ॥ २६ ॥

उसके इस प्रकार उत्तर देनेपर मैंने पुनः उस कामातुर और मतवाले कीचकसे कहा—'कीचक ! तू मेरे यशस्वी पति गन्धर्वोंके समान बलवान् नहीं है ॥ २६ ॥

धर्मे स्थितास्मि सततं कुलशीलसमन्विता ।
नेच्छामि कंचिद् वध्यन्तं तेन जीवसि कीचक ॥ २७ ॥

'मैं सदा पातिव्रत्य-धर्ममें स्थित रहती हूँ एवं अपने उत्तम कुलकी मर्यादा और सदाचारसे सम्पन्न हूँ । मैं नहीं चाहती कि मेरे कारण किसीका वध हो, इसीलिये तू अबतक जीवित है' ॥ २७ ॥

एवमुक्तः स दुष्टात्मा प्राहसत् स्वनवत् तदा ।
अथ मां तत्र कैकेयी प्रैषयत् प्रणयेन तु ॥ २८ ॥
तेनैव देशिता पूर्वं भ्रातृप्रियचिकीर्षया ।
सुरामानय कल्याणि कीचकस्य निवेशनात् ॥ २९ ॥

मेरी यह बात सुनकर वह दुष्टात्मा ठहाका मारकर हँसने लगा । तदनन्तर केकयराजकुमारी सुदेष्णा, जैसा कीचकने पहले उसे सिखा रक्खा था, उसी योजनाके अनुसार अपने भाईका प्रिय करनेकी इच्छासे मुझे प्रेमपूर्वक कीचकके यहाँ भेजने लगी और बोली—'कल्याणि ! तुम कीचकके महलसे मेरे लिये मदिरा ले आओ' ॥ २८-२९ ॥

सूतपुत्रस्तु मां दृष्ट्वा महत् सान्त्वमवर्तयत् ।
सान्त्वे प्रतिहते क्रुद्धः परामर्शमनाभवत् ॥ ३० ॥

मैं वहाँ गयी । सूतपुत्रने मुझे देखकर पहले तो अपनी बात मान लेनेके लिये बड़े-बड़े आश्वासनोंके साथ समझाना आरम्भ किया; किंतु जब मैंने उसकी प्रार्थना ठुकरा दी, तब उसने क्रोधपूर्वक मेरे साथ बलात्कार करनेका विचार किया ॥

विदित्वा तस्य संकल्पं कीचकस्य दुरात्मनः ।
तथाहं राजशरणं जवेनैव प्रधाविता ॥ ३१ ॥

दुरात्मा कीचकके उस संकल्पको मैं जान गयी और राजाकी शरणमें पहुँचनेके लिये बड़े वेगसे भागी ॥ ३१ ॥

संदर्शने तु मां राज्ञः सूतपुत्रः परामृशत् ।
पातयित्वा तु दुष्टात्मा पदाहं तेन ताडिता ॥ ३२ ॥

किंतु वहाँ भी दुष्टात्मा सूतपुत्रने राजाके सामने मुझे पकड़ लिया और पृथ्वीपर गिराकर लातसे मारा ॥ ३२ ॥

प्रेक्षते स विराटस्तु कङ्कस्तु बहवो जनाः ।
रथिनः पीठमर्दाश्च हस्त्यारोहाश्च नैगमाः ॥ ३३ ॥

राजा विराट देखते रह गये । कङ्क तथा अन्य लोगोंने भी यह सब देखा । रथी, पीठमर्द (राजाके प्रिय व्यक्ति), महावत, वैदिक विद्वान् तथा नागरिक—सबकी दृष्टिमें यह बात आयी थी ॥ ३३ ॥

उपालब्धो मया राजा कङ्कश्चापि पुनः पुनः ।
ततो न वारितो राज्ञा न तस्याविनयः कृतः ॥ ३४ ॥

मैंने राजा विराट और कङ्कको बार-बार फटकारा, तो भी राजाने न तो उसे मना किया और न उसकी उद्दण्डताका दमन ही किया ॥ ३४ ॥

योऽयं राज्ञो विराटस्य कीचको नाम सारथिः ।
त्यक्तधर्मा नृशंसश्च नरस्त्रीसम्मतः प्रियः ॥ ३५ ॥

राजा विराटका यह जो कीचक नामवाला सारथि है,

इसने धर्मको त्याग दिया है । यह अत्यन्त क्रूर है, तो भी विराट और सुदेष्णा दोनों पति-पत्नी उसे बहुत मानते हैं । यह उनका प्रिय सेनापति है ॥ ३५ ॥

शूरोऽभिमानी पापात्मा सर्वार्थेषु च मुग्धवान्।
दारामर्शी महाभाग लभतेऽर्थान् बहूनपि ॥ ३६॥

इसे अपनी शूरवीरताका बड़ा अभिमान है ! यह पापात्मा सब बातोंमें मूर्ख है । महाभाग ! यह परायी स्त्रियोंपर बलात्कार करता और लोगोंसे बहुत धन हड़पता रहता है ॥ ३६ ॥

आहरेदपि वित्तानि परेषां क्रोशतामपि ।
न तिष्ठति स्म सन्मार्गे न च धर्मं बुभूषति॥ ३७॥

लोग रोते-चिल्लाते रह जाते हैं; किंतु यह उनका सारा धन हड़प लेता है । यह सन्मार्गमें स्थिर नहीं रहता तथा धर्मोपार्जन भी नहीं करना चाहता है ॥ ३७ ॥

पापात्मा पापभावश्च कामबाणवशानुगः ।
अविनीतश्च दुष्टात्मा प्रत्याख्यातः पुनः पुनः ॥ ३८॥

यह पापात्मा है; इसके मनमें पापकी ही वासना है । यह कामदेवके बाणोंसे विवश हो रहा है । उद्दण्ड और दुष्टात्मा तो है ही । मैंने बार-बार इसकी प्रार्थना ठुकरायी है ॥

दर्शने दर्शने हन्याद् यदि जह्यां च जीवितम्।
तद् धर्मे यतमानानां महान् धर्मो नशिष्यति ॥ ३९॥

अतः यह जब-जब सामने आयेगा, मुझे मारेगा । सम्भव है, किसी दिन मुझे जीवनसे भी हाथ धोना पड़े । उस दशामें धर्मके लिये प्रयत्न करनेवाले तुम सब लोगोंका सबसे महान् धर्म नष्ट हो जायगा ॥ ३९ ॥

समयं रक्षमाणानां भार्या वो न भविष्यति।
भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ॥ ४०॥

यदि तुम लोग प्रतिज्ञाके अनुसार तेरह वर्षकी अवधिकापालन करते रहोगे, तो तुम्हारी यह भार्या जीवित न रहेगी । भार्याकी रक्षा करनेपर संतानकी रक्षा होती है ॥ ४० ॥

प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ।
आत्मा हि जायते तस्यां तेन जायां विदुर्बुधाः॥ ४१ ॥

संतानकी रक्षा होनेपर अपना आत्मा सुरक्षित होता है । आत्मा ही पत्नीके गर्भसे पुत्ररूपमें जन्म लेता है । इसीलिये विद्वान् पुरुष पत्नीको 'जाया' कहते हैं ॥ ४१ ॥

भर्ता तु भार्यया रक्ष्यः कथं जायान्ममोदरे ।
वदतां वर्णधर्मांश्च ब्राह्मणानामिति श्रुतः ॥ ४२॥

मैंने वर्णधर्मका उपदेश देनेवाले ब्राह्मणोंके मुँहसे सुना है, पत्नीको पतिकी रक्षा इसलिये करनी चाहिये कि यह किसी दिन मेरे पेटसे पुत्ररूपमें जन्म लेगा ॥ ४२ ॥

क्षत्रियस्य सदा धर्मो नान्यः शत्रुनिबर्हणात्।
पश्यतो धर्मराजस्य कीचको मां पदावधीत् ॥ ४३॥
तव चैव समक्षं वै भीमसेन महाबल ।
त्वया ह्यहं परित्राता तस्माद् घोराज्जटासुरात्॥ ४४॥

महाबली भीमसेन ! क्षत्रियके लिये सदा शत्रुओंका संहार करनेके सिवा और कोई धर्म नहीं है । कीचकने धर्मराज युधिष्ठिरके देखते-देखते और तुम्हारी आँखोंके सामने मुझे लात मारी है । तुमने उस भयंकर राक्षस जटासुरसे मेरी रक्षा की है ॥ ४३-४४ ॥

जयद्रथं तथैव त्वमजैषीर्भ्रातृभिः सह ।
जहीममपि पापिष्ठं योऽयं मामवमन्यते ॥ ४५॥

भाइयोंसहित तुमने जयद्रथको भी परास्त किया है । अतः अब इस महापापी कीचकको भी मार डालो, जो मेरा अपमान कर रहा है ॥ ४५ ॥

कीचको राजवाल्लभ्याच्छोककृन्मम भारत ।
तमेवं कामसम्मत्तं भिन्धि कुम्भमिवाश्मनि ॥ ४६॥

भारत ! राजाका प्रिय होनेके कारण ही कीचक मेरे लिये शोककारक हो रहा है । अतः ऐसे कामोन्मत्त पापीको तुम उसी तरह विदीर्ण कर डालो, जैसे पत्थरपर पटककर घड़ेको फोड़ दिया जाता है ॥ ४६ ॥

यो निमित्तमनर्थानां बहूनां मम भारत ।
तं चेज्जीवन्तमादित्यः प्रातरभ्युदयिष्यति ॥ ४७॥
विषमालोड्य पास्यामि मा कीचकवशं गमम्।
श्रेयो हि मरणं मह्यं भीमसेन तवाग्रतः ॥ ४८॥

भारत ! जो मेरे लिये बहुत-से अनर्थोंका कारण बना हुआ है, उसके जीते-जी यदि कल सूर्योदय हो जायगा, तो मैं विष घोलकर पी लूँगी; किंतु कीचकके अधीन नहीं होऊँगी । भीमसेन ! कीचकके वशमें पड़नेकी अपेक्षा तुम्हारे सामने प्राण त्याग देना मेरेलिये कल्याणकारी होगा । ४७-४८॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्रारुदत् कृष्णा भीमस्योरःसमाश्रिता।
भीमश्च तां परिष्वज्य महत् सान्त्वं प्रयुज्य च ॥४९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--राजन् ! ऐसा कहकर द्रौपदी भीमके वक्षःस्थलपर माथा टेककर फूट-फूटकर रोने लगी । भीमसेनने उसको हृदयसे लगाकर बहुत सान्त्वना दी ॥ ४९ ॥

आश्वासयित्वा बहुशो भृशमार्तां सुमध्यमाम्।
हेतुतत्त्वार्थसंयुक्तैर्वचोभिर्द्रुपदात्मजाम् ॥ ५०॥
प्रमृज्य वदनं तस्याः पाणिनाश्रुसमाकुलम् ।
कीचकं मनसागच्छत् सृक्किणी परिसंलिहन् ।
उवाच चैनां दुःखार्तां भीमः क्रोधसमन्वितः ॥ ५१ ॥

वह बहुत आर्त हो रही थी, अतः उन्होंने सुन्दर कटिभागवाली द्रुपदकुमारीको युक्तियुक्त तात्त्विक वचनोंसे अनेक बार आश्वासन देकर अपने हाथसे उसके आँसूभरे मुँहको पोंछा और क्रोधसे जबड़े चाटते हुए मन-ही-मन कीचकका स्मरण किया। तदनन्तर भीमने दुःखपीड़ित द्रौपदीसे इस प्रकार कहा ॥ ५०-५१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीसान्त्वने एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीको आश्वासनविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५३ श्लोक हैं)

द्वाविंशोऽध्यायः

कीचक और भीमसेनका युद्ध तथा कीचकवध

भीमसेन उवाच

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे।
अद्य तं सूदयिष्यामि कीचकं सहबान्धवम् ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—भद्रे! तू जैसा कह रही है, वैसा ही करूँगा। भीरु! मैं आज कीचकको उसके भाई-बन्धुओंसहित मार डालूँगा ॥ १ ॥

अस्याः प्रदोषे शर्वर्याः कुरुष्वानेन संगतम्।
दुःखं शोकं च निर्धूय याज्ञसेनि शुचिस्मिते ॥ २ ॥

पवित्र मुसकानवाली द्रौपदी! तुम दुःख-शोक भुलाकर आगामी रात्रिके प्रदोषकालमें कीचकसे मिलो और उसे नृत्यशालामें आनेके लिये कह दो ॥ २ ॥

यैषा नर्तनशालेह मत्स्यराजेन कारिता।
दिवात्र कन्या नृत्यन्ति रात्रौ यान्ति यथागृहम् ॥ ३ ॥

मत्स्यराज विराटने जो यहाँ नृत्यशाला बनवायी है, उसमें दिनके समय तो कन्याएँ नाचती हैं तथा रातको अपने-अपने घर चली जाती हैं ॥ ३ ॥

तत्रास्ति शयनं दिव्यं दृढाङ्गं सुप्रतिष्ठितम्।
तत्रास्य दर्शयिष्यामि पूर्वप्रेतान् पितामहान् ॥ ४ ॥

उस नृत्यशालामें एक बहुत सुन्दर मजबूत पलंग बिछा हुआ है। वहीं आनेपर उस कीचकको मैं उसके मरे हुए बाप-दादोंका दर्शन कराऊँगा ॥ ४ ॥

यथा च त्वां न पश्येयुः कुर्वाणां तेन संविदम्।
कुर्यास्तथा त्वं कल्याणि यथा संनिहितो भवेत् ॥ ५ ॥

तुम ऐसी चेष्टा करना, जिससे उसके साथ गुप्त वार्तालाप करते समय कोई तुम्हें देख न ले। कल्याणि! तुम ऐसी बात करना, जिससे वहाँ दिये हुए संकेतके अनुसार वह अवश्य मेरे पास आ जाय ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा तौ कथयित्वा तु बाष्पमुत्सृज्य दुःखितौ।
रात्रिशेषं तमत्युग्रं धारयामासतुर्हृदि ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार बातचीत करके वे दोनों दुखी दम्पति आँसू बहाकर अलग हुए तथा रात्रिके शेषभागको उन्होंने बड़ी व्याकुलतासे बिताया और आपसकी बातचीतको मनमें ही गुप्त रखा ॥ ६ ॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरुत्थाय कीचकः।
गत्वा राजकुलायैव द्रौपदीमिदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

वह रात बीत जानेपर कीचक सबेरे उठा और राजमहलमें जाकर द्रौपदीसे इस प्रकार बोला—॥ ७ ॥

सभायां पश्यतो राज्ञः पातयित्वा पदाहनम्।
न चैव लभसे त्राणमभिपन्ना बलीयसा ॥ ८ ॥

'सैरन्ध्री! मैंने राजसभामें तुम्हारे महाराजके देखते-देखते तुम्हें पृथ्वीपर गिराकर लातोंसे मारा था। तुम मुझ-जैसे महाबलवान् पुरुषके पाले पड़ी हो; तुम्हें कोई बचा नहीं सकता ॥ ८ ॥

प्रवादेनेह मत्स्यानां राजा नाम्नायमुच्यते।
अहमेव हि मत्स्यानां राजा वै वाहिनीपतिः ॥ ९ ॥

'राजा विराट तो कहनेके लिये ही मत्स्यदेशका नाममात्रका राजा है। वास्तवमें मैं ही यहाँका राजा हूँ क्योंकि सेनाका मालिक मैं हूँ ॥ ९ ॥

मां सुखं प्रतिपद्यस्व दासो भीरु भवामि ते।
अह्नाय तव सुश्रोणि शतं निष्कान् ददाम्यहम् ॥ १० ॥

'भीरु! सुखपूर्वक मुझे स्वीकार कर लो, फिर तो मैं तुम्हारा दास बन जाऊँगा। सुश्रोणि! मैं तुम्हारे दैनिक खर्चके लिये प्रतिदिन सौ मोहरें देता रहूँगा ॥ १० ॥

दासीशतं च ते दद्यां दासानामपि चापरम्।
रथं चाश्वतरीयुक्तमस्तु नौ भीरु संगमः ॥ ११ ॥

'तुम्हारी सेवाके लिये सौ दासियाँ और उतने ही दास दूँगा। तुम्हारी सवारीके लिये खचरियोंसे जुता हुआ रथ प्रस्तुत रहेगा। भीरु! अब हम दोनोंका परस्पर समागम होना चाहिये ॥

द्रौपद्युवाच

एवं मे समयं त्वद्य प्रतिपद्यस्व कीचक।

न त्वां सखा वा भ्राता वा जानीयात् संगतं मया॥ १२ ॥

द्रौपदीने कहा—कीचक ! यदि ऐसी बात है, तो आज मेरी एक शर्त स्वीकार करो । तुम मुझसे मिलने आते हो—यह बात तुम्हारा मित्र अथवा भाई कोई भी न जाने ॥१२॥

अनुप्रवादाद् भीतास्मि गन्धर्वाणां यशस्विनाम्।
एवं मे प्रतिजानीहि ततोऽहं वशगा तव ॥ १३ ॥

क्योंकि मैं यशस्वी गन्धर्वोंके अपवादसे डरती हूँ । यदि इस बातके लिये मुझसे प्रतिज्ञा करो, तो मैं तुम्हारे अधीन हो सकती हूँ ॥ १३ ॥

कीचक उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा सुश्रोणि भाषसे।
एको भद्रे गमिष्यामि शून्यमावसथं तव ॥ १४ ॥

कीचक बोला—ठीक है । सुश्रोणि ! तुम जैसा कहती हो, वैसा ही करूँगा । भद्रे ! तुम्हारे सूने घरमें मैं अकेला ही जाऊँगा ॥ १४ ॥

समागमार्थं रम्भोरु त्वया मदनमोहितः।
यथा त्वां नैव पश्येयुर्गन्धर्वाः सूर्यवर्चसः ॥ १५ ॥

रम्भोरु ! मैं कामसे मोहित होकर तुम्हारे साथ समागमके लिये इस प्रकार आऊँगा, जिससे सूर्यके समान तेजस्वी गन्धर्व तुम्हें उस समय मेरे साथ न देख सकें ॥ १५ ॥

द्रौपद्युवाच

यदेतन्नर्तनागारं मत्स्यराजेन कारितम्।
दिवात्र कन्या नृत्यन्ति रात्रौ यान्ति यथागृहम्॥ १६ ॥

द्रौपदीने कहा—कीचक ! मत्स्यराजने यह जो नृत्यशाला बनवायी है, उसमें दिनके समय कन्याएँ नृत्य करती हैं तथा रातमें अपने-अपने घर चली जाती हैं ॥ १६ ॥

तमिस्रे तत्र गच्छेथा गन्धर्वास्तन्न जानते।
तत्र दोषः परिहृतो भविष्यति न संशयः ॥ १७ ॥

वहाँ अँधेरा रहता है, अतः मुझसे मिलनेके लिये वहीं जाना । उस स्थानको गन्धर्व नहीं जानते । वहाँ मिलनेसे सब दोष दूर हो जायगा; इसमें संशय नहीं है ॥ १७ ॥

(कीचक उवाच

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु मन्यसे।
एकः सन् नर्तनागारमागमिष्यामि शोभने ॥
समागमार्थं सुश्रोणि शपे च सुकृतेन मे।

कीचक बोला—भद्रे ! भीरु ! तुम जैसा ठीक समझती हो, वैसा ही करूँगा । शोभने ! मैं तुमसे मिलनेके लिये अकेला ही नृत्यशालामें आऊँगा । सुश्रोणि ! यह बात मै अपने पुण्यकी शपथ खाकर कहता हूँ ॥

यथा त्वां नावबुध्यन्ते गन्धर्वा वरवर्णिनि ॥
सत्यं ते प्रतिजानामि गन्धर्वेभ्यो न ते भयम्।)

वरवर्णिनी ! मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे गन्धर्वोंको तुम्हारे विषयमें कुछ भी पता न लगे । मैं सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तुम्हें गन्धर्वोंसे कोई भय नहीं है ॥

वैशम्पायन उवाच

तमर्थमपि जल्पन्त्याः कृष्णायाः कीचकेन ह।
दिवसार्धं समभवन्मासेनैव समं नृप ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार कीचकके साथ बात करनेके बाद द्रौपदीको अवशिष्ट आधा दिन (भीमसेनसे यह बात निवेदन करनेकी प्रतीक्षामें) एक महीनेके समान भारी मालूम हुआ ॥ १८ ॥

कीचकोऽथ गृहं गत्वा भृशं हर्षपरिप्लुतः।
सैरन्ध्रीरूपिणं मूढो मृत्युं तं नावबुद्धवान् ॥ १९ ॥

इधर कीचक महान् हर्षमें भरा हुआ अपने घरको गया । उस मूर्खको यह पता नहीं था कि सैरन्ध्रीके रूपमें मेरी मृत्यु आ रही है ॥ १९ ॥

गन्धाभरणमाल्येषु व्यासक्तः सविशेषतः।
अलंचक्रे तदाऽऽत्मानं सत्वरः काममोहितः ॥ २० ॥

वह तो कामसे मोहित हो रहा था, अतः घर जाकर शीघ्र ही अपने आपको (गहने-कपड़ोंसे) सजाने लगा । वह विशेषतः सुगन्धित पदार्थों, आभूषणों तथा मालाओंके सेवनमें संलग्न रहा ॥ २० ॥

तस्य तत् कुर्वतः कर्म कालो दीर्घ इवाभवत्।
अनुचिन्तयतश्चापि तामेवायतलोचनाम् ॥ २१ ॥

मन-ही-मन विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदीका बारंबार चिन्तन करते हुए शृङ्गार धारण करते समय कीचकको वह थोड़ा-सा समय भी उत्कण्ठावश बहुत बड़ा-सा प्रतीत हुआ ॥२१॥

आसीदभ्यधिका चापि श्रीः श्रियं प्रमुमुक्षतः।
निर्वाणकाले दीपस्य वर्तीमिव दिधक्षतः ॥ २२ ॥

वास्तवमें जो सदाके लिये राजलक्ष्मीसे वियुक्त होनेवाला है, उस कीचककी भी उस समय शृङ्गार आदि धारण करनेसे श्री (शोभा) बहुत बढ़ गयी थी । ठीक उसी तरह, जैसे बुझनेके समय बत्तीको भी जला देनेकी इच्छावाले दीपककी प्रभा विशेष बढ़ जाती है ॥ २२ ॥

कृतसम्प्रत्ययस्तस्याः कीचकः काममोहितः।
नाजानाद् दिवसं यान्तं चिन्तयानः समागमम् ॥ २३ ॥

काममोहित कीचकने द्रौपदीकी बातपर पूरा विश्वास कर लिया था; अतः उसके समागम-सुखका चिन्तन करते-करते उसे यह भी पता न चला कि दिन कब बीत गया ॥

ततस्तु द्रौपदी गत्वा तदा भीमं महानसे।
उपातिष्ठत कल्याणी कौरव्यं पतिमन्तिकम् ॥ २४ ॥

तदनन्तर कल्याणस्वरूपा द्रौपदी पाकशालामें अपने पति कुरुनन्दन भीमसेनके पास गयी ॥ २४ ॥

तमुवाच सुकेशान्ता कीचकस्य मया कृतः।
संगमो नर्तनागारे यथावोचः परंतप ॥ २५ ॥

वहाँ सुन्दर लटोंवाली कृष्णाने कहा—'शत्रुतापन ! जैसा तुमने कहा था, उसके अनुसार मैंने कीचकको नृत्यशालामें मिलनेका संकेत कर दिया है ॥ २५ ॥

शून्यं स नर्तनागारमागमिष्यति कीचकः।
एको निशि महाबाहो कीचकं तं निषूदय ॥ २६ ॥

'अतः महाबाहो ! कीचक रातके समय उस सूनी नृत्यशालामें अकेला आयेगा। तुम वहीं उसे मार डालना ॥

तं सूतपुत्रं कौन्तेय कीचकं मददर्पितम्।
गत्वा त्वं नर्तनागारं निर्जीवं कुरु पाण्डव ॥ २७ ॥

'कुन्तीकुमार ! पाण्डुनन्दन ! तुम नृत्यगृहमें जाकर उस मदोन्मत्त सूतपुत्र कीचकको प्राणशून्य कर दो ॥ २७ ॥

दर्पाच्च सूतपुत्रोऽसौ गन्धर्वानवमन्यते।
तं त्वं प्रहरतां श्रेष्ठ ह्रदान्नागमिवोद्धर ॥ २८ ॥

'प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ वीर ! वह सूतपुत्र अपनी वीरताके घमंडमें आकर गन्धर्वोंकी अवहेलना करता है; अतः जलाशयसे सर्पकी भाँति उसे तुम इस जगत्से निकाल फेंको ॥

अश्रु दुःखाभिभूताया मम मार्जस्व भारत।
आत्मनश्चैव भद्रं ते कुरु मानं कुलस्य च ॥ २९ ॥

'भारत ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम कीचकको मारकर मुझ दुःखपीड़ित अबलाके आँसू पोंछो तथा अपना और अपने कुलका सम्मान बढ़ाओ' ॥ २९ ॥

भीमसेन उवाच

स्वागतं ते वरारोहे यन्मां वेदयसे प्रियम्।
न ह्यन्यं कंचिदिच्छामि सहायं वरवर्णिनि ॥ ३० ॥

भीमसेन बोले—वरारोहे ! तुम्हारा स्वागत है; क्योंकि तुमने मुझे प्रिय संवाद सुनाया है। सुन्दरी ! मैं इस कार्यमें दूसरे किसीको सहायक बनाना नहीं चाहता ॥ ३० ॥

या मे प्रीतिस्त्वयाऽऽख्याता कीचकस्य समागमे।
हत्वा हिडिम्बं सा प्रीतिर्ममासीद् वरवर्णिनि ॥ ३१ ॥

वरवर्णिनि ! कीचकसे मिलनेके लिये तुमने जो शुभ संवाद दिया है और इसे सुनकर मुझे जितनी प्रसन्नता हुई है, ऐसी प्रसन्नता मुझे हिडिम्बासुरको मारकर प्राप्त हुई थी ॥

सत्यं भ्रातॄंश्च धर्मं च पुरस्कृत्य ब्रवीमि ते।
कीचकं निहनिष्यामि वृत्रं देवपतिर्यथा ॥ ३२ ॥

मैं सत्य, धर्म और भाइयोंको आगे करके—उनकी शपथ खाकर तुमसे कहता हूँ, जैसे देवराज इन्द्रने वृत्रासुरको मारा था, उसी प्रकार मैं भी कीचकका वध कर डालूँगा ॥ ३२ ॥

तं गह्वरे प्रकाशे वा पोथयिष्यामि कीचकम्।
अथ चेदपि योत्स्यन्ति हिंसे मत्स्यानपि ध्रुवम् ॥ ३३ ॥

एकान्तमें या जन-समुदायमें जहाँ भी वह मिलेगा, कीचकको मैं कुचल डालूँगा और यदि मत्स्यदेशके लोग उसकी ओरसे युद्ध करेंगे तो, उन्हें भी निश्चय ही मार डालूगा ॥ ३३ ॥

ततो दुर्योधनं हत्वा प्रतिपत्स्ये वसुन्धराम्।
कामं मत्स्यमुपास्तां हि कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३४ ॥

तदनन्तर दुर्योधनको मारकर समूची पृथ्वीका राज्य ले लूँगा। भले ही कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर यहाँ बैठकर मत्स्यराज विराटकी उपासना करते रहें ॥ ३४ ॥

द्रौपद्युवाच

यथा न संत्यजेथास्त्वं सत्यं वै मत्कृते विभो।
निगूढस्त्वं तथा पार्थ कीचकं तं निषूदय ॥ ३५ ॥

द्रौपदीने कहा—प्रभो ! तुम वही करो, जिससे मेरे लिये तुम्हें सत्यका परित्याग न करना पड़े। कुन्तीनन्दन ! तुम अपनेको गुप्त रखकर ही उस कीचकका संहार करो ॥

भीमसेन उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे।
अद्य तं सूदयिष्यामि कीचकं सह बान्धवैः ॥ ३६ ॥

भीमसेन बोले—ठीक है, भीरु ! तुम जैसा कहती हो, वही करूँगा। आज मैं उस कीचकको उसके भाई-बन्धुओं-सहित मार डालूँगा ॥ ३६ ॥

अदृश्यमानस्तस्याथ तमस्विन्यामनिन्दिते।
नागो बिल्वमिवाक्रम्य पोथयिष्याम्यहं शिरः।
अलभ्यामिच्छतस्तस्य कीचकस्य दुरात्मनः ॥ ३७ ॥

अनिन्दिते ! गजराज जैसे बेलके फलपर पैर रखकर उसे कुचल दे, उसी प्रकार मैं अँधेरी रातमें उससे अदृश्य रहकर तुझ-जैसी अलभ्य नारीको प्राप्त करनेकी इच्छावाले दुरात्मा कीचकके मस्तकको कुचल डालूँगा ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच

भीमोऽथ प्रथमं गत्वा रात्रौ छन्न उपाविशत्।
मृगं हरिरिवादृश्यः प्रत्याकाङ्क्षत कीचकम् ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर भीमसेन रातके समय पहले ही जाकर नृत्यशालामें छिपकर बैठ गये और कीचककी इस प्रकार प्रतीक्षा करने लगे, जैसे सिंह अदृश्य रहकर मृगकी घातमें बैठा रहता है ॥ ३८ ॥

कीचकश्चाप्यलंकृत्य यथाकाममुपागमत्।
तां वेलां नर्तनागारं पाञ्चालीसंगमाशया ॥ ३९ ॥

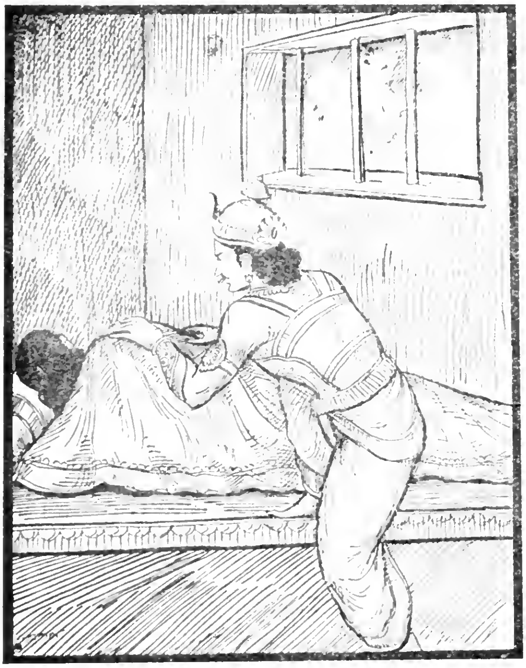
इधर कीचक भी इच्छानुसार वस्त्राभूषणोंसे सज-धजकर द्रौपदीके साथ समागमकी अभिलाषासे उसी समय नृत्यशालाके समीप आया ॥ ३९ ॥

मन्यमानः स संकेतमागारं प्राविशच्च तत् ।
प्रविश्य च स तद् वेश्म तमसा संवृतं महत् ॥ ४० ॥

उस गृहको संकेत-स्थान मानकर उसने भीतर प्रवेश किया। वह विशाल भवन सब ओरसे अन्धकारसे आच्छन्न हो रहा था ॥ ४० ॥

पूर्वागतं ततस्तत्र भीममप्रतिमौजसम् ।
एकान्तावस्थितं चैनमाससाद स दुर्मतिः ॥ ४१ ॥
शयानं शयने तत्र सूतपुत्रः परामृशत् ।
जाज्वल्यमानं कोपेन कृष्णाधर्षणजेन ह ॥ ४२ ॥

अतुलितपराक्रमी भीमसेन तो वहाँ पहलेसे ही आकर एकान्तमें एक शय्यापर लेटे हुए थे । खोटी बुद्धिवाला सूतपुत्र कीचक वहीं पहुँच गया और उन्हें हाथसे टटोलने लगा। उस समय भीमसेन कीचकद्वारा द्रौपदीके अपमानके कारण क्रोधसे जल रहे थे ॥ ४१-४२ ॥



उपसंगम्य चैवैनं कीचकः काममोहितः ।
हर्षोन्मथितचित्तात्मा स्मयमानोऽभ्यभाषत ॥ ४३ ॥

उनके पास पहुँचते ही काममोहित कीचक हर्षसे उन्मत्तचित्त हो मुसकराते हुए बोला—॥ ४३ ॥

प्रापितं ते मया वित्तं बहुरूपमनन्तकम् ।
यत् कृतं धनरत्नाढ्यं दासीशतपरिच्छदम् ॥ ४४ ॥
रूपलावण्ययुक्ताभिर्युवतीभिरलंकृतम् ।
गृहं चान्तःपुरं सुभ्रु क्रीडारतिविराजितम् ।
तत् सर्वं त्वां समुद्दिश्य सहसाहमुपागतः ॥ ४५ ॥

'सुभ्रु ! मैंने अनेक प्रकारका जो अनन्त धन संचित किया है, वह सब तुम्हें भेंट कर दिया तथा मेरा जो धन-रत्नादिसे सम्पन्न, सैकड़ों दासी आदि उपकरणोंसे युक्त, रूप-लावण्यवती युवतियोंसे अलंकृत तथा क्रीडा-विलाससे सुशोभित गृह एवं अन्तःपुर है, वह सब तुम्हारे लिये ही निछावर करके मैं सहसा तुम्हारे पास चला आया हूँ ॥ ४४-४५ ॥

अकस्मान्मां प्रशंसन्ति सदा गृहगताः स्त्रियः ।
सुवासा दर्शनीयश्च नान्योऽस्ति त्वादृशः पुमान् ॥ ४६ ॥

मेरे घरकी स्त्रियाँ अकस्मात् मेरी प्रशंसा करने लगती हैं और कहती हैं—'आपके समान सुन्दर वस्त्रधारी और दर्शनीय दूसरा कोई पुरुष नहीं है' ॥ ४६ ॥

भीमसेन उवाच

दिष्ट्या त्वं दर्शनीयोऽथ दिष्ट्याऽऽत्मानं प्रशंससि ।
ईदृशस्तु त्वया स्पर्शः स्पृष्टपूर्वो न कर्हिचित् ॥ ४७ ॥

भीमसेन बोले—सौभाग्यकी बात है कि तुम ऐसे दर्शनीय हो और यह भी भाग्यकी ही बात है कि तुम स्वयं ही अपनी प्रशंसा कर रहे हो। परंतु ऐसा कोमल स्पर्श भी तुम्हें पहले कभी नहीं प्राप्त हुआ होगा ॥ ४७ ॥

स्पर्शं वेत्सि विदग्धस्त्वं कामधर्मविचक्षणः ।
स्त्रीणां प्रीतिकरो नान्यस्त्वत्समः पुरुषस्त्विह ॥ ४८ ॥

स्पर्शको तुम खूब पहचानते हो । इस कलामें बड़े चतुर हो। कामधर्मके विलक्षण ज्ञाता जान पड़ते हो। इस संसारमें स्त्रियोंको प्रसन्न करनेवाला तुम्हारे सिवा दूसरा कोई पुरुष नहीं है ॥ ४८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।
सहसोत्पत्य कौन्तेयः प्रहस्येदमुवाच ह ॥ ४९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! कीचकसे ऐसा कहकर भयंकरपराक्रमी कुन्तीपुत्र महाबाहु भीमसेन सहसा उछलकर खड़े हो गये और हँसते हुए इस प्रकार बोले—॥

अद्य त्वां भगिनी पापं कृष्यमाणं मया भुवि ।
द्रक्ष्यतेऽद्रिप्रतीकाशं सिंहेनेव महागजम् ॥ ५० ॥

'अरे ! तू पर्वतके समान विशालकाय है, तो भी जैसे सिंह महान् गजराजको घसीटता है, उसी प्रकार आज मैं तुझ पापीको पृथ्वीपर पटककर घसीटूँगा और तेरी बहिन यह सब देखेगी ॥ ५० ॥

निराबाधा त्वयि हते सैरन्ध्री विचरिष्यति ।
सुखमेव चरिष्यन्ति सैरन्ध्र्याः पतयः सदा ॥ ५१ ॥

'इस प्रकार तेरे मारे जानेपर सैरन्ध्री बेखटके विचरेगी और उसके पति भी सदा सुखसे ही रहेंगे' ॥ ५१ ॥

ततो जग्राह केशेषु माल्यवत्सु महाबलः।
स केशेषु परामृष्टो बलेन बलिनां वरः॥ ५२॥
आक्षिप्य केशान् वेगेन बाह्वोर्जग्राह पाण्डवम्।
बाहुयुद्धं तयोरासीत् क्रुद्धयोर्नरसिंहयोः॥ ५३॥
वसन्ते वासिताहेतोर्बलवद्गजयोरिव।

ऐसा कहकर महाबली भीमसेनने उसके पुष्पहारविभूषित केश पकड़ लिये। कीचक भी बलवानोंमें श्रेष्ठ था। सिरके बाल पकड़ लिये जानेपर उसने बलपूर्वक झटका देकर उन्हें छुड़ा लिया और बड़ी फुर्तीसे पाण्डुनन्दन भीमको दोनों भुजाओंमें भर लिया। तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए उन दोनों पुरुषसिंहोंमें बाहुयुद्ध होने लगा, मानो वसन्तऋतुमें हथिनीके लिये दो बलवान् गजराज एक-दूसरेसे जूझ रहे हों। ५२-५३½॥

कीचकानां तु मुख्यस्य नराणामुत्तमस्य च॥ ५४॥
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोः पुरेव कपिसिंहयोः।
अन्योन्यमपि संरब्धौ परस्परजयैषिणौ॥ ५५॥

एक ओर कीचकोंका प्रधान कीचक था, तो दूसरी ओर मनुष्योंमें श्रेष्ठ भीमसेन। जैसे पूर्वकालमें कपिश्रेष्ठ वाली और सुग्रीव दोनों भाइयोंमें घोर युद्ध हुआ था, वैसा ही इन दोनोंमें भी होने लगा। दोनों एक दूसरेपर कुपित थे और परस्पर विजय पानेकी इच्छासे लड़ रहे थे॥ ५४-५५॥

ततः समुद्यम्य भुजौ पञ्चशीर्षाविवोरगौ।
नखदंष्ट्राभिरन्योन्यं घ्नतः क्रोधविषोद्धतौ॥ ५६॥

फिर दोनों क्रोधरूपी विषसे उद्धत हुए पाँच मस्तकोंवाले सर्पोंकी भाँति अपनी-अपनी (पाँच अंगुलियोंसे युक्त) भुजाओंको ऊपर उठाकर एक-दूसरेपर नखों और दाँतोंसे प्रहार करने लगे॥ ५६॥

वेगेनाभिहतो भीमः कीचकेन बलीयसा।
स्थिरप्रतिज्ञः स रणे पदान्न चलितः पदम्॥ ५७॥

बलिष्ठ कीचकने बड़े वेगसे आघात किया, तो भी दृढ़प्रतिज्ञ भीम उस युद्धमें स्थिर रहे; एक पग भी पीछे नहीं हटे॥ ५७॥

तावन्योन्यं समाश्लिष्य प्रकर्षन्तौ परस्परम्।
उभावपि प्रकाशेते प्रवृद्धौ वृषभाविव॥ ५८॥

फिर दोनों आपसमें गुँथ गये और एक-दूसरेको खींचने लगे। उस समय वे दो हृष्ट-पुष्ट साँड़ोंकी भाँति सुशोभित होते थे॥ ५८॥

तयोर्ह्यासीत् सुतुमुलः सम्प्रहारः सुदारुणः।
नखदन्तायुधवतोर्व्याघ्रयोरिव दृप्तयोः॥ ५९॥

नख और दाँत ही उनके आयुध थे। जैसे दो मतवाले व्याघ्र परस्पर लड़ रहे हों, उसी प्रकार उनमें अत्यन्त भयंकर तुमुल युद्ध होने लगा॥ ५९॥

अभिपत्याथ बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णादमर्षितः।
मातङ्ग इव मातङ्गं प्रभिन्नकरटामुखम्॥ ६०॥

जैसे क्रोधमें भरा हुआ एक हाथी गण्डस्थलसे मद टपकाते हुए दूसरे हाथीको सूँड़से पकड़ ले, उसी प्रकार रोषयुक्त कीचकने सहसा झपटकर दोनों हाथोंसे भीमसेनको पकड़ लिया॥ ६०॥

स चाप्येनं तदा भीमः प्रतिजग्राह वीर्यवान्।
तमाक्षिपत् कीचकोऽथ बलेन बलिनां वरः॥ ६१॥

तब पराक्रमी भीमने भी झपटकर उसे पकड़ा, किंतु बलवानोंमें श्रेष्ठ कीचकने बलपूर्वक उन्हें झटक दिया॥ ६१॥

तयोर्भुजविनिष्पेषादुभयोर्बलिनोस्तदा।
शब्दः समभवद् घोरो वेणुस्फोटसमो युधि॥ ६२॥

उस समय उस युद्धमें उन दोनों बलवानोंकी भुजाओंकी रगड़से बाँस फटनेका-सा भयानक शब्द होने लगा॥ ६२॥

अथैनमाक्षिप्य बलाद् गृहमध्ये वृकोदरः।
धूनयामास वेगेन वायुश्चण्ड इव द्रुमम्॥ ६३॥

फिर जिस प्रकार प्रचण्ड आँधी वृक्षको झकझोर डालती है, उसी प्रकार भीमसेन कीचकको बलपूर्वक धक्के दे देकर उसे नृत्यशालामें वेगसे घुमाने लगे॥ ६३॥

भीमेन च परामृष्टो दुर्बलो बलिना रणे।
प्रास्पन्दत यथाप्राणं विचकर्ष च पाण्डवम्॥ ६४॥

उस युद्धमें बलवान् भीमकी पकड़में आकर यद्यपि कीचक अपना बल खो रहा था, तथापि वह यथाशक्ति उन्हें परास्त करनेकी चेष्टा करता रहा और भीमसेनको अपनी ओर खींचने लगा॥ ६४॥

ईषदाकलितं चापि क्रोधाद् द्रुतपदं स्थितम्।
कीचको बलवान् भीमं जानुभ्यामाक्षिपद् भुवि॥ ६५॥

जब वे कुछ कुछ वशमें आ गये और उनका पैर कुछ लड़खड़ाने लगा, तब उस दशामें खड़े हुए भीमसेनको बलवान् कीचकने क्रोधपूर्वक दोनों घुटनोंसे मारकर पृथ्वीपर गिरा दिया॥ ६५॥

पतितो भुवि भीमस्तु कीचकेन बलीयसा।
उत्पपाताथ वेगेन दण्डपाणिरिवान्तकः॥ ६६॥

अत्यन्त बलशाली कीचकद्वारा इस प्रकार भूमिपर गिराये हुए भीमसेन हाथमें दण्ड धारण करनेवाले यमराजकी भाँति बड़े वेगसे उछलकर खड़े हो गये॥ ६६॥

स्पर्धया च बलोन्मत्तौ तावुभौ सूतपाण्डवौ।
निशीथे पर्यकर्षेतां बलिनौ निर्जने स्थले॥ ६७॥

सूतपुत्र और पाण्डुनन्दन दोनों बलसे उन्मत्त हो रहे थे। वे दोनों बलवान् वीर स्पर्धाके कारण उस निर्जन स्थानमें आधीरातके समय एक दूसरेको खींचते और धक्के देते रहे ॥

ततस्तद् भवनं श्रेष्ठं प्राकम्पत मुहुर्मुहुः।
बलवच्चापि संक्रुद्धावन्योन्यं प्रति गर्जतः ॥ ६८ ॥

इससे वह विशाल भवन बार-बार हिल उठता था। दोनों योद्धा बड़े क्रोधमें भरकर एक-दूसरेके सामने जोर-जोरसे गरज रहे थे ॥ ६८ ॥

तलाभ्यां स तु भीमेन वक्षस्यभिहतो बली।
कीचको रोषसंतप्तः पदान्न चलितः पदम् ॥ ६९ ॥

इतनेमें ही भीमने दोनों हथेलियोंसे कीचककी छातीपर प्रहार किया। चोट खाकर बलवान् कीचक क्रोधसे जल उठा, किंतु अपने स्थानसे एक पग भी विचलित नहीं हुआ ॥ ६९ ॥

मुहूर्तं तु स तं वेगं सहित्वा भुवि दुःसहम्।
बलादहीयत तदा सूतो भीमबलार्दितः ॥ ७० ॥

भूमिपर खड़े रहकर दो घड़ीतक उस दुःसह वेगको सह लेनेके पश्चात् भीमसेनके बलसे पीड़ित हो सूतपुत्र कीचक अपनी शक्ति खो बैठा ॥ ७० ॥

तं हीयमानं विज्ञाय भीमसेनो महाबलः।
वक्षस्यानीय वेगेन ममर्दैनं विचेतसम् ॥ ७१ ॥

महाबली भीमसेन उसे निर्बल एवं अचेत होते देख उसकी छातीपर चढ़ बैठे और बड़े वेगसे उसे रौंदने लगे ॥

क्रोधाविष्टो विनिःश्वस्य पुनश्चैनं वृकोदरः।
जग्राह जयतां श्रेष्ठः केशेष्वेव तदा भृशम् ॥ ७२ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ भीमसेनका क्रोधावेश अभी उतरा नहीं था। उन्होंने पुनः बारंबार उच्छ्वास लेकर कीचकके केश पकड़ लिये ॥ ७२ ॥

गृहीत्वा कीचकं भीमो विरराज महाबलः।
शार्दूलः पिशिताकाङ्क्षी गृहीत्वेव महामृगम् ॥ ७३ ॥

जैसे कच्चे मांसकी अभिलाषा रखनेवाला सिंह महान् मृगको पकड़ ले, उसी प्रकार महाबली भीम कीचकको पकड़कर बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ७३ ॥

तत एनं परिश्रान्तमुपलभ्य वृकोदरः।
योक्त्रयामास बाहुभ्यां पशुं रशनया यथा ॥ ७४ ॥

तदनन्तर उसे अत्यन्त थका जानकर भीमने अपनी भुजाओंमें इस प्रकार कस लिया, जैसे पशुको रस्सीसे बाँध दिया गया हो ॥ ७४ ॥

नदन्तं च महानादं भिन्नभेरीसमस्वनम्।
भ्रामयामास सुचिरं विस्फुरन्तमचेतसम् ॥ ७५ ॥

अब वह फूटे नगारेके समान विकृत स्वरमें जोर-जोरसे सिंहनाद करने तथा बन्धनसे छूटनेके लिये छटपटाने लगा। उसकी चेतना लुप्त हो रही थी। उसी दशामें भीमसेनने बहुत देरतक उसे घुमाया ॥ ७५ ॥

प्रगृह्य तरसा दोर्भ्यां कण्ठं तस्य वृकोदरः।
अपीडयत कृष्णायास्तदा कोपोपशान्तये ॥ ७६ ॥

फिर द्रौपदीका क्रोध शान्त करनेके लिये उन्होंने दोनों हाथोंसे उसका गला पकड़कर बड़े वेगसे दबाया ॥ ७६ ॥

अथ तं भग्नसर्वाङ्गं व्याविद्धनयनाम्बरम्।
आक्रम्य च कटीदेशे जानुना कीचकाधमम्।
अपीडयत बाहुभ्यां पशुमारममारयत् ॥ ७७ ॥

इस प्रकार जब उसके सब अङ्ग भग्न हो गये, आँखकी पुतलियाँ बाहर निकल आयीं और वस्त्र फट गये, तब उन्होंने उस कीचकाधमकी कमरको अपने घुटनोंसे दबाकर दोनों भुजाओंद्वारा उसका गला घोंट दिया और उसे पशुकी तरह मारने लगे ॥ ७७ ॥

तं विषीदन्तमाज्ञाय कीचकं पाण्डुनन्दनः।
भूतले भ्रामयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ७८ ॥

मृत्युके समय कीचकको विषाद करते देख पाण्डुनन्दन भीमने उसे धरतीपर घसीटा और इस प्रकार कहा—॥ ७८ ॥

अद्याहमनृणो भूत्वा भ्रातुर्भार्यापहारिणम्।
शान्तिं लब्धास्मि परमां हत्वा सैरन्ध्रिकण्टकम् ॥ ७९ ॥

'जो सैरन्ध्रीके लिये कण्टक था, जिसने मेरे भाईकी पत्नीका अपहरण करनेकी चेष्टा की थी, उस दुष्ट कीचकको मारकर आज मैं उऋण हो जाऊँगा और मुझे बड़ी शान्ति मिलेगी' ॥ ७९ ॥

इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीर-
स्तं कीचकं क्रोधसरागनेत्रः।
आस्रस्तवस्त्राभरणं स्फुरन्त-
मुद्भ्रान्तनेत्रं व्यसुमुत्ससर्ज ॥ ८० ॥

पुरुषोंमें उत्कृष्ट वीर भीमसेनके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे। उन्होंने उपर्युक्त बातें कहकर कीचकको नीचे डाल दिया। उस समय उसके गहने-कपड़े इधर-उधर बिखर गये थे। वह छटपटा रहा था। उसकी आँखें ऊपरको चढ़ गयी थीं और उसके प्राणपखेरू निकल रहे थे ॥ ८० ॥

निष्पिष्य पाणिना पाणिं संदष्टौष्ठपुटं बली।
समाक्रम्य च संक्रुद्धो बलेन बलिनां वरः ॥ ८१ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ भीम अब भी क्रोधमें भरे थे। वे हाथसे हाथ मलते हुए दाँतोंसे ओठ दबाकर पुनः बलपूर्वक कीचकके ऊपर चढ़ गये ॥ ८१ ॥

तस्य पादौ च पाणी च शिरो ग्रीवां च सर्वशः।
काये प्रवेशयामास पशोरिव पिनाकधृक् ॥ ८२ ॥

तदनन्तर जैसे महादेवजीने गयासुरके सब अङ्गोंको उसके शरीरके भीतर घुसेड़ दिया था, उसी प्रकार उन्होंने भी कीचकके हाथ, पैर, सिर और गर्दन आदि सब अङ्गोंको उसके धड़में ही घुसा दिया ॥ ८२ ॥

तं सम्मथितसर्वाङ्गं मांसपिण्डोपमं कृतम्।
कृष्णाया दर्शयामास भीमसेनो महाबलः ॥ ८३ ॥

महाबली भीमने उसका सारा शरीर मथ डाला और उसे मांसका लोंदा-सा बना दिया। इसके बाद उन्होंने द्रौपदीको दिखाया॥

उवाच च महातेजा द्रौपदीं योषितां वराम्।
पश्यैनमेहि पाञ्चालि कामुकोऽयं यथा कृतः ॥ ८४ ॥

उस समय महातेजस्वी भीमने युवतियोंमें श्रेष्ठ द्रौपदीसे कहा—'पाञ्चाली! यहाँ आओ और इसे देखो। इस कामीकी शक्ल कैसी बना दी है!' ॥ ८४ ॥

एवमुक्त्वा महाराज भीमो भीमपराक्रमः।
पादेन पीडयामास तस्य कायं दुरात्मनः ॥ ८५ ॥

महाराज! भयंकर पराक्रमी भीमने ऐसा कहकर उस दुरात्माकी लाशको पैरसे दबाया ॥ ८५ ॥

ततोऽग्निं तत्र प्रज्वाल्य दर्शयित्वा तु कीचकम्।
पाञ्चालीं स तदा वीर इदं वचनमब्रवीत् ॥ ८६ ॥

फिर वहाँ आग जलाकर उन्होंने कीचकका शव दिखाया। उस समय वीरवर भीमने पाञ्चालीसे यह बात कही—॥८६॥

प्रार्थयन्ति सुकेशान्ते ये त्वां शीलगुणान्विताम्।
एवं ते भीरु वध्यन्ते कीचकः शोभते यथा ॥ ८७ ॥

'सुन्दर केशोंवाली भीरु पाञ्चाली! तुम सुशील और सद्गुणोंसे सम्पन्न हो। जो दुष्ट तुमसे समागमकी याचना करेंगे, वे इसी प्रकार मारे जायँगे। जैसे आज कीचक शोभा पाता है, वही दशा उनकी भी होगी' ॥ ८७ ॥

तत् कृत्वा दुष्करं कर्म कृष्णायाः प्रियमुत्तमम्।
तथा स कीचकं हत्वा गत्वा रोषस्य वै शमम् ॥ ८८ ॥
आमन्त्र्य द्रौपदीं कृष्णां क्षिप्रमायान्महानसम्।
कीचकं घातयित्वा तु द्रौपदी योषितां वरा।
प्रहृष्टा गतसंतापा सभापालानुवाच ह ॥ ८९ ॥

द्रौपदीको प्रिय लगनेवाले इस उत्तम एवं दुष्कर कर्मको करके ऊपर बताये अनुसार कीचकको मारकर अपना रोष शान्त करनेके पश्चात् द्रौपदीसे पूछकर भीमसेन पुनः पाकशालामें चले गये। युवतियोंमें श्रेष्ठ द्रौपदी इस प्रकार कीचकको मरवाकर बड़ी प्रसन्न हुई। उसके सब संताप दूर हो गये। फिर वह सभाभवनके रक्षकोंके पास जाकर बोली—॥

कीचकोऽयं हतः शेते गन्धर्वैः पतिभिर्मम।
परस्त्रीकामसम्मत्तस्तत्रागच्छत पश्यत ॥ ९० ॥

'आओ, देखो, परायी स्त्रीके प्रति कामोन्मत्त रहनेवाला यह कीचक मेरे पति गन्धर्वोंद्वारा मारा जाकर वहाँ नृत्यशालामें पड़ा है' ॥ ९० ॥

तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्या नर्तनागाररक्षिणः।
सहसैव समाजग्मुरादायोल्काः सहस्रशः ॥ ९१ ॥

उसका यह कथन सुनकर नृत्यशालाके रक्षक सहस्रोंकी संख्यामें हाथोंमें मसाल लिये सहसा वहाँ आये ॥ ९१ ॥

ततो गत्वाथ तद् वेश्म कीचकं विनिपातितम्।
गतासुं ददृशुर्भूमौ रुधिरेण समुक्षितम् ॥ ९२ ॥

और उस घरके भीतर जाकर उन्होंने देखा; कीचकको गन्धर्वने मार गिराया है, उसके प्राण निकल गये हैं और उसकी लाश खूनसे लथपथ होकर धरतीपर पड़ी है ॥ ९२ ॥

पाणिपादविहीनं तु दृष्ट्वा च व्यथिताभवन्।
निरीक्षन्ति ततः सर्वे परं विस्मयमागताः ॥ ९३ ॥

उसे हाथ-पैरसे हीन देख उन सबको बड़ी व्यथा हुई। फिर वे सभी बड़े आश्चर्यमें पड़कर उसे ध्यानसे देखने लगे॥९३॥

अमानुषं कृतं कर्म तं दृष्ट्वा विनिपातितम्।
क्वास्य ग्रीवा क्व चरणौ क्व पाणी क्व शिरस्तथा।
इति स्म तं परीक्षन्ते गन्धर्वेण हतं तदा ॥ ९४ ॥

कीचकको इस तरह मारा गया देख वे आपसमें बोले—'यह कर्म तो किसी मनुष्यका किया हुआ नहीं हो सकता। देखो न, इसकी गर्दन, हाथ, पैर और सिर आदि अङ्ग कहाँ चले गये?' यों कहकर जब परीक्षा की, तो वे इसी निश्चयपर पहुँचे कि हो-न-हो, इसे गन्धर्वने ही मारा है ॥ ९४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचकवधे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें कीचकवधविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ९६½ श्लोक हैं)

त्रयोविंशोऽध्यायः

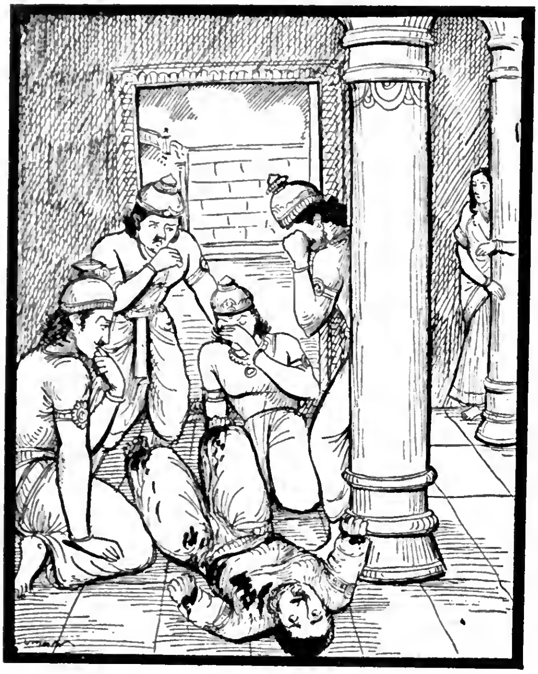
उपकीचकोंका सैरन्ध्रीको बाँधकर श्मशानभूमिमें ले जाना और भीमसेनका उन सबको मारकर सैरन्ध्रीको छुड़ाना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् काले समागम्य सर्वे तत्रास्य बान्धवाः।
रुरुदुः कीचकं दृष्ट्वा परिवार्य समन्ततः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उसी समय यह

समाचार पाकर कीचकके सब बन्धु-बान्धव वहाँ आ गये। वे कीचककी यह दशा देख उसे चारों ओरसे घेरकर विलाप करने लगे ॥ १ ॥



सर्वे संहृष्टरोमाणः संत्रस्ताः प्रेक्ष्य कीचकम्।
तथा सम्भिन्नसर्वाङ्गं कूर्मं स्थल इवोद्धृतम् ॥ २ ॥

उसके सारे अवयव शरीरमें घुस गये थे; इसलिये वह जलसे निकालकर स्थलमें रक्खे हुए कछुएके समान जान पड़ता था। कीचकके शवकी वह दुर्गति देखकर वे सब थर्रा उठे, उन सबके रोंगटे खड़े हो गये ॥ २ ॥

पोथितं भीमसेनेन तमिन्द्रेणेव दानवम्।
संस्कारयितुमिच्छन्तो बहिर्नेतुं प्रचक्रमुः ॥ ३ ॥

जैसे इन्द्रने दानव वृत्रासुरका वध किया था, उसी प्रकार भीमसेनके हाथसे मारे गये उस कीचकका दाह-संस्कार करनेकी इच्छासे उसके बान्धवगण उसे बाहर (श्मशानभूमिमें) ले जानेकी तैयारी करने लगे ॥ ३ ॥

ददृशुस्ते ततः कृष्णां सूतपुत्राः समागताः।
अदूराच्चानवद्याङ्गीं स्तम्भमालिङ्ग्य तिष्ठतीम् ॥ ४ ॥

इसी समय वहाँ आये हुए सूतपुत्रोंने देखा, निर्दोष अङ्गोंवाली द्रौपदी थोड़ी ही दूरपर एक खंभेका सहारा लिये खड़ी है ॥ ४ ॥

समवेतेषु सर्वेषु तामूचुरुपकीचकाः।
हन्यतां शीघ्रमसती यत्कृते कीचको हतः ॥ ५ ॥

जब सब लोग जुट गये, तब उन उपकीचकों (कीचकके भाइयों) ने द्रौपदीको लक्ष्य करके कहा—'इस दुष्टाको शीघ्र मार डाला जाय, क्योंकि इसीके लिये कीचककी जान गयी है॥

अथवा नैव हन्तव्या दह्यतां कामिना सह।
मृतस्यापि प्रियं कार्यं सूतपुत्रस्य सर्वथा ॥ ६ ॥

'अथवा मारा न जाय। कामी कीचककी लाशके साथ ही इसे भी जला दिया जाय। मर जानेपर भी सूतपुत्रका जो प्रिय हो; जिससे उसकी आत्मा प्रसन्न हो, वह कार्य हमें सर्वथा करना चाहिये' ॥ ६ ॥

ततो विराटमूचुस्ते कीचकोऽस्याः कृते हतः।
सहानेनाद्य दह्येम तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ७ ॥

तदनन्तर उन्होंने विराटसे कहा—'इस सैरन्ध्रीके लिये ही कीचक मारा गया है, अतः आज हम कीचककी लाशके साथ इसे भी जला देना चाहते हैं, आप इसके लिये आज्ञा दें' ॥ ७ ॥

पराक्रमं तु सूतानां मत्वा राजान्वमोदत।
सैरन्ध्र्याः सूतपुत्रेण सह दाहं विशाम्पतिः ॥ ८ ॥

राजाने सूतपुत्रोंके पराक्रमका विचार करके सैरन्ध्रीको कीचकके साथ जला डालनेकी अनुमति दे दी ॥ ८ ॥

तां समासाद्य वित्रस्तां कृष्णां कमललोचनाम्।
मोमुह्यमानां ते तत्र जगृहुः कीचका भृशम् ॥ ९ ॥

फिर क्या था, उपकीचकोंने उसके पास जाकर भयभीत एवं मूर्छित हुई कमललोचना कृष्णाको बलपूर्वक पकड़ लिया ॥

ततस्तु तां समारोप्य निबध्य च सुमध्यमाम्।
जग्मुरुद्यम्य ते सर्वे श्मशानाभिमुखास्तदा ॥ १० ॥

फिर उन्होंने सुन्दर कटिभागवाली उस देवीको टिकटीपर चढ़ाकर लाशके साथ ही बाँध दिया। इसके बाद वे सब लोग मृतकको उठाकर श्मशानभूमिकी ओर ले चले ॥ १० ॥

ह्रियमाणा तु सा राजन् सूतपुत्रैरनिन्दिता।
प्राक्रोशन्नाथमिच्छन्ती कृष्णा नाथवती सती ॥ ११ ॥

राजन्! सूतपुत्रोंद्वारा इस प्रकार ले जायी जाती हुई सती द्रौपदी सनाथा होकर भी [अनाथा-सी हो रही थी, वह] नाथ (रक्षक) की इच्छा करती हुई जोर-जोरसे पुकारने लगी ॥ ११ ॥

द्रौपद्युवाच

जयो जयन्तो विजयो जयत्सेनो जयद्बलः।
ते मे वाचं विजानन्तु सूतपुत्रा नयन्ति माम् ॥ १२ ॥

द्रौपदी बोली—मेरे पति जय, जयन्त, विजय, जयत्सेन और जयद्बल जहाँ भी हों, मेरी यह आर्त वाणी सुनें और समझें। ये सूतपुत्र मुझे श्मशानमें लिये जा रहे हैं ॥ १२ ॥

येषां ज्यातलनिर्घोषो विस्फूर्जितमिवाशनेः।
व्यश्रूयत महायुद्धे भीमघोषस्तरस्विनाम् ॥ १३ ॥

रथघोषश्च बलवान् गन्धर्वाणां तरस्विनाम्।
ते मे वाचं विजानन्तु सूतपुत्रा नयन्ति माम् ॥ १४ ॥

जिन वेगवान् गन्धर्वोंके धनुषोंकी प्रत्यञ्चाका भीषण शब्द वज्राघातके समान सुनायी देता है तथा जिनके रथोंकी घर्घराहटकी आवाज भी बड़े जोरसे उठती और दूरतक फैलती है, वे मेरी आर्त वाणी सुनें और समझें। ये सूतपुत्र मुझे श्मशानमें ले जा रहे हैं ॥ १३-१४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्ताः कृपणा वाचः कृष्णायाः परिदेवितम्।
श्रुत्वैवाभ्यापतद् भीमः शयनादविचारयन् ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! द्रौपदीकी वह दीन वाणी और करुण विलाप सुनते ही भीमसेन बिना कोई विचार किये शय्यासे कूद पड़े ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच

अहं शृणोमि ते वाचं त्वया सैरन्ध्रि भाषिताम्।
तस्मात् ते सूतपुत्रेभ्यो भयं भीरु न विद्यते ॥ १६ ॥

भीमसेन बोले—सैरन्ध्री! तुम जो कुछ कह रही हो, तुम्हारी वह वाणी मैं सुनता हूँ। इसलिये भीरु! अब इन सूतपुत्रोंसे तेरेलिये कोई भय नहीं है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा स महाबाहुर्विजजृम्भे जिघांसया।
ततः स व्यायतं कृत्वा वेषं विपरिवर्त्य च ॥ १७ ॥
अद्वारेणाभ्यवस्कन्द्य निर्जगाम बहिस्तदा।
स भीमसेनः प्राकारादारुह्य तरसा द्रुमम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर महाबाहु भीमसेनने उपकीचकोंका वध करनेके लिये अँगड़ाई लेते हुए अपने शरीरको बढ़ा लिया और प्रयत्नपूर्वक वेष बदलकर बिना दरवाजेके ही दीवार फाँदकर पाकशालासे बाहर निकल गये। फिर वे नगरका परकोटा लाँघकर बड़े वेगसे एक वृक्षपर चढ़ गये (और वहींसे यह देखने लगे कि उपकीचक द्रौपदीको किधर ले जा रहे हैं) ॥ १७-१८ ॥

श्मशानाभिमुखः प्रायाद् यत्र ते कीचका गताः।
स लङ्घयित्वा प्राकारं निःसृत्य च पुरोत्तमात्।
जवेन पतितो भीमः सूतानामग्रतस्तदा ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् वे उपकीचक जिधर गये थे, उसी ओर भीमसेन भी श्मशानभूमिकी दिशामें चल दिये। चहारदीवारी लाँघनेके पश्चात् उस श्रेष्ठ नगरसे निकलकर भीमसेन इतने वेगसे चले कि सूतपुत्रोंसे पहले ही वहाँ पहुँच गये ॥ १९ ॥

चितासमीपे गत्वा स तत्रापश्यद् वनस्पतिम्।
तालमात्रं महास्कन्धं मूर्धशुष्कं विशाम्पते ॥ २० ॥

राजन्! चिताके समीप जाकर उन्होंने वहाँ ताड़के बराबर एक वृक्ष देखा, जिसकी शाखाएँ बहुत बड़ी थीं और जो ऊपरसे सूख गया था ॥ २० ॥

तं नागवदुपक्रम्य बाहुभ्यां परिरभ्य च।
स्कन्धमारोपयामास दशव्यामं परंतपः ॥ २१ ॥

उस वृक्षकी ऊँचाई दस व्याम[1] थी। उसे शत्रुतापन भीमसेनने दोनों भुजाओंमें भरकर हाथीके समान जोर लगाकर उखाड़ा और अपने कंधेपर रख लिया ॥ २१ ॥

स तं वृक्षं दशव्यामं सस्कन्धविटपं बली।
प्रगृह्याभ्यद्रवत् सूतान् दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ २२ ॥

शाखा-प्रशाखाओंसहित उस दस व्याम ऊँचे वृक्षको लेकर बलवान् भीम दण्डपाणि यमराजके समान उन सूतपुत्रोंकी ओर दौड़े ॥ २२ ॥

ऊरुवेगेन तस्याथ न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकाः।
भूमौ निपतिता वृक्षाः सङ्घशस्तत्र शेरते ॥ २३ ॥

उस समय उनकी जङ्घाओंके वेगसे टकराकर बहुतेरे बरगद, पीपल और ढाकके वृक्ष पृथ्वीपर गिरकर ढेर-के-ढेर बिखर गये ॥ २३ ॥

तं सिंहमिव संक्रुद्धं दृष्ट्वा गन्धर्वमागतम्।
वित्रेसुः सर्वशः सूता विषादभयकम्पिताः ॥ २४ ॥

सिंहके समान क्रोधमें भरे हुए गन्धर्वरूपी भीमको अपनी ओर आते देखकर सभी सूतपुत्र डर गये और विषाद एवं भयसे काँपते हुए कहने लगे— ॥ २४ ॥

गन्धर्वो बलवानेति क्रुद्ध उद्यम्य पादपम्।
सैरन्ध्री मुच्यतां शीघ्रं यतो नो भयमागतम् ॥ २५ ॥

'अरे! देखो, यह बलवान् गन्धर्व वृक्ष उठाये कुपित हो हमारी ओर आ रहा है। सैरन्ध्रीको शीघ्र छोड़ दो, क्योंकि उसीके कारण हमें यह भय उपस्थित हुआ है' ॥ २५ ॥

ते तु दृष्ट्वा तदाऽऽविद्धं भीमसेनेन पादपम्।
विमुच्य द्रौपदीं तत्र प्राद्रवन्नगरं प्रति ॥ २६ ॥

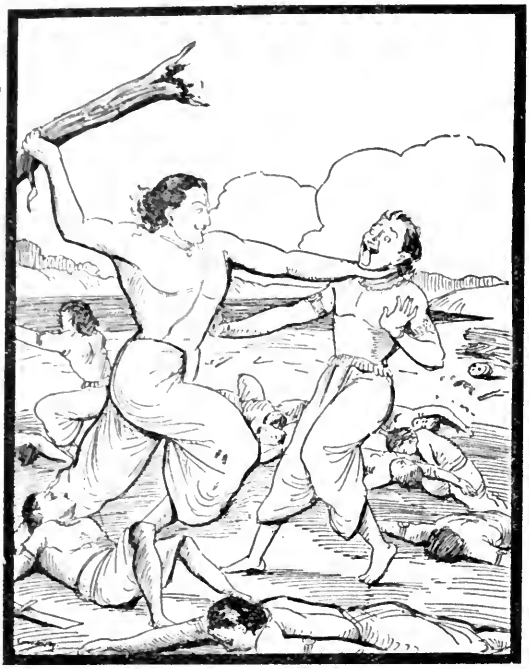
इतनेमें ही भीमसेनके द्वारा घुमाये जाते हुए उस वृक्षको देखकर वे द्रौपदीको वहीं छोड़ नगरकी ओर भागने लगे ॥

द्रवतस्तांस्तु सम्प्रेक्ष्य स वज्री दानवानिव।
शतं पञ्चाधिकं भीमः प्राहिणोद् यमसादनम् ॥ २७ ॥
वृक्षेणैतेन राजेन्द्र प्रभञ्जनसुतो बली।

राजेन्द्र! उन्हें भागते देख वायुपुत्र बलवान् भीमने, वज्रधारी इन्द्र जैसे दानवोंका वध करते हैं, उसी प्रकार उस वृक्षसे एक सौ पाँच उपकीचकोंको यमराजके घर भेज दिया ॥ २७½ ॥

---

1. दोनों हाथोंको फैलानेपर जितनी लम्बाई होती है, उसे एक व्याम कहते हैं।



तत आश्वासयत् कृष्णां स विमुच्य विशाम्पते॥ २८ ॥

महाराज ! तदनन्तर उन्होंने द्रौपदीको बन्धनसे मुक्त करके आश्वासन दिया ॥ २८ ॥

उवाच च महाबाहुः पाञ्चालीं तत्र द्रौपदीम् ।
अश्रुपूर्णमुखीं दीनां दुर्धर्षः स वृकोदरः ॥ २९ ॥

उस समय पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी बड़ी दीन एवं दयनीय हो गयी थी। उसके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी। दुर्धर्ष वीर महाबाहु वृकोदरने उसे धीरज बँधाते हुए कहा—॥ २९ ॥

एवं ते भीरु वध्यन्ते ये त्वां क्लिश्यन्त्यनागसम्।
प्रेहि त्वं नगरं कृष्णे न भयं विद्यते तव ॥ ३० ॥
अन्येनाहं गमिष्यामि विराटस्य महानसम् ॥ ३१ ॥

'भीरु ! जो तुझ निरपराध अबलाको सतायेंगे, वे इसी तरह मारे जायँगे। कृष्णे ! नगरको जाओ। अब तुम्हारे लिये कोई भय नहीं है। मैं दूसरे मार्गसे विराटकी पाकशालामें चला जाऊँगा' ॥ ३०-३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

पञ्चाधिकं शतं तच्च निहतं तेन भारत।
महावनमिवच्छिन्नं शिश्ये विगलितद्रुमम् ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! भीमसेनके द्वारा मारे गये वे एक सौ पाँच उपकीचक वहाँ श्मशानभूमिमें इस प्रकार सो रहे थे, मानो काटा हुआ महान् जंगल गिरे हुए पेड़ोंसे भरा हो ॥ ३२ ॥

एवं ते निहता राजञ्छतं पञ्च च कीचकाः।
स च सेनापतिः पूर्वमित्येतत् सूतषट्शतम् ॥ ३३ ॥

राजन् ! इस प्रकार वे एक सौ पाँच उपकीचक और पहले मरा हुआ सेनापति कीचक सब मिलकर एक सौ छः सूतपुत्र मारे गये ॥ ३३ ॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं नरा नार्यश्च संगताः।
विस्मयं परमं गत्वा नोचुः किंचन भारत ॥ ३४ ॥

भारत ! उस समय श्मशानभूमिमें बहुत-से पुरुष और स्त्रियाँ एकत्र हो गयी थीं। उन सबने यह महान् आश्चर्यजनक काण्ड देखा, किंतु भारी विस्मयमें पड़कर किसीने कुछ कहा नहीं ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

द्रौपदीका राजमहलमें लौटकर आना और बृहन्नला एवं सुदेष्णासे उसकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ते दृष्ट्वा निहतान् सूतान् राज्ञे गत्वा न्यवेदयन्।
गन्धर्वैर्निहता राजन् सूतपुत्रा महाबलाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! नगरवासियोंने सूतपुत्रोंका यह संहार देख राजा विराटके पास जाकर निवेदन किया—'महाराज ! गन्धर्वोंने महाबली सूतपुत्रोंको मार डाला ॥ १ ॥

यथा वज्रेण वै दीर्णं पर्वतस्य महच्छिरः।
व्यतिकीर्णाः प्रदृश्यन्ते तथा सूता महीतले ॥ २ ॥

'जैसे पर्वतका महान् शिखर वज्रसे विदीर्ण हो गया हो, उसी प्रकार वे सूतपुत्र पृथ्वीपर बिखरे दिखायी देते हैं ॥२॥

सैरन्ध्री च विमुक्तासौ पुनरायाति ते गृहम् ।
सर्वं संशयितं राजन् नगरं ते भविष्यति ॥ ३ ॥

'सैरन्ध्री बन्धनमुक्त हो गयी है, अब वह पुनः आपके

महलकी ओर आ रही है। उसके रहनेसे आपके सम्पूर्ण नगरका जीवन संकटमें पड़ जायगा ॥ ३ ॥

यथारूपा च सैरन्ध्री गन्धर्वाश्च महाबलाः।
पुंसामिष्टश्च विषयो मैथुनाय न संशयः ॥ ४ ॥

'सैरन्ध्रीका जैसा अप्रतिम रूप-सौन्दर्य है, वह सबको विदित ही है। उसके पति गन्धर्व भी बड़े बलवान् हैं। पुरुषोंको मैथुनके लिये विषयभोग अभीष्ट है ही; इसमें संशय नहीं है ॥ ४ ॥

यथा सैरन्ध्रिदोषेण न ते राजन्निदं पुरम्।
विनाशमेति वै क्षिप्रं तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ ५ ॥

'अतः राजन्! आप शीघ्र ही कोई ऐसी नीति अपनावें, जिससे सैरन्ध्रीके दोषसे आपका यह नगर नष्ट न हो जाय' ॥ ५ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा विराटो वाहिनीपतिः।
अब्रवीत् क्रियतामेषां सूतानां परमक्रिया ॥ ६ ॥

उनकी वह बात सुनकर सेनाओंके स्वामी राजा विराटने कहा—'इन सूतपुत्रोंका अन्त्येष्टि संस्कार किया जाय ॥ ६ ॥

एकस्मिन्नेव ते सर्वे सुसमिद्धे हुताशने।
दह्यन्तां कीचकाः शीघ्रं रत्नैर्गन्धैश्च सर्वशः ॥ ७ ॥

'एक ही चितामें अग्नि प्रज्वलित करके रत्न और सुगन्धित पदार्थोंके साथ सम्पूर्ण कीचकोंका दाह करना चाहिये' ॥ ७ ॥

सुदेष्णामब्रवीद् राजा महिषीं जातसाध्वसः।
सैरन्ध्रीमागतां ब्रूया ममैव वचनादिदम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर राजाने भयभीत होकर रानी सुदेष्णाके पास जाकर कहा—'देवि! जब सैरन्ध्री यहाँ आ जाय, तो मेरी ही ओरसे उससे यों कहो—॥ ८ ॥

गच्छ सैरन्ध्रि भद्रं ते यथाकामं वरानने।
बिभेति राजा सुश्रोणि गन्धर्वेभ्यः पराभवात् ॥ ९ ॥

सैरन्ध्री! तुम्हारा कल्याण हो। वरानने! तुम्हारी जहाँ रुचि हो, चली जाओ। सुश्रोणि! गन्धर्वोंके तिरस्कारसे राजा डरते हैं ॥ ९ ॥

न हि त्वामुत्सहे वक्तुं स्वयं गन्धर्वरक्षिताम्।
स्त्रियास्त्वदोषस्तां वक्तुमतस्त्वां प्रब्रवीम्यहम् ॥ १० ॥

'तुम गन्धर्वोंसे सुरक्षित हो। मैं पुरुष होनेके कारण स्वयं तुमसे कोई बात नहीं कह सकता। किंतु स्त्रीके मुखसे तुम्हारे प्रति यह सब कहलानेमें दोष नहीं है, अतः अपनी पत्नीके द्वारा स्वयं ही तुमसे यह बात कह रहा हूँ' ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

अथ मुक्ता भयात् कृष्णा सूतपुत्रान् निरस्य च।
मोक्षिता भीमसेनेन जगाम नगरं प्रति ॥ ११ ॥

त्रासितेव मृगी बाला शार्दूलेन मनस्विनी।
गात्राणि वाससी चैव प्रक्षाल्य सलिलेन सा ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब सूतपुत्रोंको मारकर भीमसेनने द्रौपदीका बन्धन खोल दिया और वह भयसे मुक्त हो गयी, तब जलसे स्नान करके अपने शरीर और वस्त्रोंको धोकर सिंहसे डरायी हुई हरिणीकी भाँति वह मनस्विनी बाला नगरकी ओर चली ॥ ११-१२ ॥

तां दृष्ट्वा पुरुषा राजन् प्राद्रवन्त दिशो दश।
गन्धर्वाणां भयत्रस्ताः केचिद् दृष्ट्वा न्यमीलयन् ॥ १३ ॥

जनमेजय! उस समय द्रौपदीको देखकर गन्धर्वोंके भयसे डरे हुए पुरुष दसों दिशाओंकी ओर भाग जाते थे और कोई-कोई उसे देखकर आँख मूँद लेते थे ॥ १३ ॥

ततो महानसद्वारि भीमसेनमवस्थितम्।
ददर्श राजन् पाञ्चाली यथा मत्तं महाद्विपम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर पाकशालाके द्वारपर पहुँचकर पाञ्चालीने वहाँ मतवाले गजराजके समान भीमसेनको खड़ा देखा ॥ १४ ॥

तं विस्मयन्ती शनकैः संज्ञाभिरिदमब्रवीत्।
गन्धर्वराजाय नमो येनास्मि परिमोचिता ॥ १५ ॥

और विस्मयविमुग्ध होकर उसने धीरेसे संकेतपूर्वक इस प्रकार कहा—'उन गन्धर्वराजको नमस्कार है, जिन्होंने मुझे भारी संकटसे मुक्त किया है' ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच

ये पुरा विचरन्तीह पुरुषा वशवर्तिनः।
तस्यास्ते वचनं श्रुत्वा ह्यनृणा विहरन्त्वतः ॥ १६ ॥

भीमसेन बोले—देवि! जो पुरुष तुम्हारी आज्ञाके अधीन होकर यहाँ पहलेसे विचर रहे हैं, वे तुम्हारी यह बात सुनकर प्रतिज्ञासे उऋण हो इच्छानुसार विहार करें ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सा नर्तनागारे धनंजयमपश्यत।
राज्ञः कन्या विराटस्य नर्तयानं महाभुजम् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् द्रौपदीने नृत्यशालामें पहुँचकर महाबाहु अर्जुनको देखा, जो राजा विराटकी कन्याओंको नृत्य सिखा रहे थे ॥ १७ ॥

ततस्ता नर्तनागाराद् विनिष्क्रम्य सहार्जुनाः।
कन्या ददृशुरायान्तीं क्लिष्टां कृष्णामनागसम् ॥ १८ ॥

उसके आनेका समाचार पाकर अर्जुनसहित वे सब कन्याएँ नृत्यगृहसे बाहर निकल आयीं और वहाँ आती हुई निरपराध सतायी गयी कृष्णाको देखने लगीं ॥ १८ ॥

कन्या ऊचुः

दिष्ट्या सैरन्ध्रि मुक्तासि दिष्ट्यासि पुनरागता।
दिष्ट्या विनिहताः सूता ये त्वां क्लिश्यन्त्यनागसम् ॥ १९ ॥

उसे देखकर कन्याओंने कहा—सैरन्ध्री! सौभाग्य-की बात है कि तुम संकटसे मुक्त हो गयीं और सौभाग्यसे यहाँ पुनः लौट आयीं। वे सूतपुत्र जो तुम्हें बिना किसी अपराधके ही कष्ट दे रहे थे, मार दिये गये, यह भी भाग्यवश अच्छा ही हुआ॥ १९॥

बृहन्नलोवाच

कथं सैरन्ध्रि मुक्तासि कथं पापाश्च ते हताः।
इच्छामि वै तव श्रोतुं सर्वमेव यथातथम्॥ २०॥

बृहन्नलाने पूछा—सैरन्ध्री! तू उन पापियोंके हाथसे कैसे छूटी? और वे पापी कैसे मारे गये? मैं ये सब बातें तेरे मुखसे ज्यों-की-त्यों सुनना चाहती हूँ॥ २०॥



सैरन्ध्र्युवाच

बृहन्नले किं नु तव सैरन्ध्र्या कार्यमद्य वै।
या त्वं वससि कल्याणि सदा कन्यापुरे सुखम्॥ २१॥

सैरन्ध्री बोली—बृहन्नले! अब तुम्हें सैरन्ध्रीसे क्या काम है? कल्याणी! तुम तो मौजसे इन कन्याओंके अन्तः-पुरमें रहती हो॥ २१॥

न हि दुःखं समाप्नोषि सैरन्ध्री यदुपाश्नुते।
तेन मां दुःखितामेवं पृच्छसे प्रहसन्निव॥ २२॥

सैरन्ध्री जो दुःख भोग रही है, उसे दूर तो करोगी नहीं या उसका अनुभव तो तुम्हें होता नहीं; इसीलिये मुझ दुखियाकी केवल हँसी उड़ानेके लिये ऐसा प्रश्न कर रही हो?॥ २२॥

बृहन्नलोवाच

बृहन्नलापि कल्याणि दुःखमाप्नोत्यनुत्तमम्।
तिर्यग्योनिगता बाले न चैनामवबुध्यसे॥ २३॥

बृहन्नलाने कहा—कल्याणी! पशुओंकी-सी नीच या नपुंसक योनियोंमें पड़कर बृहन्नला भी महान् दुःख भोग रही है, तू अभी भोली-भाली है; इसीलिये बृहन्नलाको नहीं समझ पाती॥ २३॥

त्वया सहोषिता चास्मि त्वं च सर्वैः सहोषिता।
क्लिश्यन्त्यां त्वयि सुश्रोणि को नु दुःखं न चिन्तयेत्॥ २४॥

सुश्रोणि! तेरे साथ तो मैं रह चुकी हूँ और तू भी हम सबके साथ रही है; फिर तेरे ऊपर कष्ट पड़नेपर किसको दुःख न होगा?॥ २४॥

न तु केनचिदत्यन्तं कस्यचिद्धृदयं क्वचित्।
वेदितुं शक्यते नूनं तेन मां नावबुध्यसे॥ २५॥

निश्चय ही, कोई अन्य व्यक्ति किसी दूसरेके हृदयको कभी पूर्णरूपसे नहीं समझ सकता, यही कारण है कि तुम मुझे नहीं समझ पातीं; मेरे कष्टका अनुभव नहीं कर पातीं॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सहैव कन्याभिर्द्रौपदी राजवेश्म तत्।
प्रविवेश सुदेष्णायाः समीपमुपगामिनी॥ २६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर उन कन्याओंके साथ ही द्रौपदी राजभवनमें गयी और रानी सुदेष्णाके पास जाकर खड़ी हो गयी॥ २६॥

तामब्रवीद् राजपुत्री विराटवचनादिदम्।
सैरन्ध्रि गम्यतां शीघ्रं यत्र कामयसे गतिम्॥ २७॥

तब राजपुत्री सुदेष्णाने विराटके कथनानुसार उससे कहा—'सैरन्ध्री! तुम जहाँ जाना चाहो, शीघ्र चली जाओ॥

राजा बिभेति ते भद्रे गन्धर्वेभ्यः पराभवात्।
त्वं चापि तरुणी सुभ्रु रूपेणाप्रतिमा भुवि।
पुंसामिष्टश्च विषयो गन्धर्वाश्चातिकोपनाः॥ २८॥

'भद्रे! तुम्हारे गन्धर्वोंद्वारा प्राप्त होनेवाले पराभवसे महाराजको भय हो रहा है। सुभ्रु! तुम अभी तरुणी हो, रूप-सौन्दर्यमें भी तुम्हारी समानता कर सके, ऐसी कोई स्त्री इस भूमण्डलमें नहीं है। पुरुषोंको विषयभोग प्रिय होता ही है; (अतः उनसे प्रमाद होनेकी सम्भावना है।) इधर तुम्हारे गन्धर्व बड़े क्रोधी हैं (वे न जाने कब क्या कर बैठें?)'॥ २८॥

सैरन्ध्र्युवाच

त्रयोदशाहमात्रं मे राजा क्षाम्यतु भामिनि।
कृतकृत्या भविष्यन्ति गन्धर्वास्ते न संशयः॥ २९॥

सैरन्ध्रीने कहा—भामिनि! मेरे लिये तेरह दिन और

महाराज क्षमा करें । निःसंदेह तबतक गन्धर्वोंका अभीष्ट कार्य पूर्ण हो जायगा—वे कृतकृत्य हो जायँगे ॥ २९ ॥

ततो मामुपनेष्यन्ति करिष्यन्ति च ते प्रियम् ।
ध्रुवं च श्रेयसा राजा योक्ष्यते सह बान्धवैः ॥ ३० ॥

इसके बाद वे मुझे तो ले ही जायँगे, आपका भी प्रिय करेंगे । (गन्धर्वोंकी प्रसन्नतासे) अवश्य ही राजा विराट अपने भाई-बन्धुओंसहित कल्याणके भागी होंगे ॥ ३० ॥

(राज्ञा कृतोपकाराश्च कृतज्ञाश्च सदा शुभे ।
साधवश्च बलोत्सिक्ताः कृतप्रतिकृतेप्सवः ॥
अर्थिनी प्रब्रवीम्येषा यद् वा तद् वेति चिन्तय ।
भरस्व तदहर्मात्रं ततः श्रेयो भविष्यति ॥

शुभे ! राजा विराटने गन्धर्वोंका बड़ा उपकार किया है; अतः वे सदा उनके प्रति कृतज्ञ बने रहते हैं । गन्धर्वलोग बलके अभिमानी होते हुए भी साधु स्वभावके पुरुष हैं और अपने प्रति किये हुए उपकारका बदला चुकानेकी इच्छा रखते हैं । मैं एक प्रयोजनसे यहाँ रहती हूँ; इसीलिये तुमसे अभी कुछ दिन और यहाँ ठहरने देनेके लिये अनुरोध करती हूँ । तुम अपने मनमें जो कुछ भी सोच-विचार करो, किंतु कुछ गिने-गिनाये दिनोंतक अभी और मेरा भरण-पोषण करती चलो; इससे तुम्हारा कल्याण होगा ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा कैकेयी दुःखमोहिता ।
उवाच द्रौपदीमार्ता भ्रातृव्यसनकर्शिता ॥
वस भद्रे यथेष्टं त्वं त्वामहं शरणं गता ।
त्रायस्व मम भर्तारं पुत्रांश्चैव विशेषतः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! सैरन्ध्रीकी यह बात सुनकर केकयराजकुमारी सुदेष्णा भाईके शोकसे पीड़ित और दुःखसे मोहित हो आर्त होकर द्रौपदीसे बोली—'भद्रे ! तुम्हारी जबतक इच्छा हो, यहाँ रहो; परंतु मेरे पति और पुत्रोंकी विशेषरूपसे रक्षा करो । इसके लिये मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचकदाहे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें कीचकोंके दाह-संस्कारविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं)

(गोहरणपर्व)

पञ्चविंशोऽध्यायः

दुर्योधनके पास उसके गुप्तचरोंका आना और उनका पाण्डवोंके विषयमें कुछ पता न लगा, यह बताकर कीचकवधका वृत्तान्त सुनाना

वैशम्पायन उवाच

(कीचके तु हते राजा विराटः परवीरहा ।
शोकमाहारयत् तीव्रं सामात्यः सपुरोहितः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! कीचकके मारे जानेपर शत्रुवीरोंका वध करनेवाले राजा विराट पुरोहित और मन्त्रियोंसहित बहुत दुखी हुए ॥

कीचकस्य तु घातेन सानुजस्य विशाम्पते ।
अत्याहितं चिन्तयित्वा व्यस्मयन्त पृथग् जनाः ॥ १ ॥

नरेश्वर ! भाइयोंसहित कीचकका वध होनेसे सब लोग इसको बड़ी भारी दुर्घटना या दुःसाहसका काम मानकर अलग-अलग आश्चर्यमें पड़े रहे ॥ १ ॥

तस्मिन् पुरे जनपदे संजल्पोऽभूच्च सङ्घशः ।
शौर्याद्धि वल्लभो राज्ञो महासत्त्वः स कीचकः ॥ २ ॥

उस नगर तथा राष्ट्रमें झुंड-के-झुंड मनुष्य एकत्र हो जाते और उनमें इस तरहकी बातें होने लगती थीं—'महाबली कीचक अपनी शूरवीरताके कारण राजा विराटको बहुत प्रिय था ॥ २ ॥

आसीत् प्रहर्ता सैन्यानां दारामर्शी च दुर्मतिः ।
स हतः खलु पापात्मा गन्धर्वैर्दुष्टपूरुषः ॥ ३ ॥

'उसने विपक्षी दलोंकी बहुत-सी सेनाओंका संहार किया था, किंतु उसकी बुद्धि बड़ी खोटी थी । वह परायी स्त्रियोंपर बलात्कार करनेवाला पापात्मा और दुष्ट था; इसीलिये गन्धर्वोंद्वारा मारा गया है' ॥ ३ ॥

इत्यजल्पन् महाराज परानीकविनाशनम् ।
देशे देशे मनुष्याश्च कीचकं दुष्प्रधर्षणम् ॥ ४ ॥

महाराज जनमेजय ! शत्रुओंकी सेनाका संहार करनेवाले उस दुर्धर्ष वीर कीचकके विषयमें देश-देशके लोग ऐसी ही बातें किया करते थे ॥ ४ ॥

अथ वै धार्तराष्ट्रेण प्रयुक्ता ये बहिश्चराः ।
मृगयित्वा बहून् ग्रामान् राष्ट्राणि नगराणि च ॥ ५ ॥

संविधाय यथादृष्टं यथादेशप्रदर्शनम् ।
कृतकृत्या न्यवर्तन्त ते चरा नगरं प्रति ॥ ६ ॥

इधर अज्ञातवासकी अवस्थामें पाण्डवोंका पता लगानेके लिये दुर्योधनने जो बाहरके देशोंमें घूमनेवाले गुप्तचर लगा रक्खे थे, वे अनेक ग्राम, राष्ट्र और नगरोंमें उन्हें ढूँढ़कर, जैसा वे देख सकते या पता लगा सकते थे अथवा जिन-जिन देशोंमें छान-बीन कर सकते थे, उन सबमें उसी प्रकार देख-भाल करके अपना काम पूरा करके पुनः हस्तिनापुरमें लौट आये ॥ ५-६ ॥

तत्र दृष्ट्वा तु राजानं कौरव्यं धृतराष्ट्रजम् ।
द्रोणकर्णकृपैः सार्धं भीष्मेण च महात्मना ॥ ७ ॥
संगतं भ्रातृभिश्चापि त्रिगर्तैश्च महारथैः ।
दुर्योधनं सभामध्ये आसीनमिदमब्रुवन् ॥ ८ ॥

वहाँ वे धृतराष्ट्रपुत्र कुरुनन्दन दुर्योधनसे मिले, जो द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, महात्मा भीष्म, अपने सम्पूर्ण भाई तथा महारथी त्रिगर्तोंके साथ राजसभामें बैठा था। उससे मिलकर उन गुप्तचरोंने यों कहा ॥ ७-८ ॥

चरा ऊचुः

कृतोऽस्माभिः परो यत्नस्तेषामन्वेषणे सदा ।
पाण्डवानां मनुष्येन्द्र तस्मिन् महति कानने ॥ ९ ॥

गुप्तचर बोले—नरेन्द्र! हमने उस विशाल वनमें पाण्डवों-की खोजके लिये सदा महान् प्रयत्न जारी रक्खा है ॥ ९ ॥

निर्जने मृगसंकीर्णे नानाद्रुमलताकुले ।
लताप्रतानबहुले नानागुल्मसमावृते ॥ १० ॥
न च विद्मो गता येन पार्थाः सुदृढविक्रमाः ।
मार्गमाणाः पदन्यासं तेषु तेषु तथा तथा ॥ ११ ॥

मृगोंसे भरे हुए निर्जन वनमें, जो अनेकानेक वृक्षों और लताओंसे व्याप्त, विविध लताओंकी बहुलता एवं विस्तारसे विलसित तथा नाना गुल्मोंसे समावृत है, घूमकर वहाँके विभिन्न स्थानोंमें अनेक प्रकारसे उनके पदचिह्न हम ढूँढ़ते रहे हैं तथापि वे सुदृढ़ पराक्रमी कुन्तीकुमार किस मार्गसे कहाँ गये ? यह नहीं जान सके ॥ १०-११ ॥

गिरिकूटेषु तुङ्गेषु नानाजनपदेषु च ।
जनाकीर्णेषु देशेषु खर्वटेषु पुरेषु च ॥ १२ ॥
नरेन्द्र बहुशोऽन्विष्टा नैव विद्मश्च पाण्डवान् ।
अत्यन्तं वा विनष्टास्ते भद्रं तुभ्यं नरर्षभ ॥ १३ ॥

महाराज! हमने पर्वतोंके ऊँचे-ऊँचे शिखरोंपर, भिन्न-भिन्न देशोंमें, जनसमूहसे भरे हुए स्थानोंमें तथा तराईके गाँवों, बाजारों और नगरोंमें भी उनकी बहुत खोज की, परंतु कहीं भी पाण्डवोंका पता नहीं लगा। नरश्रेष्ठ! आपका कल्याण हो। सम्भव है, वे सर्वथा नष्ट हो गये हों॥ १२-१३ ॥

वर्त्मन्यन्वेष्यमाणा वै रथिनां रथिसत्तम ।
न हि विद्मो गतिं तेषां वासं हि नरसत्तम ॥ १४ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ नरोत्तम ! हमने रथियोंके मार्गपर भी उनका अन्वेषण किया है, किंतु वे कहाँ गये और कहाँ रहते हैं ? इसका पता हमें नहीं लगा ॥ १४ ॥

किंचित्काले मनुष्येन्द्र सूतानामनुगा वयम् ।
मृगयित्वा यथान्यायं वेदितार्थाः स्म तत्त्वतः ॥ १५ ॥

मानवेन्द्र ! कुछ कालतक हमलोग उनके सारथियोंके पीछे लगे रहे और अच्छी तरह खोज करके हमने एक यथार्थ बातका ठीक-ठीक पता लगा लिया है ॥ १५ ॥

प्राप्ता द्वारवतीं सूता विना पार्थैः परंतप ।
न तत्र कृष्णा राजेन्द्र पाण्डवाश्च महाव्रताः ॥ १६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले राजेश्वर ! पाण्डवोंके इन्द्रसेन आदि सारथि उनके बिना ही द्वारकापुरीमें पहुँच गये हैं। वहाँ न तो द्रौपदी है और न महान् व्रतधारी पाण्डव ही हैं॥

सर्वथा विप्रणष्टास्ते नमस्ते भरतर्षभ ।
न हि विद्मो गतिं तेषां वासं वापि महात्मनाम् ॥ १७ ॥
पाण्डवानां प्रवृत्तिं च विद्मः कर्मापि वा कृतम् ।
स नः शाधि मनुष्येन्द्र अत ऊर्ध्वं विशाम्पते ॥ १८ ॥

जान पड़ता है; वे बिल्कुल नष्ट हो गये । भरतश्रेष्ठ ! आपको नमस्कार है । हम महात्मा पाण्डवोंके मार्ग, निवास-स्थान, प्रवृत्ति अथवा उनके द्वारा किये हुए कार्यके विषयमें कुछ भी जानकारी नहीं प्राप्त कर सके। प्रजापालक नरेश ! इसके बाद हमारे लिये क्या आज्ञा है ? ॥ १७-१८ ॥

अन्वेषणे पाण्डवानां भूयः किं करवामहे ।
इमां च नः प्रियां वीर वाचं भद्रवतीं शृणु ॥ १९ ॥

बताइये, पाण्डवोंको ढूँढ़नेके लिये हम पुनः क्या करें ? वीर ! हमारी एक बात और सुनिये, यह आपको प्रिय लगेगी। इसमें आपके लिये मङ्गलजनक समाचार है ॥ १९ ॥

येन त्रिगर्ता निहता बलेन महता नृप ।
सूतेन राज्ञो मत्स्यस्य कीचकेन बलीयसा ॥ २० ॥
स हतः पतितः शेते गन्धर्वैर्निशि भारत ।
अदृश्यमानैर्दुष्टात्मा भ्रातृभिः सह सोदरैः ॥ २१ ॥

राजन् ! मत्स्यराज विराटके जिस महाबली सेनापति सूतपुत्र कीचकने बहुत बड़ी सेनाके द्वारा त्रिगर्तदेश और वहाँके निवासियोंको तहस-नहस कर दिया था, भारत ! गन्धर्वोंने उस दुष्टात्माको उसके सहोदर भाइयोंसहित रात्रिमें गुप्तरूपसे मार डाला है । अब वह श्मशानभूमिमें पड़ा सो रहा है ॥

(श्यालो राज्ञो विराटस्य सेनापतिरुदारधीः ।
सुदेष्णायाः स वै ज्येष्ठः शूरो वीरो गतव्यथः ॥
उत्साहवान् महावीर्यो नीतिमान् बलवानपि ।
युद्धज्ञो रिपुवीरघ्नः सिंहतुल्यपराक्रमः ॥

प्रजारक्षणदक्षश्च शत्रुग्रहणशक्तिमान् ।
विजितारिर्महायुद्धे प्रचण्डो मानतत्परः ॥
नरनारीमनोह्लादी धीरो वाग्मी रणप्रियः ।

उदारचित्त कीचक राजा विराटका साला और सेनापति था। रानी सुदेष्णाका वह बड़ा भाई लगता था। कीचक शूरवीर, व्यथारहित, उत्साही, महापराक्रमी, नीतिमान्, बलवान्, युद्धकी कलाको जाननेवाला, शत्रुवीरोंका संहार करनेमें समर्थ, सिंहके समान पराक्रमसम्पन्न, प्रजारक्षणमें कुशल, शत्रुओंको काबूमें लानेकी शक्ति रखनेवाला, बड़े-बड़े युद्धोंमें वैरियोंपर विजय पानेवाला, अत्यन्त क्रोधी, अभिमानी, नर-नारियोंके मनको आह्लादित करनेवाला, रणप्रिय, धीर और बोलनेमें चतुर था ॥

स हतो निशि गन्धर्वैः स्त्रीनिमित्तं नराधिप ।
अमृष्यमाणो दुष्टात्मा निशीथे सह सोदरैः ॥
सुहृदश्चास्य निहता योधाश्च प्रवरा हताः ।)

नरेश्वर ! वह अमर्षशील दुष्टात्मा कीचक एक स्त्रीके कारण गन्धर्वोंद्वारा आधी रातमें अपने भाइयोंसहित मार डाला गया है। उसके प्रिय सुहृद् और श्रेष्ठ सैनिक भी मारे गये हैं ॥

प्रियमेतदुपश्रुत्य शत्रूणां च पराभवम् ।
कृतकृत्यश्च कौरव्य विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ २२ ॥

कुरुनन्दन ! शत्रुओंके पराभवका यह प्रिय संवाद सुनकर आप कृतकृत्य हों और इसके बाद जो कुछ करना हो, वह करें ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारप्रत्यागमने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें गुप्तचरोंके लौटकर आनेसे सम्बन्ध रखनेवाला पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२५॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल २८ श्लोक हैं)

षड्विंशोऽध्यायः

दुर्योधनका सभासदोंसे पाण्डवोंका पता लगानेके लिये परामर्श तथा इस विषयमें कर्ण और दुःशासनकी सम्मति

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो राजा ज्ञात्वा तेषां वचस्तदा ।
चिरमन्तर्मना भूत्वा प्रत्युवाच सभासदः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा दुर्योधन उस समय दूतोंकी बातपर विचार करके बहुत देरतक मन-ही-मन कुछ सोचता रहा। उसके बाद उसने सभासदोंसे कहा—॥ १ ॥



सुदुःखा खलु कार्याणां गतिर्विज्ञातुमन्ततः ।
तस्मात् सर्वे निरीक्षध्वं क नु ते पाण्डवा गताः ॥ २ ॥

'कार्योंके अन्तिम परिणामको ठीक-ठीक समझ लेना अत्यन्त कठिन है; अतः आप सब लोग इस बातको समझें कि पाण्डव कहाँ चले गये ? ॥ २ ॥

अल्पावशिष्टं कालस्य गतभूयिष्ठमन्ततः ।
तेषामज्ञातचर्यायामस्मिन् वर्षे त्रयोदशे ॥ ३ ॥

'इस तेरहवें वर्षमें पाण्डवोंके अज्ञातवासका अधिकांश समय बीत चुका है और थोड़े ही दिन शेष हैं ॥ ३ ॥

अस्य वर्षस्य शेषं चेद् व्यतीयुरिह पाण्डवाः ।
निवृत्तसमयास्ते हि सत्यव्रतपरायणाः ॥ ४ ॥
क्षरन्त इव नागेन्द्राः सर्वे ह्याशीविषोपमाः ।
दुःखा भवेयुः संरब्धाः कौरवान् प्रति ते ध्रुवम् ॥ ५ ॥

'यदि शेष समय भी पाण्डव इसी प्रकार यहाँ व्यतीत कर लें, तो वे प्रतिज्ञापालनके भारसे मुक्त हो जायँगे। फिर तो वे सत्यव्रती पाण्डव मदकी धारा बहानेवाले गजराजों और विषधर सर्पोंके समान क्रोधमें भरकर निश्चय ही कौरवोंके लिये दुःखदायी हो जायँगे ॥ ४-५ ॥

सर्वे कालस्य वेत्तारः कृच्छ्ररूपधराः स्थिताः ।
प्रविशेयुर्जितक्रोधास्तावदेव पुनर्वनम् ॥ ६ ॥
तस्मात् क्षिप्रं बुभूषध्वं यथा तेऽत्यन्तमव्ययम् ।
राज्यं निर्द्वन्द्वमव्यग्रं निःसपत्नं चिरं भवेत् ॥ ७ ॥

'वे सब समयकी नियत अवधिको जानते हैं; अतः कहीं ऐसा वेष धारण करके छिपे होंगे, जिससे उन्हें पहचानना

कठिन हो गया है; इसलिये आपलोग शीघ्र उनका पता लगानेकी चेष्टा करें, जिससे वे क्रोधको दबाकर उतने ही समयके लिये अर्थात् बारह वर्षोंके लिये फिर वनमें चले जायँ। ऐसा होनेपर ही मेरा यह राज्य दीर्घकालतकके लिये निर्द्वन्द्व, व्यग्रताशून्य तथा निष्कण्टक हो जायगा' ॥ ६-७ ॥

अथाब्रवीत् ततः कर्णः क्षिप्रं गच्छन्तु भारत।
अन्ये धूर्ता नरा दक्षा निभृताः साधुकारिणः ॥ ८ ॥

यह सुनकर कर्णने कहा—'भरतनन्दन! तब शीघ्र ही दूसरे कार्यकुशल गुप्तचर भेजे जायँ, जो धूर्त होनेके साथ ही छिपे रहकर अपना कार्य अच्छी तरह कर सकें ॥ ८ ॥

चरन्तु देशान् संवीताः स्फीताञ्जनपदाकुलान्।
तत्र गोष्ठीषु रम्यासु सिद्धप्रव्रजितेषु च ॥ ९ ॥
परिचारेषु तीर्थेषु विविधेष्वाकरेषु च।
विज्ञातव्या मनुष्यैस्तैस्तर्कया सुविनीतया ॥ १० ॥

'वे गुप्तरूपसे धन-धान्यसम्पन्न एवं जनसमुदायसे भरे हुए देशोंमें जायँ और वहाँ सुरम्य सभाओंमें, सिद्ध-संन्यासी महात्माओंके आश्रमोंमें, राजनगरोंमें, नाना प्रकारके तीर्थों और सर्वोत्तम स्थानोंमें, वहाँ निवास करनेवाले मनुष्योंसे विनयपूर्ण युक्तिसे पूछकर उनका पता लगावें ॥ ९-१० ॥

विविधैस्तत्परैः सम्यक् तज्ज्ञैर्निपुणसंवृतैः।
अन्वेष्टव्याः सुनिपुणैः पाण्डवाश्छन्नवासिनः ॥ ११ ॥
नदीकुञ्जेषु तीर्थेषु ग्रामेषु नगरेषु च।
आश्रमेषु च रम्येषु पर्वतेषु गुहासु च ॥ १२ ॥

'पाण्डव छिपकर किसी गुप्त स्थानमें निवास करते होंगे; अतः जो कार्यसाधनमें तत्पर, उन्हें अच्छी तरह पहचाननेवाले, बुद्धिमानोंसे स्वयं भी छिपकर कार्य करनेवाले और अत्यन्त कुशल हों, ऐसे अनेक गुप्तचर नदी-तटवर्ती कुञ्जों, तीर्थों, गाँवों, नगरों, रमणीय आश्रमों, पर्वतों तथा गुफाओंमें जा-जाकर उनकी खोज करें' ॥ ११-१२ ॥

अथाग्रजानन्तरजः पापभावानुरागवान्।
ज्येष्ठं दुःशासनस्तत्र भ्राता भ्रातरमब्रवीत् ॥ १३ ॥

तदनन्तर सदा पापभावनामें अनुरक्त रहनेवाला दुर्योधनसे छोटा भाई दुःशासन अपने बड़े भाईसे बोला— ॥ १३ ॥

येषु नः प्रत्ययो राजंश्चारेषु मनुजाधिप।
ते यान्तु दत्तदेया वै भूयस्तान् परिमार्गितुम् ॥ १४ ॥

'राजन्! नरेश्वर! जिन गुप्तचरोंपर हमारा अधिक विश्वास हो, उन्हें देनेयोग्य सब साधन देकर पुनः पाण्डवोंकी खोजके लिये भेजा जाय ॥ १४ ॥

एतच्च कर्णो यत् प्राह सर्वमीहामहे तथा।
यथोद्दिष्टं चराः सर्वे मृगयन्तु ततस्ततः ॥ १५ ॥

'कर्णने जो बात कही है, वह सब हम करें। इनके बताये हुए स्थानोंमें जहाँ-तहाँ घूमकर सभी गुप्तचर उनका पता लगावें' ॥ १५ ॥

एते चान्ये च भूयांसो देशाद् देशं यथाविधि।
न तु तेषां गतिर्वासः प्रवृत्तिश्चोपलभ्यते ॥ १६ ॥

'ये तथा और भी बहुत-से लोग एक देशसे दूसरे देशमें विधिपूर्वक खोज करें। अभीतक तो पाण्डवोंके गन्तव्य स्थान, निवास तथा प्रवृत्तिका कुछ भी पता नहीं लग रहा है ॥ १६ ॥

अत्यन्तं वा निगूढास्ते पारं चोर्मिमतो गताः।
व्यालैश्चापि महारण्ये भक्षिताः शूरमानिनः ॥ १७ ॥

'या तो वे अधिक गुप्त स्थानमें छिपे हैं या समुद्रके उस पार चले गये हैं। यह भी सम्भव है कि अपनेको शूरवीर माननेवाले इन पाण्डवोंको उस महान् वनमें अजगर निगल गये हों ॥

अथवा विषमं प्राप्य विनष्टाः शाश्वतीः समाः।
तस्मान्मानसमव्यग्रं कृत्वा त्वं कुरुनन्दन।
कुरु कार्यं महोत्साहं मन्यसे यन्नराधिप ॥ १८ ॥

'अथवा वे किसी विषम परिस्थितिमें पड़कर सदाके लिये नष्ट हो गये हों। अतः कुरुनन्दन! मनुजेश्वर! आप अपने चित्तको स्वस्थ करके जो ठीक समझमें आवे, वह कार्य पूर्ण उत्साहके साथ करें' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि कर्णदुःशासनवाक्ये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें कर्ण और दुःशासनके वचनविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

आचार्य द्रोणकी सम्मति

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्महावीर्यो द्रोणस्तत्त्वार्थदर्शिवान्।
न तादृशा विनश्यन्ति न प्रयान्ति पराभवम् ॥ १ ॥
शूराश्च कृतविद्याश्च बुद्धिमन्तो जितेन्द्रियाः।
धर्मज्ञाश्च कृतज्ञाश्च धर्मराजमनुव्रताः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर तत्त्वार्थदर्शी महापराक्रमी द्रोणाचार्यने कहा—'पाण्डवलोग शूरवीर, विद्वान्, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ, कृतज्ञ और

अपने बड़े भाई धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञा माननेवाले उनके भक्त हैं। ऐसे महापुरुष न तो नष्ट होते हैं और न किसीसे तिरस्कृत ही होते हैं ॥ १-२ ॥

नीतिधर्मार्थतत्त्वज्ञं पितृवच्च समाहितम्।
धर्मे स्थितं सत्यधृतिं ज्येष्ठं ज्येष्ठानुयायिनः ॥ ३ ॥
अनुव्रता महात्मानं भ्रातरो भ्रातरं नृप।
अजातशत्रुं श्रीमन्तं सर्वभ्रातृमनुव्रतम् ॥ ४ ॥

'उनमें धर्मराज तो नीति, धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले, भाइयोंद्वारा पिताकी भाँति सम्मानित, धर्मपर अटल रहनेवाले, सत्यपरायण और भाइयोंमें सबसे ज्येष्ठ हैं। राजन्! उनके भाई भी अपनेसे बड़ोंके अनुगामी और अपने महात्मा बन्धु श्रीमान् अजातशत्रु युधिष्ठिरके भक्त हैं। धर्मराज भी सब भाइयोंपर अत्यन्त स्नेह रखते हैं ॥ ३-४ ॥

तेषां तथा विधेयानां निभृतानां महात्मनाम्।
किमर्थं नीतिमान् पार्थः श्रेयो नैषां करिष्यति ॥ ५ ॥

'जो इस प्रकार आज्ञापालक, विनयशील और महात्मा हैं, ऐसे अपने छोटे भाइयोंका नीतिज्ञ धर्मराज कैसे भला नहीं करेंगे ? ॥ ५ ॥

तस्माद् यत्नात् प्रतीक्षन्ते कालस्योदयमागतम्।
न हि ते नाशमृच्छेयुरिति पश्याम्यहं धिया ॥ ६ ॥

अतः मैं अपनी बुद्धि और अनुभवकी दृष्टिसे यह देखता हूँ कि पाण्डवलोग अपने अनुकूल समयके आनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं; वे नष्ट नहीं हो सकते ॥ ६ ॥

साम्प्रतं चैव यत् कार्यं तच्च क्षिप्रमकालिकम्।
क्रियतां साधु संचिन्त्य वासश्चैषां प्रचिन्त्यताम् ॥ ७ ॥
यथावत् पाण्डुपुत्राणां सर्वार्थेषु धृतात्मनाम्।
दुर्ज्ञेयाः खलु शूरास्ते दुरापास्तपसा वृताः ॥ ८ ॥

'इस समय जो कुछ करना है, वह खूब सोच-विचारकर शीघ्र किया जाना चाहिये। इसमें विलम्ब करना ठीक नहीं है। सभी विषयोंमें धैर्य रखनेवाले उन पाण्डवोंके निवास-स्थानका ही ठीक-ठीक पता लगाना चाहिये। वे सभी शूरवीर और तपस्यासे आवृत हैं, अतः उन्हें पाना कठिन है। पा लेनेपर भी उन्हें पहचानना तो और भी कठिन है ॥ ७-८ ॥

शुद्धात्मा गुणवान् पार्थः सत्यवान् नीतिमाञ्शुचिः।
तेजोराशिरसंख्येयो गृह्णीयादपि चक्षुषा ॥ ९ ॥

'कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर शुद्धचित्त, गुणवान्, सत्यवान्, नीतिमान्, पवित्र और तेजके पुञ्ज हैं; अतः उन्हें पहचानना असम्भव है। आँखोंसे दीख जानेपर भी वे मनुष्यको मोह लेंगे—पहचाने नहीं जा सकेंगे ॥ ९ ॥

विज्ञाय क्रियतां तस्माद् भूयश्च मृगयामहे।
ब्राह्मणैश्चारकैः सिद्धैर्ये चान्ये तद्विदो जनाः ॥ १० ॥

इसलिये इन बातोंको अच्छी तरह सोच-समझकर ही हमें कोई काम करना चाहिये। ब्राह्मण, गुप्तचर, सिद्ध पुरुष अथवा जो दूसरे लोग उन्हें पहचानते हों, उनके द्वारा पुनः उन सबकी खोज करानी चाहिये' ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि द्रोणवाक्ये चारप्रत्याचारे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें द्रोणवाक्य एवं गुप्तचर भेजनेसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ। २७।

अष्टाविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी महिमा कहते हुए भीष्मकी पाण्डवोंके अन्वेषणके विषयमें सम्मति

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो भरतानां पितामहः।
श्रुतवान् देशकालज्ञस्तत्त्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥ १ ॥
आचार्यवाक्योपरमे तद्वाक्यमभिसंदधत्।
हितार्थं समुवाचैनां भारतीं भारतान् प्रति ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इसके पश्चात् भरतवंशियोंके पितामह, देशकालके ज्ञाता, वेद-शास्त्रोंके विद्वान्, तत्त्वज्ञानी और सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले शान्तनु-नन्दन भीष्मजीने आचार्य द्रोणकी बात पूरी होनेपर कौरवोंके हितके लिये आचार्यके कथनसे मेल खाती हुई यह बात कौरवोंसे कही ॥ १-२ ॥

युधिष्ठिरे समासक्तां धर्मज्ञे धर्मसंवृताम्।
असत्सु दुर्लभां नित्यं सतां चाभिमतां सदा ॥ ३ ॥

उनकी वह बात धर्मज्ञ युधिष्ठिरसे सम्बन्ध रखनेवाली तथा धर्मसे युक्त थी। वह दुष्ट पुरुषोंके लिये सदा दुर्लभ और सत्पुरुषोंको सदैव प्रिय लगनेवाली थी ॥ ३ ॥

भीष्मः समवदत् तत्र गिरं साधुभिरर्चिताम्।
यथैष ब्राह्मणः प्राह द्रोणः सर्वार्थतत्त्ववित् ॥ ४ ॥

इस प्रकार भीष्मजीने वहाँ सत्पुरुषोंद्वारा प्रशंसित सम्यक् वचन कहा—'सब विषयोंके तत्त्वज्ञ तथा विप्रवर आचार्य द्रोणने जैसा कहा है, वह ठीक है ॥ ४ ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नाः साधुव्रतसमन्विताः।
श्रुतव्रतोपपन्नाश्च नानाश्रुतिसमन्विताः ॥ ५ ॥

वृद्धानुशासने युक्ताः सत्यव्रतपरायणाः।
समयं समयज्ञास्ते पालयन्तः शुचिव्रताः॥ ६ ॥

वास्तवमें पाण्डव समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, साधु-पुरुषोचित नियमों एवं व्रतके पालनमें तत्पर, वेदोक्त व्रतके पालक, नाना प्रकारकी श्रुतियोंके ज्ञाता, बड़े-बूढ़ोंके उपदेश और आदेशके पालनमें संलग्न, सत्यपरायण तथा शुद्ध व्रत धारण करनेवाले हैं। वे अज्ञातवासके नियत समयको जानते हैं, इसीलिये उसका पालन कर रहे हैं॥ ५-६॥

क्षत्रधर्मरता नित्यं केशवानुगताः सदा।
प्रवीरपुरुषास्ते वै महात्मानो महाबलाः।
नावसीदितुमर्हन्ति उद्वहन्तः सतां धुरम्॥ ७ ॥

'पाण्डव क्षत्रिय-धर्ममें नित्य अनुरक्त रहकर सदा भगवान् श्रीकृष्णका अनुगमन करनेवाले हैं। वे उत्तम वीर पुरुष, महात्मा, महाबलवान् तथा साधु पुरुषोंके लिये उचित कर्तव्य-का भार वहन कर रहे हैं; अतः वे कष्ट भोगने या नष्ट होने योग्य नहीं हैं॥ ७॥

धर्मतश्चैव गुप्तास्ते सुवीर्येण च पाण्डवाः।
न नाशमधिगच्छेयुरिति मे धीयते मतिः॥ ८ ॥

'पाण्डव अपने धर्म तथा उत्तम पराक्रमसे सुरक्षित हैं। अतः वे नष्ट नहीं हो सकते, यह मेरा निश्चित विचार है॥ ८॥

तत्र बुद्धिं प्रवक्ष्यामि पाण्डवान् प्रति भारत।
न तु नीतिः सुनीतस्य शक्यतेऽन्वेषितुं परैः॥ ९ ॥

'भरतनन्दन! पाण्डवोंके विषयमें मेरी बुद्धिका जो निश्चय है, उसे बताता हूँ। जो उत्तम नीतिसे सम्पन्न है, उसकी उस नीतिका अनुसंधान दूसरे (अनीतिपरायण) मनुष्य नहीं कर सकते॥ ९॥

यत् तु शक्यमिहास्माभिस्तान् वै संचिन्त्य पाण्डवान्।
बुद्ध्या प्रयुक्तं न द्रोहात् प्रवक्ष्यामि निबोध तत्॥

'पाण्डवोंके सम्बन्धमें अपनी बुद्धिसे भलीभाँति सोच-विचारकर मुझे जो युक्तिसंगत जान पड़ा है, वही उपाय हम यहाँ कर सकते हैं। मैं उसे द्रोहके कारण नहीं, तुम्हारे भलेके लिये बताता हूँ; ध्यान देकर सुनो॥ १०॥

न त्वियं मादृशैर्नीतिस्तस्य वाच्या कथंचन।
सा त्वियं साधु वक्तव्या न त्वनीतिः कथंचन॥ ११ ॥

'युधिष्ठिरकी जो नीति है, उसकी मेरे-जैसे पुरुषोंको कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये। उसे अच्छी नीति ही कहनी चाहिये, अनीति कहना किसी प्रकार ठीक नहीं है॥ ११॥

वृद्धानुशासने तात तिष्ठता सत्यशीलिना।
अवश्यं त्विह धीरेण सतां मध्ये विवक्षता॥ १२ ॥
यथार्हमिह वक्तव्यं सर्वथा धर्मलिप्सया।

'तात! जो वृद्धपुरुषोंके अनुशासनमें रहनेवाला और सत्यपालक है, वह धीर पुरुष यदि साधुपुरुषोंके समाजमें कुछ कहना चाहता है, तो उसे यहाँ सर्वथा धर्म प्राप्त करनेकी इच्छासे यथार्थ एवं उचित बात ही कहनी चाहिये॥ १२½॥

तत्र नाहं तथा मन्ये यथायमितरो जनः॥ १३ ॥
निवासं धर्मराजस्य वर्षेऽस्मिन् वै त्रयोदशे।

अतः इस तेरहवें वर्षमें धर्मराज युधिष्ठिरके निवासके सम्बन्धमें दूसरे लोग जैसी धारणा रखते हैं, वैसा मैं नहीं मानता॥ १३½॥

तत्र तात न तेषां हि राज्ञां भाव्यमसाम्प्रतम्॥ १४ ॥
पुरे जनपदे चापि यत्र राजा युधिष्ठिरः।
दानशीलो वदान्यश्च निभृतो ह्रीनिषेवकः।
जनो जनपदे भाव्यो यत्र राजा युधिष्ठिरः॥ १५ ॥

'तात! जिस नगर या राष्ट्रमें राजा युधिष्ठिर निवास करते होंगे, वहाँके राजाओंका अकल्याण नहीं हो सकता। जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, उस जनपदके लोगोंको दानशील, उदार, विनयी और लज्जाशील होना चाहिये॥ १४-१५॥

प्रियवादी सदा दान्तो भव्यः सत्यपरो जनः।
हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः॥ १६ ॥

'जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँके मनुष्य सदा प्रिय वचन बोलनेवाले, जितेन्द्रिय, कल्याणभागी, सत्यपरायण, हृष्ट-पुष्ट, पवित्र और कार्यकुशल होंगे॥ १६॥

नासूयको न चापीर्षुर्नाभिमानी न मत्सरी।
भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः॥ १७ ॥

'वहाँ कोई न तो दूसरेके दोष देखनेवाला होगा और न ईर्ष्यालु। न किसीमें अभिमान होगा और न मात्सर्य (द्वेष)। वहाँके सब लोग स्वयं ही धर्ममें तत्पर होंगे॥ १७॥

ब्रह्मघोषाश्च भूयांसः पूर्णाहुत्यस्तथैव च।
क्रतवश्च भविष्यन्ति भूयांसो भूरिदक्षिणाः॥ १८ ॥

'उस देश या जनपदमें प्रचुर रूपसे वेद-ध्वनि होती होगी, यज्ञोंमें पूर्णाहुतियाँ दी जाती होंगी और बड़ी-बड़ी दक्षिणाओं-वाले बहुत-से यज्ञ हो रहे होंगे॥ १८॥

सदा च तत्र पर्जन्यः सम्यग्वर्षी न संशयः।
सम्पन्नसस्या च मही निरातङ्का भविष्यति॥ १९ ॥

वहाँ मेघ सदा ठीक-ठीक वर्षा करता होगा, इसमें संशय नहीं है। वहाँकी भूमिपर खेती लहलहाती होगी और वहाँ निवास करनेवाली प्रजा सर्वथा निर्भय होगी॥ १९॥

गुणवन्ति च धान्यानि रसवन्ति फलानि च।
गन्धवन्ति च माल्यानि शुभशब्दा च भारती॥ २० ॥

'वहाँ गुणयुक्त धान्य, सरस फल, सुगन्धयुक्त माला

पाण्डवोंके अन्वेषणके विषयमें भीष्मकी सम्मति





सुशर्मापर भीमसेनका प्रहार

और माङ्गलिक शब्दोंसे युक्त वाणी सुलभ होगी ॥ २० ॥

वायुश्च सुखसंस्पर्शो निष्प्रतीपं च दर्शनम्।
न भयं त्वाविशेत् तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २१ ॥

वहाँ जिसका स्पर्श सुखदायक हो, ऐसी शीतल एवं मन्द वायु चलती होगी। धर्म और ब्रह्मके स्वरूपका विचार पाखण्डशून्य होगा। जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ भयका प्रवेश नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

गावश्च बहुलास्तत्र न कृशा न च दुर्बलाः।
पयांसि दधिसर्पींषि रसवन्ति हितानि च॥ २२ ॥

'उस जनपदमें गौओंकी अधिकता होगी और वे गौएँ कृश या दुर्बल न होकर खूब हृष्ट-पुष्ट होंगी। उनके दूध, दही और घी भी बड़े स्वादिष्ट तथा हितकारी होंगे ॥ २२ ॥

गुणवन्ति च पेयानि भोज्यानि रसवन्ति च।
तत्र देशे भविष्यन्ति यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २३ ॥

जिस देशमें राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ गुणकारी पेय और सरस भोज्य पदार्थ सुलभ होंगे ॥ २३ ॥

रसाः स्पर्शाश्च गन्धाश्च शब्दाश्चापि गुणान्विताः।
दृश्यानि च प्रसन्नानि यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥२४॥

'जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द—सभी विषय गुणकारी होंगे और मनको प्रसन्न करनेवाले दृश्य देखनेको मिलेंगे ॥ २४ ॥

धर्माश्च तत्र सर्वैस्तु सेविताश्च द्विजातिभिः।
स्वैः स्वैर्गुणैश्च संयुक्ता अस्मिन् वर्षे त्रयोदशे ॥ २५ ॥

'इस तेरहवें वर्षमें राजा युधिष्ठिर जहाँ कहीं भी होंगे, वहाँके समस्त द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) अपने-अपने धर्मोंका पालन करते होंगे और धर्म भी अपने गुण तथा प्रभावसे सम्पन्न होंगे ॥ २५ ॥

देशे तस्मिन् भविष्यन्ति तात पाण्डवसंयुते।
सम्प्रीतिमाञ्जनस्तत्र संतुष्टः शुचिरव्ययः ॥ २६ ॥

'तात ! पाण्डवोंसे संयुक्त देशमें ये सब विशेषताएँ होंगी। वहाँके लोग प्रसन्न, संतुष्ट, पवित्र और विकारशून्य होंगे ॥

देवतातिथिपूजासु सर्वभावानुरागवान्।
इष्टदानो महोत्साहः स्वस्वधर्मपरायणः ॥ २७ ॥

'देवता और अतिथियोंकी पूजामें सबका सर्वतोभावेन अनुराग होगा। सभी लोग दानको प्रिय मानेंगे, सबमें भारी उत्साह भरा होगा और सभी अपने-अपने धर्मके पालनमें तत्पर होंगे ॥ २७ ॥

अशुभाद्धि शुभप्रेप्सुरिष्टयज्ञः शुभव्रतः।
भविष्यति जनस्तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥

'जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँके लोग अशुभको छोड़कर शुभके अभिलाषी होंगे। यज्ञोंका अनुष्ठान उनके लिये अभीष्ट कार्य होगा और वे श्रेष्ठ व्रतोंको धारण करनेवाले होंगे ॥२८॥

त्यक्तवाक्यानृतस्तात शुभकल्याणमङ्गलः।
शुभार्थेप्सुः शुभमतिर्यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २९ ॥

'तात ! जहाँ राजा युधिष्ठिर रहते होंगे, वहाँके लोग असत्य-भाषणका त्याग करनेवाले, शुभ, कल्याण एवं मङ्गलसे युक्त, शुभ वस्तुओंकी प्राप्तिके इच्छुक तथा शुभमें ही मन लगानेवाले होंगे ॥ २९ ॥

भविष्यति जनस्तत्र नित्यं चेष्टप्रियव्रतः।
धर्मात्मा शक्यते ज्ञातुं नापि तात द्विजातिभिः॥ ३० ॥
किं पुनः प्राकृतैस्तात पार्थो विज्ञायते क्वचित्।
यस्मिन् सत्यं धृतिर्दानं परा शान्तिर्ध्रुवा क्षमा॥ ३१ ॥
ह्रीः श्रीः कीर्तिः परं तेज आनृशंस्यमथार्जवम्।

'सदा इष्टजनोंका प्रिय करना ही उनका व्रत होगा। कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं। उनमें सत्य, धैर्य, दान, परम शान्ति, अटल क्षमा, लज्जा, श्री, कीर्ति, उत्कृष्ट तेज, दयालुता और सरलता आदि गुण सदा रहते हैं। अतः अन्य साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या, द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य)भी उन्हें नहीं पहचान सकते ॥ ३०-३१½ ॥

तस्मात् तत्र निवासं तु छन्नं यत्नेन धीमतः।
गतिं च परमां तत्र नोत्सहे वक्तुमन्यथा ॥ ३२ ॥

'इसलिये जहाँ ऐसे लक्षण पाये जायँ, वहीं बुद्धिमान् युधिष्ठिरका यत्नपूर्वक छिपाया हुआ निवासस्थान हो सकता है; वहीं उनका उत्कृष्ट आश्रय होना सम्भव है। इसके विपरीत मैं और कोई बात नहीं कह सकता ॥ ३२ ॥

एवमेतत् तु संचिन्त्य यत्कृते मन्यसे हितम्।
तत् क्षिप्रं कुरु कौरव्य यद्येवं श्रद्दधासि मे ॥ ३३ ॥

'कुरुनन्दन ! यदि मेरी बातोंपर तुम्हें विश्वास हो, तो इसी प्रकार सोच-विचारकर जो काम करनेसे तुम्हें अपना हित जान पड़े, उसे शीघ्र करो' ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारप्रत्याचारे भीष्मवाक्ये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें गुप्तचर भेजनेके विषयमें भीष्मवचनसम्बन्धी अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

कृपाचार्यकी सम्मति और दुर्योधनका निश्चय

वैशम्पायन उवाच

ततः शारद्वतो वाक्यमित्युवाच कृपस्तदा ।
युक्तं प्राप्तं च वृद्धेन पाण्डवान् प्रति भाषितम्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इसके पश्चात् महर्षि शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने उस समय यह बात कही—'राजन्! वयोवृद्ध भीष्मजीने पाण्डवोंके विषयमें जो कुछ कहा है, वह युक्तियुक्त तो है ही, अवसरके अनुकूल भी है॥ १॥

धर्मार्थसहितं श्लक्ष्णं तत्त्वतश्च सहेतुकम् ।
तत्रानुरूपं भीष्मेण ममाप्यत्र गिरं शृणु ॥ २ ॥

'उसमें धर्म और अर्थ दोनों ही संनिहित हैं। वह सुन्दर, तात्त्विक और सकारण है। इस विषयमें मेरा भी जो कथन है, वह भीष्मजीके ही अनुरूप है, उसे सुनो॥ २॥

तेषां चैव गतिस्तीर्थैर्वासश्चैषां प्रचिन्त्यताम्।
नीतिर्विधीयतां चापि साम्प्रतं या हिता भवेत्॥ ३ ॥

'तुमलोग गुप्तचरोंसे पाण्डवोंकी गति और स्थितिका पता लगवाओ और उसी नीतिका आश्रय लो, जो इस समय हितकारिणी हो॥ ३॥

नावज्ञेयो रिपुस्तात प्राकृतोऽपि बुभूषता ।
किं पुनः पाण्डवास्तात सर्वास्त्रकुशला रणे॥ ४ ॥

'तात! जिसे सम्राट् बननेकी इच्छा हो, उसे साधारण शत्रुकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। फिर जो युद्धमें सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके संचालनमें कुशल हैं, उन पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है?॥ ४॥

तस्मात् सत्रं प्रविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
गूढभावेषु छन्नेषु काले चोदयमागते ॥ ५ ॥
स्वराष्ट्रे परराष्ट्रे च ज्ञातव्यं बलमात्मनः।
उदयः पाण्डवानां च प्राप्ते काले न संशयः॥ ६ ॥

'अतः इस समय जब कि महात्मा पाण्डव छद्मवेष धारण करके (अर्थात् वेष बदलकर) गुप्तरूपसे छिपे हुए हैं और अज्ञातवासकी जो नियत अवधि थी, वह प्रायः समाप्त हो चली है, स्वराष्ट्र और परराष्ट्रमें अपनी कितनी शक्ति है—इसे समझ लेना चाहिये। इसमें संदेह नहीं कि उपयुक्त समय आते ही पाण्डव प्रकट हो जायँगे॥ ५-६॥

निवृत्तसमयाः पार्था महात्मानो महाबलाः।
महोत्साहा भविष्यन्ति पाण्डवा ह्यमितौजसः॥ ७ ॥

'अज्ञातवासका समय पूर्ण कर लेनेपर कुन्तीके वे महाबली, अमितपराक्रमी और महात्मा पुत्र पाण्डव महान् उत्साहसे सम्पन्न हो जायँगे॥ ७॥

तस्माद् बलं च कोषश्च नीतिश्चापि विधीयताम्।
यथा कालोदये प्राप्ते सम्यक् तैः संदधामहे ॥ ८ ॥

'अतः इस समय तुम्हें अपनी सेना, कोष और नीति ऐसी बनायी रखनी चाहिये, जिससे समय आनेपर हम उनके साथ यथावत् सन्धि (मेल अथवा बाण-संधान) कर सकें॥ ८॥

तात बुद्ध्यापि तत् सर्वं बुध्यस्व बलमात्मनः।
नियतं सर्वमित्रेषु बलवत्स्वबलेषु च ॥ ९ ॥

'तात! तुम स्वयं बुद्धिसे भी विचारकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति कितनी है, इसकी जानकारी प्राप्त कर लो। तुम्हारे बलवान् और निर्बल सब प्रकारके मित्रोंमें निश्चित बल कितना है, यह भी जान लेना चाहिये॥ ९॥

उच्चावचं बलं ज्ञात्वा मध्यस्थं चापि भारत ।
प्रहृष्टमप्रहृष्टं च संदधाम तथा परैः॥ १० ॥

'भारत! उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकारकी सेनाओंकी स्थिति समझो। उत्तम और मध्यम सेनाएँ प्रसन्न हैं या अप्रसन्न—इसे जान लो; तब हम शत्रुओंसे सन्धि (मेल या बाण-संधान) कर सकते हैं॥ १०॥

साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन बलिकर्मणा ।
न्यायेनाक्रम्य च परान् बलाच्चानम्य दुर्बलान्॥ ११ ॥
सान्त्वयित्वा तु मित्राणि बलं चाभाष्यतां सुखम्।
सुकोषबलसंवृद्धः सम्यक् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १२ ॥

'साम (समझाना), दान (धन आदि देना), भेद (शत्रुओंमें फूट डालना), दण्ड देना और कर लेना—इन नीतियोंके द्वारा* शत्रुपर आक्रमण करके, दुर्बलोंको बलसे दबाकर, मित्रोंको मेल-जोलसे अपनाकर और सेनाको मिष्ट-भाषण एवं वेतन आदि देकर अपने अनुकूल कर लेना चाहिये। इस प्रकार उत्तम कोष और सेनाको बढ़ा लेनेपर तुम अच्छी सफलता प्राप्त कर सकोगे॥ ११-१२॥

योत्स्यसे चापि बलिभिररिभिः प्रत्युपस्थितैः ।
अन्यैस्त्वं पाण्डवैर्वापि हीनैः स्वबलवाहनैः॥१३॥

---

* जब शत्रुकी शक्ति अपने बराबर हो, तब उसके प्रति साम और भेदनीतिका प्रयोग करना चाहिये अर्थात् उससे समझौता करना या उसकी सेनामें फूट डालनी चाहिये। यदि शत्रु अपनेसे अधिक शक्तिशाली हो, तो वहाँ दाननीतिका प्रयोग उचित है अर्थात् उसे धन, रत्न आदि भेंट देकर शान्त करना चाहिये। यदि अपनी ही शक्ति अधिक हो, तो उसे दण्ड देना या युद्धमें मार गिराना चाहिये। अतः अपने और विपक्षीके बला-बलका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

'उस दशामें बलवान्-से-बलवान् शत्रु क्यों न आ जायँ और वे पाण्डव हों या दूसरे कोई, यदि सेना और वाहन आदिकी दृष्टिसे उनमें अपनी अपेक्षा न्यूनता है तो तुम उन सबके साथ युद्ध कर सकोगे ॥ १३ ॥

एवं सर्वं विनिश्चित्य व्यवसायं स्वधर्मतः ।
यथाकालं मनुष्येन्द्र चिरं सुखमवाप्स्यसि ॥ १४ ॥

'नरेन्द्र ! इस प्रकार अपने धर्मके अनुकूल सम्पूर्ण कर्तव्यका निश्चय करके यथासमय उसका पालन करोगे, तो दीर्घकालतक सुख भोगोगे' ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

(ततो दुर्योधनो वाक्यं श्रुत्वा तेषां महात्मनाम् ।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य सचिवानिदमब्रवीत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर दुर्योधन उन महात्माओंका वचन सुनकर दो घड़ीतक कुछ विचार करता रहा । फिर मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोला ॥

दुर्योधन उवाच

श्रुतं ह्येतन्मया पूर्वं कथासु जनसंसदि ।
वीराणां शास्त्रविदुषां प्राज्ञानां मतिनिश्चये ॥
कृतिनां सारफल्गुत्वं जानामि नयचक्षुषा ।

दुर्योधनने कहा - मन्त्रियो ! मैंने पूर्वकालमें जनसाधारणकी बैठकमें आपसकी बातचीतके समय शास्त्रोंके विद्वान्, ज्ञानी, वीर एवं पुण्यात्मा पुरुषोंके निश्चित सिद्धान्तके विषयमें कुछ ऐसी बातें सुनी हैं, जिनसे नीतिकी दृष्टिके अनुसार मैं मनुष्योंके बलाबलकी जानकारी रखता हूँ ॥

सत्त्वे बाहुबले धैर्ये प्राणे शारीरसम्भवे ।
साम्प्रतं मानुषे लोके सदैत्यनरराक्षसे ॥
चत्वारस्तु नरव्याघ्रा बले शक्रोपमा भुवि ।
उत्तमाः प्राणिनां तेषां नास्ति कश्चिद् बले समः॥
समप्राणबला नित्यं सम्पूर्णबलपौरुषाः ।
बलदेवश्च भीमश्च मद्रराजश्च वीर्यवान् ॥
चतुर्थः कीचकस्तेषां पञ्चमं नानुशुश्रुमः ।
अन्योन्यानन्तरबलाः परस्परजयैषिणः ॥
बाहुयुद्धमभीप्सन्तो नित्यं संरब्धमानसाः ।
तेनाहमवगच्छामि प्रत्ययेन वृकोदरम् ॥
मनस्यभिनिविष्टं मे व्यक्तं जीवन्ति पाण्डवाः ।

इस समय मनुष्यलोकमें दैत्य, मानव तथा राक्षसोंमें चार ही ऐसे पुरुषसिंह सुने जाते हैं, जो इस भूतलपर आत्मबल, बाहुबल, धैर्य तथा शारीरिक शक्तिमें इन्द्रके समान हैं । वे ही समस्त प्राणधारियोंमें उत्तम हैं । बलमें उनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है । उन सबमें सदा एक समान प्राणशक्ति मानी गयी है । वे सम्पूर्ण बल और पराक्रमसे सम्पन्न हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—बलदेव, भीमसेन, पराक्रमी मद्रराज शल्य तथा कीचक । इनमें कीचकका चौथा स्थान है । इनके समान कोई पाँचवाँ वीर मेरे सुननेमें नहीं आया । ये सभी परस्पर समान बलशाली तथा (मौका पड़नेपर) एक दूसरेको जीतनेके लिये उत्सुक रहे हैं । इनके मनमें एक दूसरेके प्रति सदा रोष भरा रहा और ये परस्पर बाहुयुद्ध करना चाहते रहे हैं। इस आधारपर मैं भीमसेनका पता पा लेता हूँ और मेरे मनमें स्पष्टरूपसे यह बात आ जाती है कि पाण्डव अवश्य जीवित हैं ।

तत्राहं कीचकं मन्ये भीमसेनेन मारितम् ॥
सैरन्ध्रीं द्रौपदीं मन्ये नात्र कार्या विचारणा ।

अब मुझे ऐसा लगता है कि विराटनगरमें कीचकको भीमसेनने ही मारा है । सैरन्ध्रीको मैं द्रौपदी समझता हूँ । इस विषयमें कोई अधिक विचार नहीं करना चाहिये ॥

शङ्के कृष्णानिमित्तं तु भीमसेनेन कीचकः ॥
गन्धर्वव्यपदेशेन हतो निशि महाबलः ।
को हि शक्तः परो भीमात् कीचकं हन्तुमोजसा ॥
शस्त्रं विना बाहुवीर्यात् तथा सर्वाङ्गचूर्णने ।
मर्दितुं वा तथा शीघ्रं चर्ममांसास्थिचूर्णितम् ॥

मुझे संदेह है कि द्रौपदीके निमित्तसे भीमसेनने ही गन्धर्वका नाम धारण करके रात्रिके समय महाबली कीचकको मारा होगा । भीमसेनके सिवा दूसरा कौन ऐसा वीर है, जो बिना अस्त्र-शस्त्रके केवल शारीरिकशक्ति और बाहुबलसे कीचकको मार सके तथा उसके सम्पूर्ण अङ्गोंको चूर-चूर करने और शीघ्रतापूर्वक अस्थि, चर्म एवं मांसके उस चूर्णसमुदायको मसलकर मांसपिण्ड बना देनेमें समर्थ हो ? ॥

रूपमन्यत् समास्थाय भीमस्यैतद् विचेष्टितम् ।
ध्रुवं कृष्णानिमित्तं तु भीमसेनेन सूतजाः ॥
गन्धर्वव्यपदेशेन हता युधि न संशयः ।

अतः यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि दूसरा रूप धारण करके भीमसेनने ही यह पराक्रम किया है । गन्धर्वनामधारी भीमने ही कृष्णाके लिये रातके समय सूतपुत्रोंका वध किया है, इसमें संशय नहीं है ॥

पितामहेन ये चोक्ता देशस्य च जनस्य च ।
गुणास्ते मत्स्यराष्ट्रस्य बहुशोऽपि मया श्रुताः ।
विराटनगरे मन्ये पाण्डवाश्छन्नचारिणः ॥
निवसन्ति पुरे रम्ये तत्र यात्रा विधीयताम् ।

पितामह भीष्मने युधिष्ठिरके निवासके प्रभावसे देश और जनसमुदायके जो गुण बताये हैं, उनमें भी बहुत-से गुण मत्स्यराष्ट्रमें (दूतोंद्वारा) मेरे सुननेमें आये हैं। इससे मैं मानता हूँ कि पाण्डव राजा विराटके रमणीय नगरमें निवास करते और छद्मवेष धारण करके गुप्तरूपसे विचरते हैं, अतः वहाँकी यात्रा करनी चाहिये ॥

मत्स्यराष्ट्रं हनिष्यामो ग्रहीष्यामश्च गोधनम् ॥
गृहीते गोधने नूनं तेऽपि योत्स्यन्ति पाण्डवाः।
अपूर्णे समये चापि यदि पश्येम पाण्डवान्।
द्वादशान्यानि वर्षाणि प्रवेक्ष्यन्ति पुनर्वनम् ॥

हमलोग वहाँ चलकर मत्स्यराष्ट्रको तहस-नहस करेंगे और राजा विराटके गोधनपर अपना अधिकार कर लेंगे। उनके गोधनका अपहरण कर लेनेपर निश्चय ही पाण्डव भी हमलोगोंके साथ युद्ध करेंगे। ऐसी दशामें यदि अज्ञातवासका समय पूर्ण होनेसे पूर्व ही हम पाण्डवोंको देख लेंगे, तो उन्हें पुनः दूसरी बार बारह वर्षोंके लिये वनमें प्रवेश करना पड़ेगा ॥

तस्मादन्यतरेणापि लाभोऽस्माकं भविष्यति।
कोषवृद्धिरिहास्माकं शत्रूणां निधनं भवेत् ॥
कथं सुयोधनं गच्छेद् युधिष्ठिरभृतः पुरा।
एतच्चापि वदत्येष मात्स्यः परिभवान्मयि ॥

अतः दोमेंसे एक भी हो जाय, तो भी हमें लाभ ही होगा। इस रणयात्रासे हमारे कोषकी वृद्धि होगी और शत्रुओंका नाश हो जायगा। मत्स्यदेशका राजा विराट मेरे प्रति तिरस्कारका भाव रखकर यह भी कहा करता है कि पूर्वकालमें धर्मराज युधिष्ठिरने जिसका पालन-पोषण किया हो, वह दुर्योधनके अधिकारमें कैसे जा सकता है ? ॥

तस्मात् कर्तव्यमेतद् वै तत्र यात्रा विधीयताम्।
एतत् सुनीतं मन्येऽहं सर्वेषां यदि रोचते ॥)

अतः निश्चय ही मत्स्यदेशपर आक्रमण करना चाहिये। वहाँकी यात्रा अवश्य की जाय। यदि आप सब लोगोंको अच्छा लगे, तो मैं इस कार्यको नीतिके अनुकूल मानता हूँ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारप्रत्याचारे कृपवाक्ये एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें गुप्तचर भेजनेके विषयमें कृपाचार्यवचनसम्बन्धी उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २० श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं)

त्रिंशोऽध्यायः

सुशर्माके प्रस्तावके अनुसार त्रिगर्तों और कौरवोंका मत्स्यदेशपर धावा

वैशम्पायन उवाच

अथ राजा त्रिगर्तानां सुशर्मा रथयूथपः।
प्राप्तकालमिदं वाक्यमुवाच त्वरितो बली ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर त्रिगर्तदेशके राजा महाबली सुशर्माने, जो रथियोंके समूहका अधिपति था, बड़ी उतावलीके साथ अपना यह समयोचित प्रस्ताव उपस्थित किया ॥ १ ॥

असकृन्निकृताः पूर्वं मत्स्यशाल्वेयकैः प्रभो।
सूतेनैव च मत्स्यस्य कीचकेन पुनः पुनः ॥ २ ॥
बाधितो बन्धुभिः सार्धं बलाद् बलवता विभो।
स कर्णमभ्युदीक्ष्याथ दुर्योधनमभाषत ॥ ३ ॥

उसने कर्णकी ओर देखकर दुर्योधनसे कहा—'प्रभो ! पहले मत्स्य तथा शाल्वदेशके सैनिकोंने अनेक बार चढ़ाई करके हमें कष्ट दिया है। मत्स्यराजके सेनापति महाबली सूतपुत्र कीचकने अपने बन्धुओंके साथ बार-बार आक्रमण करके मुझे बलपूर्वक सताया है ॥ २-३ ॥

ह्यसकृन्मत्स्यराज्ञा मे राष्ट्रं बाधितमोजसा।
प्रणेता कीचकस्तस्य बलवानभवत् पुरा ॥ ४ ॥

'मत्स्यनरेशने बहुत बार अपने बल-पराक्रमसे धावा करके मेरे समूचे राष्ट्रको क्लेश पहुँचाया है। पहले बलवान् कीचक ही उनका सेनानायक था ॥ ४ ॥

क्रूरोऽमर्षी स दुष्टात्मा भुवि प्रख्यातविक्रमः।
निहतः स तु गन्धर्वैः पापकर्मा नृशंसवान् ॥ ५ ॥

'वह दुष्टात्मा बहुत ही क्रूर और क्रोधी था। इस भूतलपर अपने पराक्रमके लिये उसकी सर्वत्र ख्याति थी। अब वह निर्दयी और पापाचारी कीचक गन्धर्वोंद्वारा मार डाला गया है ॥ ५ ॥

तस्मिन् विनिहते राजा हतदर्पो निराश्रयः।
भविष्यति निरुत्साहो विराट इति मे मतिः ॥ ६ ॥

'उसके मारे जानेसे राजा विराटका घमण्ड चूर-चूर हो गया होगा। अब वे निराधार एवं निरुत्साह हो गये होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ६ ॥

तत्र यात्रा मम मता यदि ते रोचतेऽनघ।
कौरवाणां च सर्वेषां कर्णस्य च महात्मनः ॥ ७ ॥

'अनघ ! यदि आपको जँचे, तो मेरी राय यह है कि समस्त कौरव वीरों और महामना कर्णका भी उस देशपर आक्रमण हो ॥ ७ ॥

एतत् प्राप्तमहं मन्ये कार्यमात्ययिकं हि नः।
राष्ट्रं तस्याभियास्यामो बहुधान्यसमाकुलम् ॥ ८ ॥

'मैं समझता हूँ; इसके लिये उपयुक्त अवसर प्राप्त हुआ है। यह हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक कार्य है। हम प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न मत्स्यराष्ट्रपर चढ़ाई करें ॥ ८ ॥

आददामोऽस्य रत्नानि विविधानि वसूनि च ।
ग्रामान् राष्ट्राणि वा तस्य हरिष्यामो विभागशः ॥ ९ ॥

'राजा विराटके यहाँ नाना प्रकारके रत्न और धन हैं। हम वे सब ले लेंगे और उनके गाँव तथा सम्पूर्ण राष्ट्रको जीतकर आपसमें बाँट लेंगे ॥ ९ ॥

अथवा गोसहस्राणि शुभानि च बहूनि च ।
विविधानि हरिष्यामः प्रतिपीड्य पुरं बलात् ॥ १० ॥

'अथवा उनके यहाँ सहस्रों सुन्दर गौओंके बहुत-से समुदाय हैं; अतः बलपूर्वक उनके नगरमें उत्पात मचाकर उन समस्त गौओंका अपहरण कर लेंगे ॥ १० ॥

कौरवैः सह संगत्य त्रिगर्तैश्च विशाम्पते ।
गास्तस्यापहरामोऽद्य सर्वैश्चैव सुसंहताः ॥ ११ ॥

'महाराज ! कौरवोंके साथ संगठित त्रिगर्तदेशीय सैनिकोंकी सहायतासे हम सब मिलकर विराटकी गौओंको हर लेंगे ॥ ११ ॥

संविभागेन कृत्वा तु निबध्नीमोऽस्य पौरुषम् ।
हत्वा चास्य चमूं कृत्स्नां वशमेवानयामहे ॥ १२ ॥

'और हम आपसमें विभाजन करके उन्हें अपने यहाँ बाँध लेंगे। साथ ही मत्स्यराजके सामर्थ्यको नष्ट करके उसकी सारी सेनाको अपने अधीन कर लेंगे ॥ १२ ॥

तं वशे न्यायतः कृत्वा सुखं वत्स्यामहे वयम् ।
भवतां बलवृद्धिश्च भविष्यति न संशयः ॥ १३ ॥

'विराटको नीतिसे वशमें करके हम सुखसे रहेंगे । इससे आपलोगोंकी सेना और शक्तिकी वृद्धि भी होगी; इसमें संशय नहीं है' ॥ १३ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कर्णो राजानमब्रवीत् ।
सूक्तं सुशर्मणा वाक्यं प्राप्तकालं हितं च नः ॥ १४ ॥

त्रिगर्तराजका यह कथन सुनकर कर्णने राजा दुर्योधनसे कहा—'सुशर्माने ठीक कहा है; यह समयोचित होनेके साथ ही हमारे लिये हितकर भी है ॥ १४ ॥

तस्मात् क्षिप्रं विनिर्यामो योजयित्वा वरूथिनीम् ।
विभज्य चाप्यनीकानि यथा वा मन्यसेऽनघ ॥ १५ ॥

'इसलिये सेनाको सुसज्जित करके उसे कई टुकड़ियोंमें बाँटकर हमलोग शीघ्र यहाँसे कूच कर दें । अथवा अनघ ! आपको जैसा ठीक लगे, वैसा करें ॥ १५ ॥

प्राज्ञो वा कुरुवृद्धोऽयं सर्वेषां नः पितामहः ।
आचार्यश्च यथा द्रोणः कृपः शारद्वतस्तथा ।
मन्यन्ते ते यथा सर्वे तथा यात्रा विधीयताम् ॥ १६ ॥

'अथवा कुरुकुलमें सबसे वृद्ध हमारे पितामह परम बुद्धिमान् भीष्म, आचार्य द्रोण तथा शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य—ये लोग जैसे ठीक समझें, वैसे ही यात्रा करनी चाहिये ॥

सम्मन्त्र्य चाशु गच्छामः साधनार्थं महीपतेः ।
किं च नः पाण्डवैः कार्यं हीनार्थबलपौरुषैः ॥ १७ ॥

'आपसमें अच्छी तरह सलाह करके हमें राजा विराटको वशमें करनेके लिये शीघ्र प्रस्थान कर देना चाहिये। पाण्डवलोग धन, बल तथा पौरुष तीनोंसे हीन हैं, अतः उनसे हमें क्या काम है ? ॥ १७ ॥

अत्यन्तं वा प्रणष्टास्ते प्राप्ता वापि यमक्षयम् ।
यामो राजन् निरुद्विग्ना विराटनगरं वयम् ।
आदास्यामो हि गास्तस्य विविधानि वसूनि च ॥ १८ ॥

'राजन् ! वे अत्यन्त अदृश्य (छिपे हुए) हों या यमराजके घर पहुँच गये हों, हमें तो उद्वेगशून्य होकर विराटनगरकी यात्रा करनी चाहिये। वहाँ हमलोग विराटकी गौओंको तथा उनके विविध धन-रत्नोंको हस्तगत कर लेंगे' ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो राजा वाक्यमादाय तस्य तत् ।
वैकर्तनस्य कर्णस्य क्षिप्रमाज्ञापयत् स्वयम् ॥ १९ ॥
शासने नित्यसंयुक्तं दुःशासनमनन्तरम् ।
सह वृद्धैस्तु सम्मन्त्र्य क्षिप्रं योजय वाहिनीम् ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा दुर्योधनने सूर्यपुत्र कर्णकी बात मानकर अपनी आज्ञाका पालन करनेके लिये सदा संनद्ध रहनेवाले छोटे भाई दुःशासनको स्वयं ही तुरंत आदेश दे दिया—'वृद्धजनोंकी सम्मति लेकर शीघ्र अपनी सेनाको प्रस्थानके लिये तैयार करो ॥ १९-२० ॥

यथोद्देशं च गच्छामः सहितास्तत्र कौरवैः ।
सुशर्मा च यथोद्दिष्टं देशं यातु महारथः ।
त्रिगर्तैः सहितो राजा समग्रबलवाहनः ॥ २१ ॥

'जिधरसे आक्रमणका निश्चय हो, उसी ओर हम कौरव-सैनिकोंके साथ चलें। महारथी सुशर्मा भी त्रिगर्तोंके साथ निश्चित दिशाकी ओर जायँ और अपने समस्त बल (सेना) एवं वाहनोंको साथ ले लें ॥ २१ ॥

प्रागेव हि सुसंवीतो मत्स्यस्य विषयं प्रति ।
जघन्यतो वयं तत्र यास्यामो दिवसान्तरे ।
विषयं मत्स्यराजस्य सुसमृद्धं सुसंहताः ॥ २२ ॥

'सब साधनोंसे सम्पन्न हो सुशर्मा पहले मत्स्यदेशपर आक्रमण करें । फिर पीछेसे एक दिन बाद हमलोग भी पूर्णतः संगठित हो मत्स्यनरेशके समृद्धिशाली राज्यपर धावा बोल देंगे ॥ २२ ॥

ते यान्तु सहितास्तत्र विराटनगरं प्रति ।
क्षिप्रं गोपान् समासाद्य गृह्णन्तु विपुलं धनम् ॥ २३ ॥

'त्रिगर्त-सैनिक एक साथ मिलकर तुरंत विराटनगरपर चढ़ाई करें और पहले ग्वालोंके पास पहुँचकर वहाँके बढ़े हुए गोधनपर अधिकार कर लें ॥ २३ ॥

गवां शतसहस्राणि श्रीमन्ति गुणवन्ति च ।
वयमप्यनुगृह्णीमो द्विधा कृत्वा वरूथिनीम् ॥ २४ ॥

फिर हमलोग अपनी सेनाको दो टुकड़ोंमें बाँटकर उनकी लाखों सुन्दर तथा गुणवती गौओंका अपहरण करेंगे' ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ते स्म गत्वा यथोद्दिष्टां दिशं वह्नेर्महीपते ।
संनद्धा रथिनः सर्वे सपदाता बलोत्कटाः ॥ २५ ॥
प्रति वैरं चिकीर्षन्तो गोषु गृद्धा महाबलाः ।
आदातुं गाः सुशर्माथ कृष्णपक्षस्य सप्तमीम् ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर पूर्व वैरका बदला लेनेकी इच्छावाले त्रिगर्तदेशीय रथी और पैदल सैनिक कवच आदि धारण करके तैयार हो गये । वे सभी महान् बलवान् और प्रचण्ड पराक्रमी थे । सुशर्माने विराटकी गौओंका अपहरण करनेके लिये पूर्वनिश्चित योजनाके अनुसार कृष्णपक्षकी सप्तमीको अग्निकोणकी ओरसे विराटनगरपर चढ़ाई की ॥ २५-२६ ॥

अपरे दिवसे सर्वे राजन् सम्भूय कौरवाः ।
अष्टम्यां ते न्यगृह्णन्त गोकुलानि सहस्रशः ॥ २७ ॥

राजन् ! फिर दूसरे दिन अष्टमीको दूसरी ओरसे सब कौरवोंने मिलकर धावा किया और गौओंके सहस्रों झुंडोंपर अधिकार जमा लिया ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे सुशर्माभियाने त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिणदिशाकी गौओंको ग्रहण करनेके लिये सुशर्मा आदिकी मत्स्यदेशपर चढ़ाईसे सम्बन्ध रखनेवाला तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

चारों पाण्डवोंसहित राजा विराटकी सेनाका युद्धके लिये प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततस्तेषां महाराज तत्रैवामिततेजसाम् ।
छद्मलिङ्गप्रविष्टानां पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ १ ॥
व्यतीतः समयः सम्यग् वसतां वै पुरोत्तमे ।
कुर्वतां तस्य कर्माणि विराटस्य महीपतेः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! उन दिनों छद्मवेषमें छिपकर उस श्रेष्ठ नगरमें रहते और महाराज विराटके कार्य सम्पादन करते हुए अतुलित तेजस्वी महात्मा पाण्डवोंका तेरहवाँ वर्ष भलीभाँति बीत चुका था ॥ १-२ ॥

कीचके तु हते राजा विराटः परवीरहा ।
परां सम्भावनां चक्रे कुन्तीपुत्रे युधिष्ठिरे ॥ ३ ॥

कीचकके मारे जानेपर शत्रुहन्ता राजा विराट कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके प्रति बड़ी आदरबुद्धि रखने और उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ करने लगे थे ॥ ३ ॥

ततस्त्रयोदशस्यान्ते तस्य वर्षस्य भारत ।
सुशर्मणा गृहीतं तद् गोधनं तरसा बहु ॥ ४ ॥

भारत ! तदनन्तर तेरहवें वर्षके अन्तमें सुशर्माने बड़े वेगसे आक्रमण करके विराटकी बहुत-सी गौओंको अपने अधिकारमें कर लिया ॥ ४ ॥

(ततः शब्दो महानासीद् रेणुश्च दिवमस्पृशत् ।
शङ्खदुन्दुभिघोषश्च भेरीणां च महास्वनः ॥
गवाश्वरथनागानां नराणां च पदातिनाम् ।

इससे उस समय बड़ा भारी कोलाहल मचा । धरतीकी धूल उड़कर ऊँचे आकाशमें व्याप्त हो गयी । शङ्ख, दुन्दुभि तथा नगारोंके महान् शब्द सब ओर गूँज उठे । बैलों, घोड़ों, रथों, हाथियों तथा पैदल सैनिकोंकी आवाज सब ओर फैल गयी ॥

एवं तैस्त्वभिनिर्याय मत्स्यराजस्य गोधने ॥
त्रिगर्तैर्गृह्यमाणे तु गोपालाः प्रत्यषेधयन् ।

इस प्रकार इन सबके साथ आक्रमण करके जब त्रिगर्तदेशीय योद्धा मत्स्यराजके गोधनको लेकर जाने लगे, उस समय उन गौओंके रक्षकोंने उन सैनिकोंको रोका ॥

अथ त्रिगर्ता बहवः परिगृह्य धनं बहु ॥
परिक्षिप्य हयैः शीघ्रै रथव्रातैश्च भारत ।
गोपालान् प्रत्ययुध्यन्त रणे कृत्वा जये धृतिम् ॥
ते हन्यमाना बहुभिः प्रासतोमरपाणिभिः ।
गोपाला गोकुले भक्ता वारयामासुरोजसा ।
परश्वधैश्च मुसलैर्भिन्दिपालैश्च मुद्गरैः ॥
गोपालाः कर्षणैश्चित्रैर्जघ्नुरश्वान् समन्ततः ।

भारत ! तब त्रिगर्तोंने बहुत-सा धन लेकर उसे अपने अधिकारमें करके शीघ्रगामी अश्वों तथा रथसमूहोंद्वारा युद्धमें विजयका दृढ़ संकल्प लेकर उन गोरक्षकोंका सामना करना आरम्भ किया। त्रिगर्तोंकी संख्या बहुत थी। वे हाथोंमें प्रास और तोमर लेकर विराटके ग्वालोंको मारने लगे; तथापि गोसमुदायके प्रति भक्तिभाव रखनेवाले वे ग्वाले बलपूर्वक उन्हें रोके रहे। उन्होंने फरसे, मूसल, भिन्दिपाल, मुद्गर तथा 'कर्षण' नामक विचित्र शस्त्रोंद्वारा सब ओरसे शत्रुओंके अश्वोंको मार भगाया ॥

ते हन्यमानाः संक्रुद्धास्त्रिगर्ता रथयोधिनः ॥
विसृज्य शरवर्षाणि गोपान् व्यद्रावयन् रणे।)

ग्वालोंके आघातसे अत्यन्त कुपित हो रथोंद्वारा युद्ध करनेवाले त्रिगर्तसैनिक बाणोंकी वर्षा करके उन ग्वालोंको रणभूमिसे खदेड़ने लगे ॥

ततो जवेन महता गोपः पुरमथाव्रजत्।
स दृष्ट्वा मत्स्यराजं च रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली ॥ ५ ॥

तब उन गौओंका रक्षक गोप, जिसने कानोंमें कुण्डल पहन रक्खे थे, रथपर आरूढ़ हो तीव्र गतिसे नगरमें आया और मत्स्यराजको देखकर दूरसे ही रथसे उतर पड़ा ॥ ५ ॥

शूरैः परिवृतं योधैः कुण्डलाङ्गदधारिभिः।
संवृतं मन्त्रिभिः सार्धं पाण्डवैश्च महात्मभिः ॥ ६ ॥
तं सभायां महाराजमासीनं राष्ट्रवर्धनम्।

अपने राष्ट्रकी उन्नति करनेवाले महाराज विराट कुण्डल तथा अङ्गद (बाजूबन्द) धारी शूरवीर योद्धाओंसे घिरकर मन्त्रियों तथा महात्मा पाण्डवोंके साथ राजसभामें बैठे थे ॥

सोऽब्रवीदुपसंगम्य विराटं प्रणतस्तदा ॥ ७ ॥
अस्मान् युधि विनिर्जित्य परिभूय सबान्धवान्।
गवां शतसहस्राणि त्रिगर्ताः कालयन्ति ते ॥ ८ ॥

उस समय उनके पास जाकर गोपने प्रणाम करके कहा—'महाराज ! त्रिगर्तदेशके सैनिक हमें युद्धमें जीतकर और भाई-बन्धुओंसहित हमारा तिरस्कार करके आपकी लाखों गौओंको हाँककर लिये जा रहे हैं ॥७-८ ॥

तान् परीप्सस्व राजेन्द्र मा नेशुः पशवस्तव।
तच्छ्रुत्वा नृपतिः सेनां मत्स्यानां समयोजयत्॥ ९ ॥

'राजेन्द्र ! उन्हें वापस लेने—छुड़ानेकी चेष्टा कीजिये; जिससे आपके वे पशु नष्ट न हो जायँ—आपके हाथोंसे दूर न निकल जायँ ।' यह सुनकर राजाने मत्स्यदेशकी सेना एकत्र की ॥ ९ ॥

रथनागाश्वकलिलां पत्तिध्वजसमाकुलाम्।
राजानो राजपुत्राश्च तनुत्राण्यथ भेजिरे ॥ १० ॥

उसमें रथ, हाथी, घोड़े और पैदल—सब प्रकारके सैनिक भरे थे और वह सेना ध्वजा-पताकाओंसे व्याप्त थी। फिर राजा तथा राजकुमारोंने पृथक्-पृथक् कवच धारण किये ॥

भानुमन्ति विचित्राणि शूरसेव्यानि भागशः।
सवज्रायसगर्भं तु कवचं तत्र काञ्चनम् ॥ ११ ॥
विराटस्य प्रियो भ्राता शतानीकोऽभ्यहारयत्।

वे कवच बड़े चमकीले, विचित्र और शूरवीरोंके धारण करने योग्य थे। राजा विराटके प्रिय भाई शतानीकने सुवर्णमय कवच ग्रहण किया, जिसके भीतर हीरे और लोहेकी जालियाँ लगी थीं ॥ ११½ ॥

सर्वपारसवं वर्म कल्याणपटलं दृढम् ॥ १२ ॥
शतानीकादवरजो मदिराक्षोऽभ्यहारयत्।

शतानीकसे छोटे भाईका नाम मदिराक्ष था। उन्होंने सुवर्णपत्रसे आच्छादित सुदृढ़ कवच धारण किया, जो सारा-का-सारा सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंको सहन करनेमें समर्थ फौलादका बना हुआ था ॥ १२½ ॥

शतसूर्यं शतावर्तं शतबिन्दु शताक्षिमत् ॥ १३ ॥
अभेद्यकल्पं मत्स्यानां राजा कवचमाहरत्।
उत्सेधे यस्य पद्मानि शतं सौगन्धिकानि च ॥ १४ ॥

मत्स्यदेशके राजा विराटने अभेद्यकल्प नामक कवच ग्रहण किया, जो किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे कट नहीं सकता था। उसमें सूर्यके समान चमकीली सौ फूलियाँ लगी थीं, सौ भँवरें बनी थीं, सौ बिन्दु (सूक्ष्म चक्र) और सौ नेत्रके समान आकारवाले चक्र बने थे। इसके सिवा उसमें नीचेसे ऊपरतक सौगन्धिक (कह्लार) जातिके सौ कमलोंकी आकृतियाँ पंक्तिबद्ध बनी हुई थीं ॥ १३-१४ ॥

सुवर्णपृष्ठं सूर्याभं सूर्यदत्तोऽभ्यहारयत्।
दृढमायसगर्भं च श्वेतं वर्म शताक्षिमत् ॥ १५ ॥
विराटस्य सुतो ज्येष्ठो वीरः शङ्खोऽभ्यहारयत्।

सेनापति सूर्यदत्त(शतानीक) ने पृष्ठभागमें सुवर्णजटित एवं सूर्यके समान चमकीला कवच पहन रखा था। विराटके ज्येष्ठ पुत्र वीरवर शङ्खने श्वेत रंगका एक सुदृढ़ कवच धारण किया, जिसके भीतरी भागमें लोहा लगा था और ऊपर नेत्रके समान सौ चिह्न बने हुए थे ॥ १५½ ॥

शतशश्च तनुत्राणि यथास्वं ते महारथाः ॥ १६ ॥
योत्स्यमाना अनह्यन्त देवरूपाः प्रहारिणः।

इसी प्रकार सैकड़ों देवताओंके समान रूपवान् महारथियोंने युद्धके लिये उद्यत हो अपने-अपने वैभवके अनुसार कवच पहन लिये। वे सब-के-सब प्रहार करनेमें कुशल थे ॥ १६½ ॥

सूपस्करेषु शुभ्रेषु महत्सु च महारथाः ॥ १७ ॥
पृथक् काञ्चनसंनाहान् रथेष्वश्वानयोजयन्।

उन महारथियोंने सुन्दर पहियोंवाले विशाल एवं उज्ज्वल रथोंमें पृथक्-पृथक् सोनेके बख्तर धारण कराये हुए घोड़ोंको जोता ॥ १७½ ॥

सूर्यचन्द्रप्रतीकाशे रथे दिव्ये हिरण्मये ॥ १८ ॥
महानुभावो मत्स्यस्य ध्वज उच्छिश्रिये तदा ।

मत्स्यराजके सुवर्णमय दिव्य रथमें, जो सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहा था, उस समय बहुत ऊँची ध्वजा फहराने लगी ॥ १८½ ॥

अथान्यान् विविधाकारान् ध्वजान् हेमपरिष्कृतान् ॥ १९ ॥
यथास्वं क्षत्रियाः शूरा रथेषु समयोजयन् ।

इसी प्रकार अन्य शूरवीर क्षत्रियोंने अपने-अपने रथोंमें यथाशक्ति सुवर्णमण्डित नाना प्रकारकी ध्वजाएँ फहरायीं ॥

(रथेषु युज्यमानेषु कङ्को राजानमब्रवीत् ।
मयाप्यस्त्रं चतुर्मार्गमवाप्तमृषिसत्तमात् ॥
दंशितो रथमास्थाय पदं निर्याम्यहं गवाम् ।
अयं च बलवाञ्छूरो बल्लवो दृश्यतेऽनघ ॥
गोसंख्यमश्वबन्धं च रथेषु समयोजय ।
नैते न जातु युध्येयुर्गवार्थमिति मे मतिः ॥)
अथ मत्स्योऽब्रवीद् राजा शतानीकं जघन्यजम् ॥ २० ॥

जब रथ जोते जा रहे थे, उस समय कङ्कने राजा विराटसे कहा—'मैंने भी एक श्रेष्ठ महर्षिसे चार मार्गोंवाले धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की है, अतः मैं भी कवच धारण करके रथपर बैठकर गौओंके पदचिह्नोंका अनुसरण करूँगा। निष्पाप नरेश ! यह बल्लव नामक रसोइया भी बलवान् एवं शूरवीर दिखायी देता है, इसे गौओंकी गणना करनेवाले गोशालाध्यक्ष तन्तिपाल तथा अश्वोंकी शिक्षाका प्रबन्ध करनेवाले ग्रन्थिकको भी रथोंपर बिठा दीजिये। मेरा विश्वास है कि ये गौओंके लिये युद्ध करनेसे कदापि मुँह नहीं मोड़ सकते।'

तदनन्तर मत्स्यराजने अपने छोटे भाई शतानीकसे कहा—॥ २० ॥

कङ्कबल्लवगोपाला दामग्रन्थिश्च वीर्यवान् ।
युद्ध्येयुरिति मे बुद्धिर्वर्तते नात्र संशयः ॥ २१ ॥

'भैया ! मेरे विचारमें यह बात आती है कि ये कङ्क, बल्लव, तन्तिपाल और ग्रन्थिक भी युद्ध कर सकते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ २१ ॥

एतेषामपि दीयन्तां रथा ध्वजपताकिनः ।
कवचानि च चित्राणि दृढानि च मृदूनि च ॥ २२ ॥
प्रतिमुञ्चन्तु गात्रेषु दीयन्तामायुधानि च ।
वीराङ्गरूपाः पुरुषा नागराजकरोपमाः ॥ २३ ॥

'अतः इनके लिये भी ध्वजा और पताकाओंसे सुशोभित रथ दो। ये भी अपने अङ्गोंमें ऊपरसे दृढ़, किंतु भीतरसे कोमल और विचित्र कवच धारण कर लें। फिर इन्हें भी सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र अर्पित करो। इनके अङ्ग और स्वरूप वीरोचित जान पड़ते हैं। इन वीर पुरुषोंकी भुजाएँ गजराजकी सूँड़दण्डकी भाँति शोभा पाती हैं ॥ २२-२३ ॥

नेमे जातु न युध्येरन्निति मे धीयते मतिः ।
एतच्छ्रुत्वा तु नृपतेर्वाक्यं त्वरितमानसः ।
शतानीकस्तु पार्थेभ्यो रथान् राजन् समादिशत् ॥ २४ ॥

'ये युद्ध न करते हों, यह कदापि सम्भव नहीं अर्थात् ये अवश्य युद्धकुशल हैं। मेरी बुद्धिका तो ऐसा ही निश्चय है।'

जनमेजय ! राजाका यह वचन सुनकर शतानीकने उतावले मनसे कुन्तीपुत्रोंके लिये शीघ्रतापूर्वक रथ लानेका आदेश दिया ॥

सहदेवाय राज्ञे च भीमाय नकुलाय च ।
तान् प्रहृष्टांस्ततः सूता राजभक्तिपुरस्कृताः ॥ २५ ॥
निर्दिष्टा नरदेवेन रथाञ्छीघ्रमयोजयन् ।

सहदेव, राजा युधिष्ठिर, भीम और नकुल—इन चारोंके लिये रथ लानेकी आज्ञा हुई। इस बातसे पाण्डव बड़े प्रसन्न थे। तब राजभक्त सारथि महाराज विराटके बताये अनुसार रथोंको शीघ्रतापूर्वक जोतकर ले आये ॥ २५½ ॥

कवचानि विचित्राणि मृदूनि च दृढानि च ॥ २६ ॥
विराटः प्रादिशद् यानि तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तान्यामुच्य शरीरेषु दंशितास्ते परंतपाः ॥ २७ ॥

उसके बाद अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले पाण्डुपुत्रोंको राजा विराटने अपने हाथसे विचित्र कवच प्रदान किये, जो ऊपरसे सुदृढ़ और भीतरसे कोमल थे। उन्हें लेकर उन वीरोंने अपने अङ्गोंमें यथास्थान बाँध लिया ॥ २६-२७ ॥

रथान् हयैः सुसम्पन्नानास्थाय च नरोत्तमाः ।
निर्ययुर्मुदिताः पार्थाः शत्रुसंघावमर्दिनः ॥ २८ ॥

शत्रुसमूहको रौंद डालनेवाले वे नरश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र घोड़े जुते हुए रथोंपर बैठकर बड़ी प्रसन्नताके साथ राजभवनसे बाहर निकले ॥ २८ ॥

तरस्विनश्छन्नरूपाः सर्वे युद्धविशारदाः ।
रथान् हेमपरिच्छन्नानास्थाय च महारथाः ॥ २९ ॥
विराटमन्वयुः पार्थाः सहिताः कुरुपुङ्गवाः ।
चत्वारो भ्रातरः शूराः पाण्डवाः सत्यविक्रमाः ॥ ३० ॥

वे बड़े वेगसे चले। उन्होंने अपने यथार्थ स्वरूपको अभीतक छिपा रक्खा था। वे सबके सब युद्धकी कलामें अत्यन्त निपुण थे। कुरुवंशशिरोमणि वे चारों महारथी कुन्तीकुमार सुवर्णमण्डित रथोंपर आरूढ़ हो एक ही साथ विराटके पीछे-पीछे चले। चारों भाई पाण्डव शूरवीर और सत्यपराक्रमी थे ॥ २९-३० ॥

(दीर्घाणां च दृढानां च धनुषां ते यथाबलम् ।
उत्कृष्य पाशान् मौर्वीणां वीराश्चापेष्वयोजयन् ॥
ततः सुवाससः सर्वे ते वीराश्चन्दनोक्षिताः ।
चोदिता नरदेवेन क्षिप्रमश्वानचोदयन् ॥
ते हया हेमसंच्छन्ना बृहन्तः साधुवाहिनः ।
चोदिताः प्रत्यदृश्यन्त पक्षिणामिव पङ्क्तयः ॥)

उन वीरोंने अपने विशाल और सुदृढ़ धनुषोंकी डोरियोंको यथाशक्ति ऊपर खींचकर धनुषके दूसरे सिरेपर चढ़ाया । फिर सुन्दर वस्त्र धारण करके चन्दनसे चर्चित हो उन समस्त वीर पाण्डवोंने नरदेव विराटकी आज्ञासे शीघ्रतापूर्वक अपने घोड़े हाँक दिये । अच्छी तरह रथका भार वहन करनेवाले वे स्वर्णभूषित विशाल अश्व हाँके जानेपर श्रेणीबद्ध होकर उड़ते हुए पक्षियोंके समान दिखायी देने लगे ॥

भीमाश्च मत्तमातङ्गाः प्रभिन्नकरटामुखाः ।
क्षरन्तश्चैव नागेन्द्राः सुदन्ताः षष्टिहायनाः ॥ ३१ ॥
स्वारूढा युद्धकुशलैः शिक्षिता हस्तिसादिभिः ।
राजानमन्वयुः पश्चाच्चलन्त इव पर्वताः ॥ ३२ ॥

जिनके गण्डस्थलसे मदकी धारा बहती थी, ऐसे भयंकर मतवाले हाथी तथा सुन्दर दाँतोंवाले साठ वर्षके मदवर्षी गजराज, जिन्हें युद्धकुशल महावतोंने शिक्षा दी थी, सवारोंको अपनी पीठपर चढ़ाये राजा विराटके पीछे-पीछे इस प्रकार जा रहे थे, मानो चलते-फिरते पर्वत हों ॥ ३१-३२ ॥

विशारदानां मुख्यानां हृष्टानां चारुजीविनाम् ।
अष्टौ रथसहस्राणि दश नागशतानि च ॥ ३३ ॥
षष्टिश्चाश्वसहस्राणि मत्स्यानामभिनिर्ययुः ।
तदनीकं विराटस्य शुशुभे भरतर्षभ ॥ ३४ ॥

युद्धकी कलामें कुशल, प्रसन्न रहनेवाले तथा उत्तम जीविकावाले मत्स्यदेशके प्रधान-प्रधान वीरोंकी उस सेनामें आठ हजार रथी, एक हजार हाथीसवार तथा साठ हजार घुड़सवार थे, जो युद्धके लिये तैयार होकर निकले थे । भरतर्षभ ! उनसे विराटकी वह विशाल वाहिनी अत्यन्त सुशोभित हो रही थी ॥ ३३-३४ ॥

सम्प्रयातं तदा राजन् निरीक्षन्तं गवां पदम् ।
तद् बलाग्र्यं विराटस्य सम्प्रस्थितमशोभत ।
दृढायुधजनाकीर्णं गजाश्वरथसंकुलम् ॥ ३५ ॥

राजन् ! उस समय गौओंके पदचिह्न देखती युद्धके लिये प्रस्थित हुई विराटकी वह श्रेष्ठ सेना अपूर्व शोभा पा रही थी । उसमें ऐसे पैदल सैनिक भरे थे, जिनके हाथोंमें मजबूत हथियार थे । साथ ही हाथी, घोड़े तथा रथके सवारोंसे भी वह सेना परिपूर्ण थी ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे मत्स्यराजरणोद्योगे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिण दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें मत्स्यराजविराटके युद्धोद्योगसे सम्बद्ध इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२ श्लोक मिलाकर कुल ४८ श्लोक हैं)

द्वात्रिंशोऽध्यायः

मत्स्य तथा त्रिगर्तदेशीय सेनाओंका परस्पर युद्ध

वैशम्पायन उवाच

निर्याय नगराच्छूरा व्यूढानीकाः प्रहारिणः ।
त्रिगर्तानस्पृशन् मत्स्याः सूर्ये परिणते सति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! नगरसे निकलकर प्रहार करनेमें कुशल वे मत्स्यदेशीय वीर योद्धा अपनी सेनाका व्यूह बनाकर चले और सूर्यके ढलते-ढलते उन्होंने त्रिगर्तोंको पकड़ लिया ॥ १ ॥

ते त्रिगर्ताश्च मत्स्याश्च संरब्धा युद्धदुर्मदाः ।
अन्योन्यमभिगर्जन्तो गोषु गृद्धा महाबलाः ॥ २ ॥

फिर तो क्रोधमें भरकर युद्धके लिये उन्मत्त हुए वे त्रिगर्त और मत्स्यदेशके महाबली वीर गौओंको ले जानेकी इच्छासे एक दूसरेको लक्ष्य करके गर्जना करने लगे ॥ २ ॥

भीमाश्च मत्तमातङ्गास्तोमराङ्कुशनोदिताः ।
ग्रामणीयैः समारूढाः कुशलैर्हस्तिसादिभिः ॥ ३ ॥
तेषां समागमो घोरस्तुमुलो लोमहर्षणः ।
घ्नतां परस्परं राजन् यमराष्ट्रविवर्धनः ॥ ४ ॥

हाथियोंपर चढ़कर उन्हें चलानेमें कुशल श्रेष्ठ महावतोंद्वारा तोमरों और अङ्कुशोंकी मारसे आगे बढ़ाये हुए भयंकर और मतवाले गजराज दोनों ओरसे एक दूसरेपर टूट पड़े । परस्पर शस्त्रोंका प्रहार करनेवाले हाथीसवारोंका वह कोलाहलपूर्ण भयंकर युद्ध रोंगटे खड़े कर देनेवाला एवं महासंहारकारी था ॥ ३-४ ॥

देवासुरसमो राजन्नासीत् सूर्येऽवलम्बति ।
पदातिरथनागेन्द्रहयारोहबलौघवान् ॥ ५ ॥

राजन् ! सूर्य पश्चिमकी ओर ढल रहे थे । उस समय पैदल, रथी, हाथीसवार तथा घुड़सवारोंके समूहसे भरा हुआ वह युद्ध देवासुरसंग्रामके समान हो रहा था ॥ ५ ॥

अन्योन्यमभ्यापततां निघ्नतां चेतरेतरम् ।

उदतिष्ठद् रजो भौमं न प्राज्ञायत किंचन ॥ ६ ॥

एक-दूसरेपर धावा बोलकर आपसमें मार-काट मचानेवाले उन सैनिकोंके पदाघातसे इतनी धूल उड़ी कि कुछ भी सूझ-बूझ नहीं पड़ता था ॥ ६ ॥

पक्षिणश्चापतन् भूमौ सैन्येन रजसाऽऽवृताः।
इषुभिर्व्यतिसर्पद्भिरादित्योऽन्तरधीयत ॥ ७ ॥

सेनाकी धूलसे आच्छादित होकर उड़ते हुए पक्षी भी भूमिपर गिर जाते थे। दोनों ओरसे छूटे हुए बाणोंद्वारा (आकाश खचाखच भर जानेके कारण) सूर्यदेवका दीखना बंद हो गया ॥ ७ ॥

खद्योतैरिव संयुक्तमन्तरिक्षं व्यराजत।
रुक्मपृष्ठानि चापानि व्यतिषिक्तानि धन्विनाम् ॥ ८ ॥
पततां लोकवीराणां सव्यदक्षिणमस्यताम्।
रथा रथैः समाजग्मुः पादातैश्च पदातयः ॥ ९ ॥

बाणोंके कारण अन्तरिक्ष मानो जुगनुओंसे भर गया हो, इस प्रकार चकमक हो रहा था। दायें-बायें बाण मारनेवाले वे विश्व-विख्यात धनुर्धर वीर जब घायल होकर गिरते थे, उस समय उनके सुवर्णकी पीठवाले धनुष दूसरोंके हाथमें चले जाते थे। रथी रथियोंसे और पैदल पैदलोंसे भिड़े हुए थे ॥८-९॥

सादिनः सादिभिश्चैव गजैश्चापि महागजाः।
असिभिः पट्टिशैः प्रासैः शक्तिभिस्तोमरैरपि ॥ १० ॥
संरब्धाः समरे राजन् निजघ्नुरितरेतरम्।
निघ्नन्तः समरेऽन्योन्यं शूराः परिघबाहवः ॥ ११ ॥
न शेकुरभिसंरब्धाः शूरान् कर्तुं पराङ्मुखान्।

घुड़सवार घुड़सवारोंसे और गजारोही गजारोहियोंसे लड़ रहे थे। राजन्! वे सब क्रोधमें भरकर उस युद्धमें एक-दूसरेपर तलवार, पट्टिश, प्रास, शक्ति और तोमर आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे प्रहार कर रहे थे; किंतु परिघके समान प्रचण्ड भुजदण्डवाले वे शूरवीर परस्पर क्रोधपूर्वक प्रहार करनेपर भी सामना करनेवाले वीरोंको पीछे नहीं हटा पाते थे ॥१०-११½॥

कृत्तोत्तरोष्ठं सुनसं कृत्तकेशमलंकृतम् ॥ १२ ॥
अदृश्यत शिरश्छिन्नं रजोध्वस्तं सकुण्डलम्।

बातकी बातमें, कुण्डलोंसहित कटे हुए कितने ही मस्तक धूलमें लोटने लगे। किसीकी नाक बड़ी सुन्दर थी, परंतु ऊपरका ओठ कट गया था। कोई अलंकारोंसे अलंकृत था, किंतु उसका केशभाग कटकर उड़ गया था ॥ १२½ ॥

अदृश्यंस्तत्र गात्राणि शरैश्छिन्नानि भागशः ॥ १३ ॥
शालस्कन्धनिकाशानि क्षत्रियाणां महामृधे।

उस महासंग्राममें बहुत-से क्षत्रिय वीरोंके शरीर, जो शालवृक्षकी शाखाओंके समान विशाल एवं हृष्ट-पुष्ट थे, छिन्न-भिन्न होकर टुकड़े-टुकड़े दिखायी देने लगे ॥ १३½ ॥

नागभोगनिकाशैश्च बाहुभिश्चन्दनोक्षितैः ॥ १४ ॥
आस्तीर्णा वसुधा भाति शिरोभिश्च सकुण्डलैः।

सर्पोंके शरीरकी भाँति सुशोभित चन्दनचर्चित भुजाओं तथा कुण्डलमण्डित मस्तकोंसे पटी हुई रणभूमि अपूर्व शोभा धारण कर रही थी ॥ १४½ ॥

रथिनां रथिभिश्चात्र सम्प्रहारोऽभ्यवर्तत ॥ १५ ॥
सादिभिः सादिनां चापि पदातीनां पदातिभिः।
उपाशाम्यद् रजो भौमं रुधिरेण प्रसर्पता ॥ १६ ॥

वहाँ रथियोंका रथियोंसे, घुड़सवारोंका घुड़सवारोंसे और पैदल योद्धाओंका पैदलोंसे घमासान युद्ध होने लगा। सब ओर रक्तकी धारा बह चली और उसमें सनकर धरतीकी धूल शान्त हो गयी ॥ १५-१६ ॥

कश्मलं चाविशद् घोरं निर्मर्यादमवर्तत।

युद्ध करनेवाले वीरोंको मूर्च्छा आने लगी। उनमें मर्यादाशून्य भयंकर युद्ध छिड़ गया ॥ १६½ ॥

(युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा भ्रातृभिः सहितस्तदा।
व्यूहं कृत्वा विराटस्य अन्वयुध्यत पाण्डवः॥
आत्मानं श्येनवत् कृत्वा तुण्डमासीद् युधिष्ठिरः।
पक्षौ यमौ च भवतः पुच्छमासीद् वृकोदरः॥
सहस्रं न्यहनत् तत्र कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
भीमसेनः सुसंक्रुद्धः सर्वशस्त्रभृतां वरः॥
द्विसहस्रं रथान् वीरः परलोकं प्रवेशयत्।
नकुलस्त्रिशतं जघ्ने सहदेवश्चतुःशतम् ॥)

पाण्डुनन्दन धर्मात्मा युधिष्ठिरने भी भाइयोंसहित व्यूह-रचना करके राजा विराटके लिये त्रिगर्तोंके साथ युद्ध आरम्भ किया। उन्होंने अपने आपको श्येन (बाज) पक्षीके रूपमें उपस्थित करके उसकी चोंचका स्थान ग्रहण किया। नकुल और सहदेव दोनों पंखोंके रूपमें हो गये। भीमसेन पूँछके स्थानमें हुए। कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने शत्रुओंके एक सहस्र सैनिकोंका संहार कर डाला। सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ वीर भीमसेनने अत्यन्त कुपित हो दो हजार रथियोंको परलोक पहुँचा दिया। नकुलने तीन सौ और सहदेवने चार सौ सैनिकोंको मार डाला ॥

उपाविशन् गरुत्मन्तः शरैर्गाढं प्रवेजिताः।
अन्तरिक्षे गतिर्येषां दर्शनं चाप्यरुध्यत ॥ १७ ॥

आकाशचारी पक्षी भी बाणसमूहोंसे अत्यन्त उद्विग्न होकर इधर-उधर बैठ गये। उनका आकाशमें उड़ना और दूरतक देखना भी बंद हो गया ॥ १७ ॥

ते घ्नन्तः समरेऽन्योन्यं शूराः परिघबाहवः।
न शेकुरभिसंरब्धाः शूरान् कर्तुं पराङ्मुखान् ॥ १८ ॥

परिघकी-सी मोटी बाँहोंवाले शूरमा कुपित हो एक दूसरेपर घातक प्रहार करते हुए भी सच्चे शूरवीरोंको युद्धसे विमुख नहीं कर पाते थे ॥ १८ ॥

शतानीकः शतं हत्वा विशालाक्षश्चतुःशतम्।
प्रविष्टौ महतीं सेनां त्रिगर्तानां महारथौ ॥ १९ ॥

इस प्रकार युद्ध करते-करते शतानीक सौ तथा विशालाक्ष (मदिराक्ष) चार सौ त्रिगर्त योद्धाओंको मारकर उनकी भारी सेनामें घुस गये। वे दोनों महारथी थे ॥ १९ ॥

तौ प्रविष्टौ महासेनां बलवन्तौ मनस्विनौ।
आर्च्छेतां बहुसंरब्धौ केशाकेशि रथारथि ॥ २० ॥

उस विशाल सेनामें घुसे हुए और अत्यन्त क्रुद्ध हुए उन बलवान् एवं मनस्वी वीरोंने उस सारी सेनाको मोहित कर दिया। वे दोनों उन त्रिगर्त सैनिकोंसे एक दूसरेके केश पकड़-पकड़कर तथा रथोंपर बैठे हुए रथियोंको गिरा-गिराकर युद्ध करने लगे ॥ २० ॥

लक्षयित्वा त्रिगर्तानां तौ प्रविष्टौ रथव्रजम्।
अग्रतः सूर्यदत्तश्च मदिराक्षश्च पृष्ठतः ॥ २१ ॥

फिर उन दोनोंने त्रिगर्तोंकी रथसेनाको लक्ष्य बनाकर उसमें प्रवेश किया। सूर्यदत्तने आगेकी ओरसे आक्रमण किया और मदिराक्षने पीछेकी ओरसे ॥ २१ ॥

विराटस्तत्र संग्रामे हत्वा पञ्चशतान् रथान्।
हयानां च शतान्यष्टौ हत्वा पञ्च महारथान् ॥ २२ ॥
चरन् स विविधान् मार्गान् रथेन रथसत्तमः।
त्रिगर्तानां सुशर्माणमार्च्छद् रुक्मरथं रणे ॥ २३ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ राजा विराटने रथके द्वारा विविध मार्गोंसे चलते—अनेक प्रकारके रणकौशल दिखाते हुए उस युद्धमें त्रिगर्तोंके पाँच सौ रथी, आठ सौ घुड़सवार तथा पाँच महारथियोंको मार गिरानेके पश्चात् स्वर्णभूषित रथपर बैठे हुए सुशर्मापर धावा किया ॥ २२-२३ ॥

तौ व्यवाहरतां तत्र महात्मानौ महाबलौ।
अन्योन्यमभिगर्जन्तौ गोष्ठेषु वृषभाविव ॥ २४ ॥

ये दोनों महान् बलवान् और महामनस्वी वीर गर्जते हुए एक दूसरेसे इस प्रकार जा भिड़े, मानो गोशालामें दो साँड़ लड़ रहे हों।

ततो राजा त्रिगर्तानां सुशर्मा युद्धदुर्मदः।
मत्स्यं समायाद् राजानं द्वैरथेन नरर्षभः ॥ २५ ॥

त्रिगर्तराज सुशर्मापर युद्धका घोर उन्माद छाया हुआ था। उस नरश्रेष्ठ वीरने राजा विराटका द्वैरथयुद्धके द्वारा सामना किया ॥ २५ ॥

ततो रथाभ्यां रथिनौ व्यतीयतुरमर्षणौ।
शरान् व्यसृजतां शीघ्रं तोयधारा घना इव ॥ २६ ॥

क्रोधमें भरे हुए वे दोनों रथी अपना-अपना रथ बढ़ाकर निकट आ गये और शीघ्रतापूर्वक एक दूसरेपर बाणोंकी झड़ी लगाने लगे, मानो दो मेघ जलकी धाराएँ बरसा रहे हों ॥

अन्योन्यं चापि संरब्धौ विचेरतुरमर्षणौ।
कृतास्त्रौ निशितैर्बाणैरसिशक्तिगदाभृतौ ॥ २७ ॥

दोनोंका एक दूसरेके प्रति क्रोध और अमर्ष बढ़ा हुआ था। दोनों ही अस्त्रविद्यामें निपुण थे और दोनोंने ही तलवार, शक्ति तथा गदा भी ले रक्खी थी। उस समय दोनों तीखे बाणोंसे परस्पर प्रहार करते हुए रणभूमिमें विचरने लगे ॥

ततो राजा सुशर्माणं विव्याध दशभिः शरैः।
पञ्चभिः पञ्चभिश्चास्य विव्याध चतुरो हयान् ॥ २८ ॥

इसी समय राजा विराटने सुशर्माको दस बाणोंसे बींध डाला और पाँच-पाँच बाणोंसे उसके चारों घोड़ोंको भी घायल कर दिया ॥ २८ ॥

तथैव मत्स्यराजानं सुशर्मा युद्धदुर्मदः।
पञ्चाशता शितैर्बाणैर्विव्याध परमास्त्रवित् ॥ २९ ॥

इसी प्रकार महान् अस्त्रवेत्ता सुशर्माने भी रणोन्मत्त होकर पचास तीखे बाणोंसे मत्स्यराज विराटको बींध डाला ॥

ततः सैन्यं महाराज मत्स्यराजसुशर्मणोः।
नाभ्यजानात् तदान्योन्यं सैन्येन रजसाऽऽवृतम् ॥ ३० ॥

महाराज! तदनन्तर सैनिकोंके पैरोंसे इतनी धूल उड़ी कि मत्स्यनरेश तथा सुशर्मा दोनोंकी सेनाएँ उससे आच्छादित हो गयीं और एक दूसरेके विषयमें यह भी न जान सकीं कि कौन कहाँ क्या कर रहा है? ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे विराटसुशर्मयुद्धे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिणदिशाकी गौओंके अपहरणके समय होनेवाले विराट और सुशर्माके युद्धके विषयमें बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

सुशर्माका विराटको पकड़कर ले जाना, पाण्डवोंके प्रयत्नसे उनका छुटकारा, भीमद्वारा सुशर्माका निग्रह और युधिष्ठिरका अनुग्रह करके उसे छोड़ देना

वैशम्पायन उवाच

तमसाभिप्लुते लोके रजसा चैव भारत।
अतिष्ठन् वै मुहूर्तं तु व्यूढानीकाः प्रहारिणः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! उस समय [सूर्यास्त हो चुका था एवं रात्रि आ गयी थी, अतः] सब लोग धूलसे तो आवृत थे ही, अन्धकारसे भी आच्छादित हो गये; अतः प्रहार करनेवाले सैनिक सेनाका व्यूह बनाकर कुछ देर-तक युद्ध बंद करके खड़े रहे ॥ १ ॥

ततोऽन्धकारं प्रणुदन्नुदतिष्ठत चन्द्रमाः।
कुर्वाणो विमलां रात्रिं नन्दयन् क्षत्रियान् युधि ॥ २ ॥

इतनेमें ही अन्धकारका निवारण करते हुए चन्द्रदेवका उदय हुआ। उन्होंने उस रणक्षेत्रमें क्षत्रियोंको आनन्द प्रदान करते हुए उस रात्रिको निर्मल (अन्धकारशून्य) बना दिया ॥ २ ॥

ततः प्रकाशमासाद्य पुनर्युद्धमवर्तत।
घोररूपं ततस्ते स्म नावैक्षन्त परस्परम् ॥ ३ ॥

अतः उजाला हो जानेसे पुनः घोर युद्ध प्रारम्भ हो गया। उस समय (युद्धके आवेशमें) योद्धा एक दूसरेको देख नहीं रहे थे ॥ ३ ॥

ततः सुशर्मा त्रैगर्तः सह भ्रात्रा यवीयसा।
अभ्यद्रवन्मत्स्यराजं रथव्रातेन सर्वशः ॥ ४ ॥

तदनन्तर त्रिगर्तराज सुशर्माने अपने छोटे भाईके साथ रथियोंका समूह लेकर चारों ओरसे मत्स्यराज विराटपर धावा बोल दिया ॥ ४ ॥

ततो रथाभ्यां प्रस्कन्द्य भ्रातरौ क्षत्रियर्षभौ।
गदापाणी सुसंरब्धौ समभ्यद्रवतां रथान् ॥ ५ ॥

फिर वे क्षत्रियशिरोमणि दोनों बन्धु रथोंसे कूद पड़े और हाथमें गदा ले क्रोधमें भरकर शत्रुसेनाके रथोंकी ओर दौड़े ॥ ५ ॥

(मत्ताविव वृषावेतौ गजाविव मदोद्धतौ।
सिंहाविव गजग्राहौ शक्रवृत्राविवोत्थितौ ॥
उभौ तुल्यबलोत्साहावुभौ तुल्यपराक्रमौ।
उभौ तुल्यास्त्रविदुषावुभौ युद्धविशारदौ ॥)

वे दोनों मतवाले साँड़ों, मदोन्मत्त गजराजों, एक ही हाथीपर आक्रमण करनेवाले दो सिंहों तथा युद्धके लिये उद्यत वृत्रासुर एवं इन्द्रके समान जान पड़ते थे। दोनों-के बल और उत्साह समान थे। दोनों ही एक-जैसे पराक्रमी और एक-से ही अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता थे। युद्ध करनेकी कलामें वे दोनों ही वीर अत्यन्त निपुण थे ॥

तथैव तेषां तु बलानि तानि
क्रुद्धान्यथान्योन्यमभिद्रवन्ति।
गदासिखड्गैश्च परश्वधैश्च
प्रासैश्च तीक्ष्णाग्रसुपीतधारैः ॥ ६ ॥

इसी प्रकार उन सबकी वे सेनाएँ भी कुपित हो गदा, तलवार, खड्ग, फरसे और भलीभाँति तेज किये हुए तीखी धारवाले प्रासों (भालों) से प्रहार करती हुई एक दूसरीपर टूट पड़ीं ॥ ६ ॥

बलं तु मत्स्यस्य बलेन राजा
सर्वं त्रिगर्ताधिपतिः सुशर्मा।
प्रमथ्य जित्वा च प्रसह्य मत्स्यं
विराटमोजस्विनमभ्यधावत् ॥ ७ ॥
तौ निहत्य पृथग् धुर्यावुभौ तौ पार्ष्णिसारथी।
विरथं मत्स्यराजानं जीवग्राहमगृह्णताम् ॥ ८ ॥

त्रिगर्तदेशके स्वामी राजा सुशर्माने अपनी सेनाके द्वारा मत्स्यराजकी सेनाको मथ डाला और बलपूर्वक उसे परास्त करके महापराक्रमी मत्स्यनरेश विराटपर चढ़ाई कर दी। उन दोनों भाइयोंने पृथक्-पृथक् विराटके दोनों घोड़ोंको मारकर उनके पार्श्वभागकी रक्षा करनेवाले सिपाहियों तथा सारथिको भी मार डाला और उन्हें रथहीन करके जीते-जी ही पकड़ लिया ॥ ७-८ ॥

तमुन्मथ्य सुशर्माथ युवतीमिव कामुकः।
स्यन्दनं स्वं समारोप्य प्रययौ शीघ्रवाहनः ॥ ९ ॥

जैसे कामी पुरुष किसी युवतीको बलपूर्वक पकड़ ले, वैसे ही सुशर्माने राजा विराटको पीड़ित करके पकड़ लिया और उनको शीघ्रगामी वाहनोंसे युक्त अपने रथपर चढ़ाकर वह चल दिया ॥ ९ ॥

तस्मिन् गृहीते विरथे विराटे बलवत्तरे।
प्राद्रवन्त भयान्मत्स्यास्त्रिगर्तैरर्दिता भृशम् ॥ १० ॥

अतिशय बलवान् राजा विराट जब रथहीन होकर पकड़ लिये गये, तब त्रिगर्तोंद्वारा अत्यन्त पीड़ित हुए मत्स्यदेशीय सैनिक भयभीत होकर भागने लगे ॥ १० ॥

तेषु संत्रस्यमानेषु कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
प्रत्यभाषन्महाबाहुं भीमसेनमरिंदमम् ॥ ११ ॥

उनके इस प्रकार अत्यन्त भयभीत होनेपर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने शत्रुओंका दमन करनेवाले महाबाहु भीमसेनसे कहा—॥ ११ ॥

मत्स्यराजः परामृष्टस्त्रिगर्तेन सुशर्मणा।
तं मोचय महाबाहो न गच्छेद् द्विषतां वशम् ॥१२॥

'महाबाहो ! त्रिगर्तराज सुशर्माने मत्स्यराजको पकड़ लिया है। उन्हें शीघ्र छुड़ाओ; जिससे वे शत्रुओंके वशमें न पड़ जायँ ॥ १२ ॥

उषिताः स्म सुखं सर्वे सर्वकामैः सुपूजिताः।
भीमसेन त्वया कार्या तस्य वासस्य निष्कृतिः ॥१३॥

'हम सब लोग उनके यहाँ सुखपूर्वक रहे हैं और उन्होंने हमें सब प्रकारकी अभीष्ट वस्तुएँ देकर हमारा भली-भाँति सत्कार किया है। अतः भीमसेन ! तुम्हें उनके घरमें रहनेके उपकारका बदला चुकाना चाहिये' ॥ १३ ॥

भीमसेन उवाच

अहमेनं परित्रास्ये शासनात् तव पार्थिव।
पश्य मे सुमहत् कर्म युध्यतः सह शत्रुभिः ॥१४॥

भीमसेन बोले—महाराज ! आपकी आज्ञासे मैं इन्हें सुशर्माके हाथोंसे छुड़ा लूँगा। आज आप शत्रुओंके साथ युद्ध करते समय मेरे महान् पराक्रमको देखें ॥ १४ ॥

स्वबाहुबलमाश्रित्य तिष्ठ त्वं भ्रातृभिः सह।
एकान्तमाश्रितो राजन् पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ॥१५॥

मैं अपने बाहुबलका भरोसा करके लड़ूँगा। राजन् ! आज आप भाइयोंसहित एकान्तमें खड़े होकर अब मेरा पराक्रम देखें ॥ १५ ॥

सुस्कन्धोऽयं महावृक्षो गदारूप इव स्थितः।
अहमेनमपारुज्य द्रावयिष्यामि शात्रवान् ॥१६॥

यह सामने जो महान् वृक्ष है, इसकी शाखाएँ बड़ी सुन्दर हैं। यह तो मानो गदाके ही रूपमें खड़ा है। अतः मैं इसीको उखाड़कर इसके द्वारा शत्रुदलको मार भगाऊँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

तं मत्तमिव मातङ्गं वीक्षमाणं वनस्पतिम्।
अब्रवीद् भ्रातरं वीरं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥१७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यह कहकर भीमसेन मदोन्मत्त गजराजकी भाँति उस वृक्षकी ओर देखने लगे। तब धर्मराज युधिष्ठिरने अपने वीर भ्रातासे कहा—॥

मा भीम साहसं कार्षीस्तिष्ठत्वेष वनस्पतिः।
मा त्वां वृक्षेण कर्माणि कुर्वाणमतिमानुषम् ॥१८॥
जनाः समवबुध्येरन् भीमोऽयमिति भारत।
अन्यदेवायुधं किंचित् प्रतिपद्यस्व मानुषम् ॥१९॥

'भीमसेन ! ऐसा दुःसाहस न करो, इस वृक्षको खड़ा रहने दो। यदि तुम इस महावृक्षको उखाड़नेका अतिमानुष (मानवोंके लिये असाध्य) कर्म करोगे, तो सब लोग पहचान लेंगे कि यह तो भीम है। अतः भारत ! तुम किसी दूसरे मानवोचित आयुधको ही ग्रहण करो ॥ १८-१९ ॥

चापं वा यदि वा शक्तिं निस्त्रिंशं वा परश्वधम्।
यदेव मानुषं भीम भवेदन्यैरलक्षितम् ॥२०॥
तदेवायुधमादाय मोक्षयाशु महीपतिम्।
यमौ च चक्ररक्षौ ते भवितारौ महाबलौ ॥२१॥
सहिताः समरे तत्र मत्स्यराजं परीप्सत।

'धनुष, शक्ति, खड्ग अथवा कुठार, जो भी मनुष्योचित अस्त्र-शस्त्र तुम्हें ठीक लगे; जिससे तुम दूसरोंद्वारा पहचाने न जा सको, वही लेकर राजाको शीघ्र छुड़ाओ। ये महाबली नकुल और सहदेव तुम्हारे रथके पहियोंकी रक्षा करेंगे। तुम तीनों भाई युद्धमें एक साथ मिलकर महाराज विराट-को छुड़ाओ' ॥ २०-२१½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु वेगेन भीमसेनो महाबलः ॥२२॥
गृहीत्वा तु धनुः श्रेष्ठं जवेन सुमहाजवः।
व्यमुञ्चच्छरवर्षाणि सतोय इव तोयदः ॥२३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! युधिष्ठिरके उक्त आदेश देनेपर महान् वेगशाली महाबली भीमसेनने शीघ्रता-पूर्वक एक उत्तम धनुष हाथमें ले लिया। फिर तो जैसे मेघ जलकी धारा बरसाता हो, उसी प्रकार वे वेगपूर्वक बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २२-२३ ॥

तं भीमो भीमकर्माणं सुशर्माणमथाद्रवत्।
विराटं समवीक्ष्यैनं तिष्ठ तिष्ठेति चावदत् ॥२४॥

तदनन्तर भीमसेन भयंकर कर्म करनेवाले सुशर्माकी ओर दौड़े और विराटकी ओर देखते हुए सुशर्मासे बोले—'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ २४ ॥

सुशर्मा चिन्तयामास कालान्तकयमोपमम्।
तिष्ठ तिष्ठेति भाषन्तं पृष्ठतो रथपुङ्गवः।
पश्यतां सुमहत् कर्म महद् युद्धमुपस्थितम् ॥२५॥

रथियोंमें श्रेष्ठ सुशर्मा पीछेकी ओरसे आते और 'खड़ा रह, खड़ा रह' कहते हुए काल, अन्तक एवं यमराजके समान भयंकर वीर पुरुषको देखकर चिन्तामें पड़ गया और अपने साथियोंसे बोला—'देखो, फिर बड़ा भारी युद्ध उपस्थित हुआ है। इसमें महान् पराक्रम दिखाओ' ॥ २५ ॥

परावृत्तो धनुर्गृह्य सुशर्मा भ्रातृभिः सह।
निमेषान्तरमात्रेण भीमसेनेन ते रथाः ॥२६॥
रथानां च गजानां च वाजिनां च ससादिनाम्।
सहस्रशतसङ्घाताः शूराणामुग्रधन्विनाम् ॥२७॥

पातिता भीमसेनेन विराटस्य समीपतः।
पत्तयो निहतास्तेषां गदां गृह्य महात्मना ॥२८॥

ऐसा कहकर सुशर्मा भाइयोंसहित धनुष उठाये लौट पड़ा। इधर महात्मा भीमसेनने निमेषमात्रमें ही गदा लेकर शत्रुओंके भयंकर धनुष धारण करनेवाले रथी, हाथीसवार और घुड़सवार वीरोंके एक लाख सैनिकोंके समूहोंको राजा विराटके समीप मार गिराया और बहुत-से पैदल सिपाहियोंका भी संहार कर डाला ॥ २६-२८ ॥

तद् दृष्ट्वा तादृशं युद्धं सुशर्मा युद्धदुर्मदः।
चिन्तयामास मनसा किं शेषं हि बलस्य मे।
अपरो दृश्यते सैन्ये पुरा मग्नो महाबले ॥२९॥

ऐसा भयानक युद्ध देख रणोन्मत्त सुशर्मा मन-ही-मन सोचने लगा, 'जान पड़ता है, मेरी सेना बुरी तरह मारी जायगी; क्योंकि मेरा दूसरा भाई भी पहलेसे ही इस विशाल सैन्य-समुद्रमें डूबा हुआ दिखायी देता है' ॥ २९ ॥

आकर्णपूर्णेन तदा धनुषा प्रत्यदृश्यत।
सुशर्मा सायकांस्तीक्ष्णान् क्षिपते च पुनः पुनः ॥३०॥
ततः समस्तास्ते सर्वे तुरगानभ्यचोदयन्।
दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणास्त्रिगर्तान् प्रत्यमर्षणाः ॥३१॥

ऐसा विचारकर वह कानतक खींचे हुए धनुषके द्वारा युद्धके लिये उद्यत दिखायी देने लगा। सुशर्मा बारंबार तीखे बाणोंकी झड़ी लगा रहा है, यह देख सम्पूर्ण मत्स्यदेशीय योद्धा त्रिगर्तोंके प्रति कुपित हो दिव्यास्त्र प्रकट करते हुए अपने रथोंके घोड़ोंको आगे बढ़ाने लगे ॥ ३०-३१ ॥

तान् निवृत्तरथान् दृष्ट्वा पाण्डवान् सा महाचमूः।
वैराटिः परमक्रुद्धो युयुधे परमाद्भुतम् ॥३२॥

पाण्डवोंको त्रिगर्तोंकी ओर रथ लौटाते देख मत्स्य-वीरोंकी वह विशालवाहिनी भी लौट पड़ी। विराटके पुत्र श्वेत अत्यन्त क्रोधमें भरकर बड़ा अद्भुत युद्ध करने लगे ॥

सहस्रमवधीत् तत्र कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
भीमः सप्त सहस्राणि यमलोकमदर्शयत् ॥३३॥

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने एक हजार त्रिगर्तोंको मार गिराया। भीमसेनने सात हजार योद्धाओंको यमलोकका दर्शन कराया॥

नकुलश्चापि सप्तैव शतानि प्राहिणोच्छरैः।
शतानि त्रीणि शूराणां सहदेवः प्रतापवान् ॥३४॥
युधिष्ठिरसमादिष्टो निजघ्ने पुरुषर्षभः।

नकुलने अपने बाणोंसे सात सौ सैनिकोंको यमराजके घर भेज दिया तथा पुरुषोंमें श्रेष्ठ प्रतापी वीर सहदेवने युधिष्ठिरकी आज्ञासे तीन सौ शूरवीरोंका संहार कर डाला ॥ ३४½ ॥

ततोऽभ्यपतदत्युग्रः सुशर्माणमुदायुधः ॥३५॥
हत्वा तां महतीं सेनां त्रिगर्तानां महारथः।

तदनन्तर महारथी सहदेव त्रिगर्तोंकी उस महासेनाका संहार करके अत्यन्त उग्र रूप धारण किये हाथमें धनुष ले सुशर्मापर चढ़ आये ॥ ३५½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा त्वरमाणो महारथः ॥३६॥
अभिपत्य सुशर्माणं शरैरभ्याहनद् भृशम्।

तत्पश्चात् महारथी राजा युधिष्ठिर भी बड़ी उतावलीके साथ सुशर्मापर धावा बोलकर उसे बाणोंद्वारा बारंबार बींधने लगे ॥ ३६½ ॥

सुशर्मापि सुसंरब्धस्त्वरमाणो युधिष्ठिरम् ॥३७॥
अविध्यन्नवभिर्बाणैश्चतुर्भिश्चतुरो हयान्।

तब सुशर्माने भी अत्यन्त कुपित हो बड़ी फुर्तीके साथ नौ बाणोंसे राजा युधिष्ठिरको और चार बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको बींध डाला ॥ ३७½ ॥

ततो राजन्नाशुकारी कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ॥३८॥
समासाद्य सुशर्माणमश्वानस्य व्यपोथयत्।
पृष्ठगोपांश्च तस्याथ हत्वा परमसायकैः ॥३९॥
अथास्य सारथिं क्रुद्धो रथोपस्थादपातयत्।

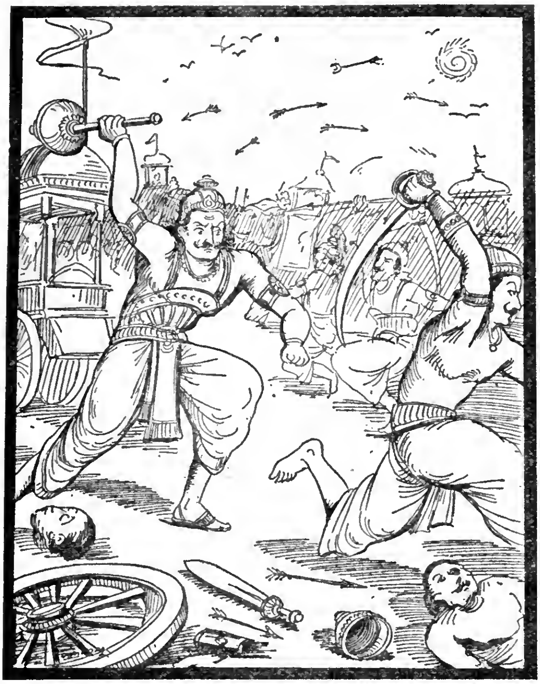
राजन्! फिर तो शीघ्रता करनेवाले कुन्तीपुत्र भीमने सुशर्माके पास पहुँचकर उत्तम बाणोंसे उसके घोड़ोंको मार डाला। साथ ही उसके पृष्ठरक्षकोंको भी मारकर कुपित हो उसके सारथिको भी रथसे नीचे गिरा दिया ॥ ३८-३९½ ॥

चक्ररक्षश्च शूरो वै मदिराक्षोऽतिविश्रुतः ॥४०॥
समायाद् विरथं दृष्ट्वा त्रिगर्तं प्राहरत् तदा।

सुशर्माको रथहीन हुआ देखकर राजा विराटके चक्ररक्षक सुप्रसिद्ध वीर मदिराक्ष भी वहाँ आ पहुँचे और त्रिगर्तनरेशपर बाणोंसे प्रहार करने लगे ॥ ४०½ ॥

ततो विराटः प्रस्कन्द्य रथादथ सुशर्मणः ॥४१॥
गदां तस्य परामृश्य तमेवाभ्यद्रवद् बली।
स चचार गदापाणिर्वृद्धोऽपि तरुणो यथा ॥४२॥

इसी बीचमें बलवान् राजा विराट सुशर्माके रथसे कूद पड़े और उसकी गदा लेकर उसीकी ओर दौड़े। उस समय



हाथमें गदा लिये राजा विराट बूढ़े होनेपर भी तरुणके समान रणभूमिमें विचर रहे थे ॥ ४१-४२ ॥

पलायमानं त्रैगर्तं दृष्ट्वा भीमोऽभ्यभाषत ।
राजपुत्र निवर्तस्व न ते युक्तं पलायनम् ॥ ४३ ॥

इसी बीचमें मौका पाकर त्रिगर्तराज भागने लगा। उसे पलायन करते देख भीमसेन बोले—राजकुमार ! लौट आओ । तुम्हारा युद्धसे पीठ दिखाकर भागना उचित नहीं है ॥ ४३ ॥

अनेन वीर्येण कथं गास्त्वं प्रार्थयसे बलात् ।
कथं चानुचरांस्त्यक्त्वा शत्रुमध्ये विषीदसि ॥ ४४ ॥

'इसी पराक्रमके भरोसे तुम विराटकी गौओंको बलपूर्वक कैसे ले जाना चाहते थे ? अपने सेवकोंको शत्रुओंके बीचमें छोड़कर क्यों भागते और विषाद करते हो ?' ॥ ४४ ॥

इत्युक्तः स तु पार्थेन सुशर्मा रथयूथपः ।
तिष्ठ तिष्ठेति भीमं स सहसाभ्यद्रवद् बली ॥ ४५ ॥
भीमस्तु भीमसंकाशो रथात् प्रस्कन्द्य पाण्डवः ।
प्राद्रवत् तूर्णमव्यग्रो जीवितेप्सुः सुशर्मणः ॥ ४६ ॥

भीमसेनके ऐसा कहनेपर रथियोंके यूथका अधिपति बलवान् सुशर्मा 'खड़ा रह, खड़ा रह', ऐसा कहते हुए सहसा भीमसेनपर टूट पड़ा। परंतु पाण्डुनन्दन भीम तो भीम-जैसे ही थे; वे तनिक भी व्यग्र नहीं हुए; अपितु रथसे कूदकर सुशर्माके प्राण लेनेके लिये बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़े ॥

तं भीमसेनो धावन्तमभ्यधावत वीर्यवान् ।
त्रिगर्तराजमादातुं सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ४७ ॥

तब सुशर्मा फिर भाग चला और पराक्रमी भीमसेन त्रिगर्त-राजको पकड़नेके लिये उसी प्रकार उसका पीछा करने लगे, जैसे सिंह छोटे मृगोंको पकड़नेके लिये जाता है ॥ ४७ ॥

अभिद्रुत्य सुशर्माणं केशपक्षे परामृशत् ।
समुद्यम्य तु रोषात् तं निष्पिपेष महीतले ॥ ४८ ॥

सुशर्माके पास पहुँचकर भीमने उसके केश पकड़ लिये और क्रोधपूर्वक उसे उठाकर पृथ्वीपर दे मारा। तत्पश्चात् उसे वहीं रगड़ने लगे ॥ ४८ ॥

पदा मूर्ध्नि महाबाहुः प्राहरद् विलपिष्यतः ।
तस्य जानुं ददौ भीमो जघ्ने चैनमरत्निना ।
स मोहमगमद् राजा प्रहारवरपीडितः ॥ ४९ ॥

इससे सुशर्मा विलाप करने लगा। उस समय भीमने उसके मस्तकपर लात मारी और उसके पेटको घुटनोंसे दबाकर ऐसा घूँसा मारा कि उसके भारी आघातसे पीड़ित होकर राजा सुशर्मा मूर्छित हो गया ॥ ४९ ॥

तस्मिन् गृहीते विरथे त्रिगर्तानां महारथे ।
अभज्यत बलं सर्वं त्रैगर्तं तद् भयातुरम् ॥ ५० ॥

त्रिगर्तोंका महारथी वीर सुशर्मा जब रथहीन होकर कैद कर लिया गया, तब वह सारी त्रिगर्तसेना भयसे व्याकुल हो तितर-बितर हो गयी ॥ ५० ॥

निवर्त्य गास्ततः सर्वाः पाण्डुपुत्रा महारथाः ।
अवजित्य सुशर्माणं धनं चादाय सर्वशः ॥ ५१ ॥

तदनन्तर पाण्डुके महारथी पुत्र सुशर्माको परास्त करनेके पश्चात् सब गौओंको लौटाकर और लूटका सारा धन वापस लेकर चले ॥ ५१ ॥

स्वबाहुबलसम्पन्ना ह्रीनिषेवा यतव्रताः ।
विराटस्य महात्मानः परिक्लेशविनाशनाः ॥ ५२ ॥

वे सभी अपने बाहुबलसे सम्पन्न, लज्जाशील, संयमपूर्वक व्रतपालनमें तत्पर, महात्मा तथा विराटका सारा क्लेश दूर करनेवाले थे ॥ ५२ ॥

स्थिताः समक्षं ते सर्वे त्वथ भीमोऽभ्यभाषत ॥ ५३ ॥
नायं पापसमाचारो मत्तो जीवितुमर्हति ।
किं तु शक्यं मया कर्तुं यद् राजा सततं घृणी ॥ ५४ ॥

जब वे सब राजाके सामने आकर खड़े हुए, तब भीमसेन बोले—'यह पापाचारी सुशर्मा मेरे हाथसे छूटकर जीवित रहने-योग्य तो नहीं है; परन्तु मैं कर ही क्या सकता हूँ ? हमारे महाराज सदाके दयालु हैं' ॥ ५३-५४ ॥

गले गृहीत्वा राजानमानीय विवशं वशम् ।
तत एनं विचेष्टन्तं बद्ध्वा पार्थो वृकोदरः ॥ ५५ ॥
रथमारोपयामास विसंज्ञं पांसुगुण्ठितम् ।

इसके बाद भीम राजा सुशर्माका गला पकड़कर ले आये। उस समय वह लाचार होकर उनके वशमें पड़ा था और छूटनेके लिये छटपटा रहा था। कुन्तीपुत्र भीमने सुशर्माको रस्सियोंसे बाँधकर रथपर रख दिया। उसके सारे

अङ्ग धूलमें सने थे और चेतना लुप्त-सी हो रही थी ॥ ५५½ ॥

अभ्येत्य रणमध्यस्थमभ्यगच्छद् युधिष्ठिरम् ॥ ५६ ॥
दर्शयामास भीमस्तु सुशर्माणं नराधिपम् ।

इसके बाद भीमने रणभूमिमें स्थित राजा युधिष्ठिरके पास



जाकर उन्हें राजा सुशर्माको दिखलाया ॥ ५६½ ॥

प्रोवाच पुरुषव्याघ्रो भीममाहवशोभिनम् ॥ ५७ ॥
तं राजा प्राहसद् दृष्ट्वा मुच्यतां वै नराधमः ।
एवमुक्तोऽब्रवीद् भीमः सुशर्माणं महाबलम् ॥ ५८ ॥

भीम युद्धमें अत्यन्त सुशोभित होते थे । पुरुषश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर सुशर्माको उस दशामें देखकर हँसे और भीमसेनसे बोले—'इस नराधमको छोड़ दो ।' उनके ऐसा कहनेपर भीम महाबली सुशर्मासे बोले ॥ ५७-५८ ॥

भीम उवाच

जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु ।
दासोऽस्मीति त्वया वाच्यं संसत्सु च सभासु च ॥ ५९ ॥

भीमसेनने कहा—मूर्ख ! यदि तू जीवित रहना चाहता है, तो उसका उपाय बताता हूँ, मेरी बात सुन । तुझे संसदों और सभाओंमें जाकर सदा यही कहना होगा कि 'मैं राजा विराटका दास हूँ' ॥ ५९ ॥

एवं ते जीवितं दद्यामेष युद्धजितो विधिः ।
तमुवाच ततो ज्येष्ठो भ्राता सप्रणयं वचः ॥ ६० ॥

ऐसा स्वीकार हो तो तुझे जीवन-दान दूँगा । युद्धमें जीतनेवाले पुरुषोंका यही नियम है । तब बड़े भ्राता युधिष्ठिरने भीमसे प्रेमपूर्वक कहा ॥ ६० ॥

युधिष्ठिर उवाच

मुञ्च मुञ्चाधमाचारं प्रमाणं यदि ते वयम् ।
दासभावं गतो ह्येष विराटस्य महीपतेः ।
अदासो गच्छ मुक्तोऽसि मैवं कार्षीः कदाचन ॥ ६१ ॥

तब युधिष्ठिर बोले—भैया ! यदि तुम मेरी बात मानते हो, तो इस पापाचारीको 'छोड़ दो, छोड़ दो' । यह महाराज विराटका दास तो हो ही चुका है । (इसके बाद वे सुशर्मासे बोले—) 'तुम दास नहीं रहे, जाओ, छोड़ दिये गये । फिर कभी 'ऐसा काम न करना' ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिण दिशाकी गौओंका अपहरण करते समय सुशर्माके निग्रहसे सम्बन्ध रखनेवाला तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ६३ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

राजा विराटद्वारा पाण्डवोंका सम्मान, युधिष्ठिरद्वारा राजाका अभिनन्दन तथा विराटनगरमें राजाकी विजयघोषणा

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु सव्रीडः सुशर्माऽऽसीदधोमुखः ।
स मुक्तोऽभ्येत्य राजानमभिवाद्य प्रतस्थिवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर सुशर्माने लज्जित होकर अपना मुँह नीचे कर लिया और बन्धनसे मुक्त हो राजा विराटके पास जा उन्हें प्रणाम करके अपने देशको प्रस्थान किया ॥ १ ॥

विसृज्य तु सुशर्माणं पाण्डवास्ते हतद्विषः ।
स्वबाहुबलसम्पन्ना ह्रीनिषेवा यतव्रताः ॥ २ ॥
संग्राममशिरसो मध्ये तां रात्रिं सुखिनोऽवसन् ॥

इस प्रकार सुशर्माको मुक्त करके शत्रुओंका संहार करनेवाले, अपने बाहुबलसे सम्पन्न, लज्जाशील और संयमपूर्वक व्रतपालनमें तत्पर रहनेवाले वे पाण्डव उस युद्धके मुहानेपर ही रातभर सुखसे रहे ॥ २½ ॥

ततो विराटः कौन्तेयानतिमानुषविक्रमान्।
अर्चयामास वित्तेन मानेन च महारथान्॥ ३॥

तदनन्तर राजा विराटने अतिमानुष (मानवीय शक्तिसे परे) पराक्रम करनेवाले महारथी कुन्तीपुत्रोंका धन और मानदानद्वारा सत्कार किया ॥ ३॥

विराट उवाच

यथैव मम रत्नानि युष्माकं तानि वै तथा।
कार्यं कुरुत वै सर्वे यथाकामं यथासुखम्॥ ४॥
ददाम्यलंकृताः कन्या वसूनि विविधानि च।
मनसश्चाप्यभिप्रेतं युद्धे शत्रुनिबर्हणाः॥ ५॥

विराटने कहा—युद्धमें शत्रुओंका संहार करनेवाले वीरो! ये रत्न और धन जैसे मेरे हैं, वैसे ही तुमलोगोंके भी। तुम सब लोग यहाँ सुखपूर्वक रहो और जिस कार्यमें तुमलोगोंकी रुचि हो, वही करो। मैं तुम सबको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कन्याएँ, नाना प्रकारके रत्न, धन तथा और भी मनोवाञ्छित पदार्थ देता हूँ॥ ४-५॥

युष्माकं विक्रमादद्य मुक्तोऽहं स्वस्तिमानिह।
तस्माद् भवन्तो मत्स्यानामीश्वराः सर्व एव हि॥ ६॥

आज मैं तुमलोगोंके ही पराक्रमसे यहाँ शत्रुके पंजेसे कुशलपूर्वक छूटकर आया हूँ। अतः तुमलोग मत्स्यदेशके स्वामी ही हो॥ ६॥

वैशम्पायन उवाच

तथेतिवादिनं मत्स्यं कौरवेयाः पृथक् पृथक्।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे युधिष्ठिरपुरोगमाः॥ ७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार कहनेवाले मत्स्यराजसे युधिष्ठिर आदि सभी कुरुवंशी पृथक्-पृथक् हाथ जोड़कर बोले—॥ ७॥

प्रतिनन्दाम ते वाक्यं सर्वं चैव विशाम्पते।
एतेनैव प्रतीताः स्म यत् त्वं मुक्तोऽद्य शत्रुभिः॥ ८॥

'महाराज! आपका कहना ठीक है। हम आपके सम्पूर्ण वचनोंका अभिनन्दन करते हैं, किंतु हमलोग इतनेसे ही संतुष्ट हैं कि आप आज शत्रुओंसे मुक्त हो गये'॥ ८॥

ततोऽब्रवीत् प्रीतमना मत्स्यराजो युधिष्ठिरम्।
पुनरेव महाबाहुर्विराटो राजसत्तमः॥ ९॥
एहि त्वामभिषेक्ष्यामि मत्स्यराजस्तु नो भवान्॥ १०॥

तब राजाओंमें श्रेष्ठ मत्स्यनरेश महाबाहु विराटने मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न होकर पुनः युधिष्ठिरसे कहा—'कङ्कजी! आइये, मैं आपका अभिषेक करूँगा। आप ही हमारे मत्स्यदेशके राजा बनें॥ ९-१०॥

मनसश्चाप्यभिप्रेतं यथेष्टं भुवि दुर्लभम्।
तत् तेऽहं सम्प्रदास्यामि सर्वमर्हति नो भवान्॥ ११॥

'इस पृथ्वीपर दुर्लभ जो और भी प्रिय तथा मनोवाञ्छित पदार्थ होगा, वह भी मैं आपको दूँगा। आप तो हमारा सब कुछ पानेके अधिकारी हैं॥ ११॥

रत्नानि गाः सुवर्णं च मणिमुक्तमथापि च।
वैयाघ्रपद्य विप्रेन्द्र सर्वथैव नमोऽस्तु ते॥ १२॥

'व्याघ्रपदगोत्रमें उत्पन्न विप्रवर! मेरे रत्न, गौएँ, सुवर्ण, मणि तथा मोती भी आपके अर्पण हैं। आपको हमारा सब प्रकारसे नमस्कार है॥ १२॥

त्वत्कृते ह्यद्य पश्यामि राज्यं संतानमेव च।
यतश्च जातसंरम्भो न च शत्रुवशं गतः॥ १३॥

'आपके कारण ही आज मैं अपने राज्य और संतानका मुख देख पाऊँगा; क्योंकि पकड़े जानेपर मैं भयभीत हो गया था, किंतु आपके पराक्रमसे शत्रुके अधीन नहीं रहा'॥१३॥

ततो युधिष्ठिरो मत्स्यं पुनरेवाभ्यभाषत।
प्रतिनन्दामि ते वाक्यं मनोज्ञं मत्स्य भाषसे॥ १४॥
आनृशंस्यपरो नित्यं सुसुखी सततं भव।

यह सुनकर राजा युधिष्ठिरने मत्स्यराजसे पुनः कहा—'राजन्! आप बड़ी मनोहर बात कह रहे हैं। मैं आपके इस वचनका अभिनन्दन करता हूँ। आप निरन्तर दयाभाव रखते हुए सर्वदा परम सुखी हों॥ १४½॥

(वैशम्पायन उवाच

पुनरेव विराटश्च राजा कङ्कमभाषत।
अहो सूदस्य कर्माणि बल्लवस्य द्विजोत्तम।
सोऽहं सूदेन संग्रामे बल्लवेनाभिरक्षितः॥
त्वत्कृते सर्वमेवैतदुपपन्नं ममानघ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते ब्रूहि किं करवाणि ते॥
ददामि ते महाप्रीत्या रत्नान्युच्चावचानि च।
शयनासनयानानि कन्याश्च समलंकृताः॥
हस्त्यश्वरथसङ्घश्च राष्ट्राणि विविधानि च।
एतानि च मम प्रीत्या प्रतिगृह्णीष्व सुव्रत॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कङ्कनामधारी युधिष्ठिरके यों कहनेपर राजा विराट पुनः उनसे इस प्रकार बोले—'द्विजश्रेष्ठ! बल्लव नामक रसोइयेका कर्म भी अद्भुत है। इस युद्धमें बल्लवने ही मेरी रक्षा की है। निष्पाप विप्रवर! आपके ही करनेसे यह सब कुछ सम्भव हुआ है। आपका कल्याण हो। आप मुझसे वर माँगिये और बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ आपको नाना प्रकारके उत्तमोत्तम रत्न, शय्या, आसन, वाहन, वस्त्राभूषणोंसे विभूषित सुन्दरी कन्याएँ, हाथी, घोड़े और रथोंके समूह तथा भाँति-भाँतिके जनपद भेंट करता हूँ। सुव्रत! आप मेरी प्रसन्नताके लिये इन सब वस्तुओंको ग्रहण करें॥

तं तथावादिनं तत्र कौरव्यः प्रत्यभाषत।
एकैव तु मम प्रीतिर्यत् त्वं मुक्तोऽसि शत्रुभिः।
प्रतीतश्च पुरं तुष्टः प्रवेक्ष्यसि तदानघ॥
दारैः पुत्रैश्च संश्लिष्य सा हि प्रीतिर्ममातुला।)

तब वहाँ ऐसी बातें कहनेवाले राजा विराटको कुरुकुल-नन्दन युधिष्ठिरने इस प्रकार उत्तर दिया—'महाराज! आप शत्रुओंके हाथसे छूट गये, यही मेरे लिये बड़ी प्रसन्नताकी बात है। अनघ! आप निर्भय होकर संतोषपूर्वक अपने नगरमें प्रवेश करेंगे और अपने स्त्री-पुत्रोंसे मिलकर सुखी होंगे; यही मेरे लिये अनुपम प्रसन्नताकी बात होगी॥

गच्छन्तु दूतास्त्वरितं नगरं तव पार्थिव॥ १५॥
सुहृदां प्रियमाख्यातुं घोषयन्तु च ते जयम्।
ततस्तद्वचनान्मत्स्यो दूतान् राजा समादिशत्॥ १६॥

'महाराज! अब आपके नगरमें सुहृदोंसे यह प्रिय समाचार बतानेके लिये तुरंत ही दूतोंको जाना चाहिये। वे दूत वहाँ आपकी विजय घोषित करें।' तब उनके कथनानुसार राजा विराटने दूतोंको आदेश दिया—॥ १५-१६॥

आचक्षध्वं पुरं गत्वा संग्रामविजयं मम।
कुमार्यः समलंकृत्य पर्यागच्छन्तु मे पुरात्॥ १७॥

'दूतो! तुमलोग नगरमें जाकर सूचना दो कि युद्धमें मेरी विजय हुई है। कुमारी कन्याएँ शृङ्गार करके स्वागतके लिये नगरसे बाहर आ जायँ॥ १७॥

वादित्राणि च सर्वाणि गणिकाश्च स्वलंकृताः।
एतां चाज्ञां ततः श्रुत्वा राज्ञा मत्स्येन नोदिताः।
तामाज्ञां शिरसा कृत्वा प्रस्थिता हृष्टमानसाः॥ १८॥

'सब प्रकारके बाजे बजाये जायँ और वेश्याएँ भी सज-धजकर तैयार रहें।' मत्स्यराजकी इस आज्ञाको सुनकर उसे शिरोधार्य करके दूत प्रसन्नचित्त होकर चले॥ १८॥

ते गत्वा तत्र तां रात्रिमथ सूर्योदयं प्रति।
विराटस्य पुराभ्याशे दूता जयमघोषयन्॥ १९॥

रातमें ही वहाँसे प्रस्थान करके सूर्योदय होते-होते दूत विराटकी राजधानीमें जा पहुँचे और वहाँ उन्होंने सब ओर मत्स्यराजकी विजय घोषित कर दी॥ १९॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे विराटजयघोषे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिण दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें विराटके जयघोषसम्बन्धी चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

कौरवोंद्वारा उत्तर दिशाकी ओरसे आकर विराटकी गौओंका अपहरण और गोपाध्यक्षका उत्तरकुमारको युद्धके लिये उत्साह दिलाना

वैशम्पायन उवाच

याते त्रिगर्तान् मत्स्ये तु पशूंस्तान् वै परीप्सति।
दुर्योधनः सहामात्यो विराटमुपयादथ॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जिस समय अपने पशुओंको छुड़ा लानेकी इच्छासे राजा विराट त्रिगर्तोंसे युद्ध करनेके लिये गये, उसी समय दुर्योधनने अपने मन्त्रियोंके साथ विराटदेशपर चढ़ाई की॥ १॥

भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च कृपश्च परमास्त्रवित्।
द्रौणिश्च सौबलश्चैव तथा दुःशासनः प्रभो॥ २॥
विविंशतिर्विकर्णश्च चित्रसेनश्च वीर्यवान्।
दुर्मुखो दुःशलश्चैव ये चैवान्ये महारथाः॥ ३॥

राजन्! भीष्म, द्रोण, कर्ण, अस्त्रविद्याके श्रेष्ठ विद्वान् कृपाचार्य, अश्वत्थामा, शकुनि, दुःशासन, विविंशति, विकर्ण, पराक्रमी चित्रसेन, दुर्मुख, दुःशल तथा अन्य महारथी भी दुर्योधनके साथ थे॥ २-३॥

एते मत्स्यानुपागम्य विराटस्य महीपतेः।
घोषान् विद्राव्य तरसा गोधनं जह्रुरोजसा॥ ४॥

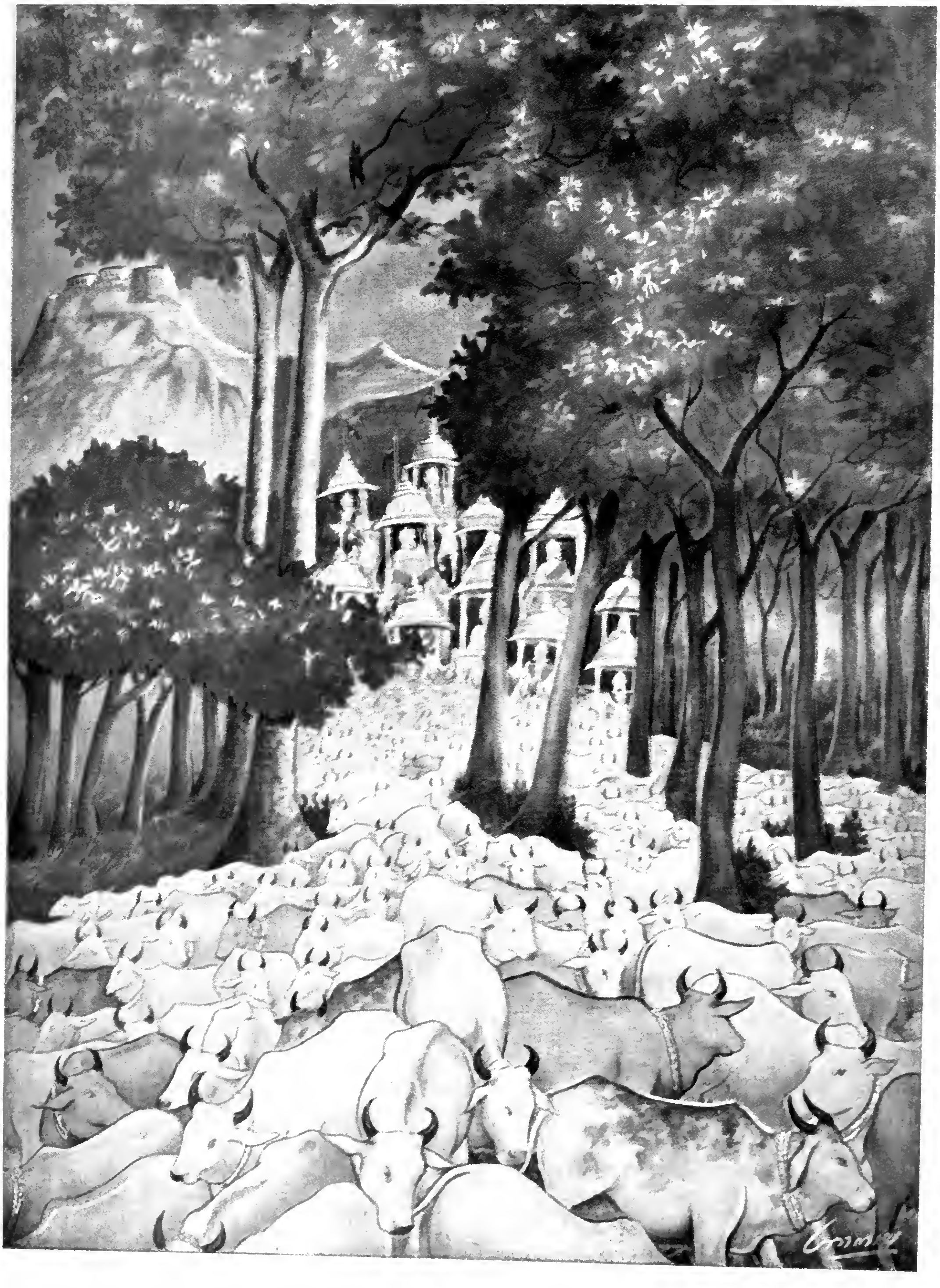
इन सबने राजा विराटके मत्स्यदेशमें आकर उनके गोष्ठोंमें भगदड़ मचा दी और बड़े वेगसे बलपूर्वक गोधनका अपहरण करना आरम्भ किया॥ ४॥

षष्टिं गवां सहस्राणि कुरवः कालयन्ति च।
महता रथवंशेन परिवार्य समन्ततः॥ ५॥

वे कौरव वीर राजा विराटकी साठ हजार गौओंको विशाल रथसमूहोंद्वारा चारों ओरसे घेरकर हाँक ले चले॥ ५॥

गोपालानां तु घोषस्य हन्यतां तैर्महारथैः।
आरावः सुमहानासीत् सम्प्रहारे भयंकरे॥ ६॥

उस समय वहाँ भयंकर मार-पीट हुई। उन महारथियोंद्वारा मारे जाते हुए गोष्ठके ग्वालोंका जोर-जोरसे होनेवाला आर्तनाद बहुत दूरतक सुनायी देता था॥ ६॥



कौरवोंद्वारा विराटकी गायोंका हरण

गोपाध्यक्षो भयत्रस्तो रथमास्थाय सत्वरः
जगाम नगरायैव परिक्रोशंस्तदाऽऽर्तवत् ॥ ७ ॥

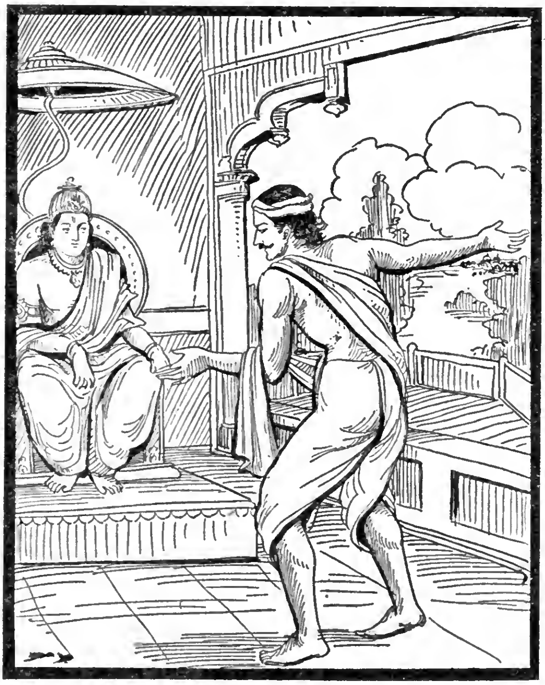
तब उन गौओंका रक्षक भयभीत हो तुरंत ही रथपर बैठकर आर्तकी भाँति विलाप करता हुआ राजधानीकी ओर चल दिया ॥ ७ ॥

स प्रविश्य पुरं राज्ञो नृपवेश्माभ्ययात् ततः ।
अवतीर्य रथात् तूर्णमाख्यातुं प्रविवेश ह ॥ ८ ॥

राजा विराटके नगरमें पहुँचकर वह राजभवनके समीप गया और रथसे उतरकर तुरंत यह समाचार सूचित करनेके लिये महलके भीतर चला गया ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा भूमिंजयं नाम पुत्रं मत्स्यस्य मानिनम् ।
तस्मै तत् सर्वमाचष्ट राष्ट्रस्य पशुकर्षणम् ॥ ९ ॥
षष्टिं गवां सहस्राणि कुरवः कालयन्ति ते ।
तद् विजेतुं समुत्तिष्ठ गोधनं राष्ट्रवर्धन ॥ १० ॥

वहाँ मत्स्यराजके मानी पुत्र भूमिंजय (उत्तर) से मिलकर उस गोपने उनसे राज्यके पशुओंके अपहरणका सब समाचार बताते हुए कहा—'राजकुमार ! आप इस राष्ट्रकी वृद्धि



करनेवाले हैं । आज कौरव आपकी साठ हजार गौओंको हाँक ले जा रहे हैं । उनके हाथसे उस गोधनको जीत लानेके लिये उठ खड़े होइये ॥ ९-१० ॥

राजपुत्र हितप्रेप्सुः क्षिप्रं निर्याहि च स्वयम् ।
त्वां हि मत्स्यो महीपालः शून्यपालमिहाकरोत् ॥ ११ ॥

'राजपुत्र ! आप इस राज्यके हितैषी हैं, अतः स्वयं ही युद्धके लिये तैयार होकर निकलिये । मत्स्यनरेशने अपनी अनुपस्थितिमें आपको ही यहाँका रक्षक नियुक्त किया है ॥

त्वया परिषदो मध्ये श्लाघते स नराधिपः ।
पुत्रो ममानुरूपश्च शूरश्चेति कुलोद्वहः ॥ १२ ॥

'वे सभामें आपसे प्रभावित होकर आपकी प्रशंसामें बड़ी-बड़ी बातें किया करते हैं । उनका कहना है—'मेरा यह पुत्र उत्तर मेरे अनुरूप शूरवीर और इस वंशका भार वहन करनेमें समर्थ है ॥ १२ ॥

इष्वस्त्रे निपुणो योधः सदा वीरश्च मे सुतः ।
तस्य तत् सत्यमेवास्तु मनुष्येन्द्रस्य भाषितम् ॥ १३ ॥

'मेरा वह लाड़ला बेटा बाण चलाने तथा अन्यान्य अस्त्रोंके प्रयोगकी कलामें भी निपुण, सदा युद्धके लिये उद्यत रहनेवाला और वीर है ।' उन महाराजका यह कथन आज सत्य सिद्ध होना चाहिये ॥ १३ ॥

आवर्तय कुरूञ्जित्वा पशून् पशुमतां वर ।
निर्दहैषामनीकानि भीमेन शरतेजसा ॥ १४ ॥

'पशुसम्पत्तिवाले समस्त राजाओंमें आप श्रेष्ठ हैं; अतः कौरवोंको परास्त करके अपने पशुओंको लौटा लाइये और बाणोंकी भयंकर अग्निसे इन कौरवोंकी सारी सेनाओंको भस्म कर डालिये ॥ १४ ॥

धनुश्च्युतै रुक्मपुङ्खैः शरैः संनतपर्वभिः ।
द्विषतां भिन्ध्यनीकानि गजानामिव यूथपः ॥ १५ ॥

'जैसे हाथियोंके झुंडका स्वामी गजराज अपने विरोधियोंको रौंद डालता है, उसी प्रकार आप अपने धनुषसे छूटे हुए सुवर्णमय पंखसे सुशोभित और झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणोंद्वारा विपक्षियोंकी विपुल वाहिनीको छिन्न-भिन्न कर डालिये ॥ १५ ॥

पाशोपधानां ज्यातन्त्रीं चापदण्डां महास्वनाम् ।
शरवर्णां धनुर्वीणां शत्रुमध्ये प्रवादय ॥ १६ ॥

'आज शत्रुओंके बीचमें जोर-जोरसे गूँजनेवाली धनुषरूपी वीणा बजाइये । पाश (प्रत्यञ्चा बाँधनेके दोनों सिरे) उसके उपधान (खूँटियाँ) हैं, प्रत्यञ्चा तार हैं, धनुष उसका दण्ड है और बाण ही उससे झङ्कृत होनेवाले वर्ण (स्वर) हैं ॥ १६ ॥

श्वेता रजतसंकाशा रथे युज्यन्तु ते हयाः ।
ध्वजं च सिंहं सौवर्णमुच्छ्रयन्तु तव प्रभो ॥ १७ ॥

'प्रभो ! अब चाँदीके समान चमकनेवाले वे श्वेत रंगके घोड़े आपके रथमें जोते जायँ और सिंहके चिह्नसे सुशोभित सुवर्णमय ऊँचा ध्वज फहरा दिया जाय ॥ १७ ॥

रुक्मपुङ्खाः प्रसन्नाग्रा मुक्ता हस्तवता त्वया ।
छादयन्तु शराः सूर्यं राज्ञां मार्गनिरोधकाः ॥ १८ ॥

'वीरवर ! आपके हाथ बहुत मजबूत हैं । उनके द्वारा

आपके चलाये हुए सोनेकी पाँख और स्वच्छ नोकवाले बाण शत्रुपक्षके राजाओंकी राह रोककर सूर्यदेवको भी ढँक दें ॥

रणे जित्वा कुरून् सर्वान् वज्रपाणिरिवासुरान्।
यशो महदवाप्य त्वं प्रविशेदं पुरं पुनः ॥ १९ ॥

'जैसे वज्रपाणि इन्द्र समस्त असुरोंको परास्त कर देते हैं, उसी प्रकार आप युद्धमें सम्पूर्ण कौरवोंको जीतकर महान् यश प्राप्त करके पुनः इस नगरमें प्रवेश करें ॥ १९ ॥

त्वं हि राष्ट्रस्य परमा गतिर्मत्स्यपतेः सुतः।
यथा हि पाण्डुपुत्राणामर्जुनो जयतां वरः ॥ २० ॥
एवमेव गतिर्नूनं भवान् विषयवासिनाम्।
गतिमन्तो वयं त्वद्य सर्वे विषयवासिनः ॥ २१ ॥

'मत्स्यराजके सुयोग्य पुत्र होनेके कारण आप ही इस राष्ट्रके महान् आश्रय हैं। जैसे विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुन पाण्डवोंके उत्तम आश्रय हैं, उसी प्रकार आप भी निश्चय ही इस राज्यके निवासियोंकी परम गति हैं। हम सभी मत्स्यदेशवासी आज आपको पाकर ही गतिमान् (सनाथ) हैं' ॥ २०-२१ ॥

वैशम्पायन उवाच

स्त्रीमध्य उक्तस्तेनासौ तद् वाक्यमभयंकरम्।
अन्तःपुरे श्लाघमान इदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उस समय राजकुमार उत्तर अन्तःपुरमें स्त्रियोंके बीचमें बैठा था। वहीं उस गोपाध्यक्षने उससे ये निर्भय बनानेवाली उत्साहजनक बातें कहीं। अतः वह अपनी प्रशंसा करता हुआ इस प्रकार कहने लगा ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे गोपवाक्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी गौओंके अपहरणके प्रसंगमें गोपवचनविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

उत्तरका अपने लिये सारथि ढूँढ़नेका प्रस्ताव, अर्जुनकी सम्मतिसे द्रौपदीका बृहन्नलाको सारथि बनानेके लिये सुझाव देना

उत्तर उवाच

अद्याहमनुगच्छेयं दृढधन्वा गवां पदम्।
यदि मे सारथिः कश्चिद् भवेदश्वेषु कोविदः ॥ १ ॥

उत्तर बोला—गोपप्रवर! मेरा धनुष तो बहुत मजबूत है। यदि मेरे पास घोड़े हाँकनेकी कलामें कुशल कोई सारथि होता, तो आज मैं अवश्य ही उन गौओंके पदचिह्नोंका अनुसरण करता ॥ १ ॥

तं त्वहं नावगच्छामि यो मे यन्ता भवेन्नरः।
पश्यध्वं सारथिं क्षिप्रं मम युक्तं प्रयास्यतः ॥ २ ॥

इस समय मुझे ऐसे किसी मनुष्यका पता नहीं है, जो मेरा सारथि बन सके! मैं युद्धके लिये प्रस्थान करूँगा; अतः शीघ्र मेरे लिये किसी योग्य सारथिकी तलाश करो ॥

अष्टाविंशतिरात्रं वा मासं वा नूनमन्ततः।
यत् तदासीन्महद् युद्धं तत्र मे सारथिर्हतः ॥ ३ ॥

पहले लगातार अट्ठाईस राततक अथवा अन्ततः एक मासतक जो वह महायुद्ध हुआ था, उसमें मेरा सारथि मारा गया था ॥ ३ ॥

स लभेयं यदा त्वन्यं हययानविदं नरम्।
त्वरावानद्य यात्वाहं समुच्छ्रितमहाध्वजम् ॥ ४ ॥
विगाह्य तत् परानीकं गजवाजिरथाकुलम्।
शस्त्रप्रतापनिर्वीर्यान् कुरूञ्जित्वाऽऽनये पशून् ॥ ५ ॥

अतः यदि घोड़े हाँकनेकी कला जाननेवाले किसी दूसरे मनुष्यको भी पा जाऊँ, तो अभी बड़े वेगसे जाकर ऊँची-ऊँची विशाल ध्वजाओंसे विभूषित एवं हाथी, घोड़े तथा रथोंसे भरी हुई शत्रुओंकी सेनामें घुस जाऊँ और अपने आयुधोंके प्रतापसे कौरवोंको निर्वीर्य (पराक्रमशून्य) तथा परास्त करके सम्पूर्ण पशुओंको लौटा लाऊँ ॥ ४-५ ॥

दुर्योधनं शान्तनवं कर्णं वैकर्तनं कृपम्।
द्रोणं च सह पुत्रेण महेष्वासान् समागतान् ॥ ६ ॥
वित्रासयित्वा संग्रामे दानवानिव वज्रभृत्।
अनेनैव मुहूर्तेन पुनः प्रत्यानये पशून् ॥ ७ ॥

जैसे वज्रधारी इन्द्र दानवोंको भयभीत कर देते हैं, उसी प्रकार मैं दुर्योधन, शान्तनुनन्दन भीष्म, सूर्यपुत्र कर्ण, कृपाचार्य तथा पुत्र (अश्वत्थामा) सहित द्रोणाचार्य आदि महान् धनुर्धरोंको, जो यहाँ आये हैं, युद्धमें अत्यन्त भय पहुँचाकर इसी मुहूर्तमें अपने पशुओंको वापस ला सकता हूँ ॥

शून्यमासाद्य कुरवः प्रयान्त्यादाय गोधनम्।
किं नु शक्यं मया कर्तुं यदहं तत्र नाभवम् ॥ ८ ॥

गोष्ठको सूना पाकर कौरवलोग मेरा गोधन लिये जा

रहे हैं। परंतु अब मैं यहाँसे क्या कर सकता हूँ ? जब कि वहाँ उस समय मैं मौजूद नहीं था ॥ ८ ॥

पश्येयुरद्य मे वीर्यं कुरवस्ते समागताः।
किं नु पार्थोऽर्जुनः साक्षादयमस्मात् प्रबाधते ॥ ९ ॥

अच्छा, जब कौरवलोग यहाँ आ ही गये हैं, तब आज मेरा पराक्रम देख लें। फिर तो वे कहेंगे—'क्या यह साक्षात् कुन्तीपुत्र अर्जुन ही हमें पीड़ा दे रहा है ?' ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तदर्जुनो वाक्यं राज्ञः पुत्रस्य भाषतः।
अतीतसमये काले प्रियां भार्यामनिन्दिताम् ॥ १० ॥
द्रुपदस्य सुतां तन्वीं पाञ्चालीं पावकात्मजाम्।
सत्यार्जवगुणोपेतां भर्तुः प्रियहिते रताम् ॥ ११ ॥
उवाच रहसि प्रीतः कृष्णां सर्वार्थकोविदः।
उत्तरं ब्रूहि कल्याणि क्षिप्रं मद्वचनादिदम् ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार बोलते हुए राजकुमार उत्तरकी वह बात सुनकर सब बातोंमें कुशल अर्जुन बहुत प्रसन्न हुए। उस समयतक उनके अज्ञातवासकी अवधि पूरी हो गयी थी। अतः उन्होंने अपनी सती-साध्वी प्यारी पत्नी पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको, जिसका अग्निसे प्रादुर्भाव हुआ था और जो तन्वङ्गी, सत्य-सरलता आदि सद्गुणोंसे विभूषित तथा पतिके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहनेवाली थी, एकान्तमें बुलाकर कहा—'कल्याणि ! तुम मेरी बात मानकर राजकुमार उत्तरसे शीघ्र इस प्रकार कहो—॥ १०—१२ ॥

अयं वै पाण्डवस्यासीत् सारथिः सम्मतो दृढः।
महायुद्धेषु संसिद्धः स ते यन्ता भविष्यति ॥ १३ ॥

'यह बृहन्नला पाण्डुनन्दन अर्जुनका सुदृढ़ एवं प्रिय सारथि रह चुका है। उसने बड़े-बड़े युद्धोंमें सफलता प्राप्त की है। वह तुम्हारा सारथि हो जायगा' ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं स्त्रीषु भाषतश्च पुनः पुनः।
न सामर्षत पाञ्चाली बीभत्सोः परिकीर्तनम् ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उत्तर स्त्रियोंके बीचमें बैठा था और बार-बार अपनी तुलनामें अर्जुनका नाम ले-लेकर डींग मार रहा था। पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीसे यह सहन न हो सका ॥ १४ ॥

अथैनमुपसंगम्य स्त्रीमध्यात् सा तपस्विनी।
व्रीडमानेव शनकैरिदं वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

वह तपस्विनी स्त्रियोंके बीचसे उठकर उत्तरके समीप आयी और लजाती हुई-सी धीरे-धीरे इस प्रकार बोली—॥ १५ ॥

योऽसौ बृहद्वारणाभो युवा सुप्रियदर्शनः।
बृहन्नलेति विख्यातः पार्थस्यासीत् स सारथिः ॥ १६ ॥

'राजकुमार ! यह जो विशाल गजराजके समान हृष्ट-पुष्ट, तरुण, सुन्दर और देखनेमें अत्यन्त प्रिय 'बृहन्नला' नामसे विख्यात नर्तक है, पहले कुन्तीपुत्र अर्जुनका सारथि था ॥ १६ ॥

धनुष्यनवरश्चासीत् तस्य शिष्यो महात्मनः।
दृष्टपूर्वो मया वीर चरन्त्या पाण्डवान् प्रति ॥ १७ ॥

'वीर ! यह उन्हीं महात्माका शिष्य है, अतः धनुर्विद्यामें भी उनसे कम नहीं है। पहले पाण्डवोंके यहाँ रहते समय मैंने इसे देखा है ॥ १७ ॥

यदा तत् पावको दावमदहत् खाण्डवं महत्।
अर्जुनस्य तदानेन संगृहीता हयोत्तमाः ॥ १८ ॥

'जिन दिनों अर्जुनकी सहायतासे अग्निदेवने दावानल-रूप हो महान् खाण्डववनको जलाया था, उस समय इसीने अर्जुनके श्रेष्ठ घोड़ोंकी बागडोर सँभाली थी ॥ १८ ॥

तेन सारथिना पार्थः सर्वभूतानि सर्वशः।
अजयत् खाण्डवप्रस्थे न हि यन्तास्ति तादृशः ॥ १९ ॥

'इसी सारथिके सहयोगसे कुन्तीपुत्र अर्जुनने खाण्डवप्रस्थमें सम्पूर्ण प्राणियोंपर विजय पायी थी; अतः इसके समान दूसरा कोई सारथि नहीं है' ॥ १९ ॥

उत्तर उवाच

सैरन्ध्रि जानासि तथा युवानं
नपुंसको नैव भवेद् यथासौ।
अहं न शक्नोमि बृहन्नलां शुभे
वक्तुं स्वयं यच्छ हयान् ममेति वै ॥ २० ॥

उत्तरने कहा—सैरन्ध्री ! वह युवक ऐसे गुणोंसे विभूषित है कि वह नपुंसक नहीं हो सकता; इन बातोंको तुम अच्छी तरह जानती हो; [अतः तुम उससे कह दो, तो ठीक है।] शुभे ! मैं स्वयं बृहन्नलासे नहीं कह सकता कि तुम मेरे घोड़ोंकी रास सँभालो ॥ २० ॥

द्रौपद्युवाच

येयं कुमारी सुश्रोणी भगिनी ते यवीयसी।
अस्याः स वीर वचनं करिष्यति न संशयः ॥ २१ ॥

द्रौपदीने कहा—वीर ! यह जो सुन्दर कटिप्रदेश-वाली तुम्हारी छोटी बहिन कुमारी उत्तरा है, इसकी बात वह अवश्य मान लेगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २१ ॥

यदि वै सारथिः स स्यात् कुरून् सर्वान् न संशयः।
जित्वा गाश्च समादाय ध्रुवमागमनं भवेत् ॥ २२ ॥

यदि वह सारथि हो जाय, तो निःसंदेह सम्पूर्ण कौरवोंको जीतकर और गौओंको भी वापस लेकर तुम्हारा इस नगरमें आगमन हो सकता है, यह ध्रुव सत्य है ॥ २२ ॥

एवमुक्तः स सैरन्ध्र्या भगिनीं प्रत्यभाषत ।
गच्छ त्वमनवद्याङ्गि तामानय बृहन्नलाम् ॥ २३ ॥

सैरन्ध्रीके ऐसा कहनेपर उत्तर अपनी बहिनसे बोला—'निर्दोष अङ्गोंवाली उत्तरे ! जाओ, उस बृहन्नलाको बुला ले आओ' ॥ २३ ॥

सा भ्रात्रा प्रेषिता शीघ्रमगच्छन्नर्तनागृहम् ।
यत्रास्ते स महाबाहुश्छन्नः सत्रेण पाण्डवः ॥ २४ ॥

भाईके भेजनेपर कुमारी उत्तरा शीघ्र नृत्यशालामें गयी, जहाँ पाण्डुनन्दन महाबाहु अर्जुन कपटवेषमें छिपकर रहते थे ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे बृहन्नलासारथ्यकथने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें बृहन्नलाका सारथ्यकथनसम्बन्धी छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

बृहन्नलाको सारथि बनाकर राजकुमार उत्तरका रणभूमिकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

सा प्राद्रवत् काञ्चनमाल्यधारिणी
ज्येष्ठेन भ्रात्रा प्रहिता यशस्विनी ।
सुदक्षिणा वेदिविलग्नमध्या
सा पद्मपत्राभनिभा शिखण्डिनी ॥ १ ॥
तन्वी शुभाङ्गी मणिचित्रमेखला
मत्स्यस्य राज्ञो दुहिता श्रिया वृता ।
तन्नर्तनागारमरालपक्ष्मा
शतह्रदा मेघमिवान्वपद्यत ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुमारी उत्तरा सोनेकी माला और मोरपंखका श्रृङ्गार धारण किये हुए थी । उसकी अङ्गकान्ति कमलदलकी-सी आभावाली लक्ष्मीको भी लज्जित कर रही थी। उसकी कमर यज्ञकी वेदीके समान सूक्ष्म थी । शरीरसे भी वह पतली ही थी । उसके सभी अङ्ग शुभ लक्षणोंसे युक्त थे । उसने कटिप्रदेशमें मणियोंकी बनी हुई विचित्र करधनी पहन रक्खी थी। मत्स्यराजकी वह यशस्विनी कन्या अनुपम शोभासे प्रकाशित हो रही थी । बड़ोंकी आज्ञा माननेवाली कुमारी उत्तरा बड़े भाईके भेजनेसे बड़ी उतावलीके साथ नृत्यशालामें गयी; मानो चपला मेघमालामें विलीन हो गयी हो। उसके नेत्रोंकी टेढ़ी-टेढ़ी बरौनियाँ बड़ी भली मालूम होती थीं ॥ १-२ ॥

सा हस्तिहस्तोपमसंहितोरूः
स्वनिन्दिता चारुदती सुमध्यमा ।
आसाद्य तं वै वरमाल्यधारिणी
पार्थं शुभा नागवधूरिव द्विपम् ॥ ३ ॥

उसकी परस्पर सटी हुई जाँघें हाथीकी सूँड़के समान सुशोभित होती थीं, दाँत चमकीले और मनोहर थे । शरीरका मध्यभाग बड़ा सुहावना था । वह अनिन्द्यसुन्दरी सुन्दर हार धारण किये उन कुन्तीनन्दन अर्जुनके पास पहुँचकर गजराजके समीप गयी हुई हथिनीके समान शोभा पा रही थी ॥ ३ ॥

सा रत्नभूता मनसः प्रियार्चिता
सुता विराटस्य यथेन्द्रलक्ष्मीः ।
सुदर्शनीया प्रमुखे यशस्विनी
प्रीत्याब्रवीदर्जुनमायतेक्षणा ॥ ४ ॥

विराटकुमारी उत्तरा स्त्रियोंमें रत्नस्वरूपा और मनको प्रिय लगनेवाली थी । वह उस राजभवनमें इन्द्रकी साम्राज्य-लक्ष्मीके समान सम्मानित थी । उसके नेत्र बड़े-बड़े थे । वह यशस्विनी बाला सामनेसे देखने ही योग्य थी। वह अर्जुनसे प्रेमपूर्वक बोली— ॥ ४ ॥

सुसंहतोरुं कनकोज्ज्वलत्वचं
पार्थः कुमारीं स तदाभ्यभाषत ।
किमागमः काञ्चनमाल्यधारिणि
मृगाक्षि किं त्वं त्वरितेव भामिनि ॥
किं ते मुखं सुन्दरि न प्रसन्न-
माचक्ष्व तत्त्वं मम शीघ्रमङ्गने ॥ ५ ॥

सुवर्णके समान सुन्दर एवं गौर त्वचा तथा सटी जाँघोंवाली कुमारी उत्तराको देखकर अर्जुनने पूछा—'सुवर्णकी माला धारण करनेवाली मृगलोचने ! भामिनि ! तुम क्यों उतावली-सी चली आ रही हो ? सुन्दरि ! आज तुम्हारा मुख प्रसन्न क्यों नहीं है ? अङ्गने ! मुझे शीघ्र सब बातें ठीक-ठीक बताओ' ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

स तां दृष्ट्वा विशालाक्षीं राजपुत्रीं सखीं तथा ।
प्रहसन्नब्रवीद् राजन् किमागमनमित्युत ॥ ६ ॥
तमब्रवीद् राजपुत्री समुपेत्य नरर्षभम् ।
प्रणयं भावयन्ती सा सखीमध्य इदं वचः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विशाल नेत्रोंवाली अपनी सखी राजकुमारी उत्तराकी ओर देखकर अर्जुनने

हँसते हुए जब उससे अपने पास आनेका कारण पूछा, तब वह राजपुत्री नरश्रेष्ठ अर्जुनके समीप जा अपना प्रेम प्रकट करती हुई सखियोंके बीचमें इस प्रकार बोली—॥ ६-७ ॥



गावो राष्ट्रस्य कुरुभिः काल्यन्ते नो बृहन्नले।
ता विजेतुं मम भ्राता प्रयास्यति धनुर्धरः ॥ ८ ॥

'बृहन्नले! हमारे राष्ट्रकी गौओंको कौरव हाँककर लिये जाते हैं; अतः उन्हें जीतनेके लिये मेरे भैया धनुष धारण करके जानेवाले हैं ॥ ८ ॥

नाचिरं निहतस्तस्य संग्रामे रथसारथिः।
तेन नास्ति समः सूतो योऽस्य सारथ्यमाचरेत् ॥ ९ ॥

'थोड़े ही दिन हुए, उनके रथका सारथि एक युद्धमें मारा गया। इस कारण कोई ऐसा योग्य सूत नहीं है, जो उनके सारथिका काम सँभाल सके ॥ ९ ॥

तस्मै प्रयतमानाय सारथ्यर्थं बृहन्नले।
आचचक्षे हयज्ञाने सैरन्ध्री कौशलं तव ॥ १० ॥

'बृहन्नले! वे सारथि ढूँढ़नेका प्रयत्न कर रहे थे, इतनेमें ही सैरन्ध्रीने पहुँचकर यह बताया कि तुम अश्वविद्यामें कुशल हो ॥ १० ॥

अर्जुनस्य किलासीस्त्वं सारथिर्दयितः पुरा।
त्वयाजयत् सहायेन पृथिवीं पाण्डवर्षभः ॥ ११ ॥

'पहले तुम अर्जुनका प्रिय सारथि रह चुकी हो। तुम्हारी सहायतासे उन पाण्डवशिरोमणिने समूची पृथ्वीपर विजय पायी है ॥ ११ ॥

सा सारथ्यं मम भ्रातुः कुरु साधु बृहन्नले।
पुरा दूरतरं गावो ह्रियन्ते कुरुभिर्हि नः ॥ १२ ॥

'अतः बृहन्नले! इसके पहले कि कौरवलोग हमारी गौओंको बहुत दूर लेकर चले जायँ, तुम मेरे भाईके सारथिका कार्य अच्छी तरह कर दो ॥ १२ ॥

अथैतद् वचनं मेऽद्य नियुक्ता न करिष्यसि।
प्रणयादुच्यमाना त्वं परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ १३ ॥

'सखी! मैं बड़े प्रेमसे यह बात कहती हूँ। यदि आज इतना अनुरोध करनेपर भी तुम मेरी बात नहीं मानोगी, तो मैं प्राण त्याग दूँगी' ॥ १३ ॥

एवमुक्तस्तु सुश्रोण्या तया सख्या परंतपः।
जगाम राजपुत्रस्य सकाशममितौजसः ॥ १४ ॥
तमाव्रजन्तं त्वरितं प्रभिन्नमिव कुञ्जरम्।
अन्वगच्छद् विशालाक्षी गजं गजवधूरिव ॥ १५ ॥

सुन्दर कटिप्रदेशवाली सखी उत्तराके ऐसा कहनेपर शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुन अमितपराक्रमी राजकुमार उत्तरके समीप गये। मद टपकानेवाले गजराजकी भाँति शीघ्रतापूर्वक आते हुए अर्जुनके पीछे-पीछे विशाल नेत्रोंवाली उत्तरा भी आयी; ठीक उसी तरह, जैसे हथिनी हाथीके पीछे-पीछे जाती है ॥ १४-१५ ॥

दूरादेव तु तां प्रेक्ष्य राजपुत्रोऽभ्यभाषत।
त्वया सारथिना पार्थः खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ॥ १६ ॥
पृथिवीमजयत् कृत्स्नां कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
सैरन्ध्री त्वां समाचष्टे सा हि जानाति पाण्डवान् ॥ १७ ॥

राजकुमार उत्तरने बृहन्नलाको दूरसे ही देखकर इस प्रकार कहा—'बृहन्नले! अर्जुनने तुम्हें सारथि बनाकर खाण्डववनमें अग्निको तृप्त किया था। इतना ही नहीं, कुन्तीपुत्र धनंजयने तुम-जैसे सारथिके सहयोगसे ही समूची पृथ्वीपर विजय पायी है।' तुम्हारे विषयमें यह बात सैरन्ध्री कह रही थी, क्योंकि वह पाण्डवोंको अच्छी तरह जानती है ॥ १६-१७ ॥

संयच्छ मामकानश्वांस्तथैव त्वं बृहन्नले।
कुरुभिर्योत्स्यमानस्य गोधनानि परीप्सतः ॥ १८ ॥

'बृहन्नले! तुम अर्जुनकी ही भाँति मेरे घोड़ोंको भी काबूमें रखना, क्योंकि मैं अपना गोधन वापस लेनेके लिये कौरवोंके साथ युद्ध करनेवाला हूँ ॥ १८ ॥

अर्जुनस्य किलासीस्त्वं सारथिर्दयितः पुरा।
त्वयाजयत् सहायेन पृथिवीं पाण्डवर्षभः ॥ १९ ॥

'पहले तुम अर्जुनका प्रिय सारथि रह चुकी हो और तुम्हारी ही सहायतासे उन पाण्डवशिरोमणिने समूची पृथ्वीपर विजय पायी है' ॥ १९ ॥

एवमुक्ता प्रत्युवाच राजपुत्रं बृहन्नला।
का शक्तिर्मम सारथ्यं कर्तुं संग्राममूर्धनि ॥ २० ॥

उसके ऐसा कहनेपर बृहन्नला राजकुमारसे बोली—'भला मेरी क्या शक्ति है कि मैं युद्धके मुहानेपर सारथिका काम सँभाल सकूँ ? ॥ २० ॥

गीतं वा यदि वा नृत्यं वादित्रं वा पृथग्विधम् ।
तत् करिष्यामि भद्रं ते सारथ्यं तु कुतो मम ॥ २१ ॥

'राजकुमार ! आपका कल्याण हो । यदि गाना हो, नृत्य करना हो अथवा विभिन्न प्रकारके बाजे बजाने हों, तो वह कर लूँगी । सारथिका काम मुझसे कैसे हो सकता है ?' ॥२१॥

उत्तर उवाच

बृहन्नले गायनो वा नर्तनो वा पुनर्भव ।
क्षिप्रं मे रथमास्थाय निगृह्णीष्व हयोत्तमान् ॥ २२ ॥

उत्तर बोला—बृहन्नले ! तुम पुनः लौटकर गायक या नर्तक जो चाहो, बन जाना । इस समय तो शीघ्र ही मेरे रथपर बैठकर श्रेष्ठ घोड़ोंको काबूमें करो ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

स तत्र नर्मसंयुक्तमकरोत् पाण्डवो बहु ।
उत्तरायाः प्रमुखतः सर्वं जानन्नरिंदमः ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शत्रुओंका दमन करनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने सब कुछ जानते हुए भी उत्तराके सामने हँसीके लिये बहुत-से अनभिज्ञतासूचक कार्य किये ॥ २३ ॥

ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य कवचं शरीरे प्रत्यमुञ्चत ।
कुमार्यस्तत्र तं दृष्ट्वा प्राहसन् पृथुलोचनाः ॥ २४ ॥

वे कवचको ऊपर उठाकर शरीरमें डालने लगे । यह देखकर वहाँ खड़ी हुई बड़े-बड़े नेत्रोंवाली राजकुमारियाँ हँसने लगीं ॥ २४ ॥

स तु दृष्ट्वा विमुह्यन्तं स्वयमेवोत्तरस्ततः ।
कवचेन महार्हेण समनह्यद् बृहन्नलाम् ॥ २५ ॥

बृहन्नलाको (कवच-धारणके समय) भूल करती देख राजकुमार उत्तरने स्वयं ही उसे बहुमूल्य कवच धारण कराया ॥ २५ ॥

स बिभ्रत् कवचं चाग्र्यं स्वयमप्यंशुमत्प्रभम् ।
ध्वजं च सिंहमुच्छ्रित्य सारथ्ये समकल्पयत् ॥ २६ ॥

फिर उसने स्वयं भी सूर्यके समान कान्तिमान् सुन्दर कवच धारण किया और रथपर सिंहध्वज फहराकर बृहन्नलाको सारथिके कार्यमें नियुक्त कर दिया ॥ २६ ॥

धनूंषि च महार्हाणि बाणांश्च रुचिरान् बहून् ।
आदाय प्रययौ वीरः स बृहन्नलसारथिः ॥ २७ ॥

तदनन्तर बहुत-से बहुमूल्य धनुष और सुन्दर बाण लेकर वीर उत्तर बृहन्नला सारथिके साथ युद्धके लिये प्रस्थित हुआ ॥ २७ ॥

अथोत्तरा च कन्याश्च सख्यस्तामब्रुवंस्तदा ।
बृहन्नले आनयेथा वासांसि रुचिराणि च ॥ २८ ॥
पाञ्चालिकार्थं चित्राणि सूक्ष्माणि च मृदूनि च ।
विजित्य संग्रामगतान् भीष्मद्रोणमुखान् कुरून् ॥ २९ ॥

उस समय उत्तरा और उसकी सखीरूपा दूसरी राजकन्याओंने कहा—'बृहन्नले ! तुम युद्धभूमिमें आये हुए भीष्म, द्रोण आदि प्रमुख कौरववीरोंको जीतकर हमारी गुड़ियोंके लिये उनके महीन, कोमल और विचित्र रंगके सुन्दर-सुन्दर वस्त्र ले आना' ॥ २८-२९ ॥

एवं ता ब्रुवतीः कन्याः सहिताः पाण्डुनन्दनः ।
प्रत्युवाच हसन् पार्थो मेघदुन्दुभिनिःस्वनः ॥ ३० ॥

ऐसा कहती हुई उन सब कन्याओंसे पाण्डुनन्दन अर्जुनने हँसते हुए मेघ और दुन्दुभिके समान गम्भीर वाणीमें कहा ॥

बृहन्नलोवाच

यद्युत्तरोऽयं संग्रामे विजेष्यति महारथान् ।
अथाहरिष्ये वासांसि दिव्यानि रुचिराणि च ॥ ३१ ॥

बृहन्नला बोली—यदि ये राजकुमार उत्तर रणभूमिमें उन महारथियोंको परास्त कर देंगे, तो मैं अवश्य उनके दिव्य और सुन्दर वस्त्र ले आऊँगी ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनउवाच

एवमुक्त्वा तु बीभत्सुस्ततः प्राचोदयद्धयान् ।
कुरूनभिमुखः शूरो नानाध्वजपताकिनः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर शूरवीर अर्जुनने भाँति-भाँतिकी ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित कौरवोंकी ओर जानेके लिये घोड़ोंको हाँक दिया ॥ ३२ ॥

तमुत्तरं वीक्ष्य रथोत्तमे स्थितं
बृहन्नलायाः सहितं महाभुजम् ।
स्त्रियश्च कन्याश्च द्विजाश्च सुव्रताः
प्रदक्षिणं चक्रुरथोचुरङ्गनाः ॥ ३३ ॥

बृहन्नलाके साथ उत्तम रथपर बैठे हुए महाबाहु उत्तरको जाते देख स्त्रियों, कन्याओं तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंने उसकी दक्षिणावर्त परिक्रमा की । तत्पश्चात् स्त्रियाँ और कन्याएँ बोलीं—॥ ३३ ॥

यदर्जुनस्यर्षभतुल्यगामिनः
पुराभवत् खाण्डवदाहमङ्गलम् ।
कुरून् समासाद्य रणे बृहन्नले
सहोत्तरेणाद्य तदस्तु मङ्गलम् ॥ ३४ ॥

'बृहन्नले !- वृषभके समान गतिवाले अर्जुनको पहले खाण्डववनदाहके समय जैसा मङ्गल प्राप्त हुआ था, आज युद्धमें कौरवोंके पास पहुँचनेपर राजकुमार उत्तरके साथ तुम्हें वैसा ही मङ्गल प्राप्त हो' ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे उत्तरनिर्याणं नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें राजकुमार उत्तरका युद्धके लिये प्रस्थानविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

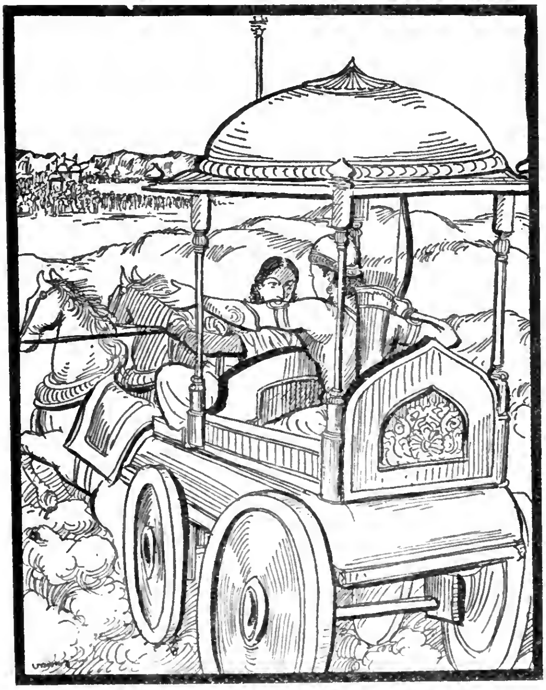
अष्टात्रिंशोऽध्यायः

उत्तरकुमारका भय और अर्जुनका उसे आश्वासन देकर रथपर चढ़ाना

वैशम्पायन उवाच

स राजधान्या निर्याय वैराटिरकुतोभयः ।
प्रयाहीत्यब्रवीत् सूतं यत्र ते कुरवो गताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजधानीसे निकलकर विराटकुमार उत्तरने सर्वथा निर्भय हो सारथिसे कहा—'बृहन्नले ! जहाँ कौरव गये हैं, उधर ही रथ ले चलो ॥ १ ॥



समवेतान् कुरून् सर्वाञ्जिगीषूनवजित्य वै ।
गास्तेषां क्षिप्रमादाय पुनरेष्याम्यहं पुरम् ॥ २ ॥

'मैं यहाँ विजयकी आशासे एकत्र होनेवाले समस्त कौरवोंको परास्त करके उनसे अपनी गौएँ वापस ले शीघ्र अपने नगरमें लौट आऊँगा' ॥ २ ॥

ततस्तांश्चोदयामास सदश्वान् पाण्डुनन्दनः ।
ते हया नरसिंहेन नोदिता वातरंहसः ।
आलिखन्त इवाकाशमूहुः काञ्चनमालिनः ॥ ३ ॥

तब पाण्डुनन्दन अर्जुनने उत्तरके उत्तम जातिके घोड़ोंको हाँका और उनकी बाग ढीली कर दी । नरश्रेष्ठ अर्जुनके हाँकनेपर सोनेकी माला पहने हुए वे घोड़े हवाके समान वेगसे चलने लगे, मानो आकाशमें अपनी टाप अड़ाते हुए रथ लिये उड़े जा रहे हों ॥ ३ ॥

नातिदूरमथो गत्वा मत्स्यपुत्रधनंजयौ ।
अवेक्षेताममित्रघ्नौ कुरूणां बलिनां बलम् ॥ ४ ॥

थोड़ी ही दूर जानेपर शत्रुहन्ता विराटपुत्र उत्तर और धनंजयने महाबली कौरवोंकी विशाल सेना देखी ॥ ४ ॥

श्मशानमभितो गत्वा आससाद कुरूनथ ।
तां शमीमन्ववीक्षेतां व्यूढानीकांश्च सर्वशः ॥ ५ ॥

श्मशानभूमिके समीप जाकर उन्होंने कौरवोंको पा लिया । वे दोनों उस शमीवृक्षके आसपास सब ओर सेनाका व्यूह बनाकर खड़े हुए कौरव-सैनिकोंकी ओर देखने लगे ॥ ५ ॥

तदनीकं महत् तेषां विबभौ सागरोपमम् ।
सर्पमाणमिवाकाशे वनं बहुलपादपम् ॥ ६ ॥

उनकी वह विशाल वाहिनी समुद्रके समान जान पड़ती थी । जब वह चलती, तब ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशमें असंख्य वृक्षोंसे भरा हुआ वन चल रहा हो ॥ ६ ॥

ददृशे पार्थिवो रेणुर्जनितस्तेन सर्पता ।
दृष्टिप्रणाशो भूतानां दिवस्पृक् कुरुसत्तम ॥ ७ ॥

कुरुश्रेष्ठ जनमेजय ! कौरव-सेनाके चलनेसे ऊपर उठी हुई धरतीकी धूल अन्तरिक्षको छूती-सी दिखायी देती थी । उसके कारण समस्त प्राणियोंकी दृष्टिका लोप-सा हो गया था—किसीको कुछ सूझ नहीं पड़ता था ॥ ७ ॥

तदनीकं महद् दृष्ट्वा गजाश्वरथसंकुलम् ।
कर्णदुर्योधनकृपैर्गुप्तं शान्तनवेन च ॥ ८ ॥
द्रोणेन च सपुत्रेण महेष्वासेन धीमता ।
हृष्टरोमा भयोद्विग्नः पार्थं वैराटिरब्रवीत् ॥ ९ ॥

वह भारी सेना हाथी, घोड़ों एवं रथोंसे भरी हुई थी । कर्ण, दुर्योधन, कृपाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा और महान्

धनुर्धर एवं परम बुद्धिमान् द्रोण उसकी रक्षा कर रहे थे। उसे देखकर विराटपुत्र उत्तरके रोंगटे खड़े हो गये। उसने भयसे व्याकुल होकर अर्जुनसे कहा ॥ ८-९ ॥

उत्तर उवाच

नोत्सहे कुरुभिर्योद्धुं रोमहर्षं हि पश्य मे।
बहुप्रवीरमत्युग्रं देवैरपि दुरासदम् ॥ १० ॥

उत्तर बोला—बृहन्नले! मुझमें कौरवोंके साथ युद्ध करनेका साहस नहीं है; क्योंकि देखो, भयके कारण मेरे रोएँ खड़े हो गये हैं। इस सेनाके भीतर बहुतेरे बड़े-बड़े वीर हैं। यह बड़ी भयानक जान पड़ती है। इसे परास्त करना तो देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है ॥ १० ॥

प्रतियोद्धुं न शक्ष्यामि कुरुसैन्यमनन्तकम्।
नाशंसे भारतीं सेनां प्रवेष्टुं भीमकार्मुकाम् ॥ ११ ॥

कौरवोंकी सेनाका कहीं अन्त नहीं है। मैं इसका सामना नहीं कर सकता। भयानक धनुषवाली भरतवंशियोंकी इस विशाल वाहिनीमें प्रवेश करना तो दूर रहे, मैं उसके सम्बन्धमें बात भी नहीं कर सकता ॥ ११ ॥

रथनागाश्वकलिलां पत्तिध्वजसमाकुलाम्।
दृष्ट्वैव हि परानाजौ मनः प्रव्यथतीव मे ॥ १२ ॥

रथ, हाथी और घोड़ोंसे यह कौरवदल खचाखच भरा हुआ है। पैदल सिपाहियों और असंख्य ध्वजाओंसे व्याप्त है। इसलिये रणभूमिमें इन शत्रुओंको देखकर ही मेरा हृदय व्यथित-सा हो गया है ॥ १२ ॥

यत्र द्रोणश्च भीष्मश्च कृपः कर्णो विविंशतिः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तश्च बाह्लिकः ॥ १३ ॥
दुर्योधनस्तथा वीरो राजा च रथिनां वरः।
द्युतिमन्तो महेष्वासाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ १४ ॥

जहाँ द्रोण, भीष्म, कृप, कर्ण, विविंशति, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक तथा रथियोंमें श्रेष्ठ वीर राजा दुर्योधन हैं। जो सब-के-सब तेजस्वी, महान् धनुर्धर और युद्धकी कलामें प्रवीण हैं ॥ १३-१४ ॥

(मत्ता इव महानागा युक्तध्वजपताकिनः।
नीतिमन्तो महेष्वासाः सर्वास्त्रकृतनिश्चयाः ॥
दुर्जयाः सर्वसैन्यानां देवैरपि सवासवैः।
पताकिनश्च मातङ्गाः सध्वजाश्च महारथाः ॥
विप्रकीर्णाः कृतोद्योगा वाजिनश्चित्रभूषिताः।
ताञ्जेतुं समरे शूरान् दुर्बुद्धिरहमागतः ॥)

ये कौरववीर मदसे उन्मत्त हुए महान् गजराजोंके समान जान पड़ते हैं। ये सब-के-सब ध्वजा-पताकाओंसे युक्त, नीति-निपुण, महाधनुर्धर तथा सम्पूर्ण अस्त्रविद्याका सुनिश्चित ज्ञान रखते हैं। इनपर विजय पाना सम्पूर्ण सेनाओंके लिये ही नहीं, इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है। इनके हाथियोंपर भी पताकाएँ फहरा रही हैं। बड़े-बड़े रथ ध्वजाओंसे सुशोभित हो रहे हैं। विचित्र आभूषणोंसे आभूषित घोड़े चारों ओर फैलकर विजयके लिये उद्योगशील प्रतीत होते हैं। ऐसे शूरवीर कौरवोंको युद्धमें जीतनेके लिये मैं दुर्बुद्धि बालक कहाँ आ गया ? ॥

दृष्ट्वैव हि कुरूनेतान् व्यूढानीकान् प्रहारिणः।
हृषितानि च रोमाणि कश्मलं चागतं मम ॥ १५ ॥

सेनाकी व्यूहरचना करके प्रहारके लिये उद्यत खड़े हुए इन कौरवोंको देखकर ही मेरे रोंगटे खड़े हो गये हैं। मुझे मूर्च्छा-सी आ रही है ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

अविज्ञातो विज्ञातस्य मौर्ख्याद् धूर्तस्य पश्यतः।
परिदेवयते मन्दः सकाशे सव्यसाचिनः ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मूर्ख उत्तर एक साधारण कोटिका मनुष्य था और छद्मवेशधारी सव्यसाची अर्जुन असाधारण वीर थे। अतः उनके प्रभावको न जाननेके कारण वह मूर्खतावश उनके पास रहकर भी उन्हींके देखते-देखते यों विलाप करने लगा—॥ १६ ॥

त्रिगर्तान् मे पिता यातः शून्ये सम्प्रणिधाय माम्।
सर्वां सेनामुपादाय न मे सन्तीह सैनिकाः ॥ १७ ॥
सोऽहमेको बहून् बालः कृतास्त्रानकृतश्रमः।
प्रतियोद्धुं न शक्ष्यामि निवर्तस्व बृहन्नले ॥ १८ ॥

'बृहन्नले! मेरे पिता सूने नगरमें उसकी रक्षाके लिये मुझे अकेला रखकर स्वयं सारी सेना साथ ले त्रिगर्तोंसे युद्ध करनेके लिये गये हैं। मेरे पास यहाँ कोई सैनिक नहीं है। मैं अकेला बालक हूँ और मैंने अस्त्रविद्यामें अभी अधिक परिश्रम भी नहीं किया है। ऐसी दशामें अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता और प्रौढ़ अवस्थावाले इन बहुसंख्यक कौरवोंका सामना मैं नहीं कर सकूँगा। अतः तुम रथ लेकर लौट चलो' ॥ १७-१८ ॥

बृहन्नलोवाच

भयेन दीनरूपोऽसि द्विषतां हर्षवर्धनः।
न च तावत् कृतं कर्म परैः किंचिद् रणाजिरे ॥ १९ ॥

बृहन्नलाने कहा—राजकुमार! तुम भयके कारण दीन होकर शत्रुओंका हर्ष बढ़ा रहे हो। अभी तो शत्रुओंने युद्धके मैदानमें कोई पराक्रम भी नहीं प्रकट किया है ॥ १९ ॥

स्वयमेव च मामात्थ वह मां कौरवान् प्रति।
सोऽहं त्वां तत्र नेष्यामि यत्रैते बहुला ध्वजाः ॥ २० ॥

तुमने स्वयं ही कहा था कि मुझे कौरवोंके पास ले चलो; अतः जहाँ ये बहुत-सी ध्वजाएँ फहरा रही हैं, वहीं तुम्हें ले चलूँगी ॥ २० ॥

मध्यमामिषगृध्राणां कुरूणामाततायिनाम् ।
नेष्यामि त्वां महाबाहो पृथिव्यामपि युध्यताम्॥ २१ ॥

महाबाहो ! जैसे गीध मांसपर टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार जो गौओंको लूटनेके लिये यहाँ आये हैं, उन आततायी कौरवोंके बीच तुम्हें ले चलती हूँ । यदि ये पृथ्वीके लिये भी युद्ध ठानेंगे तो उसमें भी मैं तुम्हें ले चलूँगी ॥ २१ ॥

तथा स्त्रीषु प्रतिश्रुत्य पौरुषं पुरुषेषु च ।
कत्थमानोऽभिनिर्याय किमर्थं न युयुत्ससे ॥ २२ ॥

तुम स्त्रियों और पुरुषोंके बीच कौरवोंको हराकर अपने गोधनको वापस लानेकी प्रतिज्ञा करके पुरुषार्थके विषयमें अपनी श्लाघा करते हुए युद्धके लिये निकले थे; फिर अब क्यों युद्ध नहीं करना चाहते ? ॥ २२ ॥

न चेद् विजित्य गास्तास्त्वं गृहान् वै प्रतियास्यसि ।
प्रहसिष्यन्ति वीरास्त्वां नरा नार्यश्च संगताः ॥ २३ ॥

यदि उन गौओंको बिना जीते ही तुम घर लौटोगे, तो वीर पुरुष तुम्हारी हँसी उड़ायेंगे और यत्र-तत्र स्त्रियाँ और पुरुष एकत्र हो तुम्हारा उपहास करेंगे ॥ २३ ॥

अहमप्यत्र सैरन्ध्र्या ख्याता सारथ्यकर्मणि ।
न च शक्ष्याम्यनिर्जित्य गाः प्रयातुं पुरं प्रति ॥ २४॥

मैं भी सैरन्ध्रीके द्वारा सारथ्यके कार्यमें कुशल बतायी गयी हूँ, अतः अब गौओंको जीतकर वापस लिये बिना मैं नगरमें नहीं जा सकूँगी ॥ २४ ॥

स्तोत्रेण चैव सैरन्ध्र्यास्तव वाक्येन तेन च ।
कथं न युध्येयमहं कुरून् सर्वान् स्थिरो भव ॥ २५ ॥

सैरन्ध्री और तुमने भी बड़ी-बड़ी बातें कहकर मेरी बहुत स्तुति-प्रशंसा की है, फिर सम्पूर्ण कौरवोंके साथ मैं ही क्यों न युद्ध करूँ ? तुम दृढ़तापूर्वक डट जाओ ॥ २५ ॥

उत्तर उवाच

कामं हरन्तु मत्स्यानां भूयांसः कुरवो धनम् ।
प्रहसन्तु च मां नार्यो नरा वापि बृहन्नले ॥ २६ ॥
संग्रामे न च कार्यं मे गावो गच्छन्तु चापि मे ।
शून्यं मे नगरं चापि पितुश्चैव बिभेम्यहम् ॥ २७ ॥

उत्तर बोला—बृहन्नले ! भारी संख्यामें आये हुए कौरव भले ही मत्स्यदेशका सारा धन इच्छानुसार हर ले जायँ, स्त्रियाँ अथवा पुरुष जितना चाहें, मेरा उपहास करें तथा मेरी गौएँ भी चली जायँ; किंतु इस युद्धमें मेरा कोई काम नहीं है। मेरा नगर सूना पड़ा है । [पिताजी उसकी रक्षाका भार मुझे दे गये थे] । मैं पिताजीसे डरता हूँ [इसलिये यहाँ नहीं ठहर सकता] ॥ २६-२७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्राद्रवद् भीतो रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली ।
त्यक्त्वा मानं च दर्पं च विसृज्य सशरं धनुः ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर मान और अभिमानको त्यागकर बाणसहित धनुषको वहीं छोड़कर कुण्डलधारी राजकुमार उत्तर रथसे कूद पड़ा और भयभीत होकर भाग चला ॥ २८ ॥

बृहन्नलोवाच

नैष शूरैः स्मृतो धर्मः क्षत्रियस्य पलायनम् ।
श्रेयस्तु मरणं युद्धे न भीतस्य पलायनम् ॥ २९ ॥

तब बृहन्नलाने कहा—राजकुमार ! क्षत्रियका युद्धसे भागना शूरवीरोंकी दृष्टिमें धर्म नहीं है । युद्ध करके मर जाना अच्छा है; किंतु भयभीत होकर भागना कदापि अच्छा नहीं है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु कौन्तेयः सोऽवप्लुत्य रथोत्तमात् ।
तमन्वधावद् धावन्तं राजपुत्रं धनंजयः ॥ ३० ॥
दीर्घां वेणीं विधुन्वानः साधु रक्ते च वाससी ।
विधूय वेणीं धावन्तमजानन्तोऽर्जुनं तदा ॥ ३१ ॥
सैनिकाः प्राहसन् केचित् तथा रूपमवेक्ष्य तम् ।
तं शीघ्रमभिधावन्तं सम्प्रेक्ष्य कुरवोऽब्रुवन् ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर कुन्तीनन्दन धनंजय भी उस उत्तम रथसे कूद पड़े और भागते हुए राजकुमारको पकड़नेके लिये अपनी लंबी चोटी हिलाते और लाल रंगकी साड़ी एवं दुपट्टेको फहराते हुए उसके पीछे-पीछे



दौड़े । उस समय चोटी हिला-हिलाकर दौड़ते हुए अर्जुनको उस रूपमें देखकर उन्हें न जाननेवाले कुछ सैनिक ठहाका

मारकर हँसने लगे। उन्हें शीघ्र गतिसे दौड़ते देख कौरव आपसमें कहने लगे—॥ ३०–३२ ॥

क एष वेषसंच्छन्नो भस्मन्येव हुताशनः।
किंचिदस्य यथा पुंसः किंचिदस्य यथा स्त्रियः॥ ३३ ॥

'यह कौन है जो राखमें छिपी हुई अग्निकी भाँति नारीके वेशमें छिपा है? इसकी कुछ बातें तो पुरुषों-जैसी हैं और कुछ स्त्रियों-जैसी॥ ३३ ॥

सारूप्यमर्जुनस्येव क्लीबरूपं बिभर्ति च।
तदेवैतच्छिरो ग्रीवं तौ बाहू परिघोपमौ।
तद्वदेवास्य विक्रान्तं नायमन्यो धनंजयात्॥ ३४ ॥

'इसका स्वरूप तो अर्जुनसे मिलता-जुलता है; किंतु वेश-भूषा इसने नपुंसकों-जैसी बना रक्खी है। देखो न, वही अर्जुन-जैसा सिर है, वैसी ही ग्रीवा है, वे ही परिघ-जैसी मोटी भुजाएँ हैं और उन्हींके समान इसकी चाल-ढाल है; अतः यह अर्जुनके सिवा दूसरा कोई नहीं है॥ ३४ ॥

अमरेष्विव देवेन्द्रो मानुषेषु धनंजयः।
एकः कोऽस्मानुपायायादन्यो लोके धनंजयात्॥ ३५ ॥

'मनुष्योंमें धनंजयका वही स्थान है, जो देवताओंमें इन्द्रका है। संसारमें अर्जुनके सिवा दूसरा कौन वीर है, जो अकेला हमलोगोंका सामना करनेके लिये चला आये?॥३५॥

एकः पुत्रो विराटस्य शून्ये संनिहितः पुरे।
स एष किल निर्यातो बालभावान्न पौरुषात्॥ ३६ ॥

'विराटके सूने नगरमें उनका एक ही पुत्र देख-रेखके लिये रह गया था; सो यह बचपन (मूर्खता) के ही कारण हमारा सामना करनेके लिये चला आया, अपने पुरुषार्थसे प्रेरित होकर नहीं॥ ३६ ॥

सत्रेण नूनं छन्नं हि चरन्तं पार्थमर्जुनम्।
उत्तरः सारथिं कृत्वा निर्यातो नगराद् बहिः॥ ३७ ॥

'निश्चय ही कपटवेशमें छिपे हुए कुन्तीपुत्र अर्जुनको अपना सारथि बनाकर उत्तर नगरसे बाहर निकला था॥

स नो मन्यामहे दृष्ट्वा भीत एष पलायते।
तं नूनमेष धावन्तं जिघृक्षति धनंजयः॥ ३८ ॥

'मालूम होता है, हमलोगोंको देखकर यह बहुत डर गया है; इसीलिये भागा जाता है और ये अर्जुन अवश्य ही उस भागते हुए राजकुमारको पकड़ लाना चाहते हैं'॥३८॥

वैशम्पायन उवाच

इति स्म कुरवः सर्वे विमृशन्तः पृथक्-पृथक्।
न च व्यवसितुं किंचिदुत्तरं शक्नुवन्ति ते॥ ३९ ॥
छन्नं तथा तं सत्रेण पाण्डवं प्रेक्ष्य भारत।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! इस प्रकार सभी कौरव अलग अलग विचार-विमर्श करते थे, किंतु छद्मवेशमें छिपे हुए पाण्डुनन्दन अर्जुन तथा उत्तरको देखकर भी वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाते थे॥ ३९½ ॥

(दुर्योधन उवाचेदं सैनिकान् रथसत्तमान्।
अर्जुनो वासुदेवो वा रामः प्रद्युम्न एव वा॥
ते हि नः प्रतिसंयातुं संग्रामे न च शक्नुयुः॥
अन्यो वा क्लीबरूपेण यद्यागच्छेद् गवां पदम्।
अर्पयित्वा शरैस्तीक्ष्णैः पातयिष्यामि भूतले॥
कथमेकतरस्तेषां समस्तान् योधयेत् कुरून्।
अर्जुनो नेति चेत्येनं न व्यवस्यन्ति ते पुनः।
इति स्म कुरवः सर्वे मन्त्रयन्तो महारथाः॥
दृढवेधी महासत्त्वः शक्रतुल्यपराक्रमः।
अद्यागच्छति ये योद्धुं सर्वं संशयितं बलम्॥
न चाप्यन्यं नरं तत्र व्यवस्यन्ति धनंजयात्।)

उस समय दुर्योधनने रथियोंमें श्रेष्ठ समस्त सैनिकोंसे इस प्रकार कहा—'अर्जुन, श्रीकृष्ण, बलराम और प्रद्युम्न भी संग्राम-भूमिमें हमलोगोंका सामना नहीं कर सकते। यदि कोई दूसरा मनुष्य ही हीजड़ेका रूप धारण करके इन गौओंके स्थानपर आयेगा, तो मैं उसे अपने तीखे बाणोंसे घायल करके धरतीपर सुला दूँगा। यह उपर्युक्त वीरोंमेंसे ही कोई एक हो, तो भी अकेला समस्त कौरवोंके साथ कैसे युद्ध कर सकता है?' उधर 'यह अर्जुन ही तो नहीं हैं? नहीं वे नहीं जान पड़ते।' इस प्रकार आपसमें मन्त्रणा करते हुए समस्त कौरव महारथी अर्जुनके विषयमें कोई निश्चय नहीं कर पाते थे। कई एक कहने लगे कि अर्जुनकी शक्ति महान् है। उनका पराक्रम इन्द्रके समान है। वे दृढ़तापूर्वक शत्रुओंका वेधन करनेवाले हैं। यदि वे ही आज युद्ध करनेके लिये आ रहे हैं, तब तो समस्त सैनिकों-का जीवन संशयमें पड़ गया।' वे इस मनुष्यको वहाँ अर्जुनसे भिन्न भी नहीं निश्चित कर पाते थे॥

उत्तरं तु प्रधावन्तमभिद्रुत्य धनंजयः।
गत्वा पदशतं तूर्णं केशपक्षे परामृशत्॥ ४० ॥

उधर अर्जुनने भागते हुए उत्तरका पीछा करके सौ कदम दूर जाते-जाते उसके केश पकड़ लिये॥ ४० ॥

सोऽर्जुनेन परामृष्टः पर्यदेवयदार्तवत्।
बहुलं कृपणं चैव विराटस्य सुतस्तदा॥ ४१ ॥

अर्जुनके द्वारा पकड़ लिये जानेपर विराटपुत्र उत्तर बड़ी दीनताके साथ आर्तकी भाँति विलाप करने लगा॥ ४१ ॥

उत्तर उवाच

शृणुयास्त्वं हि कल्याणि बृहन्नले सुमध्यमे।
निवर्तय रथं क्षिप्रं जीवन् भद्राणि पश्यति॥ ४२ ॥

उत्तर बोला—सुन्दर कटिवाली कल्याणमयी बृहन्नले!

तुम मेरी बात सुनो। मेरे रथको शीघ्र लौटाओ; क्योंकि मनुष्य जीवित रहे, तो वह अनेक बार मङ्गल देखता है ॥४२॥

शातकुम्भस्य शुद्धस्य शतं निष्कान् ददामि ते।
मणीनष्टौ च वैदूर्यान् हेमबद्धान् महाप्रभान् ॥ ४३ ॥

मैं तुम्हें शुद्ध सुवर्णकी सौ मोहरें देता हूँ, साथ ही अत्यन्त प्रकाशमान स्वर्णजटित आठ वैदूर्यमणियाँ भेंट करता हूँ ॥ ४३ ॥

हेमदण्डप्रतिच्छन्नं रथं युक्तं च सुव्रतैः।
मत्तांश्च दश मातङ्गान् मुञ्च मां त्वं बृहन्नले ॥ ४४ ॥

इतना ही नहीं, उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए तथा सुवर्णमय दण्डसे युक्त एक रथ और दस मतवाले हाथी भी दे रहा हूँ। बृहन्नले! यह सब ले लो, किंतु तुम मुझे छोड़ दो ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमादीनि वाक्यानि विलपन्तमचेतसम्।
प्रहस्य पुरुषव्याघ्रो रथस्यान्तिकमानयत् ॥ ४५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उत्तर इसी प्रकारकी बातें कहता और विलाप करता हुआ अचेत हो रहा था। पुरुषसिंह अर्जुन उसकी बातोंपर हँसते हुए उसे रथके समीप ले आये ॥ ४५ ॥

अथैनमब्रवीत् पार्थो भयार्तं नष्टचेतसम्।
यदि नोत्सहसे योद्धुं शत्रुभिः शत्रुकर्षण।
एहि मे त्वं हयान् यच्छ युध्यमानस्य शत्रुभिः ॥ ४६ ॥

जब वह भयसे आतुर होकर अपनी सुध-बुध खोने लगा तब अर्जुनने उससे कहा—'शत्रुनाशन! यदि तुम्हें शत्रुओंके साथ युद्ध करनेका उत्साह नहीं है तो चलो; मैं उनसे युद्ध करूँगा। तुम मेरे घोड़ोंकी बागडोर सँभालो ॥४६॥

प्रयाह्येतद् रथानीकं मद्बाहुबलरक्षितः।
अप्रधृष्यतमं घोरं गुप्तं वीरैर्महारथैः ॥ ४७ ॥

'तुम मेरे बाहुबलसे सुरक्षित हो इस रथ-सेनाकी ओर चलो, जो महारथी वीरोंसे सुरक्षित, घोर एवं अत्यन्त दुर्धर्ष है ॥४७॥

मा भैस्त्वं राजपुत्राग्र्य क्षत्रियोऽसि परंतप।
कथं पुरुषशार्दूल शत्रुमध्ये विषीदसि ॥ ४८ ॥

'राजपुत्रशिरोमणे! भयभीत न होओ। शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर! तुम क्षत्रिय हो, पुरुषसिंह! तुम शत्रुओंके बीचमें आकर विषाद कैसे कर रहे हो? ॥ ४८ ॥

अहं वै कुरुभिर्योत्स्ये विजेष्यामि च ते पशून्।
प्रविश्यैतद् रथानीकमप्रधृष्यं दुरासदम् ॥ ४९ ॥

'देखो, मैं इस अतीव दुर्धर्ष तथा दुर्गम रथसेनामें घुसकर कौरवोंके साथ युद्ध करूँगा और तुम्हारे पशुओंको जीत लाऊँगा ॥ ४९ ॥

यन्ता भव नरश्रेष्ठ योत्स्येऽहं कुरुभिः सह।

'नरश्रेष्ठ! तुम केवल मेरे सारथि बनकर बैठे रहो। इन कौरवोंके साथ युद्ध तो मैं करूँगा' ॥ ४९½ ॥

एवं ब्रुवाणो बीभत्सुर्वैराटिमपराजितः।
समाश्वास्य मुहूर्तं तमुत्तरं भरतर्षभ ॥ ५० ॥
तत एनं विचेष्टन्तमकामं भयपीडितम्।
रथमारोपयामास पार्थः प्रहरतां वरः ॥ ५१ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ और कभी परास्त न होनेवाले कुन्तीपुत्र अर्जुनने उपर्युक्त बातें कहकर विराटकुमार उत्तरको दो घड़ीतक भलीभाँति समझाया-बुझाया। तत्पश्चात् युद्धकी कामनासे रहित, भयसे व्याकुल और भागनेके लिये छटपटाते हुए उत्तरको उन्होंने रथपर चढ़ाया ॥ ५०-५१ ॥

(गाण्डीवं पुनरादातुमुपायात् तां शमीं प्रति ॥
उत्तरं स समाश्वास्य कृत्वा यन्तारमर्जुनः।)

अर्जुन अपने गाण्डीव धनुषको लानेके लिये पुनः उस शमीवृक्षकी ओर गये। उन्होंने उत्तरको समझा-बुझाकर सारथि बननेके लिये राजी कर लिया था ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि **गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे उत्तराश्वासने अष्टात्रिंशोऽध्यायः** ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशासे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें उत्तरके आश्वासनसे सम्बन्ध रखनेवाला अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९½ श्लोक मिलाकर कुल ६०½ श्लोक हैं)

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

द्रोणाचार्यद्वारा अर्जुनके अलौकिक पराक्रमकी प्रशंसा

वैशम्पायन उवाच

तं दृष्ट्वा क्लीबवेषेण रथस्थं नरपुङ्गवम्।
शमीमभिमुखं यान्तं रथमारोप्य चोत्तरम् ॥ १ ॥
भीष्मद्रोणमुखास्तत्र कुरवो रथिसत्तमाः।
वित्रस्तमनसः सर्वे धनंजयकृतात् भयात् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! नपुंसकवेषमें रथपर बैठे हुए नरश्रेष्ठ अर्जुनको, जो उत्तरको रथपर बिठाकर शमीवृक्षकी ओर जा रहे थे, भीष्म-द्रोण आदि

कौरव महारथियोंने देखा। यह देखकर अर्जुनकी आशङ्का होनेसे वे सबके सब मन-ही-मन भयभीत हो उठे ॥ १-२ ॥

तानवेक्ष्य हतोत्साहानुत्पातानपि चाद्भुतान् ।
गुरुः शस्त्रभृतां श्रेष्ठो भारद्वाजोऽभ्यभाषत ॥ ३ ॥

उन सब महारथियोंको हतोत्साह देख तथा अद्भुत उत्पातोंको भी देखकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भरद्वाजनन्दन आचार्य द्रोण बोले— ॥ ३ ॥

चण्डाश्च वाताः संवान्ति रूक्षाः शर्करवर्षिणः ।
भस्मवर्णप्रकाशेन तमसा संवृतं नभः ॥ ४ ॥

'इस समय कंकड़ बरसानेवाली प्रचण्ड एवं रूखी हवा चल रही है। राखके समान रंगवाले अन्धकारसे आकाश आच्छादित हो रहा है ॥ ४ ॥

रूक्षवर्णाश्च जलदा दृश्यन्तेऽद्भुतदर्शनाः ।
निःसरन्ति च कोशेभ्यः शस्त्राणि विविधानि च ॥ ५ ॥

'रूक्ष वर्णवाले अद्भुत बादल भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं। म्यानोंसे अनेक प्रकारके शस्त्र निकल रहे हैं ॥ ५ ॥

शिवाश्च विनदन्त्येता दीप्तायां दिशि दारुणाः ।
हयाश्चाश्रूणि मुञ्चन्ति ध्वजाः कम्पन्त्यकम्पिताः ॥ ६ ॥

'दिशाओंमें आग-सी लग रही है और उनमें ये भयंकर गीदड़ियाँ चीत्कार करती हैं। घोड़े आँसू बहाते हैं और रथोंकी ध्वजाएँ बिना हिलाये ही हिल रही हैं ॥ ६ ॥

यादृशान्यत्र रूपाणि संदृश्यन्ते बहूनि च ।
यत्ता भवन्तस्तिष्ठन्तु साध्वसं समुपस्थितम् ॥ ७ ॥

'यहाँ जैसे-जैसे बहुत-से रूप (लक्षण) दिखायी दे रहे हैं, उनसे यह सूचित होता है कि कोई महान् भय उपस्थित होनेवाला है; अतः आप सब लोग सावधान हो जायँ ॥७॥

रक्षध्वमपि चात्मानं व्यूहध्वं वाहिनीमपि ।
वैशसं च प्रतीक्षध्वं रक्षध्वं चापि गोधनम् ॥ ८ ॥

'आपलोग अपने आपकी रक्षा तो करें ही, सेनाका भी व्यूह बना लें। युद्धमें बहुत बड़ा नरसंहार होनेवाला है। उसकी प्रतीक्षा करें । और इस गोधनकी भी रखवाली करते रहें ॥

एष वीरो महेष्वासः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
आगतः क्लीबवेषेण पार्थो नास्त्यत्र संशयः ॥ ९ ॥

'नपुंसकवेशमें ये समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महान् धनुर्धर वीर अर्जुन ही आ गये हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥ ९ ॥

नदीज लङ्केशवनारिकेतु-
र्नगाह्वयो नाम नगारिसूनुः ।
एषोऽङ्गनावेषधरः किरीटी
जित्वाव यं नेष्यति चाद्य गा वः ॥ १० ॥

'गङ्गानन्दन ! जिनकी ध्वजापर हनुमान्जी विराजमान होते हैं, एक वृक्षका नाम (अर्जुन) ही जिनका नाम है और जो इन्द्रके पुत्र हैं, वे किरीटधारी धनंजय ही नारी-वेश धारण किये यहाँ आ रहे हैं । ये जिसको जीतकर आज हमारी इन गौओंको लौटा ले जायँगे, उस दुर्योधनकी रक्षा कीजिये ॥ १० ॥

स एष पार्थो विक्रान्तः सव्यसाची परंतपः ।
नायुद्धेन निवर्तेत सर्वैरपि सुरासुरैः ॥ ११ ॥

'ये वे ही शत्रुओंको संताप देनेवाले महापराक्रमी सव्यसाची अर्जुन हैं, जो (सामना होनेपर) सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंके साथ भी बिना युद्ध किये पीछे नहीं लौट सकते ॥

क्लेशितश्च वने शूरो वासवेनापि शिक्षितः ।
अमर्षवशमापन्नो वासवप्रतिमो युधि ।
नेहास्य प्रतियोद्धारमहं पश्यामि कौरवाः ॥ १२ ॥

'कौरवो ! साक्षात् इन्द्रने भी इन्हें अस्त्रविद्याकी शिक्षा दी है। युद्धमें कुपित होनेपर ये साक्षात् इन्द्रके समान पराक्रम दिखाते हैं। तुम लोगोंने इन शूरवीरको वनमें (अनुचित) क्लेश पहुँचाया है। मुझे इनका सामना करनेवाला कोई योद्धा यहाँ नहीं दिखायी देता ॥ १२ ॥

महादेवोऽपि पार्थेन श्रूयते युधि तोषितः ।
किरातवेषप्रच्छन्नो गिरौ हिमवति प्रभुः ॥ १३ ॥

'सुना जाता है, हिमालय पर्वतपर किरातवेशमें छिपे हुए साक्षात् भगवान् शंकरको भी अर्जुनने युद्धमें संतुष्ट किया था' ॥ १३ ॥

कर्ण उवाच

सदा भवान् फाल्गुनस्य गुणैरस्मान् विकत्थसे ।
न चार्जुनः कलापूर्णो मम दुर्योधनस्य च ॥ १४ ॥

कर्णने कहा—आचार्य ! आप सदा हमारे सामने अर्जुनके गुणोंकी श्लाघा करते रहते हैं, परंतु अर्जुन मेरी और दुर्योधनकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं है ॥ १४ ॥

दुर्योधन उवाच

यद्येष पार्थो राधेय कृतं कार्यं भवेन्मम ।
ज्ञाताः पुनश्चरिष्यन्ति द्वादशाब्दान् विशाम्पते ॥ १५ ॥

दुर्योधनने कहा—राधानन्दन ! यदि यह अर्जुन है; तब तो मेरा काम ही बन गया । अङ्गराज ! अब ये पाण्डव पहचान लिये जानेके कारण फिर बारह वर्षोंतक वनमें भटकेंगे ॥ १५ ॥

अथैष कश्चिदेवान्यः क्लीबवेषेण मानवः ।
शरैरेनं सुनिशितैः पातयिष्यामि भूतले ॥ १६ ॥

और यदि यह नपुंसकवेशमें कोई दूसरा ही मनुष्य है, तो इसे अत्यन्त तीखे बाणोंद्वारा अभी इस भूतलपर मार गिराऊँगा ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् ब्रुवति तद् वाक्यं धार्तराष्ट्रे परंतप।
भीष्मो द्रोणः कृपो द्रौणिः पौरुषं तदपूजयन्॥ १७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—परंतप! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके ऐसा कहनेपर भीष्म, द्रोण, कृप और अश्वत्थामा ने उसके इस पराक्रमकी बड़ी प्रशंसा की॥ १७॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनप्रशंसायामेकोनचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ३९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें अर्जुनकी प्रशंसाविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३९॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनका उत्तरको शमीवृक्षसे अस्त्र उतारनेके लिये आदेश

वैशम्पायन उवाच

तां शमीमुपसंगम्य पार्थो वैराटिमब्रवीत्।
सुकुमारं समाज्ञाय संग्रामे नातिकोविदम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस शमीवृक्षके समीप पहुँचकर अर्जुनने विराटकुमार उत्तरको सुकुमार तथा युद्धकी कलामें पूर्णतया कुशल न जानकर उससे कहा—॥१॥

समादिष्टो मया क्षिप्रं धनूंष्यवहरोत्तर।
नेमानि हि त्वदीयानि सोढुं शक्ष्यन्ति मे बलम्।
भारं चापि गुरुं वोढुं कुञ्जरं वा प्रमर्दितुम्॥ २॥
मम वा बाहुविक्षेपं शत्रूनिह विजेष्यतः।

'उत्तर! मेरी आज्ञासे तुम शीघ्र इस वृक्षपर चढ़कर वहाँ रक्खे हुए धनुष उतारो, क्योंकि तुम्हारे ये धनुष मेरे बाहुबलको नहीं सह सकेंगे, कोई भारी कार्य-भार नहीं उठा सकेंगे अथवा बड़े-बड़े गजराजोंका नाश करनेमें भी ये काम न दे सकेंगे। इतना ही नहीं, यहाँ शत्रुओंपर विजय पानेके लिये युद्ध करते समय ये मेरे बाहुविक्षेपको भी नहीं सँभाल सकेंगे॥ २½॥

(नैभिः काममलं कर्तुं कर्म वैजयिकं त्विह।
अतिसूक्ष्माणि ह्रस्वानि सर्वाणि च मृदूनि च।
आयुधानि महाबाहो तवैतानि परंतप॥)
तस्माद् भूमिंजयारोह शमीमेतां पलाशिनीम्॥ ३॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले महाबाहु उत्तर! तुम्हारे ये सभी अस्त्र-शस्त्र अत्यन्त सूक्ष्म, छोटे और कोमल हैं। इनके द्वारा यहाँ विजय दिलानेवाला पराक्रम नहीं किया जा सकता। इसलिये भूमिंजय! पत्तोंसे सुशोभित इस शमीवृक्षपर शीघ्र चढ़ जाओ॥ ३॥

अस्यां हि पाण्डुपुत्राणां धनूंषि निहितान्युत।
युधिष्ठिरस्य भीमस्य बीभत्सोर्यमयोस्तथा॥ ४॥

'इसपर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और नकुल-सहदेव—इन सब पाण्डवोंके धनुष रक्खे हुए हैं॥ ४॥

ध्वजाः शराश्च शूराणां दिव्यानि कवचानि च।
अत्र चैतन्महावीर्यं धनुः पार्थस्य गाण्डिवम्॥ ५॥
एकं शतसहस्रेण सम्मितं राष्ट्रवर्धनम्।
व्यायामसहमत्यर्थं तृणराजसमं महत्॥ ६॥

'उन शूरवीरोंके ध्वज, बाण और दिव्य कवच भी यहीं हैं। यहीं अर्जुनका वह महान् शक्तिशाली गाण्डीव धनुष भी है, जो अकेला ही एक लाख धनुषोंके समान है। यह राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाला, परिश्रमको सहनेमें समर्थ और ताड़के समान अत्यन्त विशाल है॥ ५-६॥

सर्वायुधमहामात्रं शत्रुसम्बाधकारकम्।
सुवर्णविकृतं दिव्यं श्लक्ष्णमायतमव्रणम्॥ ७॥
अलं भारं गुरुं वोढुं दारुणं चारुदर्शनम्।
तादृशान्येव सर्वाणि बलवन्ति दृढानि च।
युधिष्ठिरस्य भीमस्य बीभत्सोर्यमयोस्तथा॥ ८॥

'सम्पूर्ण आयुधोंमें यह सबसे बड़ा है और शत्रुओंको विशेष पीड़ा देनेवाला है। यह सोनेको गलाकर बनाया हुआ दिव्य, सुन्दर, विस्तृत तथा व्रणरहित (नित्य नूतन) है। यह भारी-से-भारी भार वहन करनेमें समर्थ, भयंकर और देखनेमें मनोहर है। ऐसे ही युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवके भी सब धनुष प्रबल और सुदृढ़ हैं॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनास्त्रकथने चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके प्रसंगमें अर्जुनके द्वारा अस्त्र-वर्णनविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४०॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके 1½ श्लोक मिलाकर कुल 9½ हैं)

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

उत्तरका अर्जुनके आदेशके अनुसार शमीवृक्षसे पाण्डवोंके दिव्य धनुष आदि उतारना

उत्तर उवाच

अस्मिन् वृक्षे किलोद्बद्धं शरीरमिति नः श्रुतम्।
तदहं राजपुत्रः सन् स्पृशेयं पाणिना कथम्॥ १॥

उत्तर बोला—मैंने तो सुन रक्खा था कि इस वृक्षमें कोई लाश बँधी है, ऐसी दशामें मैं राजकुमार होकर अपने हाथसे उसका स्पर्श कैसे कर सकता हूँ ?॥ १॥

नैवंविधं मया युक्तमालब्धुं क्षत्रयोनिना।
महता राजपुत्रेण मन्त्रयज्ञविदा सता॥ २॥

एक तो मैं क्षत्रिय, दूसरे महान् राजकुमार तथा तीसरे मन्त्र और यज्ञोंका ज्ञाता एवं सत्पुरुष हूँ, अतः मुझे ऐसी अपवित्र वस्तुका स्पर्श करना उचित नहीं है॥ २॥

स्पृष्टवन्तं शरीरं मां शववाहमिवाशुचिम्।
कथं वा व्यवहार्यं वै कुर्वीथास्त्वं बृहन्नले॥ ३॥

बृहन्नले ! यदि मैं शवका स्पर्श कर लूँ, तो मुर्दा ढोनेवालोंकी भाँति अपवित्र हो जाऊँगा, फिर तुम मुझे व्यवहारमें लाने योग्य शुद्ध कैसे कर सकोगी ?॥ ३॥

बृहन्नलोवाच

व्यवहार्यश्च राजेन्द्र शुचिश्चैव भविष्यसि।
धनूंष्येतानि मा भैस्त्वं शरीरं नात्र विद्यते॥ ४॥

बृहन्नलाने कहा—राजेन्द्र ! तुम इन धनुषोंको छूकर भी व्यवहारमें लाने योग्य और पवित्र ही रहोगे। डरो मत, ये केवल धनुष हैं; इनमें कोई शव नहीं है॥ ४॥

दायादं मत्स्यराजस्य कुले जातं मनस्विनाम्।
त्वां कथं निन्दितं कर्म कारयेयं नृपात्मज॥ ५॥

राजकुमार ! तुम मनस्वी पुरुषोंके उत्तम कुलमें उत्पन्न और मत्स्यनरेशके पुत्र हो। भला, मैं तुमसे कोई निन्दित कर्म कैसे करवा सकती हूँ ?॥ ५॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स पार्थेन रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली।
आरुरोह शमीवृक्षं वैराटिरवशस्तदा॥ ६॥
तमन्वशासच्छत्रुघ्नो रथे तिष्ठन् धनंजयः।
अवरोपय वृक्षाग्राद् धनूंष्येतानि मा चिरम्॥ ७॥
परिवेष्टनमेतेषां क्षिप्रं चैव व्यपानुद।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर कुण्डलधारी विराटपुत्र उत्तर विवश हो रथसे कूदकर शमीवृक्षपर चढ़ गया। तब रथपर बैठे हुए शत्रुनाशक पृथापुत्र धनंजयने शासनके स्वरमें कहा—'इन धनुषोंको जल्दी वृक्षसे नीचे उतारो और इन सबका पत्रमय वेष्टन भी शीघ्र हटा दो।'॥ ६-७½॥

सोऽपहृत्य महार्हाणि धनूंषि पृथुवक्षसाम्।
परिवेष्टनपत्राणि विमुच्य समुपानयत्॥ ८॥
तथा संनहनान्येषां परिमुच्य समन्ततः।
अपश्यद् गाण्डिवं तत्र चतुर्भिरपरैः सह॥ ९॥

तब उत्तरने विशाल वक्षःस्थलवाले पाण्डवोंके बहुमूल्य धनुषोंको वृक्षके नीचे ले आकर उनपर जो पत्तोंके वेष्टन लगे थे, उन्हें खोलकर हटाया। फिर उन धनुषों तथा उनकी डोरियोंको सब ओरसे खोलकर अर्जुनके पास ले आया। उसमें अन्य चार धनुषोंके साथ रक्खे हुए गाण्डीव धनुषको उत्तरने देखा॥ ८-९॥

तेषां विमुच्यमानानां धनुषामर्कवर्चसाम्।
विनिश्चेरुः प्रभा दिव्या ग्रहाणामुदयेष्विव॥ १०॥

वेष्टन खोलनेपर उन सूर्यके समान तेजस्वी धनुषोंकी प्रभा चारों ओर फैल गयी, जैसे उदय होनेपर ग्रहोंका दिव्य प्रकाश सब ओर छा जाता है॥ १०॥

स तेषां रूपमालोक्य भोगिनामिव जृम्भताम्।
हृष्टरोमा भयोद्विग्नः क्षणेन समपद्यत॥ ११॥
संस्पृश्य तानि चापानि भानुमन्ति बृहन्ति च।
वैराटिरर्जुनं राजन्निदं वचनमब्रवीत्॥ १२॥

जँभाई लेनेके लिये मुँह खोले हुए विशाल सर्पोंकी भाँति उन धनुषोंका रूप देखकर उत्तरके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और वह क्षणभरमें भयसे उद्विग्न हो गया। राजन् ! तदनन्तर उन प्रभापूर्ण विशाल धनुषोंका स्पर्श करके विराटपुत्र उत्तरने अर्जुनसे इस प्रकार कहा॥ ११-१२॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अस्त्रावरोपणे एकचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर वृक्षसे अस्त्रोंको उतारनेसे सम्बन्ध रखनेवाला इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४१॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

उत्तरका बृहन्नलासे पाण्डवोंके अस्त्र-शस्त्रोंके विषयमें प्रश्न करना

उत्तर उवाच

बिन्दवो जातरूपस्य शतं यस्मिन् निपातिताः ।
सहस्रकोटि सौवर्णाः कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ॥ १ ॥

उत्तरने पूछा—बृहन्नले ! जिसपर सोनेकी सौ फूलियाँ जड़ी हैं, जिसके दोनों सिरे बहुत ही मजबूत और चमकीले हैं, यह उत्तम धनुष किस यशस्वी वीरका है ? ॥ १ ॥

वारणा यत्र सौवर्णाः पृष्ठे भासन्ति दंशिताः ।
सुपार्श्वं सुग्रहं चैव कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ॥ २ ॥

जिसकी पीठपर सोनेके प्रकाशमान हाथी सुशोभित हो रहे हैं तथा जिसके दोनों किनारे बड़े सुन्दर और मध्यभाग बहुत ही उत्तम है, यह श्रेष्ठ धनुष किसका है ? ॥ २ ॥

तपनीयस्य शुद्धस्य षष्टिर्यस्येन्द्रगोपकाः ।
पृष्ठे विभक्ताः शोभन्ते कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ॥ ३ ॥

जिसके पृष्ठभागमें शुद्ध सुवर्णके बने हुए लाल-पीले रंगवाले साठ इन्द्रगोप (बीरबहूटी) नामक कीट पृथक्-पृथक् शोभा पा रहे हैं, यह उत्तम धनुष किसका है ? ॥ ३ ॥

सूर्या यत्र च सौवर्णास्त्रयो भासन्ति दंशिताः ।
तेजसा प्रज्वलन्तो हि कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ॥ ४ ॥

जिसमें परस्पर सटे हुए तीन सुवर्णमय सूर्यचिह्न प्रकाशित हो रहे हैं, जो तेजसे मानो प्रज्वलित हैं, यह उत्तम धनुष किसका है ? ॥ ४ ॥

शलभा यत्र सौवर्णास्तपनीयविभूषिताः ।
सुवर्णमणिचित्रं च कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ॥ ५ ॥

जिसपर तप्त-सुवर्णभूषित मीनेके फतिंगे शोभा पा रहे हैं तथा जो उत्तम वर्णकी मणियोंसे जटित होनेके कारण विचित्र दिखायी देता है, यह उत्तम धनुष किसका है ? ॥ ५ ॥

इमे च कस्य नाराचाः साहस्रा लोमवाहिनः ।
समन्तात् कलधौताग्रा उपासंगे हिरण्मये ॥ ६ ॥
विपाठाः पृथवः कस्य गार्ध्रपत्राः शिलाशिताः ।
हारिद्रवर्णाः सुमुखाः पीताः सर्वायसाः शराः ॥ ७ ॥

ये जो सोनेके तरकसमें सहस्रों नाराच रक्खे हुए हैं, जिनके सब ओर विशेषतः अग्रभागमें सोनेका पानी चढ़ा है और जो सबके सब पंखवाले हैं, ये किसके उपयोगमें आते हैं ? ये मोटे-मोटे विपाठ (स्थूल दण्डवाले बाणविशेष) किसके हैं ? इनमें गीधकी पाँखें लगी हुई हैं । इन बाणोंको पत्थरपर रगड़कर तेज किया गया है । इनके रंग हल्दीके समान हैं और अग्रभाग बहुत ही सुन्दर हैं । कारीगरने इनपर भी खूब पानी चढ़ाया है । ये सबके सब लोहेके ही बाण हैं (अर्थात् इनमें नीचे काठका डंडा नहीं लगा है)॥६-७॥

कस्यायमसितश्चापः पञ्चशार्दूललक्षणः ।
वराहकर्णव्यामिश्रान् शरान् धारयते दश ॥ ८ ॥

जिसपर पाँच सिंहोंके चिह्न हैं, ऐसा यह काले रंगका धनुष किसका है ? यह तो सूअरके कानके समान नोकवाले दस बाणोंको एक साथ धारण कर सकता है ॥ ८ ॥

कस्येमे पृथवो दीर्घाश्चन्द्रबिम्बार्धदर्शनाः ।
शतानि सप्त तिष्ठन्ति नाराचा रुधिराशनाः ॥ ९ ॥

ये जो शत्रुओंका रक्त पीनेवाले मोटे, विशाल तथा अर्धचन्द्राकार दिखायी देनेवाले सात सौ नाराच रक्खे हुए हैं, किसके हैं ? ॥ ९ ॥

कस्येमे शुकपत्राभैः पूर्वैरर्धैः सुवाससः ।
उत्तरैरायसैः पीतैर्हेमपुङ्खैः शिलाशितैः ॥ १० ॥

जिनके पूर्वार्धभाग तोतेकी पाँखके समान रंगवाले और उत्तरार्धभाग सुवर्णमय पंखसे युक्त एवं पीले हैं, जो पत्थरपर घिसकर तेज किये हुए और लोहेके बने हैं, ऐसे ये सुन्दर पाँखवाले बाण किसके हैं ? ॥ १० ॥

गुरुभारसहो दिव्यः शात्रवाणां भयंकरः ।
कस्यायं सायको दीर्घः शिलीपृष्ठः शिलीमुखः ॥ ११ ॥

जिसके पृष्ठभागमें मेढ़कीका चित्र है और जिसका मुख-भाग भी मेढ़कीके मुख-सा बना हुआ है, ऐसा यह भारी भार सहन करनेमें समर्थ, दिव्य और शत्रुमण्डलीके लिये भयंकर विशाल खड्ग किसका है ? ॥ ११ ॥

वैयाघ्रकोशे निहितो हेमचित्रो दुरासदः ।
सुफलश्चित्रकोशश्च किङ्किणीसायको महान् ॥ १२ ॥
कस्य हेमत्सरुर्दिव्यः खड्गः परमनिर्मलः ।

जो बाघके चमड़ेकी बनी हुई म्यानके भीतर रक्खा गया है, जो सुवर्णचित्रित और शत्रुओंके लिये असह्य है, जिसका अग्रभाग भी बहुत ही सुन्दर है, जिसकी म्यानपर चित्रकारी की हुई है, जो घुँघरूदार और विशाल है, वह सोनेकी मूठवाला दिव्य एवं अत्यन्त निर्मल खड्ग किसका है ? ॥ १२½ ॥

कस्यायं विमलः खड्गो गव्ये कोशे समर्पितः ॥ १३ ॥
हेमत्सरुरनाधृष्यो नैषध्यो भारसाधनः ।

जिसे गोचर्मकी म्यानमें रक्खा गया है, जो निषध-देशका बना हुआ है, जिसे कोई तोड़ नहीं सकता, जो

भारी भार सह सकता है, वह सोनेकी मूठवाला विमल खड्ग किसका है ? ॥ १३½ ॥

कस्य पाञ्चनखे कोशे सायको हेमविग्रहः ॥ १४ ॥
प्रमाणरूपसम्पन्नः पीत आकाशसंनिभः ।

जिसे बकरेके चमड़ेकी बनी हुई म्यानमें रक्खा गया है, जो सोनेकी मूठसे युक्त और सुवर्णभूषित स्वरूपवाली है, वह उचित लंबाई-चौड़ाई एवं आकृतिवाली, आकाशके समान नीलोज्ज्वल एवं पानीदार तलवार किसकी है ? ॥ १४½ ॥

कस्य हेममये कोशे सुतप्ते पावकप्रभे ॥ १५ ॥
निस्त्रिंशोऽयं गुरुः पीतः सायकः परनिर्व्रणः ।
कस्यायमसितः खड्गो हेमबिन्दुभिरावृतः ॥ १६ ॥
आशीविषसमस्पर्शः परकायप्रभेदनः ।
गुरुभारसहो दिव्यः सपत्नानां भयप्रदः ॥१७॥*

जो अग्निके समान प्रकाशमान एवं आगमें तपाये शुद्ध सुवर्णकी बनी हुई म्यानमें सुरक्षित, भारी, पानीदार तथा तीस अङ्गुलसे बड़ा है, जो स्वर्णबिन्दुओंसे विभूषित तथा काले रंगका है, जिसे शत्रु काट नहीं सकते, जिसका स्पर्श सर्पके समान है, जो शत्रुके शरीरको चीर डालनेवाला, भारी भार सहन करनेमें समर्थ, दिव्य एवं शत्रुओंके लिये भयदायक है, वह खड्ग किसका है ? ॥ १५—१७ ॥

निर्दिशस्व यथातत्त्वं मया पृष्टा बृहन्नले ।
विस्मयो मे परो जातो दृष्ट्वा सर्वमिदं महत् ॥ १८ ॥

बृहन्नले ! मैंने जो पूछा है, उसे ठीक-ठीक बताओ । ये सब महान् अस्त्र-शस्त्र देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरवाक्यं नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरवाक्यविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

बृहन्नलाद्वारा उत्तरको पाण्डवोंके आयुधोंका परिचय कराना

बृहन्नलोवाच

यन्मां पूर्वमिहापृच्छः शत्रुसेनापहारिणम् ।
गाण्डीवमेतत् पार्थस्य लोकेषु विदितं धनुः ॥ १ ॥
सर्वायुधमहामात्रं शातकुम्भपरिष्कृतम् ।
एतत् तदर्जुनस्यासीद् गाण्डीवं परमायुधम् ॥ २ ॥

बृहन्नला बोली—राजकुमार ! तुमने पहले जिसके विषयमें मुझसे प्रश्न किया है, वही यह अर्जुनका विश्वविख्यात गाण्डीव धनुष है, जो शत्रुओंकी सेनाके लिये कालरूप है। यह सब आयुधोंसे विशाल है । इसमें सब ओर सोना मढ़ा है । यही उत्तम आयुध गाण्डीव अर्जुनके पास रहा करता था ॥ १-२ ॥

यत् तच्छतसहस्रेण सम्मितं राष्ट्रवर्द्धनम् ।
येन देवान् मनुष्यांश्च पार्थो विजयते मृधे ॥ ३ ॥
चित्रमुच्चावचैर्वर्णैः श्लक्ष्णमायतमव्रणम् ।
देवदानवगन्धर्वैः पूजितं शाश्वतीः समाः ॥ ४ ॥

यह अकेला ही एक लाख धनुषोंकी बराबरी करनेवाला तथा अपने राष्ट्रको बढ़ानेवाला है। पृथापुत्र अर्जुन इसीके द्वारा युद्धमें मनुष्यों तथा देवताओंपर विजय पाते आ रहे हैं। हलके-गहरे अनेक प्रकारके रंगोंसे इसकी विचित्र शोभा होती है । यह चिकना, चमकदार और विस्तृत है । इसमें कहीं कोई चोटका चिह्न नहीं आया है । देवताओं, दानवों तथा गन्धर्वोंने इसका बहुत वर्षोंतक पूजन किया है ॥३-४॥

एतद् वर्षसहस्रं तु ब्रह्मा पूर्वमधारयत् ।
ततोऽनन्तरमेवाथ प्रजापतिरधारयत् ॥ ५ ॥
त्रीणि पञ्चशतं चैव शक्रोऽशीति च पञ्च च ।
सोमः पञ्चशतं राजा तथैव वरुणः शतम् ।
पार्थः पञ्च च षष्टिं च वर्षाणि श्वेतवाहनः ॥ ६ ॥

पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इसे एक हजार वर्षोंतक धारण किया था। तदनन्तर प्रजापतिने पाँच सौ तीन वर्षोंतक इसे अपने पास रक्खा । फिर इन्द्रने पचासी वर्षोंतक रक्खा। इन्द्रके बाद सोमने पाँच सौ तथा राजा वरुणने सौ वर्षोंतक इसे धारण किया । तत्पश्चात् श्वेतवाहन अर्जुन पैंसठ वर्षोंसे इसे धारण करते चले आ रहे हैं ॥ ५-६ ॥

महावीर्यं महादिव्यमेतत् तद् धनुरुत्तमम् ।
एतत् पार्थमनुप्राप्तं वरुणाच्चारुदर्शनम् ॥ ७ ॥

यह सर्वोत्तम धनुष देखनेमें बड़ा ही मनोहर है । इसके द्वारा महान् पराक्रम प्रकट होता है । अर्जुनको यह महादिव्य धनुष साक्षात् वरुणदेवसे प्राप्त हुआ था ॥ ७ ॥

पूजितं सुरमर्त्येषु बिभर्ति परमं वपुः ।
सुपार्श्वं भीमसेनस्य जातरूपग्रहं धनुः ।

* ये १६, १७ श्लोक अन्य बहुत-सी प्रतियोंमें नहीं हैं, परंतु नीलकंठवाली प्रतिमें हैं, इसलिये यहाँ ले लिये गये हैं । किंतु अगले अध्यायमें जो उत्तर दिया गया है, उससे इन श्लोकोंका मेल नहीं है ।

येन पार्थोऽजयत् कृत्स्नां दिशं प्राचीं परंतपः ॥ ८ ॥

तथा दूसरा देवताओं और मनुष्योंमें पूजित उत्कृष्ट रूप धारण करनेवाला धनुष भीमसेनका है, जिसके दोनों किनारे बड़े सुन्दर हैं और मध्यभागमें सोना मढ़ा हुआ है। यह वही धनुष है, जिससे शत्रुओंको संताप देनेवाले कुन्तीकुमार भीमसेनने सम्पूर्ण प्राचीदिशापर विजय पायी थी ॥ ८ ॥

इन्द्रगोपकचित्रं च यदेतच्चारुदर्शनम् ।
राज्ञो युधिष्ठिरस्यैतद् वैराटे धनुरुत्तमम् ॥ ९ ॥

उत्तर ! जिसके ऊपर 'इन्द्रगोप' (वीरबहूटी) नामक कीटोंका चित्र है और जो देखनेमें मनोहर है, वही यह उत्तम धनुष राजा युधिष्ठिरका है ॥ ९ ॥

सूर्या यस्मिंस्तु सौवर्णाः प्रकाशन्ते प्रकाशिनः ।
तेजसा प्रज्वलन्तो वै नकुलस्यैतदायुधम् ॥ १० ॥

जिसमें सुवर्णके बने हुए प्रकाशपूर्ण सूर्य प्रकाशित हो रहे हैं और जो तेजसे जाज्वल्यमान जान पड़ते हैं, वही यह नकुलका आयुध है ॥ १० ॥

शलभा यत्र सौवर्णास्तपनीयविचित्रिताः ।
एतन्माद्रीसुतस्यापि सहदेवस्य कार्मुकम् ॥ ११ ॥

जिसके ऊपर सुवर्णजटित मीनेके फतिङ्गे सुशोभित हैं, वही यह माद्रीनन्दन सहदेवका धनुष है ॥ ११ ॥

ये त्विमे क्षुरसंकाशाः सहस्रा लोमवाहिनः ।
एतेऽर्जुनस्य वैराटे शराः सर्पविषोपमाः ॥ १२ ॥

विराटपुत्र ! ये जो छुरेके समान मजबूत और चमकीले बाण हैं, जिनमें पंख लगे हुए हैं और जो साँपोंके विषके समान प्रभाव रखते हैं, ये सब अर्जुनके ही हैं ॥ १२ ॥

एते ज्वलन्तः संग्रामे तेजसा शीघ्रगामिनः ।
भवन्ति वीरस्याक्षय्या व्यूहतः समरे रिपून् ॥ १३ ॥

ये युद्धमें तेजसे प्रकाशित होकर बड़ी तेजीसे शत्रुपर आघात करते हैं। रणमें शत्रुओंपर बाणवर्षा करनेवाले वीरके लिये भी इन बाणोंका काटना असम्भव है ॥ १३ ॥

ये चेमे पृथवो दीर्घाश्चन्द्रबिम्बार्धदर्शनाः ।
एते भीमस्य निशिता रिपुक्षयकराः शराः ॥ १४ ॥
हारिद्रवर्णा ये त्वेते हेमपुङ्खाः शिलाशिताः ।

ये जो मोटे, विशाल और अर्धचन्द्राकार दिखायी देते हैं; वे भीमसेनके तीखे बाण हैं, जो शत्रुओंका संहार कर डालते हैं। ये हल्दीके समान रंगवाले और सुनहरी पाँखोंसे सुशोभित हैं। इन्हें पत्थरपर रगड़कर तेज किया गया है ॥ १४½ ॥

नकुलस्य कलापोऽयं पञ्चशार्दूललक्षणः ॥ १५ ॥
येनासौ व्यजयत् कृत्स्नां प्रतीचीं दिशमाहवे ।
कलापो ह्येष तस्यासीन्माद्रीपुत्रस्य धीमतः ॥ १६ ॥

जिसपर पाँच सिंहोंके चिह्न हैं, वही यह नकुलका 'कलाप' (तरकस) है, जिससे उन्होंने युद्धमें सम्पूर्ण पश्चिमदिशापर विजय पायी थी। उस समय बुद्धिमान् माद्रीपुत्र नकुलके पास यही कलाप था ॥ १५-१६ ॥

ये त्विमे भास्कराकाराः सर्वपारसवाः शराः ।
एते चित्रक्रियोपेताः सहदेवस्य धीमतः ॥ १७ ॥

और ये जो सूर्यके समान आकृतिवाले चमकीले बाण हैं, इनके द्वारा सम्पूर्ण शत्रुसमूहोंका विनाश होता है। विचित्र क्रियाशक्तिसे सम्पन्न ये सभी बाण बुद्धिमान् सहदेवके हैं ॥ १७ ॥

ये त्विमे निशिताः पीताः पृथवो दीर्घवाससः ।
हेमपुङ्खास्त्रिपर्वाणो राज्ञ एते महाशराः ॥ १८ ॥

ये जो तीखे, पानीदार, मोटे और बड़ी-बड़ी पाँखोंवाले तीन पर्वोंके बाण हैं और जिनकी पाँखें सोनेकी बनी हुई हैं; ये सब राजा युधिष्ठिरके महान् शर हैं ॥ १८ ॥

यस्त्वयं सायको दीर्घः शिलीपृष्ठः शिलीमुखः ।
अर्जुनस्यैष संग्रामे गुरुभारसहो दृढः ॥ १९ ॥

जिसके पृष्ठभागमें मेढकीका चित्र है और जिसका मुखभाग भी मेढकीके मुखके समान ही बना हुआ है, यह विशाल खड्ग अर्जुनका है। यह युद्धभूमिमें भारी आघातको सह सकनेमें समर्थ और मजबूत है ॥ १९ ॥

वैयाघ्रकोशः सुमहान् भीमसेनस्य सायकः ।
गुरुभारसहो दिव्यः शात्रवाणां भयंकरः ॥ २० ॥

जिसकी म्यान व्याघ्रचर्मकी बनी हुई है, वह महान् खड्ग भीमसेनका है। यह भी गुरुतर भार सहन करनेवाला, दिव्य एवं शत्रुओंके लिये भयंकर है ॥ २० ॥

सुफलश्चित्रकोशश्च हेमत्सरुरनुत्तमः ।
निस्त्रिंशः कौरवस्यैष धर्मराजस्य धीमतः ॥ २१ ॥

जिसकी धार सुन्दर एवं पतली है, जिसकी म्यान विचित्र और मूठ सोनेकी है, वह तीस अङ्गुलसे बड़ा सर्वोत्तम खड्ग परम बुद्धिमान् कुरुनन्दन धर्मराजका है ॥ २१ ॥

यस्तु पाञ्चनखे कोशे निहितश्चित्रयोधने ।
नकुलस्यैष निस्त्रिंशो गुरुभारसहो दृढः ॥ २२ ॥

जो बकरेके चमड़ेकी बनी हुई म्यानमें बंद है तथा नाना प्रकारके युद्धोंमें शस्त्रोंका भारी आघात सहन करनेमें समर्थ और मजबूत है, वही यह नकुलका खड्ग है ॥ २२ ॥

यस्त्वयं विपुलः खड्गो गव्ये कोशे समर्पितः ।

सहदेवस्य विद्ध्येनं सर्वभारसहं दृढम् ॥ ३३ ॥

और यह जो गोचर्मकी म्यानमें रक्खा गया है, यह सहदेवका विशाल खड्ग है। इसे सब प्रकारके आघात-प्रत्याघात सहनेमें समर्थ और सुदृढ़ जानो ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे आयुधवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर आयुधवर्णनविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥४३॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनका उत्तरकुमारसे अपना और अपने भाइयोंका यथार्थ परिचय देना

उत्तर उवाच

सुवर्णविकृतानीमान्यायुधानि महात्मनाम्।
रुचिराणि प्रकाशन्ते पार्थानामाशुकारिणाम्॥ १ ॥
क नु स्विदर्जुनः पार्थः कौरव्यो वा युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पाण्डवः॥ २ ॥

उत्तरने पूछा—बृहन्नले ! रणमें फुर्ती दिखानेवाले जिन महात्मा कुन्तीपुत्रोंके ये सुवर्णभूषित सुन्दर आयुध इतने प्रकाशित हो रहे हैं, वे पृथापुत्र अर्जुन, कुरुनन्दन युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव और पाण्डुपुत्र भीमसेन अब कहाँ हैं ? ॥ १-२ ॥

सर्व एव महात्मानः सर्वामित्रविनाशनाः।
राज्यमक्षैः पराकीर्य न श्रूयन्ते कथंचन॥ ३ ॥

सम्पूर्ण शत्रुओंका नाश करनेवाले वे सभी महात्मा जूए-द्वारा अपना राज्य हारकर कहाँ गये ? जिससे कहीं किसी प्रकार भी उनके विषयमें कुछ सुननेमें नहीं आता ? ॥ ३ ॥

द्रौपदी क च पाञ्चाली स्त्रीरत्नमिति विश्रुता।
जितानक्षैस्तदा कृष्णा तानेवान्वगमद् वनम्॥ ४ ॥

पाञ्चालदेशकी राजकुमारी द्रौपदी स्त्रीरत्नके रूपमें विख्यात है। वह कहाँ है ? सुना है, जब पाण्डव जूएमें हार गये, तब द्रुपदकुमारी कृष्णा भी उन्हींके साथ वनमें चली गयी थी ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच

अहमस्म्यर्जुनः पार्थः सभास्तारो युधिष्ठिरः।
बल्लवो भीमसेनस्तु पितुस्ते रसपाचकः॥ ५ ॥

अर्जुनने कहा—राजकुमार ! मैं ही पृथापुत्र अर्जुन हूँ। राजाकी सभाके माननीय सदस्य कङ्क ही युधिष्ठिर हैं। बल्लव भीमसेन हैं, जो तुम्हारे पिताके भोजनालयमें रसोइयेका काम करते हैं ॥ ५ ॥

अश्वबन्धोऽथ नकुलः सहदेवस्तु गोकुले।
सैरन्ध्रीं द्रौपदीं विद्धि यत्कृते कीचका हताः॥ ६ ॥

अश्वोंकी देखभाल करनेवाले ग्रन्थिक नकुल हैं और गोशालाके अध्यक्ष तन्तिपाल सहदेव। सैरन्ध्रीको ही द्रौपदी समझो, जिसके कारण सभी कीचक मारे गये हैं ॥ ६ ॥

उत्तर उवाच

दश पार्थस्य नामानि यानि पूर्वं श्रुतानि मे।
प्रब्रूयास्तानि यदि मे श्रद्दध्यां सर्वमेव ते॥ ७ ॥

उत्तर बोला—मैंने पहलेसे जो अर्जुनके दस नाम सुन रक्खे हैं, उन्हें यदि तुम बता दो तो मैं तुम्हारी सारी बातोंपर विश्वास कर सकता हूँ ॥ ७ ॥

अर्जुन उवाच

हन्त तेऽहं समाचक्षे दश नामानि यानि मे।
वैराटे शृणु तानि त्वं यानि पूर्वं श्रुतानि ते॥ ८ ॥

अर्जुनने कहा—विराटपुत्र ! मेरे जो दस नाम हैं और जिन्हें तुमने पहलेसे ही सुन रक्खा है, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ८ ॥

एकाग्रमानसो भूत्वा शृणु सर्वं समाहितः।
अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः किरीटी श्वेतवाहनः।
बीभत्सुर्विजयः कृष्णः सव्यसाची धनंजयः॥ ९ ॥

एकाग्रचित हो सावधानीके साथ सबको सुनना। (वे नाम ये हैं—) अर्जुन, फाल्गुन, जिष्णु, किरीटी, श्वेतवाहन, बीभत्सु, विजय, कृष्ण, सव्यसाची और धनंजय ॥

उत्तर उवाच

केनासि विजयो नाम केनासि श्वेतवाहनः।
किरीटी नाम केनासि सव्यसाची कथं भवान्॥ १०॥

उत्तरने पूछा—किस कारणसे आपका नाम विजय हुआ और किसलिये आप श्वेतवाहन कहलाते हैं ? आपके किरीटी नाम धारण करनेका क्या कारण है ? और आप सव्यसाची नामसे कैसे प्रसिद्ध हुए ? ॥ १० ॥

अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः कृष्णो बीभत्सुरेव च।
धनंजयश्च केनासि ब्रूहि तन्मम तत्त्वतः॥ ११ ॥

इसी प्रकार आपके अर्जुन, फाल्गुन, जिष्णु, कृष्ण, बीभत्सु और धनंजय नाम पड़नेका भी क्या कारण है ? यह सब मुझे ठीक-ठीक बताइये ॥ ११ ॥

श्रुता मे तस्य वीरस्य केवला नामहेतवः ।
तत् सर्वं यदि मे ब्रूयाः श्रद्दध्यां सर्वमेव ते ॥ १२ ॥

वीर अर्जुनके विभिन्न नाम पड़नेके जो प्रधान हेतु हैं, वे सब मैंने सुन रक्खे हैं । उन सबको यदि आप बता देंगे तो आपकी सब बातोंपर मेरा विश्वास हो जायगा ॥१२॥

अर्जुन उवाच

सर्वाञ्जनपदाञ्जित्वा वित्तमादाय केवलम् ।
मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाहुर्मां धनंजयम् ॥ १३ ॥

अर्जुनने कहा—मैं सम्पूर्ण देशोंको जीतकर और उनसे (कररूपमें) केवल धन लेकर धनके ही बीचमें स्थित था, इसलिये लोग मुझे 'धनंजय' कहते हैं ॥ १३ ॥

अभिप्रयामि संग्रामे यदहं युद्धदुर्मदान् ।
नाजित्वा विनिवर्तामि तेन मां विजयं विदुः ॥ १४ ॥

जब मैं संग्रामभूमिमें रणोन्मत्त योद्धाओंका सामना करनेके लिये जाता हूँ, तब उन्हें परास्त किये बिना कभी नहीं लौटता । इसीलिये वीर पुरुष मुझे 'विजय'के नामसे जानते हैं ॥ १४ ॥

श्वेताः काञ्चनसंनाहा रथे युज्यन्ति मे हयाः ।
संग्रामे युध्यमानस्य तेनाहं श्वेतवाहनः ॥ १५ ॥
उत्तराभ्यां फल्गुनीभ्यां नक्षत्राभ्यामहं दिवा ।
जातो हिमवतः पृष्ठे तेन मां फाल्गुनं विदुः ॥ १६ ॥

संग्राममें युद्ध करते समय मेरे रथमें सोनेके बख्तरसे सजे हुए श्वेत रंगके घोड़े जोते जाते हैं, इसलिये मेरा नाम 'श्वेतवाहन' हुआ है तथा हिमालयके शिखरपर उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें दिनके समय मेरा जन्म हुआ था; इसलिये मुझे 'फाल्गुन' कहते हैं॥ १५-१६ ॥

पुरा शक्रेण मे दत्तं युध्यतो दानवर्षभैः ।
किरीटं मूर्ध्नि सूर्याभं तेनाहुर्मां किरीटिनम् ॥ १७ ॥

पूर्वकालमें बड़े-बड़े दानव वीरोंके साथ युद्ध करते समय देवराज इन्द्रने मेरे मस्तकपर सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाला किरीट रख दिया था; इसीलिये मुझे 'किरीटी' कहते हैं ॥ १७ ॥

न कुर्यां कर्म बीभत्सं युध्यमानः कथंचन ।
तेन देवमनुष्येषु बीभत्सुरिति विश्रुतः ॥ १८ ॥

युद्ध करते समय मैं किसी प्रकार भी बीभत्स (घृणित) कर्म नहीं करता; इसीलिये देवताओं और मनुष्योंमें मेरी 'बीभत्स' नामसे प्रसिद्धि हुई है ॥ १८ ॥

उभौ मे दक्षिणौ पाणी गाण्डीवस्य विकर्षणे ।
तेन देवमनुष्येषु सव्यसाचीति मां विदुः ॥ १९ ॥

मेरा बाँया और दाहिना दोनों हाथ गाण्डीव धनुषकी डोरी खींचनेमें समर्थ हैं, इसलिये देवताओं और मनुष्योंमें लोग मुझे 'सव्यसाची' समझते हैं ॥ १९ ॥

पृथिव्यां चतुरन्तायां वर्णो मे दुर्लभः समः ।
करोमि कर्म शुक्लं च तस्मान्मामर्जुनं विदुः ॥ २० ॥

(अर्जुन शब्दके तीन अर्थ हैं–वर्ण या दीप्ति, ऋजुता या समता, धवल या शुद्ध ।) चारों ओर समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर मेरे-जैसी दीप्ति दुर्लभ है । मैं सबके प्रति समभाव रखता हूँ और शुद्ध कर्म करता हूँ । इसी कारण विज्ञ पुरुष मुझे 'अर्जुन'के नामसे जानते हैं ॥ २० ॥

अहं दुरापो दुर्धर्षो दमनः पाकशासनिः ।
तेन देवमनुष्येषु जिष्णुर्नामास्मि विश्रुतः ॥ २१ ॥
कृष्ण इत्येव दशमं नाम चक्रे पिता मम ।
कृष्णावदातस्य ततः प्रियत्वाद् बालकस्य वै ॥ २२ ॥

मुझे पकड़ना या तिरस्कृत करना बहुत कठिन है । मैं इन्द्रका पुत्र एवं शत्रुदमन विजयी वीर हूँ इसलिये देवताओं और मनुष्योंमें 'जिष्णु' नामसे मेरी ख्याति हुई है । (कृष्णशब्दका अर्थ है—श्यामवर्ण तथा मनको आकर्षित करनेवाला) मेरे शरीरका रंग कृष्ण-गौर है तथा बाल्यावस्थामें चित्ताकर्षक होनेके कारण मैं पिताजीको बहुत प्रिय था । अतः मेरे पिताने ही मेरा दसवाँ नाम 'कृष्ण' रक्खा था ॥२१-२२॥

वैशम्पायन उवाच

ततः स पार्थं वैराटिरभ्यवादयदन्तिकात् ।
अहं भूमिंजयो नाम नाम्नाहमपि चोत्तरः ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर विराटपुत्र उत्तरने निकट जाकर अर्जुनके चरणोंमें प्रणाम किया और बोला—'मेरा नाम भूमिंजय तथा उत्तर भी है ॥ २३ ॥

दिष्ट्या त्वां पार्थ पश्यामि स्वागतं ते धनंजय ।
लोहिताक्ष महाबाहो नागराजकरोपम ॥ २४ ॥

'कुन्तीनन्दन ! मेरा सौभाग्य है कि मुझे आपका दर्शन मिला । धनंजय ! आपका स्वागत है । महाबाहो ! आपके नेत्र लाल हैं और बाहुदण्ड गजराजके शुण्डको लज्जित कर रहे हैं ॥ २४ ॥

यदज्ञानादवोचं त्वां क्षन्तुमर्हसि तन्मम ।
यतस्त्वया कृतं पूर्वं चित्रं कर्म सुदुष्करम् ।
अतो भयं व्यतीतं मे प्रीतिश्च परमा त्वयि ॥ २५ ॥

'मैंने अज्ञानवश आपसे जो अनुचित बात कह दी हो, उसे आप क्षमा करेंगे । पूर्वकालमें आपने अत्यन्त दुष्कर और अद्भुत कार्य किये हैं, इसलिये आपका संरक्षण पाकर मेरा भय दूर हो गया है और आपके प्रति मेरा प्रेम बहुत बढ़ गया है ॥ २५ ॥

पाणी = हस्तौ

(दासोऽहं ते भविष्यामि पश्य मामनुकम्पया।
या प्रतिज्ञा कृता पूर्वं तव सारथ्यकर्मणि ॥
मनः स्वास्थ्यं च मे जातं जातं भाग्यं च मे महत् ।)

'पार्थ ! मैं आपका दास होऊँगा। आप मेरी ओर कृपापूर्ण दृष्टिसे देखें। मैंने आपके सारथिका कार्य करनेके लिये पहले जो प्रतिज्ञा की थी, उसके लिये अब मेरा मन स्वस्थ हो गया है। मेरा महान् सौभाग्य प्रकट हुआ है (जिससे मुझे आपकी सेवाका यह शुभ अवसर प्राप्त हो रहा है)' ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनपरिचये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर अर्जुनपरिचय-सम्बन्धी चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ श्लोक हैं)

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा युद्धकी तैयारी, अस्त्र-शस्त्रोंका स्मरण, उनसे वार्तालाप तथा उत्तरके भयका निवारण

उत्तर उवाच

आस्थाय रुचिरं वीर रथं सारथिना मया।
कतमं यास्यसेऽनीकमुक्तो यास्याम्यहं त्वया ॥ १ ॥

उत्तर बोला—वीरवर ! आप सुन्दर रथपर आरूढ़ हो मुझ सारथिके साथ किस सेनाकी ओर चलेंगे ? आप जहाँ चलनेके लिये आज्ञा देंगे, वहीं मैं आपके साथ चलूँगा ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

प्रीतोऽस्मि पुरुषव्याघ्र न भयं विद्यते तव ।
सर्वान् नुदामि ते शत्रून् रणे रणविशारद ॥ २ ॥

अर्जुनने कहा—पुरुषसिंह ! अब तुम्हें कोई भय नहीं रहा, यह जानकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। रणकर्ममें कुशल वीर ! मैं तुम्हारे सब शत्रुओंको अभी मार भगाता हूँ ॥ २ ॥

स्वस्थो भव महाबाहो पश्य मां शत्रुभिः सह ।
युध्यमानं विमर्देऽस्मिन् कुर्वाणं भैरवं महत् ॥ ३ ॥

महाबाहो ! तुम स्वस्थचित्त (निश्चिन्त) हो जाओ और इस संग्राममें मुझे शत्रुओंके साथ युद्ध तथा अत्यन्त भयंकर पराक्रम करते देखो ॥ ३ ॥

एतान् सर्वानुपासङ्गान् क्षिप्रं बध्नीहि मे रथे ।
एकं चाहर निस्त्रिंशं जातरूपपरिष्कृतम् ॥ ४ ॥

मेरे इन सब तरकसोंको शीघ्र रथमें बाँध दो और एक सुवर्णभूषित खड्ग भी ले आओ ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा त्वरावानुत्तरस्तदा ।
अर्जुनस्यायुधान् गृह्य शीघ्रेणावातरत् ततः ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनका यह कथन सुनकर उत्तर उतावला हो अर्जुनके सब आयुधोंको लेकर शीघ्रतापूर्वक वृक्षसे उतर आया ॥ ५ ॥

अर्जुन उवाच

अहं वै कुरुभिर्योत्स्याम्यवजेष्यामि ते पशून् ॥ ६ ॥

अर्जुन बोले—मैं कौरवोंसे युद्ध करूँगा और तुम्हारे पशुओंको जीत लूँगा ॥ ६ ॥

संकल्पपक्षविक्षेपं बाहुप्राकारतोरणम् ।
त्रिदण्डतूणसम्बाधमनेकध्वजसंकुलम् ॥ ७ ॥
ज्याक्षेपणं क्रोधकृतं नेमीनिनददुन्दुभि ।
नगरं ते मया गुप्तं रथोपस्थं भविष्यति ॥ ८ ॥

मुझसे सुरक्षित होकर रथका यह ऊपरी भाग ही तुम्हारे लिये नगर हो जायगा। इस रथके जो धुरी-पहिये आदि अङ्ग हैं, उनकी सुदृढ़ कल्पना ही नगरकी गलियोंके दोनों भागोंमें बने हुए गृहोंका विस्तार है। मेरी दोनों भुजाएँ ही चहारदीवारी और नगरद्वार हैं। इस रथमें जो त्रिदण्ड (हरिस और उसके अगल-बगलकी लकड़ियाँ) तथा तूणीर आदि हैं, वे किसीको यहाँतक फटकने नहीं देंगे। जैसे नगरमें हाथीसवार, घुड़सवार तथा रथी—इन त्रिविध सेनाओं तथा आयुधोंके कारण उसके भीतर दूसरोंका प्रवेश करना असम्भव होता है। नगरमें जैसे बहुत-सी ध्वजा-पताकाएँ फहराती हैं, उसी प्रकार इस रथमें भी फहरा रही हैं। धनुषकी प्रत्यञ्चा ही नगरमें लगी हुई तोपकी नली है, जिसका क्रोधपूर्वक उपयोग होता है और रथके पहियोंकी घर्घराहटको ही नगरमें बजनेवाले नगाड़ोंकी आवाज समझो ॥ ७-८ ॥

अधिष्ठितो मया संख्ये रथो गाण्डीवधन्वना ।
अजेयः शत्रुसैन्यानां वैराटे व्येतु ते भयम् ॥ ९ ॥

जब मैं युद्धभूमिमें गाण्डीव धनुष लेकर रथपर सवार होऊँगा, उस समय शत्रुओंकी सेनाएँ मुझे जीत नहीं सकेंगी; अतः विराटनन्दन ! तुम्हारा भय अब दूर हो जाना चाहिये ॥ ९ ॥

उत्तर उवाच

बिभेमि नाहमेतेषां जानामि त्वां स्थिरं युधि ।
केशवेनापि संग्रामे साक्षादिन्द्रेण वा समम् ॥ १० ॥

उत्तरने कहा—अब मैं उनसे नहीं डरता; क्योंकि मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि आप संग्रामभूमिमें भगवान् श्री-

कृष्ण और साक्षात् इन्द्रके समान स्थिर रहनेवाले हैं ॥ १० ॥

इदं तु चिन्तयन्नेवं परिमुह्यामि केवलम् ।
निश्चयं चापि दुर्मेधा न गच्छामि कथंचन ॥ ११ ॥

केवल इसी एक बातको सोचकर मैं ऐसे मोहमें पड़ जाता हूँ कि बुद्धि अच्छी न होनेके कारण किसी तरह भी किसी निश्चयतक नहीं पहुँच पाता ॥ ११ ॥

एवं युक्ताङ्गरूपस्य लक्षणैः सूचितस्य च ।
केन कर्मविपाकेन क्लीबत्वमिदमागतम् ॥ १२ ॥

(वह चिन्ता इस प्रकार है—) आपका एक-एक अवयव तथा रूप सब प्रकारसे उपयुक्त है । आप लक्षणोंद्वारा भी अलौकिक सूचित हो रहे हैं । ऐसी दशामें भी किस कर्मके परिणामसे आपको यह नपुंसकता प्राप्त हुई है ? ॥ १२ ॥

मन्ये त्वां क्लीबवेषेण चरन्तं शूलपाणिनम् ।
गन्धर्वराजप्रतिमं देवं वापि शतक्रतुम् ॥ १३ ॥

मैं तो नपुंसकवेशमें विचरनेवाले आपको शूलपाणि भगवान् शंकरका स्वरूप मानता हूँ अथवा गन्धर्वराजके समान या साक्षात् देवराज इन्द्र समझता हूँ ॥ १३ ॥

अर्जुन उवाच

(उर्वशीशापसम्भूतं क्लैब्यं मां समुपस्थितम् ।
पुराहमाज्ञया भ्रातुर्ज्येष्ठस्यास्मि सुरालयम् ॥
प्राप्तवानुर्वशी दृष्टा सुधर्मायां मया तदा ।
नृत्यन्ती परमं रूपं बिभ्रती वज्रिसंनिधौ ॥
अपश्यंस्तामनिमिषं कूटस्थामन्वयस्य मे ।
रात्रौ समागता मह्यं शयानं रन्तुमिच्छया ॥
अहं तामभिवाद्यैव मातृसत्कारमाचरम् ।
सा च मामशपत् क्रुद्धा शिखण्डी त्वं भवेरिति ॥
श्रुत्वा तमिन्द्रो मामाह मा भैस्त्वं पार्थ षण्ढतः ।
उपकारो भवेत् तुभ्यमज्ञातवसतौ पुरा ॥
इतीन्द्रो मामनुग्राह्य ततः प्रेषितवान् वृषा ।
तदिदं समनुप्राप्तं व्रतं तीर्णं मयानघ ॥)

अर्जुन बोले—महाबाहो ! उर्वशीके शापसे मुझे यह नपुंसक-भाव प्राप्त हुआ है । पूर्वकालमें मैं अपने बड़े भाईकी आज्ञासे देवलोकमें गया था । वहाँ सुधर्मा नामक सभामें मैंने उस समय उर्वशी अप्सराको देखा । वह परम सुन्दर रूप धारण करके वज्रधारी इन्द्रके समीप नृत्य कर रही थी । मेरे वंशकी मूलहेतु (जननी) होनेके कारण मैं उसे अपलक नेत्रोंसे देखने लगा । तब वह रातमें सोते समय रमणकी इच्छासे मेरे पास आयी, परंतु मैंने उसे प्रणाम करके (उसकी इच्छाकी पूर्ति न करके) उसका माताके समान सत्कार किया । तब उसने कुपित होकर मुझे शाप दे दिया—'तुम नपुंसक हो जाओ ।' तब इन्द्रने वह शाप सुनकर मुझसे कहा—'पार्थ ! तुम नपुंसक होनेसे डरो मत । यह तुम्हारे लिये अज्ञातवासके समय उपकारक होगा ।' इस प्रकार देवराज इन्द्रने मुझपर अनुग्रह करके यह आश्वासन दिया और स्वर्गलोकसे यहाँ भेजा । अनघ ! वही यह व्रत प्राप्त हुआ था, जिसको मैंने पूरा किया है ॥

भ्रातुर्नियोगाज्ज्येष्ठस्य संवत्सरमिदं व्रतम् ।
चरामि व्रतचर्यं च सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १४ ॥
नास्मि क्लीबो महाबाहो परवान् धर्मसंयुतः ।
समाप्तव्रतमुत्तीर्णं विद्धि मां त्वं नृपात्मज ॥ १५ ॥

महाबाहो ! मैं बड़े भाईकी आज्ञासे इस वर्ष एक व्रतका पालन कर रहा था । उस व्रतकी जो दिनचर्या है, उसके अनुसार मैं नपुंसक बनकर रहा हूँ । मैं तुमसे यह सच्ची बात कह रहा हूँ । वास्तवमें मैं नपुंसक नहीं हूँ; भाईकी आज्ञाके अधीन होकर धर्मके पालनमें तत्पर रहा हूँ । राजकुमार ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि अब मेरा व्रत समाप्त हो गया है; अतः मैं नपुंसक-भावके कष्टसे भी मुक्त हो चुका हूँ ॥ १४-१५ ॥

उत्तर उवाच

परमोऽनुग्रहो मेऽद्य यतस्तर्को न मे वृथा ।
न हीदृशाः क्लीबरूपा भवन्ति तु नरोत्तम ॥ १६ ॥

उत्तरने कहा—नरश्रेष्ठ ! आज मुझपर आपने बड़ा अनुग्रह किया, जो मुझे सब बात बता दी । ऐसे लक्षणोंवाले पुरुष नपुंसक नहीं होते, इस प्रकार जो मेरे मनमें तर्क उठ रहा था, वह व्यर्थ नहीं था ॥ १६ ॥

सहायवानस्मि रणे युध्येयममरैरपि ।
साध्वसं हि प्रणष्टं मे किं करोमि ब्रवीहि मे ॥ १७ ॥
अहं ते संग्रहीष्यामि हयान् शत्रुरथारुजान् ।
शिक्षितो ह्यस्मि सारथ्ये तीर्थतः पुरुषर्षभ ॥ १८ ॥

अब तो मुझे आपकी सहायता मिल गयी है; अतः युद्ध-भूमिमें देवताओंका भी सामना कर सकता हूँ । मेरा सारा भय नष्ट हो गया । बताइये, अब मैं क्या करूँ ? पुरुषप्रवर ! मैंने गुरुसे सारथ्यकर्मकी शिक्षा प्राप्त की है; इसलिये आपके घोड़ोंको, जो शत्रुके रथका नाश करनेवाले हैं, मैं काबूमें रक्खूँगा ॥ १७-१८ ॥

दारुको वासुदेवस्य यथा शक्रस्य मातलिः ।
तथा मां विद्धि सारथ्ये शिक्षितं नरपुङ्गव ॥ १९ ॥

नरपुङ्गव ! जैसे भगवान् वासुदेवका सारथि दारुक और इन्द्रका सारथि मातलि है, उसी प्रकार मुझे भी आप सारथि-के कार्यमें पूर्ण शिक्षित मानिये ॥ १९ ॥

यस्य याते न पश्यन्ति भूमौ क्षिप्तं पदं पदम् ।
दक्षिणां यो धुरं युक्तः सुग्रीवसदृशो हयः ॥ २० ॥

जो घोड़ा दाहिनी धुरीमें जोता गया है तथा जिसके जाते समय लोग यह नहीं देख पाते कि उसने कब कहाँ पृथ्वीपर पैर

रक्खा या उठाया है, यह (भगवान् श्रीकृष्णके चार अश्वों-मेंसे) सुग्रीव नामक घोड़ेके समान है ॥ २० ॥

योऽयं धुरं धुर्यवरो वामां वहति शोभनः।
तं मन्ये मेघपुष्पस्य जवेन सदृशं हयम् ॥ २१ ॥

और भार ढोनेवालोंमें श्रेष्ठ जो यह सुन्दर अश्व बायीं धुरीका भार वहन करता है, उसे वेगमें मेघपुष्प नामक अश्वके समान मानता हूँ ॥ २१ ॥

योऽयं काञ्चनसंनाहः पार्ष्णिं वहति शोभनः।
समं शैब्यस्य तं मन्ये जवेन बलवत्तरम् ॥ २२ ॥

यह जो सोनेके बख्तरसे सजा हुआ सुन्दर अश्व बायीं ओर पिछला जुआ ढो रहा है, इसे वेगमें मैं शैब्य नामक अश्वके समान अत्यन्त बलवान् मानता हूँ ॥ २२ ॥

योऽयं वहति मे पार्ष्णिं दक्षिणामभितः स्थितः।
बलाहकादपि मतः स जवे वीर्यवत्तरः ॥ २३ ॥

और यह जो दाहिने भागका पिछला जुआ धारण करके खड़ा है, वह वेगमें बलाहक नामवाले अश्वसे भी अधिक समझा गया है ॥ २३ ॥

त्वामेवायं रथो वोढुं संग्रामेऽर्हति धन्विनम्।
त्वं चेमं रथमास्थाय योद्धुमर्हो मतो मम ॥ २४ ॥

यह रथ आप-जैसे धनुर्धर वीरको ही वहन करने योग्य है और मेरी रायमें आप इसी रथपर बैठकर युद्ध करने योग्य हैं ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो विमुच्य बाहुभ्यां वलयानि स वीर्यवान्।
चित्रे काञ्चनसंनाहे प्रत्यमुञ्चत् तदा तले ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पराक्रमी अर्जुनने हाथोंसे कड़े और चूड़ियाँ उतार दीं और हथेलियोंमें सोनेके बने हुए विचित्र कवच धारण कर लिये ॥ २५ ॥

कृष्णान् भङ्गिमतः केशान् श्वेतेनोद्ग्रथ्य वाससा।
अथासौ प्राङ्मुखो भूत्वा शुचिः प्रयतमानसः।
अभिदध्यौ महाबाहुः सर्वास्त्राणि रथोत्तमे ॥ २६ ॥

फिर उन्होंने काले-काले घुँघराले केशोंको श्वेत वस्त्रसे बाँध दिया और पूर्वकी ओर मुँह करके पवित्र एवं एकाग्रचित्त हो महाबाहु धनंजयने उस श्रेष्ठ रथपर सम्पूर्ण अस्त्रोंका ध्यान किया॥

ऊचुश्च पार्थं सर्वाणि प्राञ्जलीनि नृपात्मजम्।
इमे स्म परमोदाराः किंकराः पाण्डुनन्दन ॥ २७ ॥

तब वे सब अस्त्र प्रकट होकर राजकुमार अर्जुनसे हाथ जोड़कर बोले—'पाण्डुनन्दन ! ये हमलोग तुम्हारे परम उदार किंकर हैं' ॥ २७ ॥

प्रणिपत्य ततः पार्थः समालभ्य च पाणिना।
सर्वाणि मानसानीह भवतेत्यभ्यभाषत ॥ २८ ॥

तब अर्जुनने उन्हें प्रणाम करके अपने हाथसे उनका स्पर्श किया और कहा—'आप सब लोग मेरे मनमें निवास करें' ॥

प्रतिगृह्य ततोऽस्त्राणि प्रहृष्टवदनोऽभवत्।
अधिज्यं तरसा कृत्वा गाण्डीवं व्याक्षिपद् धनुः॥ २९ ॥

इस प्रकार अपने अस्त्र शस्त्रोंको अनुकूल करके अर्जुनका मुखारविन्द प्रसन्नतासे खिल उठा। उन्होंने बड़े वेगसे गाण्डीव धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसकी टंकार की ॥ २९ ॥

तस्य विक्षिप्यमाणस्य धनुषोऽभून्महाध्वनिः।
यथा शैलस्य महतः शैलेनैवावजघ्नतः ॥ ३० ॥

उस धनुषकी टंकारके समय बड़े जोरका शब्द हुआ, मानो किसी महान् पर्वतको पर्वतसे ही टक्कर लगी हो ॥ ३० ॥

स निर्घातोऽभवद् भूमिद् दिक्षु वायुर्ववौ भृशम्।
पपात महती चोल्का दिशो न प्रचकाशिरे।
भ्रान्तध्वजं खं तदासीत् प्रकम्पितमहाद्रुमम् ॥ ३१ ॥
तं शब्दं कुरवोऽजानन् विस्फोटमशनेरिव।
यदर्जुनो धनुःश्रेष्ठं बाहुभ्यामाक्षिपद् रथे ॥ ३२ ॥

वह भयानक शब्द पृथ्वीको विदीर्ण करता-सा गूँज उठा। सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रचण्ड आँधी चलने लगी, महान् उल्कापात होने लगा और दिशाओंमें अन्धकार छा गया। शत्रुसेनाके ध्वज आकाशमें अकारण हिलने लगे। बड़े-बड़े वृक्ष भी हिलने लगे। अर्जुनने अपने दोनों हाथोंसे रथपर बैठे-बैठे जो अपने श्रेष्ठ धनुषकी टंकार-ध्वनि की उसे सुनकर कौरवोंने समझा, कहींसे बिजली टूट पड़ी है ॥ ३१-३२ ॥

उत्तर उवाच

एकस्त्वं पाण्डवश्रेष्ठ बहूनेतान् महारथान्।
कथं जेष्यसि संग्रामे सर्वशस्त्रास्त्रपारगान् ॥ ३३ ॥

उस समय उत्तर बोला—पाण्डवश्रेष्ठ ! आप तो अकेले हैं, इन सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके पारगामी बहुसंख्यक महारथियोंको युद्धमें कैसे जीत सकेंगे ? ॥ ३३ ॥

असहायोऽसि कौन्तेय ससहायाश्च कौरवाः।
अतएव महाबाहो भीतस्तिष्ठामि तेऽग्रतः ॥ ३४ ॥

कुन्तीनन्दन ! आप असहाय हैं और कौरवोंके साथ बहुतेरे सहायक हैं। महाबाहो ! यह सोचकर मैं आपके सामने भयभीत हो रहा हूँ ॥ ३४ ॥

उवाच पार्थो मा भैषीः प्रहस्य स्वनवत् तदा ॥ ३५ ॥
युध्यमानस्य मे वीर गन्धर्वैः सुमहाबलैः।
सहायो घोषयात्रायां कस्तदाऽऽसीत् सखा मम॥३६॥
तथा प्रतिभये तस्मिन् देवदानवसंकुले।
खाण्डवे युध्यमानस्य कस्तदाऽऽसीत् सखा मम॥ ३७॥



अर्जुनका शङ्खनाद

यह सुनकर अर्जुन खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—'वीर ! डरो मत ! कौरवोंकी घोषयात्राके समय जब मैंने महाबली गन्धर्वोंके साथ युद्ध किया था, उस समय मेरा सखा या सहायक कौन था ? जब देवताओं और दानवोंसे भरे हुए उस अत्यन्त भयंकर खाण्डववनमें मैं युद्ध कर रहा था, उस समय मेरा साथी कौन था ? ॥ ३५–३७ ॥

निवातकवचैः सार्धं पौलोमैश्च महाबलैः।
युध्यतो देवराजार्थे कः सहायस्तदाभवत् ॥ ३८ ॥

देवराज इन्द्रके लिये महाबली निवातकवच और पौलोम दैत्योंके साथ युद्ध करते समय मेरा कौन सहायक था ? ॥३८॥

स्वयंवरे तु पाञ्चाल्या राजभिः सह संयुगे।
युध्यतो बहुभिस्तात कः सहायस्तदाभवत् ॥ ३९ ॥

तात ! द्रौपदीके स्वयंवरमें जब मुझे अनेक राजाओंके साथ युद्ध करना पड़ा था, उस समय किसने मेरी सहायता की थी ? ॥ ३९ ॥

उपजीव्य गुरुं द्रोणं शक्रं वैश्रवणं यमम्।
वरुणं पावकं चैव कृपं कृष्णं च माधवम् ॥ ४० ॥
पिनाकपाणिनं चैव कथमेतान् न योधये।
रथं वाहय मे शीघ्रं व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ४१ ॥

मैं गुरुवर द्रोणाचार्य, इन्द्र, कुबेर, यमराज, वरुण, अग्निदेव, कृपाचार्य, लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण तथा पिनाकपाणि भगवान् शङ्कर—इन सबका आश्रय पा चुका हूँ; फिर भला, इन महारथियोंसे युद्ध क्यों नहीं कर सकूँगा ? शीघ्र मेरा रथ हाँको; तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥४०-४१॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे उत्तरार्जुनयोर्वाक्यं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः॥४५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर विराटकुमार उत्तर और अर्जुनकी बातचीतविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल ४७ श्लोक हैं)

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

उत्तरके रथपर अर्जुनकी ध्वजकी प्राप्ति, अर्जुनका शङ्खनाद और द्रोणाचार्यका कौरवोंसे उत्पात-सूचक अपशकुनोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

उत्तरं सारथिं कृत्वा शमीं कृत्वा प्रदक्षिणम्।
आयुधं सर्वमादाय प्रययौ पाण्डवर्षभः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उत्तरको सारथि बना शमी वृक्षकी परिक्रमा करके अपने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र लेकर पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन युद्धके लिये चले ॥ १ ॥

ध्वजं सिंहं रथात् तस्मादपनीय महारथः।
प्रणिधाय शमीमूले प्रायादुत्तरसारथिः ॥ २ ॥

उन महारथी पार्थने उस रथपरसे सिंहचिह्नयुक्त ध्वजाको हटाकर शमीवृक्षके नीचे रख दिया और सारथि उत्तरके साथ प्रस्थान किया ॥ २ ॥

दैवीं मायां रथे युक्तां विहितां विश्वकर्मणा।
काञ्चनं सिंहलाङ्गूलं ध्वजं वानरलक्षणम् ॥ ३ ॥
मनसा चिन्तयामास प्रसादं पावकस्य च।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा ध्वजे भूतान्यदेशयत् ॥ ४ ॥

उस समय उन्होंने मन-ही-मन अग्निदेवके प्रसादस्वरूप प्राप्त हुए अपने सुवर्णमय ध्वजका चिन्तन किया, जिसपर मूर्तिमान् वानर उपलक्षित होता है और जिसकी लंबी पूँछ सिंहके समान है। वह ध्वज क्या था, विश्वकर्माकी बनायी हुई दैवी माया थी, जो रथमें संयुक्त हो जाती थी। अग्निदेवने अर्जुनका मनोभाव जानकर उस ध्वजपर स्थित रहनेके लिये भूतोंको आदेश दिया ॥ ३-४ ॥

सपताकं विचित्राङ्गं सोपासङ्गं महाबलम्।
खात् पपात रथे तूर्णं दिव्यरूपं मनोरमम् ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् पताका तथा विचित्र अङ्ग और उपाङ्गोंसहित वह अतिशय शक्तिशाली दिव्यरूप मनोरम ध्वज तुरंत ही आकाशसे अर्जुनके रथपर आ गिरा ॥ ५ ॥

रथं तमागतं दृष्ट्वा दक्षिणं प्राकरोत् तदा।
रथमास्थाय बीभत्सुः कौन्तेयः श्वेतवाहनः ॥ ६ ॥
बद्धगोधाङ्गुलित्राणः प्रगृहीतशरासनः।
ततः प्रायादुदीचीं च कपिप्रवरकेतनः ॥ ७ ॥

इस प्रकार उस ध्वजको रथपर आया हुआ देख श्वेत घोड़ोंवाले कुन्तीनन्दन अर्जुनने उस रथकी परिक्रमा की तथा उसके ऊपर बैठकर अपनी अङ्गुलियोंमें गोहके चमड़ेके बने हुए दस्ताने धारण किये। फिर कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीसे उपलक्षित ध्वजाको फहराते हुए गाण्डीव धनुषके साथ उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान किया ॥ ६-७ ॥

स्वनवन्तं महाशङ्खं बलवानरिमर्दनः।
प्राधमद् बलमास्थाय द्विषतां लोमहर्षणम् ॥ ८ ॥

उस समय शत्रुमर्दन महाबली अर्जुनने घोर शब्द करने-

वाले अपने महान् शङ्खको खूब जोर लगाकर बजाया। जिसकी आवाज सुनकर शत्रुओंके रोंगटे खड़े हो गये ॥ ८ ॥

(शशाङ्करूपं बीभत्सुः प्राध्मापयदरिंदमः।
शङ्खशब्दोऽस्य सोऽत्यर्थं श्रूयते कालमेघवत् ॥
तस्य शङ्खस्य शब्देन धनुषो निस्वनेन च।
वानरस्य च नादेन रथनेमिस्वनेन च ॥
जङ्गमस्य भयं घोरमकरोत् पाकशासनिः।)

शत्रुदमन अर्जुनने जो महान् शङ्ख फूँका था, वह चन्द्रमाके समान परम उज्ज्वल जान पड़ता था। उस शङ्खका जोर-जोरसे होनेवाला शब्द वर्षाकालके मेघकी गर्जनाके समान सुनायी देता था। शङ्खकी ध्वनि, धनुषकी टंकार, वानरकी गर्जना तथा रथके पहियोंकी घर्घराहटसे इन्द्रपुत्र अर्जुनने समस्त जङ्गम प्राणियोंके मनमें घोर भयका संचार कर दिया ॥

ततस्ते जवना धुर्या जानुभ्यामगमन्महीम्।
उत्तरश्चापि संत्रस्तो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ ९ ॥

उस शङ्खध्वनिसे घबराकर रथके वेगशाली घोड़ोंने भी धरतीपर घुटने टेक दिये और उत्तर भी अत्यन्त भयभीत हो रथके ऊपरी भागमें जहाँ रथीका स्थान है, आ बैठा ॥९॥

संस्थाप्य चाश्वान् कौन्तेयः समुद्यम्य च रश्मिभिः।
उत्तरं च परिष्वज्य समाश्वासयदर्जुनः ॥ १० ॥

तब कुन्तीनन्दन अर्जुनने स्वयं रास खींचकर घोड़ोंको खड़ा किया और उत्तरको हृदयसे लगाकर धीरज बँधाया ॥१०॥

अर्जुन उवाच

मा भैस्त्वं राजपुत्राग्र्य क्षत्रियोऽसि परंतप।
कथं तु पुरुषव्याघ्र शत्रुमध्ये विषीदसि ॥ ११ ॥

अर्जुनने कहा—शत्रुओंको संताप देनेवाले राजकुमार-शिरोमणे! डरो मत, तुम क्षत्रिय हो। पुरुषसिंह! शत्रुओंके बीचमें आकर घबराते कैसे हो? ॥ ११ ॥

श्रुतास्ते शङ्खशब्दाश्च भेरीशब्दाश्च पुष्कलाः।
कुञ्जराणां च नदतां व्यूढानीकेषु तिष्ठताम् ॥ १२ ॥

तुमने बहुत बार शङ्ख-ध्वनि सुनी होगी। रणभेरियोंके भयंकर शब्द भी बहुत बार तुम्हारे कानोंमें पड़े होंगे और व्यूहबद्ध सेनाओंमें खड़े हुए चिग्घाड़नेवाले गजराजोंके शब्द भी तुमने सुने ही होंगे ॥ १२ ॥

स त्वं कथमिहानेन शङ्खशब्देन भीषितः।
विवर्णरूपो वित्रस्तः पुरुषः प्राकृतो यथा ॥ १३ ॥

फिर यहाँ इस शङ्खनादसे तुम भयभीत कैसे हो गये? साधारण मनुष्योंके समान अधिक डर जानेके कारण तुम्हारे शरीरका रंग फीका कैसे पड़ गया? ॥ १३ ॥

उत्तर उवाच

श्रुता मे शङ्खशब्दाश्च भेरीशब्दाश्च पुष्कलाः।
कुञ्जराणां निनदतां व्यूढानीकेषु तिष्ठताम् ॥ १४ ॥

उत्तरने कहा—वीरवर! इसमें संदेह नहीं कि मैंने बहुत बार शङ्खध्वनि सुनी है। रणभेरियोंके भयंकर शब्द भी बहुत बार मेरे कानोंमें पड़े हैं और व्यूहबद्ध सेनाओंमें खड़े हुए चिग्घाड़नेवाले गजराजोंके शब्द भी मैंने सुने हैं ॥

नैवंविधः शङ्खशब्दः पुरा जातु मया श्रुतः।
ध्वजस्य चापि रूपं मे दृष्टपूर्वं न हीदृशम् ॥ १५ ॥

परंतु आजके पहले कभी ऐसा भयंकर शङ्खनाद मेरे सुननेमें नहीं आया था और ध्वजका भी ऐसा रूप मैंने कभी नहीं देखा था ॥ १५ ॥

धनुषश्चैव निर्घोषः श्रुतपूर्वो न मे क्वचित्।
अस्य शङ्खस्य शब्देन धनुषो निस्वनेन च ॥ १६ ॥
अमानुषाणां शब्देन भूतानां ध्वजवासिनाम्।
रथस्य च निनादेन मनो मुह्यति मे भृशम् ॥ १७ ॥

धनुषकी ऐसी टंकार भी पहले कभी मैंने नहीं सुनी थी। इस शङ्खके भयानक शब्दसे, धनुषकी अनुपम टंकारसे, ध्वजामें निवास करनेवाले मानवेतर प्राणियोंके घोर शब्दसे तथा रथकी भारी घर्घराहटसे भी डरकर मेरा हृदय बहुत व्याकुल हो उठा है ॥ १६-१७ ॥

व्याकुलाश्च दिशः सर्वा हृदयं व्यथतीव मे।
ध्वजेन पिहिताः सर्वा दिशो न प्रतिभान्ति मे ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें घबराहट छा गयी है तथा मेरे हृदयमें बड़ी व्यथा हो रही है, इस ध्वजने तो समस्त दिशाओंको ढँक लिया है। अतः मुझे किसी दिशाकी प्रतीति नहीं हो रही है ॥ १८ ॥

गाण्डीवस्य च शब्देन कर्णौ मे बधिरीकृतौ।
स मुहूर्तं प्रयातं तु पार्थो वैराटिमब्रवीत् ॥ १९ ॥

गाण्डीव धनुषकी टंकारसे तो मेरे दोनों कान बहरे हो गये हैं।

इस प्रकार दो घड़ीतक आगे बढ़नेपर अर्जुनने विराटकुमार उत्तरसे कहा— ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच

एकान्तं रथमास्थाय पद्भ्यां त्वमवपीडयन्।
दृढं च रश्मीन् संयच्छ शङ्खं ध्मास्याम्यहं पुनः ॥ २० ॥

अर्जुन बोले—राजकुमार! अब तुम रथपर अच्छी तरह जमकर बैठ जाओ और अपनी टाँगोंसे बैठनेके स्थानको जकड़ लो। साथ ही घोड़ोंकी रासको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहो। मैं फिर शङ्ख बजाऊँगा ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः शङ्खमुपाध्मासीद् दारयन्निव पर्वतान्।
गुहा गिरीणां च तदा दिशः शैलांस्तथैव च।
उत्तरश्चापि संलीनो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब अर्जुनने इतने जोरसे शङ्ख बजाया मानो वे पर्वतों, पर्वतीय गुफाओं, सम्पूर्ण दिशाओं और बड़ी-बड़ी चट्टानोंको भी विदीर्ण कर डालेंगे। उत्तर इस बार भी रथके भीतरी भागमें छिपकर बैठ गया ॥

तस्य शङ्खस्य शब्देन रथनेमिस्वनेन च ।
गाण्डीवस्य च घोषेण पृथिवी समकम्पत ॥ २२ ॥

उस शङ्खके शब्दसे, रथनेमियोंकी घर्घराहटसे तथा गाण्डीव धनुषकी टंकारसे धरती काँप उठी ॥ २२ ॥

तं समाश्वासयामास पुनरेव धनंजयः ॥ २३ ॥

तदनन्तर अर्जुनने उत्तरको पुनः धीरज बँधाया ॥२३॥

द्रोण उवाच

यथा रथस्य निर्घोषो यथा मेघ उदीर्यते ।
कम्पते च यथा भूमिर्नैषोऽन्यः सव्यसाचिनः ॥ २४ ॥

(यह शङ्ख-ध्वनि सुनकर कौरवसेनामें) **द्रोणाचार्यने कहा**—जैसी यह रथकी घर्घराहट सुनायी दे रही है, जिस तरह उससे मेघगर्जनाका-सा शब्द हो रहा है और उसीके कारण जिस प्रकार यह पृथ्वी काँपने लगी है, इनसे यह सूचित होता है कि यह आनेवाला योद्धा अर्जुनके सिवा दूसरा कोई नहीं है ॥ २४ ॥



शस्त्राणि न प्रकाशन्ते न प्रहृष्यन्ति वाजिनः ।
अग्नयश्च न भासन्ते समिद्धास्तन्न शोभनम् ॥ २५ ॥

अब हमारे शस्त्र चमक नहीं रहे हैं, घोड़े प्रसन्न नहीं जान पड़ते और अग्निहोत्रकी अग्नियाँ भी प्रज्वलित एवं उद्दीप्त नहीं हो रही हैं। यह सब अशुभकी सूचना है ॥२५॥

प्रत्यादित्यं च नः सर्वे मृगा घोरप्रवादिनः ।
ध्वजेषु च निलीयन्ते वायसास्तन्न शोभनम् ॥ २६ ॥

हमारे सभी पशु सूर्यकी ओर दृष्टि करके भयंकर क्रन्दन करते हैं और रथोंकी ध्वजाओंमें कौए छिप रहे हैं। यह भी शुभसूचक नहीं है ॥ २६ ॥

शकुनाश्चापसव्या नो वेदयन्ति महद् भयम् ॥ २७ ॥
गोमायुरेष सेनायां रुदन् मध्येन धावति ।
अनाहतश्च निष्क्रान्तो महद् वेदयते भयम् ॥ २८ ॥

ये पक्षी भी हमारे वामभागमें उड़कर महान् भयकी सूचना दे रहे हैं और यह गीदड़ बिना किसी आघातके हमारी सेनाके बीचसे निकलकर रोता हुआ भाग रहा है, यह भी महान् भयका विज्ञापन कर रहा है ॥ २७-२८ ॥

भवतां रोमकूपाणि प्रहृष्टान्युपलक्षये ।
ध्रुवं विनाशो युद्धेन क्षत्रियाणां प्रदृश्यते ॥ २९ ॥

कौरवो ! मैं देखता हूँ, तुम्हारे रोंगटे खड़े हो गये हैं; अतः निश्चय ही, इस युद्धके द्वारा क्षत्रियोंका विनाश निकट दिखायी देता है ॥ २९ ॥

ज्योतींषि न प्रकाशन्ते दारुणा मृगपक्षिणः ।
उत्पाता विविधा घोरा दृश्यन्ते क्षत्रनाशनाः ॥ ३० ॥

सूर्य आदिका प्रकाश मन्द पड़ गया है। भयंकर मृग और पक्षी सामने आ रहे हैं और क्षत्रियोंके संहारकी सूचना देनेवाले अनेक प्रकारके घोर उत्पात दिखायी देते हैं ॥ ३० ॥

विशेषत इहास्माकं निमित्तानि विनाशने ।
उल्काभिश्च प्रदीप्ताभिर्बाध्यते पृतना तव ।
वाहनान्यप्रहृष्टानि रुदन्तीव विशाम्पते ॥ ३१ ॥

राजा दुर्योधन ! विशेषतः यहीं हमारे लिये विनाशसूचक अपशकुन हो रहे हैं। तुम्हारी सेनाके ऊपर जलती हुई उल्काएँ गिर-गिरकर उसे पीड़ा देती हैं। तुम्हारे वाहन (हाथी-घोड़े) अप्रसन्न तथा रोते-से दीखते हैं ॥ ३१ ॥

उपासते च सैन्यानि गृध्रास्तव समन्ततः ।
तप्स्यसे वाहिनीं दृष्ट्वा पार्थबाणप्रपीडिताम् ।
पराभूता च वः सेना न कश्चिद् योद्धुमिच्छति ॥ ३२ ॥

सेनाके चारों ओर गीध बैठ रहे हैं, इससे जान पड़ता है; तुम अपनी सेनाको अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित होती देख मनमें संताप करोगे। तुम्हारी सेना अभीसे तिरस्कृत-सी हो रही है, कोई भी सैनिक युद्ध करना नहीं चाहता है ॥ ३२ ॥

विवर्णमुखभूयिष्ठाः सर्वे योधा विचेतसः ।
गाः सम्प्रस्थाप्य तिष्ठामो व्यूढानीकाः प्रहारिणः॥ ३३॥

समस्त सैनिकोंके मुखपर भारी उदासी छा गयी है । सब अचेत—हतोत्साह हो रहे हैं । अतः हम गौओंको हस्तिनापुर-की ओर भेजकर सेनाकी व्यूहरचना करके शत्रुपर प्रहार करनेके लिये उद्यत हो जायँ ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे औत्पातिको नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर उत्पातसूचक अपशकुनसम्बन्धी छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ३५½ श्लोक हैं)

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा युद्धका निश्चय तथा कर्णकी उक्ति

वैशम्पायन उवाच

अथ दुर्योधनो राजा समरे भीष्ममब्रवीत् ।
द्रोणं च रथशार्दूलं कृपं च सुमहारथम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा दुर्योधनने समरभूमिमें भीष्म, रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोण और महारथी कृपाचार्यसे कहा—॥ १ ॥

उक्तोऽयमर्थ आचार्यौ मया कर्णेन चासकृत् ।
पुनरेव प्रवक्ष्यामि न हि तृप्यामि तं ब्रुवन् ॥ २ ॥

'आचार्यो ! मैंने और कर्णने यह बात आपलोगोंसे कई बार कही है और फिर उसीको दुहराता हूँ; क्योंकि उसे बार-बार कहकर भी मुझे तृप्ति नहीं होती ॥ २ ॥

पराभूतैर्हि वस्तव्यं तैश्च द्वादश वत्सरान् ।
वने जनपदेऽज्ञातैरेष एव पणो हि नः ॥ ३ ॥

'जूआ खेलते समय हमलोगोंकी यही शर्त थी कि हममेंसे जो हारेंगे, उन्हें बारह वर्षोंतक किसी वनमें प्रकटरूपसे और एक वर्षतक किसी नगरमें अज्ञातभावसे निवास करना पड़ेगा ॥ ३ ॥

तेषां न तावन्निर्वृत्तं वर्तते तु त्रयोदशम् ।
अज्ञातवासो बीभत्सुरथास्माभिः समागतः ॥ ४ ॥

'अभी पाण्डवोंका तेरहवाँ वर्ष पूरा नहीं हुआ है, तो भी अज्ञातवासमें रहनेवाला अर्जुन आज प्रकटरूपसे हमारे साथ युद्ध करने आ रहा है ॥ ४ ॥

अनिवृत्ते तु निर्वासे यदि बीभत्सुरागतः ।
पुनर्द्वादश वर्षाणि वने वत्स्यन्ति पाण्डवाः ॥ ५ ॥

'यदि अज्ञातवास पूर्ण होनेके पहले ही अर्जुन आ गया है, तो पाण्डव फिर बारह वर्षोंतक वनमें निवास करेंगे ॥५ ॥

लोभाद् वा ते न जानीयुरस्मान् वा मोह आविशत् ।
हीनातिरिक्तमेतेषां भीष्मो वेदितुमर्हति ॥ ६ ॥

'वे राज्यके लोभसे अपनी प्रतिज्ञाको स्मरण नहीं रख सके हैं या हमलोगोंमें ही मोह (प्रमाद) आ गया है । इनके तेरहवें वर्षमें अभी कुछ कमी है या अधिक दिन बीत गये हैं; यह भीष्मजी जान सकते हैं ॥ ६ ॥

अर्थानां च पुनर्द्वैधे नित्यं भवति संशयः ।
अन्यथा चिन्तितो ह्यर्थः पुनर्भवति सोऽन्यथा ॥ ७ ॥

'जिन विषयोंमें दुविधा पड़ जाती है, उनमें सदा संदेह बना रहता है । किसी विषयको अन्य प्रकारसे सोचा जाता है, किंतु पता लगनेपर वह किसी और ही प्रकारका सिद्ध होता है ॥ ७ ॥

उत्तरं मार्गमाणानां मत्स्यानां च युयुत्सताम् ।
यदि बीभत्सुरायातस्तदा कस्यापराध्नुमः ॥ ८ ॥

'हमलोग मत्स्यदेशके उत्तरगोष्ठकी खोज करते हुए यहाँ आये और मत्स्यदेशीय सैनिकोंके साथ ही युद्ध करना चाहते थे । इस दशामें भी यदि अर्जुन हमसे युद्ध करने आया है, तो हम किसका अपराध कर रहे हैं ? ॥ ८ ॥

त्रिगर्तानां वयं हेतोर्मत्स्यान् योद्धुमिहागताः ।
मत्स्यानां विप्रकारांस्ते बहूनस्मानकीर्तयन् ॥ ९ ॥

'मत्स्यनिवासियोंके साथ भी जो हम यहाँ युद्धके लिये आये हैं, वह अपने स्वार्थको लेकर नहीं, त्रिगर्तोंकी सहायताके उद्देश्यसे हमारा यहाँ आगमन हुआ है । त्रिगर्तोंने हमारे सामने मत्स्यदेशीय सैनिकोंके बहुत-से अत्याचारोंका वर्णन किया था ॥ ९ ॥

तेषां भयाभिभूतानां तदस्माभिः प्रतिश्रुतम् ।
प्रथमं तैर्ग्रहीतव्यं मत्स्यानां गोधनं महत् ।
सप्तम्यामपराह्णे वै तथा तैस्तु समाहितम् ॥ १० ॥

'वे भयसे बहुत दबे हुए थे; इसलिये हमने उनकी सहायताके लिये प्रतिज्ञा की थी । हमारी उनकी बात यह हुई थी कि वे लोग सप्तमी तिथिको अपराह्णकालमें मत्स्यदेशके (दक्षिण) गोष्ठपर आक्रमण करके वहाँका महान् गोधन अपने अधिकारमें कर लें । ऐसा ही उन्होंने किया भी है ॥

अष्टम्यां पुनरस्माभिरादित्यस्योदयं प्रति ।
इमा गावो ग्रहीतव्या गते मत्स्ये गवां पदम् ॥ ११ ॥

'साथ ही यह भी तै हुआ था कि हमलोग अष्टमीको सूर्योदय होते-होते उत्तरगोष्ठकी इन गौओंको ग्रहण कर लें; क्योंकि उस समय मत्स्यराज गौओंके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए त्रिगर्तोंके पीछे गये होंगे ॥ ११ ॥

ते वा गाश्चानयिष्यन्ति यदि वा स्युः पराजिताः।
अस्मान् वा ह्युपसंधाय कुर्युर्मत्स्येन संगतम् ॥ १२ ॥

'वे त्रिगर्त-सैनिक गौओंको यहाँ ले आयेंगे अथवा यदि परास्त हो गये, तो हमलोगोंसे मिलकर पुनः मत्स्यराजके साथ युद्ध करेंगे ॥ १२ ॥

अथवा तानपाहाय मत्स्यो जानपदैः सह।
सर्वया सेनया सार्धं संवृतो भीमरूपया।
आयातः केवलं रात्रिमस्मान् योद्धुमिहागतः ॥ १३ ॥

'अथवा यदि मत्स्यराज त्रिगर्तोंको भगाकर अपने देशके लोगों एवं अपनी सारी भयंकर सेनाके साथ इस रातमें हम-लोगोंसे युद्ध करनेके लिये यहाँ आ रहे होंगे ॥ १३ ॥

तेषामेव महावीर्यः कश्चिदेष पुरःसरः।
अस्माञ्जेतुमिहायातो मत्स्यो वापि स्वयं भवेत्॥ १४ ॥

'उन्हीं सैनिकोंमेंसे यह कोई महापराक्रमी योद्धा अगुआ बनकर हमें जीतने आया है। यह भी सम्भव है कि ये स्वयं मत्स्यराज ही हों ॥ १४ ॥

यद्येष राजा मत्स्यानां यदि बीभत्सुरागतः।
सर्वैर्योद्धव्यमस्माभिरिति नः समयः कृतः ॥ १५ ॥

'यदि यह मत्स्योंका राजा विराट हो अथवा अर्जुन ही उसकी ओरसे आया हो, तो भी हम सब लोगोंको उससे युद्ध करना ही है; यह हमने प्रतिज्ञा कर ली है ॥ १५ ॥

अथ कस्मात् स्थिता ह्येते रथेषु रथसत्तमाः।
भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव विकर्णो द्रौणिरेव च ॥ १६ ॥
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे काले ह्यस्मिन् महारथाः।
नान्यत्र युद्धाच्छ्रेयोऽस्ति तथाऽऽत्मा प्रणिधीयताम्॥

'फिर ये हमारे श्रेष्ठ रथी-महारथी भीष्म, द्रोण, कृप, विकर्ण और अश्वत्थामा आदि इस समय भ्रान्तचित्त हो रथोंमें चुपचाप क्यों बैठे हैं ? युद्धके सिवा और किसी बातमें कल्याण नहीं है। यह समझकर अपने-आपको इस परिस्थितिके अनुकूल बनाना चाहिये ॥ १६-१७ ॥

आच्छिन्ने गोधनेऽस्माकमपि देवेन वज्रिणा।
यमेन वापि संग्रामे को हास्तिनपुरं व्रजेत् ॥ १८ ॥

'यदि स्वयं वज्रधारी इन्द्र अथवा यमराज ही युद्धमें आकर हमसे गोधन छीन लें, तो भी ऐसा कौन होगा जो उनका सामना करना छोड़कर हस्तिनापुरको लौट जाय ? ॥ १८ ॥

शरैरेभिः प्रणुन्नानां भग्नानां गहने वने।
को हि जीवेत् पदातीनां भवेदश्वेषु संशयः ॥ १९ ॥

'यदि कोई गहन वनमें भागकर प्राण बचाना चाहें, तो मेरे इन बाणोंसे वे छिन्न-भिन्न कर दिये जायँगे। इस तरह भागनेवाले पैदल सैनिकोंमेंसे कौन जीवित रह सकता है ? घुड़सवारोंके विषयमें संदेह है (वे भागनेपर मारे भी जा सकते हैं और बच भी सकते हैं)' ॥ १९ ॥

दुर्योधनवचः श्रुत्वा राधेयस्त्वब्रवीद् वचः।
आचार्यं पृष्ठतः कृत्वा तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २० ॥

दुर्योधनकी बात सुनकर राधानन्दन कर्णने कहा— 'राजन्! आप आचार्य द्रोणको पीछे रखकर ऐसी नीति बनाइये कि विजय प्राप्त हो ॥ २० ॥

जानाति हि मतं तेषामतस्त्रासयतीह नः।
अर्जुने चास्य सम्प्रीतिमधिकामुपलक्षये ॥ २१ ॥

'ये पाण्डवोंका मत जानते हैं, इसीलिये यहाँ हमें डरा रहे हैं। और अर्जुनके प्रति इनका प्रेम अधिक मैं देखता हूँ ॥

तथा हि दृष्ट्वा बीभत्सुमुपायान्तं प्रशंसति।
यथा सेना न भज्येत तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २२ ॥

'तभी तो अर्जुनको आते देख ये उसकी प्रशंसा कर रहे हैं। (इनकी बातोंसे हतोत्साह होकर) सेनामें भगदड़ न मच जाय, इसका खयाल रखते हुए तदनुकूल नीति निर्धारित कीजिये ॥

हेषितं ह्युपशृण्वाने द्रोणे सर्वं विघट्टितम्।
अदेशिका महारण्ये ग्रीष्मे शत्रुवशं गताः।
यथा न विभ्रमेत् सेना तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २३ ॥

'[आगे रहनेपर] ये अर्जुनके घोड़ोंकी हिनहिनाहट सुनते ही घबरा उठेंगे। फिर तो सारी सेना ही विचलित हो जायगी। इस समय हम विदेशमें हैं, बड़े भारी जंगलमें पड़े हुए हैं, गर्मीकी ऋतु है और हम शत्रुके वशमें आ गये हैं; अतः ऐसी नीतिसे काम लें कि इनकी बातें सुनकर सैनिकोंके मनमें भ्रम न फैले ॥ २३ ॥

इष्टा हि पाण्डवा नित्यमाचार्यस्य विशेषतः।
आसयन्नपरार्थाश्च कथ्यते स्म स्वयं तथा ॥ २४ ॥

'आचार्यको सदासे ही पाण्डव अधिक प्रिय रहे हैं। उन स्वार्थियोंने अपना काम बनानेके लिये ही द्रोणाचार्यको आपके पास रख छोड़ा है। ये स्वयं भी ऐसी बातें कहते हैं, जिससे हमारे कथनकी पुष्टि होती है ॥ २४ ॥

अश्वानां हेषितं श्रुत्वा कः प्रशंसापरो भवेत्।
स्थाने वापि व्रजन्तो वा सदा हेषन्ति वाजिनः ॥२५॥

'भला, घोड़ोंकी हिनहिनाहट सुनकर कौन किसीकी प्रशंसा करने लग जाता है ? घोड़े अपने स्थानपर हों या यात्रा करते हों, वे सदा ही हींसते रहते हैं (इससे किसीकी वीरताका क्या सम्बन्ध है ?) ॥ २५ ॥

सदा च वायवो वान्ति नित्यं वर्षति वासवः।
स्तनयित्नोश्च निर्घोषः श्रूयते बहुशस्तथा ॥ २६ ॥
किमत्र कार्यं पार्थस्य कथं वा स प्रशस्यते।
अन्यत्र कामाद् द्वेषाद् वा रोषादस्मासु केवलात्॥२७॥

'हवा सदा चला करती है। इन्द्र हमेशा वर्षा करते हैं। मेघोंकी गर्जना बहुत बार सुननेको मिलती है। (इससे डरने या अपशकुन माननेकी क्या बात है।) इसमें अर्जुनका क्या काम है (कौन-सा चमत्कार है?) इस बातको लेकर क्यों उसकी प्रशंसा की जाती है। इसका कारण इस बातके सिवा और क्या हो सकता है कि आचार्यके मनमें अर्जुनका भला करनेकी इच्छा हो एवं हमारे प्रति इनके हृदयमें केवल द्वेष तथा रोषका भाव ही संचित हो? ॥ २६-२७ ॥

आचार्या वै कारुणिकाः प्राज्ञाश्चापापदर्शिनः।
नैते महाभये प्राप्ते सम्प्रष्टव्याः कथंचन ॥ २८ ॥

'आचार्यलोग बड़े दयालु, बुद्धिमान् और पाप तथा हिंसाके विरुद्ध विचार रखनेवाले होते हैं। जब कोई महान् भयका अवसर प्राप्त हो, उस समय इनसे किसी प्रकारकी सलाह नहीं पूछनी चाहिये ॥ २८ ॥

प्रासादेषु विचित्रेषु गोष्ठीषूपवनेषु च।
कथा विचित्राः कुर्वाणाः पण्डितास्तत्र शोभनाः ॥ २९ ॥

'पण्डितलोग सुन्दर महलों और मन्दिरोंमें, सभाओंमें और बगीचोंमें बैठकर जब विचित्र कथावार्ता सुना रहे हों, तब वहीं उनकी शोभा होती है ॥ २९ ॥

बहून्याश्चर्यरूपाणि कुर्वाणा जनसंसदि।
इज्यास्त्रे चोपसंधाने पण्डितास्तत्र शोभनाः ॥ ३० ॥

जनसमुदायमें बहुत-से आश्चर्यजनक विनोदपूर्ण कार्य करने तथा यज्ञ-सम्बन्धी आयुधों (पात्रों) को यथास्थान रखने एवं प्रोक्षण आदि करनेमें ही पण्डितोंकी शोभा है ॥

परेषां विवरज्ञाने मनुष्यचरितेषु च।
हस्त्यश्वरथचर्यासु खरोष्ट्राजाविकर्मणि ॥ ३१ ॥
गोधनेषु प्रतोलीषु वरद्वारमुखेषु च।
अन्नसंस्कारदोषेषु पण्डितास्तत्र शोभनाः ॥ ३२ ॥

'दूसरोंके छिद्रको जानने या देखनेमें, मनुष्योंकी दिनचर्या बतानेमें, हाथी, घोड़े तथा रथयात्रा करनेका मुहूर्त आदि निकालनेमें, गदहों, ऊँटों, बकरों और भेड़ोंकी गुण-दोष-समीक्षा एवं चिकित्सा आदिमें, गोधनके संग्रह और परीक्षणमें, गलियों तथा घरके श्रेष्ठ दरवाजोंपर किये जानेवाले माङ्गलिक कृत्यमें, नवीन अन्नका इष्टिद्वारा संस्कार कराने तथा अन्नमें केश-कीट आदि गिर जानेसे जो दोष आता है, उनपर विचार करनेमें भी पण्डितोंकी राय लेनी चाहिये। ऐसे ही कार्योंमें उनकी शोभा है ॥ ३१-३२ ॥

पण्डितान् पृष्ठतः कृत्वा परेषां गुणवादिनः।
विधीयतां तथा नीतिर्यथा वध्यो भवेत् परः ॥ ३३ ॥

'शत्रुओंके गुणोंका बखान करनेवाले पण्डितोंको पीछे करके ऐसी नीति काममें लें, जिससे शत्रुका वध हो सके ॥

गावश्च सम्प्रतिष्ठाप्य सेनां व्यूह्य समन्ततः।
आरक्षाश्च विधीयन्तां यत्र योत्स्यामहे परान् ॥ ३४ ॥

'गौओंको बीचमें खड़ी करके उनके चारों ओर सेनाका व्यूह बना लिया जाय तथा सब ओरसे रक्षाकी ऐसी व्यवस्था कर ली जाय, जिससे हम शत्रुओंके साथ युद्ध कर सकें' ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे दुर्योधनवाक्ये सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहमें दुर्योधनवाक्यसम्बन्धी सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

कर्णकी आत्मप्रशंसापूर्ण अहंकारोक्ति

कर्ण उवाच

सर्वानायुष्मतो भीतान् संत्रस्तानिव लक्षये।
अयुद्धमनसश्चैव सर्वांश्चैवानवस्थितान् ॥ १ ॥

कर्ण बोला—मैं आप सब आयुष्मानोंको भयभीत एवं त्रस्त-सा देखता हूँ। आपमेंसे किसीका मन युद्धमें नहीं लग रहा है एवं सभी चञ्चल दिखायी देते हैं ॥ १ ॥

यद्येष राजा मत्स्यानां यदि बीभत्सुरागतः।
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ २ ॥

यदि यह मत्स्यदेशका राजा हो अथवा यदि स्वयं अर्जुन आया हो, तो भी जैसे वेला समुद्रको रोक देती है, उसी प्रकार मैं भी इसे आगे बढ़नेसे रोक दूँगा ॥ २ ॥

मम चापप्रयुक्तानां शराणां नतपर्वणाम्।
नावृत्तिर्गच्छतां तेषां सर्पाणामिव सर्पताम् ॥ ३ ॥

मेरे धनुषसे छूटकर सर्पोंकी भाँति आगे बढ़नेवाले और झुकी हुई गाँठवाले बाण कभी अपने लक्ष्यसे च्युत नहीं होते ॥ ३ ॥

रुक्मपुङ्खाः सुतीक्ष्णाग्रा मुक्ता हस्तवता मया।
छादयन्तु शराः पार्थं शलभा इव पादपम् ॥ ४ ॥

सुनहरी पाँख और तीखी नोकवाले बाण मेरे हाथोंसे छूटकर अर्जुनको ठीक उसी तरह, ढँक लेंगे; जैसे टिड्डियाँ पेड़को आच्छादित कर देती हैं ॥ ४ ॥

शराणां पुङ्खसक्तानां मौर्व्याभिहतया दृढम्।
श्रूयतां तलयोः शब्दो भेर्योराहतयोरिव ॥ ५ ॥

पाँखवाले बाणोंको धनुषकी प्रत्यञ्चापर चढ़ाकर भलीभाँति खींचनेके पश्चात् मेरी दोनों हथेलियोंका ऐसा शब्द होता है, जैसे दो नगाड़े पीटे गये हों। आज वह शब्द आपलोग सुनें ॥ ५ ॥

समाहितो हि बीभत्सुर्वर्षाण्यष्टौ च पञ्च च।
जातस्नेहश्च युद्धेऽस्मिन् मयि सम्प्रहरिष्यति ॥ ६ ॥

अर्जुन तेरह वर्षोंतक वनमें समाधि लगाता रहा है, किंतु उसका इस युद्धमें स्नेह है; अतः मुझपर वह बाणोंका प्रहार करेगा ॥ ६ ॥

पात्रीभूतश्च कौन्तेयो ब्राह्मणो गुणवानिव।
शरौघान् प्रतिगृह्णातु मया मुक्तान् सहस्रशः ॥ ७ ॥

कुन्तीनन्दन धनंजय गुणवान् ब्राह्मणकी भाँति मेरेलिये एक सुपात्र व्यक्ति है। अतः आज वह मेरे छोड़े हुए सहस्रों बाणसमुदायोंका दान स्वीकार करे ॥ ७ ॥

एष चैव महेष्वासस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
अहं चापि नरश्रेष्ठादर्जुनान्नावरः क्वचित् ॥ ८ ॥

यह तीनों लोकोंमें महान् धनुर्धरके रूपमें विख्यात है और मैं भी नरश्रेष्ठ अर्जुनसे किसी बातमें कम नहीं हूँ ॥८॥

इतश्चेतश्च निर्मुक्तैः काञ्चनैर्गार्ध्रवाजितैः।
दृश्यतामद्य वै व्योम खद्योतैरिव संवृतम् ॥ ९ ॥

इधर-उधर दोनों ओरसे छूटे हुए गीधकी पाँखोंसे युक्त सुवर्णमय बाणोंद्वारा आच्छादित हो आज आकाश जुगुनुओंसे भरा हुआ-सा दिखायी देगा ॥ ९ ॥

अद्याहमृणमक्षय्यं पुरा वाचा प्रतिश्रुतम्।
धार्तराष्ट्राय दास्यामि निहत्य समरेऽर्जुनम् ॥ १० ॥

मैं आज युद्धमें अर्जुनको मारकर पहले की हुई अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार दुर्योधनका अक्षय ऋण चुका दूँगा ॥१०॥

अन्तराच्छिद्यमानानां पुङ्खानां व्यतिशीर्यताम्।
शलभानामिवाकाशे प्रचारः सम्प्रदृश्यताम् ॥ ११ ॥

आज बीचसे कटकर इधर-उधर बिखर जानेवाले पंखयुक्त बाणोंका आकाशमें फतिंगोंकी भाँति उड़ना और गिरना देखो॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शं महेन्द्रसमतेजसम्।
अर्दयिष्याम्यहं पार्थमुल्काभिरिव कुञ्जरम् ॥ १२ ॥

यद्यपि अर्जुन महेन्द्रके समान तेजस्वी है, तो भी आज उसे उल्काओं (मशालों) द्वारा गजराजकी भाँति इन्द्रके वज्रकी तरह कठोर स्पर्शवाले अपने बाणोंसे पीड़ित कर दूँगा ॥ १२ ॥

रथादतिरथं शूरं सर्वशस्त्रभृतां वरम्।
विवशं पार्थमादास्ये गरुत्मानिव पन्नगम् ॥ १३ ॥

जो रथियोंसे भी बढ़कर अतिरथी, सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ और शूरवीर है, उस कुन्तीपुत्रको आज मैं युद्धमें विवश करके उसी प्रकार दबोच लूँगा, जैसे गरुड़ साँपको पकड़ लेता है ॥ १३ ॥

तमग्निमिव दुर्धर्षमसिशक्तिशरेन्धनम्।
पाण्डवाग्निमहं दीप्तं प्रदहन्तमिवाहितम् ॥ १४ ॥
अश्ववेगपुरोवातो रथौघस्तनयित्नुमान्।
शरधारो महामेघः शमयिष्यामि पाण्डवम् ॥ १५ ॥

जो अग्निकी भाँति दुर्धर्ष है, खड्ग, शक्ति और बाणरूपी ईंधनसे प्रज्वलित है और अपने शत्रुको भस्म कर रही है, उस अर्जुनरूपी जलती हुई आगको आज मैं महामेघ बनकर बुझा दूँगा। मेरे अश्वोंका वेग ही पुरवैया हवाका काम करेगा। रथसमूहकी घर्घराहट ही बादलोंकी गम्भीर गर्जना होगी और बाणोंकी धारा ही जलधाराका काम करेगी ॥

मत्कार्मुकविनिर्मुक्ताः पार्थमाशीविषोपमाः।
शराः समभिसर्पन्तु वल्मीकमिव पन्नगाः ॥ १६ ॥

आज मेरे धनुषसे छूटे हुए सर्पोंके समान विषैले बाण अर्जुनके शरीरमें उसी प्रकार प्रवेश करेंगे, जैसे साँप बाँबीमें घुसते हैं ॥ १६ ॥

सुतेजनै रुक्मपुङ्खैः सुधौतैर्नतपर्वभिः।
आचितं पश्य कौन्तेयं कर्णिकारैरिवाचलम् ॥ १७ ॥

कनेरके फूलोंसे व्याप्त पर्वतकी जैसी शोभा होती है, उसी प्रकार मेरे तेज, सुनहरे पंखवाले, उज्ज्वल और झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा कुन्तीपुत्र अर्जुनको आच्छादित हुआ देखो॥

जामदग्न्यान्मया ह्यस्त्रं यत् प्राप्तमृषिसत्तमात्।
तदुपाश्रित्य वीर्यं च युध्येयमपि वासवम् ॥ १८ ॥

मुनिश्रेष्ठ परशुरामजीसे मैंने जो अस्त्र प्राप्त किये हैं, उन अस्त्रों और अपने पराक्रमका आश्रय लेकर मैं इन्द्रसे भी युद्ध कर सकता हूँ ॥ १८ ॥

ध्वजाग्रे वानरस्तिष्ठन् भल्लेन निहतो मया।
अद्यैव पततां भूमौ विनदन् भैरवान् रवान् ॥ १९ ॥

अर्जुनकी ध्वजाके अग्रभागपर स्थित होनेवाला वानर जो भयंकर गर्जना किया करता है, वह आज ही मेरे बाणोंसे मारा जाकर पृथ्वीपर गिर जाय ॥ १९ ॥

शत्रोर्मया विपन्नानां भूतानां ध्वजवासिनाम्।
दिशः प्रतिष्ठमानानामस्तु शब्दो दिवंगमः ॥ २० ॥

शत्रुकी ध्वजामें निवास करनेवाले भूतगण भी मुझसे मारे जाकर जब चारों दिशाओंमें भागने लगेंगे, उस समय

उनके हाहाकारका शब्द स्वर्गलोकतक पहुँच जायगा ॥ २० ॥

अद्य दुर्योधनस्याहं शल्यं हृदि चिरस्थितम् ।
समूलमुद्धरिष्यामि बीभत्सुं पातयन् रथात् ॥ २१ ॥

अर्जुनको रथसे गिराकर आज मैं दुर्योधनके हृदयमें चिरकालसे चुभे हुए काँटेको जड़सहित निकाल फेंकूँगा ॥

हताश्वं विरथं पार्थं पौरुषे पर्यवस्थितम् ।
निःश्वसन्तं यथा नागमद्य पश्यन्तु कौरवाः ॥ २२ ॥

पुरुषार्थसाधनमें लगे हुए अर्जुनके घोड़े मार दिये जायँगे और वह रथहीन होकर केवल साँपकी भाँति फुफकार मारता फिरेगा। कौरवलोग आज उसकी यह अवस्था भी देखें ॥

कामं गच्छन्तु कुरवो धनमादाय केवलम् ।
रथेषु वापि तिष्ठन्तो युद्धं पश्यन्तु मामकम् ॥ २३ ॥

कौरवोंकी इच्छा हो, तो वे केवल गोधन लेकर यहाँसे चले जायँ अथवा अपने रथोंपर बैठे रहकर अर्जुनके साथ मेरा युद्ध देखें ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे कर्णविकत्थने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय कर्णके आत्मप्रशंसापूर्ण वचनसम्बन्धी अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कृपाचार्यका कर्णको फटकारते हुए युद्धके विषयमें अपना विचार बताना

कृप उवाच

सदैव तव राधेय युद्धे क्रूरतरा मतिः ।
नार्थानां प्रकृतिं वेत्सि नानुबन्धमवेक्षसे ॥ १ ॥

तदनन्तर कृपाचार्यने कहा—राधानन्दन ! युद्धके विषयमें तुम्हारा विचार सदा ही क्रूरतापूर्ण रहता है । तुम न तो कार्योंके स्वरूपको ही जानते हो और न उनके परिणामका ही विचार करते हो ॥ १ ॥

माया हि बहवः सन्ति शास्त्रमाश्रित्य चिन्तिताः ।
तेषां युद्धं तु पापिष्ठं वेदयन्ति पुराविदः ॥ २ ॥

मैंने शास्त्रका आश्रय लेकर बहुत-सी मायाओंका चिन्तन किया है; किंतु उन सबमें युद्ध ही सर्वाधिक पापपूर्ण कर्म है—ऐसा प्राचीन विद्वान् बताते हैं ॥ २ ॥

देशकालेन संयुक्तं युद्धं विजयदं भवेत् ।
हीनकालं तदेवेह फलं न लभते पुनः ॥
देशे काले च विक्रान्तं कल्याणाय विधीयते ॥ ३ ॥

देश और कालके अनुसार जो युद्ध किया जाता है, वह विजय देनेवाला होता है; किंतु जो अनुपयुक्त कालमें किया जाता है, वह युद्ध सफल नहीं होता । देश और कालके अनुसार किया हुआ पराक्रम ही कल्याणकारी होता है ॥ ३ ॥

आनुकूल्येन कार्याणामन्तरं संविधीयते ।
भारं हि रथकारस्य न व्यवस्यन्ति पण्डिताः ॥ ४ ॥

देश और कालकी अनुकूलता होनेसे ही कार्योंका फल सिद्ध होता है । विद्वान् पुरुष रथ बनानेवाले (सूत) की बातपर ही सारा भार डालकर स्वयं देश-कालका विचार किये बिना युद्ध आदिका निश्चय नहीं करते* ॥ ४ ॥

परिचिन्त्य तु पार्थेन संनिपातो न नः क्षमः ।
एकः कुरूनभ्यगच्छदेकश्चाग्निमतर्पयत् ॥ ५ ॥

विचार करनेपर तो यही समझमें आता है कि अर्जुनके साथ युद्ध करना हमारे लिये कदापि उचित नहीं है; [क्योंकि वे अकेले भी हमें परास्त कर सकते हैं] । अर्जुनने अकेले ही उत्तरकुरुदेशपर चढ़ाई की और उसे जीत लिया । अकेले ही खाण्डववन देकर अग्निको तृप्त किया ॥ ५ ॥

एकश्च पञ्च वर्षाणि ब्रह्मचर्यमधारयत् ।
एकः सुभद्रामारोप्य द्वैरथे कृष्णमाह्वयत् ॥ ६ ॥

उन्होंने अकेले ही पाँच वर्षतक कठोर तप करते हुए ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया । अकेले ही सुभद्राको रथपर बिठाकर उसका अपहरण किया और द्वन्द्वयुद्धके लिये श्रीकृष्णको भी ललकारा ॥ ६ ॥

एकः किरातरूपेण स्थितं रुद्रमयोधयत् ।
अस्मिन्नेव वने पार्थो हृतां कृष्णामवाजयत् ॥ ७ ॥

* जैसे कोई रथ बनानेवाला कारीगर रथ लाकर यह कहे कि मैंने इस दिव्य रथका निर्माण किया है । इसका प्रत्येक अङ्ग सुदृढ़ है । इसपर बैठकर युद्ध करनेसे तुम देवताओंपर भी सर्वथा विजय पा सकोगे । तो केवल उसके इस कहनेपर भरोसा करके कोई बुद्धिमान् पुरुष युद्धके लिये तैयार न हो जायगा । उसी प्रकार कर्ण ! केवल तुम्हारे इस डींग मारनेपर भरोसा करके देश-काल आदिका विचार किये बिना हमलोगोंका युद्धके लिये उद्यत होना ठीक नहीं है, यही कृपाचार्यके उपर्युक्त कथनका अभिप्राय है ।

अर्जुनने अकेले ही किरातरूपमें सामने आये हुए भगवान् शंकरसे युद्ध किया। इसी वनवासकी घटना है, जब जयद्रथने द्रौपदीका अपहरण किया था, उस समय भी अर्जुनने अकेले ही उसे हराकर द्रौपदीको उसके हाथसे छुड़ाया था॥ ७॥

एकश्च पञ्च वर्षाणि शक्रादस्त्राण्यशिक्षत।
एकः सोऽयमरिं जित्वा कुरूणामकरोद् यशः॥ ८॥
एको गन्धर्वराजानं चित्रसेनमरिंदमः।
विजिग्ये तरसा संख्ये सेनां प्राप्य सुदुर्जयाम्॥ ९॥

उन्होंने अकेले ही पाँच वर्षतक स्वर्गमें रहकर साक्षात् इन्द्रसे अस्त्र-शस्त्र सीखे हैं और अकेले ही सब शत्रुओंको जीतकर कुरुवंशका यश बढ़ाया है। शत्रुओंका दमन करनेवाले महावीर अर्जुनने कौरवोंकी घोषयात्राके समय युद्धमें गन्धर्वोंकी दुर्जय सेनाका वेगपूर्वक सामना करते हुए अकेले ही गन्धर्वराज चित्रसेनपर विजय पायी थी॥ ८-९॥

तथा निवातकवचाः कालखञ्जाश्च दानवाः।
दैवतैरप्यवध्यास्ते एकेन युधि पातिताः॥ १०॥

निवातकवच और कालखञ्ज आदि दानवगण तो देवताओंके लिये भी अवध्य थे, किंतु अर्जुनने अकेले ही उन सबको युद्धमें मार गिराया है॥ १०॥

एकेन हि त्वया कर्ण किं नामेह कृतं पुरा।
एकैकेन यथा तेषां भूमिपाला वशे कृताः॥ ११॥

किंतु कर्ण! तुम तो बताओ, तुमने पहले कभी अकेले रहकर इस जगत्‌में कौन-सा पुरुषार्थ किया है? पाण्डवोंमेंसे तो एक-एकने विभिन्न दिशाओंमें जाकर वहाँके भूमिपालोंको अपने वशमें कर लिया था; [क्या तुमने भी ऐसा कोई कार्य किया है?]॥ ११॥

इन्द्रोऽपि हि न पार्थेन संयुगे योद्धुमर्हति।
यस्तेनाशंसते योद्धुं कर्तव्यं तस्य भेषजम्॥ १२॥

अर्जुनके साथ तो इन्द्र भी रणभूमिमें खड़े होकर युद्ध नहीं कर सकते। फिर जो उनसे अकेले भिड़नेकी बात करता है, (वह पागल है।) उसकी दवा करानी चाहिये॥ १२॥

आशीविषस्य क्रुद्धस्य पाणिमुद्यम्य दक्षिणम्।
अवमुच्य प्रदेशिन्या दंष्ट्रामादातुमिच्छसि॥ १३॥

सूतपुत्र! (अर्जुनके साथ अकेले भिड़नेका साहस करके) तुम मानो क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके मुखमें अपना दाहिना हाथ उठाकर डालना और तर्जनी अङ्गुलीसे उसके दाँत उखाड़ लेना चाहते हो॥ १३॥

अथवा कुञ्जरं मत्तमेक एव चरन् वने।
अनङ्कुशं समारुह्य नगरं गन्तुमिच्छसि॥ १४॥

अथवा वनमें अकेले घूमते हुए तुम बिना अङ्कुशके ही मतवाले हाथीकी पीठपर बैठकर नगरमें जाना चाहते हो॥ १४॥

समिद्धं पावकं चैव घृतमेदोवसाहुतम्।
घृताक्तश्चीरवासास्त्वं मध्येनोत्तर्तुमिच्छसि॥ १५॥

अथवा अपने शरीरमें घी पोतकर चिथड़े या वल्कल पहने हुए तुम घी, मेदा और चर्बी आदिकी आहुतियोंसे प्रज्वलित आगके भीतरसे होकर निकलना चाहते हो॥ १५॥

आत्मानं कः समुद्बध्य कण्ठे बद्ध्वा महाशिलाम्।
समुद्रं तरते दोर्भ्यां तत्र किं नाम पौरुषम्॥ १६॥

अपने-आपको बन्धनसे जकड़कर और गलेमें बड़ी भारी शिला बाँधकर कौन दोनों हाथोंसे तैरता हुआ समुद्रको पार कर सकता है? उसमें क्या यह पुरुषार्थ है! अर्थात् मूर्खता है॥

अकृतास्त्रः कृतास्त्रं वै बलवन्तं सुदुर्बलः।
तादृशं कर्ण यः पार्थं योद्धुमिच्छेत् स दुर्मतिः॥ १७॥

कर्ण! जिसने अस्त्र-शस्त्रोंकी पूर्ण शिक्षा न पायी हो, वह अत्यन्त दुर्बल पुरुष यदि अस्त्र-शस्त्रोंकी कलामें प्रवीण तथा कुन्तीपुत्र अर्जुन जैसे बलवान् वीरसे युद्ध करना चाहे, तो समझना चाहिये कि उसकी बुद्धि मारी गयी है॥ १७॥

अस्माभिर्ह्येष निकृतो वर्षाणीह त्रयोदश।
सिंहः पाशविनिर्मुक्तो न नः शेषं करिष्यति॥ १८॥
एकान्ते पार्थमासीनं कूपेऽग्निमिव संवृतम्।
अज्ञानादभ्यवस्कन्द्य प्राप्ताः स्मो भयमुत्तमम्॥ १९॥

हमलोगोंने तेरह वर्षोंतक इन्हें वनमें रखकर इनके साथ कपटपूर्ण बर्ताव किया है। (अब ये प्रतिज्ञाके बन्धनसे मुक्त हो गये हैं;) अतः बन्धनसे छूटे हुए सिंहकी भाँति क्या ये हमारा नाश न कर डालेंगे? कुएँमें छिपी हुई अग्निके समान यहाँ एकान्तमें स्थित कुन्तीपुत्र अर्जुनके पास हम अज्ञानवश आ पहुँचे हैं और भारी भय एवं संकटमें पड़ गये हैं॥ १८-१९॥

सह युध्यामहे पार्थमागतं युद्धदुर्मदम्।
सैन्यास्तिष्ठन्तु संनद्धा व्यूढानीकाः प्रहारिणः॥ २०॥

इसलिये हमारा विचार है कि हमलोग एक साथ संगठित होकर यहाँ आये हुए रणोन्मत्त अर्जुनके साथ युद्ध करें। हमारे सैनिक कवच बाँधकर खड़े रहें, सेनाका व्यूह बना लिया जाय और सब लोग प्रहार करनेके लिये उद्यत हो जायँ॥ २०॥

द्रोणो दुर्योधनो भीष्मो भवान् द्रौणिस्तथा वयम्।
सर्वे युध्यामहे पार्थं कर्ण मा साहसं कृथाः॥ २१॥
वयं व्यवसितं पार्थं वज्रपाणिमिवोद्यतम्।
षड्रथाः प्रतियुध्येम तिष्ठेम यदि संहताः॥ २२॥

कर्ण ! तुम अकेले अर्जुनसे भिड़नेका दुःसाहस न करो। आचार्य द्रोण, दुर्योधन, भीष्म, तुम अश्वत्थामा और हम सब मिलकर अर्जुनसे युद्ध करेंगे। यदि हम छहों महारथी संगठित होकर सामना करें, तभी इन्द्रके सदृश दुर्धर्ष एवं दृढ़निश्चयी कुन्तीपुत्र अर्जुनके साथ युद्ध कर सकते हैं॥ २१-२२ ॥

व्यूढानीकानि सैन्यानि यत्ताः परमधन्विनः।
युध्यामहेऽर्जुनं संख्ये दानवा इव वासवम्॥ २३॥

सेनाओंकी व्यूहरचना हो जाय और हम सभी श्रेष्ठ धनुर्धर सावधान रहें, तो जैसे दानव इन्द्रसे भिड़ते हैं, उसी प्रकार हम युद्धमें अर्जुनका सामना कर सकते हैं॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे कृपवाक्यं नाम एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ४९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय कृपाचार्य-वाक्यविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४९॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अश्वत्थामाके उद्गार

अश्वत्थामोवाच

न च तावज्जिता गावो न च सीमान्तरं गताः।
न हास्तिनपुरं प्राप्तास्त्वं च कर्ण विकत्थसे॥ १॥

अश्वत्थामाने कहा—कर्ण! अभी तो हमने न गौओंको जीता है, न मत्स्यदेशकी सीमाके बाहर जा सके हैं और न हस्तिनापुरमें ही पहुँच गये हैं। फिर तुम इतनी व्यर्थ बकवाद क्यों कर रहे हो?॥ १॥

संग्रामांश्च बहूञ्जित्वा लब्ध्वा च विपुलं धनम्।
विजित्य च परां सेनां नाहुः किंचन पौरुषम्॥ २॥
दहत्यग्निरवाक्यस्तु तूर्णीं भाति दिवाकरः।
तूर्णीं धारयते लोकान् वसुधा सचराचरान्॥ ३॥

विद्वान् पुरुष बहुत-सी लड़ाइयाँ जीतकर, असंख्य धनराशि पाकर तथा शत्रुओंकी सेनाको परास्त करके भी इस तरह व्यर्थ बकवाद नहीं करते। आग बिना कुछ कहे-सुने ही सबको जलाकर भस्म कर देती है, सूर्यदेव मौन रहकर ही प्रकाशित होते हैं, पृथ्वी चुप रहकर ही सम्पूर्ण चराचर लोकोंको धारण करती है (इनमेंसे कोई अपने पराक्रमकी प्रशंसा नहीं करता)॥ २-३॥

चातुर्वर्ण्यस्य कर्माणि विहितानि स्वयम्भुवा।
धनं यैरधिगन्तव्यं यच्च कुर्वन् न दुष्यति॥ ४॥

ब्रह्माजीने चारों वर्णोंके कर्म नियत कर दिये हैं, जिनसे धन भी मिल सकता है और जिनका अनुष्ठान करनेसे कर्ता दोषका भागी नहीं होता॥ ४॥

अधीत्य ब्राह्मणो वेदान् याजयेत यजेत वा।
क्षत्रियो धनुराश्रित्य यजेच्चैव न याजयेत्॥ ५॥

ब्राह्मण वेदोंको पढ़कर यज्ञ करावे अथवा करे। क्षत्रिय धनुषका आश्रय लेकर धन कमाये और यज्ञ करे; परंतु वह दूसरोंका यज्ञ न करावे (क्योंकि यह काम ब्राह्मणोंका है)॥ ५॥

वैश्योऽधिगम्य वित्तानि ब्रह्मकर्माणि कारयेत्।
शूद्रः शुश्रूषणं कुर्यात् त्रिषु वर्णेषु नित्यशः।
वन्दनायोगविधिभिर्वैतसीं वृत्तिमास्थितः॥ ६॥

वैश्य कृषि और व्यापार आदिके द्वारा धनोपार्जन करके ब्राह्मणोंके द्वारा वेदोक्त कर्म करावें और शूद्र वैतसीवृत्ति (बेंतके वृक्षकी भाँति नम्रता) का आश्रय ले प्रणाम और आज्ञापालन आदिके द्वारा सदा तीनों वर्णोंके पास रहकर उनकी सेवा करे॥ ६॥

वर्तमाना यथाशास्त्रं प्राप्य चापि महीमिमाम्।
सत्कुर्वन्ति महाभागा गुरून् सुविगुणानपि॥ ७॥

महान् सौभाग्यशाली श्रेष्ठ पुरुष शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार बर्ताव करते हुए न्यायसे इस पृथ्वीको प्राप्त करके भी अत्यन्त गुणहीन गुरुजनोंका भी सत्कार करते हैं (और यहाँ अन्यायसे राज्य लेकर गुणवान् गुरुजनोंका भी तिरस्कार हो रहा है)॥ ७॥

प्राप्य द्यूतेन को राज्यं क्षत्रियस्तोष्टुमर्हति।
तथा नृशंसरूपोऽयं धार्तराष्ट्रश्च निर्घृणः॥ ८॥

भला जूएसे राज्य पाकर कौन क्षत्रिय संतुष्ट हो सकता है। परंतु इस धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको इसीमें संतोष है; क्योंकि यह क्रूर और निर्दयी है॥ ८॥

तथाधिगम्य वित्तानि को विकत्थेद् विचक्षणः।
निकृत्या वञ्चनायोगैश्चरन् वैतंसिको यथा॥ ९॥

जैसे व्याध शठता और छल-कपटसे भरे हुए उपायोंद्वारा जीवननिर्वाह करता है, उस प्रकार कपटपूर्ण वृत्तिसे धन पाकर कौन बुद्धिमान् पुरुष अपने ही मुँह अपनी बड़ाई करेगा?॥ ९॥

कतमद् द्वैरथं युद्धं यत्राजैषीर्धनंजयम्।
नकुलं सहदेवं वा धनं येषां त्वया हृतम्॥ १०॥

राजा दुर्योधन ! तुमने जिन पाण्डवोंका धन कपटद्यूतके द्वारा हर लिया है, उनमेंसे धनंजय, नकुल या सहदेव किसको कब युद्धमें हराया है ? वह कौन-सा द्वन्द्वयुद्ध हुआ था, जिसमें तुमने अर्जुन आदिमेंसे किसीको जीता हो ?

युधिष्ठिरो जितः कस्मिन् भीमश्च बलिनां वरः।
इन्द्रप्रस्थं त्वया कस्मिन् संग्रामे निर्जितं पुरा ॥११॥

धर्मराज युधिष्ठिर अथवा बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन तुम्हारेद्वारा किस युद्धमें परास्त किये गये हैं ? आज जिस इन्द्रप्रस्थपर तुम्हारा अधिकार है, उसे पहले तुमने किस युद्धमें जीता था ? ॥ ११ ॥

तथैव कतमद् युद्धं यस्मिन् कृष्णा जिता त्वया।
एकवस्त्रा सभां नीता दुष्टकर्मन् रजस्वला ॥१२॥

दुष्ट कर्म करनेवाले पापी ! बताओ तो, कौन-सा ऐसा युद्ध हुआ था, जिसमें तुमने द्रौपदीको जीत लिया हो ? तुमलोग तो अकारण ही एक वस्त्र धारण करनेवाली बेचारी द्रौपदीको रजस्वलावस्थामें राजसभाके भीतर घसीट लाये थे ॥ १२ ॥

मूलमेषां महत् कृत्तं सारार्थी चन्दनं यथा।
कर्म कारयिथाः सूत तत्र किं विदुरोऽब्रवीत् ॥१३॥

सूतपुत्र ! जैसे धनकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य चन्दनकी लकड़ी काटता है, उसी प्रकार तुमने और दुर्योधनने कपट-द्यूत और द्रौपदीके अपमानद्वारा इन पाण्डवोंका मूलोच्छेद किया। जिस समय तुमलोगोंने पाण्डवोंको कर्मकार (दास) बनाया था, उस दिन वहाँ महात्मा विदुरने क्या कहा था; (उन्होंने जूएको कुरुकुलके संहारका कारण बताया था,) याद है न ? ॥ १३ ॥

यथाशक्ति मनुष्याणां शममालक्षयामहे।
अन्येषामपि सत्त्वानामपि कीटपिपीलिकैः।
द्रौपद्याः सम्परिक्लेशं न क्षन्तुं पाण्डवोऽर्हति ॥१४॥

हम देखते हैं, मनुष्य हों या अन्य जीव-जन्तु अथवा कीड़े-मकोड़े आदि ही क्यों न हों, सबमें अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार सहनशीलताकी एक सीमा होती है। द्रौपदीको जो कष्ट दिये गये हैं, उन्हें पाण्डुपुत्र अर्जुन कभी क्षमा नहीं कर सकते ॥ १४ ॥

क्षयाय धार्तराष्ट्राणां प्रादुर्भूतो धनंजयः।
त्वं पुनः पण्डितो भूत्वा वाचं वक्तुमिहेच्छसि ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्रोंका संहार करनेके लिये ही धनंजय प्रकट हुए हैं और एक तुम हो, जो यहाँ पण्डित बनकर बड़ी-बड़ी बातें बनाना चाहते हो ॥ १५ ॥

वैरान्तकरणो जिष्णुर्न नः शेषं करिष्यति ॥ १६ ॥

क्या वैरका बदला चुकानेवाले अर्जुन हमलोगोंका संहार नहीं कर डालेंगे ? ॥ १६ ॥

नैष देवान् न गन्धर्वान् नासुरान् न च राक्षसान्।
भयादिह न युध्येत कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १७ ॥

यह कभी सम्भव नहीं है कि कुन्तीनन्दन अर्जुन भयके कारण देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षसोंसे भी युद्ध न करें ॥ १७ ॥

यं यमेषोऽतिसंक्रुद्धः संग्रामे निपतिष्यति।
वृक्षं गरुत्मान् वेगेन विनिहत्य तमेष्यति ॥ १८ ॥

जैसे गरुड़ जिस-जिस वृक्षपर पैर रखते हैं, अपने वेगसे उसे गिराकर चले जाते हैं, उसी प्रकार अर्जुन अत्यन्त क्रोधमें भरकर संग्रामभूमिमें जिस-जिस महारथीपर आक्रमण करेंगे, उसे नष्ट करके ही आगे बढ़ेंगे ॥ १८ ॥

त्वत्तो विशिष्टं वीर्येण धनुष्यमरराट्समम्।
वासुदेवसमं युद्धे तं पार्थं को न पूजयेत् ॥ १९ ॥

कर्ण ! अर्जुन पराक्रममें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े हैं, धनुष चलानेमें तो वे देवराज इन्द्रके तुल्य हैं और युद्धकी कलामें साक्षात् वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके समान हैं; ऐसे कुन्तीपुत्रकी कौन प्रशंसा नहीं करेगा ? ॥ १९ ॥

दैवं दैवेन युध्येत मानुषेण च मानुषम्।
अस्त्रं ह्यस्त्रेण यो हन्यात् कोऽर्जुनेन समः पुमान् ॥ २० ॥

जो देवताओंके साथ देवोचित ढंगसे और मनुष्योंके साथ मानवोचित प्रणालीसे युद्ध करते हैं और प्रत्येक अस्त्रको उसके विरोधी अस्त्रद्वारा नष्ट कर सकते हैं, उन कुन्तीनन्दन धनंजयकी समानता करनेवाला कौन पुरुष है ? ॥ २० ॥

पुत्रादनन्तरं शिष्य इति धर्मविदो विदुः।
एतेनापि निमित्तेन प्रियो द्रोणस्य पाण्डवः ॥ २१ ॥

धर्मज्ञ पुरुष ऐसा मानते हैं कि गुरुको पुत्रके बाद शिष्य ही प्रिय होता है, इस कारणसे भी पाण्डुनन्दन अर्जुन आचार्य द्रोणको प्रिय हैं [अतः वे उनकी प्रशंसा क्यों न करें ?] ॥

यथा त्वमकरोर्द्यूतमिन्द्रप्रस्थं यथाऽहरः।
यथाऽऽनैषीः सभां कृष्णां तथा युध्यस्व पाण्डवम् ॥२२॥

दुर्योधन ! जैसे तुमलोगोंने जूएका खेल किया, जिस तरह इन्द्रप्रस्थके राज्यका अपहरण किया और जिस प्रकार भरी सभामें द्रौपदीको घसीट ले लाये, उसी प्रकार पाण्डुनन्दन अर्जुनसे युद्ध भी करो। [जब उन अन्यायोंके समय तुम्हें हमारे सहयोगकी आवश्यकता नहीं जान पड़ी, तब इस युद्धमें भी सहयोगकी आशा न रक्खो] ॥ २२ ॥

अयं ते मातुलः प्राज्ञः क्षत्रधर्मस्य कोविदः।
दुर्द्यूतदेवी गान्धारः शकुनिर्युध्यतामिह ॥ २३ ॥

ये तुम्हारे मामा शकुनि बड़े बुद्धिमान् और क्षत्रियधर्मके महापण्डित हैं। छलपूर्वक जूआ खेलनेवाले ये गान्धारदेशके नरेश शकुनि ही यहाँ युद्ध करें ॥ २३ ॥

नाक्षान् क्षिपति गाण्डीवं न कृतं द्वापरं न च।
ज्वलतो निशितान् बाणांस्तांस्तान् क्षिपति गाण्डिवम्॥

गाण्डीव धनुष कृतयुग, द्वापर और त्रेता नामक पासे नहीं फेंकता है; वह तो लगातार तीखे और प्रज्वलित बाणोंकी वर्षा करता है ॥ २४ ॥

न हि गाण्डीवनिर्मुक्ता गार्ध्रपक्षाः सुतेजनाः।
नान्तरेष्ववतिष्ठन्ते गिरीणामपि दारणाः ॥ २५ ॥

गाण्डीवसे छूटे हुए गीधके पंखवाले तीखे बाण पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाले हैं। वे शत्रुकी छातीमें घुसे बिना नहीं रहते ॥ २५ ॥

अन्तकः पवनो मृत्युस्तथाग्निर्वडवामुखः।
कुर्युरेते क्वचिच्छेषं न तु क्रुद्धो धनंजयः ॥ २६ ॥

यमराज, वायु, मृत्यु और बड़वानल—ये चाहे जड़-मूलसे नष्ट न करें, कुछ बाकी छोड़ दें, परंतु अर्जुन कुपित होनेपर कुछ भी नहीं छोड़ेंगे ॥ २६ ॥

यथा सभायां द्यूतं त्वं मातुलेन सहाकरोः।
तथा युध्यस्व संग्रामे सौबलेन सुरक्षितः ॥ २७ ॥

राजन्! जैसे राजसभामें तुमने मामाके साथ जूएका खेल किया है, उसी प्रकार इस संग्रामभूमिमें भी तुम उन्हीं मामा शकुनिसे सुरक्षित होकर युद्ध करो। (किसी दूसरेसे सहयोगकी आशा न रक्खो) ॥ २७ ॥

युध्यन्तां कामतो योधा नाहं योत्स्ये धनंजयम्।
मत्स्यो ह्यस्माभिरायोध्यो यद्यागच्छेद् गवां पदम्॥ २८॥

अथवा अन्य योद्धाओंकी इच्छा हो, तो वे युद्ध कर सकते हैं, किंतु मैं अर्जुनके साथ नहीं लड़ूँगा। हमें तो मत्स्यनरेशसे युद्ध करना है। यदि वे इस गोष्ठपर आ जायँ, तो मैं उनके साथ युद्ध कर सकता हूँ ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे द्रौणिवाक्यं नाम पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय अश्वत्थामावाक्यविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मजीके द्वारा सेनामें शान्ति और एकता बनाये रखनेकी चेष्टा तथा द्रोणाचार्यके द्वारा दुर्योधनकी रक्षाके लिये प्रयत्न

भीष्म उवाच

साधु पश्यति वै द्रौणिः कृपः साध्वनुपश्यति।
कर्णस्तु क्षत्रधर्मेण केवलं योद्धुमिच्छति ॥ १ ॥

भीष्मजी बोले—दुर्योधन! अश्वत्थामा ठीक विचार कर रहे हैं। कृपाचार्यकी दृष्टि भी ठीक है। कर्ण तो केवल क्षत्रिय-धर्मकी दृष्टिसे युद्ध करना चाहता है ॥ १ ॥

आचार्यो नाभिवक्तव्यः पुरुषेण विजानता।
देशकालौ तु सम्प्रेक्ष्य योद्धव्यमिति मे मतिः ॥ २ ॥

विज्ञ पुरुषको अपने आचार्यकी निन्दा या तिरस्कार नहीं करना चाहिये। मेरा भी विचार यही है कि देश, कालका विचार करके ही युद्ध करना उचित है ॥ २ ॥

यस्य सूर्यसमाः पञ्च सपत्नाः स्युः प्रहारिणः।
कथमभ्युदये तेषां न प्रमुह्येत पण्डितः ॥ ३ ॥

जिसके सूर्यके समान तेजस्वी और प्रहार करनेमें समर्थ पाँच शत्रु हों और उन शत्रुओंका अभ्युदय हो रहा हो, तो उस दशामें विद्वान् पुरुषको भी कैसे मोह न होगा? ॥ ३ ॥

स्वार्थे सर्वे विमुह्यन्ति येऽपि धर्मविदो जनाः।
तस्माद् राजन् ब्रवीम्येष वाक्यं ते यदि रोचते ॥ ४ ॥

स्वार्थके विषयमें सोचते समय सभी मनुष्य—धर्मज्ञ पुरुष भी मोहमें पड़ जाते हैं; अतः राजन्! यदि तुम्हें जचे, तो मैं इस विषयमें अपनी सलाह भी देता हूँ ॥ ४ ॥

कर्णो हि यदवोचत् त्वां तेजःसंजननाय तत्।
आचार्यपुत्रः क्षमतां महत् कार्यमुपस्थितम् ॥ ५ ॥

कर्णने तुमसे जो कुछ कहा है, वह तेज एवं उत्साहको बढ़ानेके लिये ही कहा है। आचार्यपुत्र क्षमा करें। इस समय महान् कार्य उपस्थित है ॥ ५ ॥

नायं कालो विरोधस्य कौन्तेये समुपस्थिते।
क्षन्तव्यं भवता सर्वमाचार्येण कृपेण च ॥ ६ ॥

यह समय आपसके विरोधका नहीं है; विशेषतः ऐसे मौकेपर जब कि कुन्तीनन्दन अर्जुन युद्धके लिये उपस्थित हैं। पूजनीय आचार्य द्रोण तथा कृपाचार्यको सब अपराध क्षमा करना चाहिये ॥ ६ ॥

भवतां हि कृतास्त्रत्वं यथाऽऽदित्ये प्रभा तथा।
यथा चन्द्रमसो लक्ष्मीः सर्वथा नापकृष्यते ॥ ७ ॥

जैसे सूर्यमें प्रभा और चन्द्रमामें लक्ष्मी (शोभा) सर्वथा विद्यमान रहती है—कभी कम नहीं होती, उसी प्रकार आपलोगोंका अस्त्रविद्यामें जो पाण्डित्य है, वह अक्षुण्ण है ॥

एवं भवत्सु ब्राह्मण्यं ब्रह्मास्त्रं च प्रतिष्ठितम्।
चत्वार एकतो वेदाः क्षात्रमेकत्र दृश्यते ॥ ८ ॥

इस प्रकार आपलोगोंमें ब्राह्मणत्व तथा ब्रह्मास्त्र दोनों ही प्रतिष्ठित हैं, यद्यपि प्रायः एक व्यक्तिमें चारों वेदोंका ज्ञान देखा जाता है, तो दूसरेमें क्षात्रधर्मका ॥ ८ ॥

नैतत् समस्तमुभयं कस्मिंश्चिदनुशुश्रुम।
अन्यत्र भारताचार्यात् सपुत्रादिति मे मतिः ॥ ९ ॥

ये दोनों बातें पूर्णरूपसे किसी एक व्यक्तिमें हमने नहीं सुनी हैं। केवल भरतवंशियोंके आचार्य कृप, द्रोण और उनके पुत्र अश्वत्थामामें ही ये दोनों शक्तियाँ (ब्रह्मबल और क्षात्रबल) हैं। इनके सिवा और कहीं उक्त दोनों बातोंका एकत्र समावेश नहीं है। यह मेरा दृढ़ विश्वास है ॥ ९ ॥

वेदान्तांश्च पुराणानि इतिहासं पुरातनम्।
जामदग्न्यमृते राजन् को द्रोणादधिको भवेत् ॥ १० ॥

राजन्! वेदान्त, पुराण और प्राचीन इतिहासके ज्ञानमें जमदग्निनन्दन परशुरामजीके सिवा दूसरा कौन मनुष्य द्रोणाचार्यसे बढ़कर हो सकता है? ॥ १० ॥

ब्रह्मास्त्रं चैव वेदाश्च नैतदन्यत्र दृश्यते।
आचार्यपुत्रः क्षमतां नायं कालो विभेदने ॥ ११ ॥
सर्वे संहत्य युध्यामः पाकशासनिमागतम् ॥ १२ ॥

ब्रह्मास्त्र और वेद—ये दोनों वस्तुएँ हमारे आचार्योंके सिवा अन्यत्र कहीं नहीं देखी जातीं। आचार्यपुत्र क्षमा करें, यह समय आपसमें फूट पैदा करनेका नहीं है। हम सब लोग मिलकर यहाँ आये हुए अर्जुनसे युद्ध करेंगे ॥ ११-१२ ॥

बलस्य व्यसनानीह यान्युक्तानि मनीषिभिः।
मुख्यो भेदो हि तेषां तु पापिष्ठो विदुषां मतः ॥ १३ ॥

मनीषी पुरुषोंने सेनाका विनाश करनेवाले जितने संकट बताये हैं, उनमें आपसकी फूट सबसे प्रधान कहा है। विद्वानोंने इस फूटको महान् पाप माना है ॥ १३ ॥

अश्वत्थामोवाच

नैव न्याय्यमिदं वाच्यमस्माकं पुरुषर्षभ।
किं तु रोषपरीतेन गुरुणा भाषिता गुणाः ॥ १४ ॥

अश्वत्थामाने कहा—पुरुषश्रेष्ठ! हमारी न्यायोचित बातकी निन्दा नहीं की जानी चाहिये। आचार्य द्रोणने पाण्डवोंपर हुए पहलेके अन्यायोंका स्मरण करके रोषपूर्वक अर्जुनके गुणोंका यहाँ वर्णन किया है (भेद उत्पन्न करनेके लिये नहीं) ॥ १४ ॥

शत्रोरपि गुणा ग्राह्या दोषा वाच्या गुरोरपि।
सर्वथा सर्वयत्नेन पुत्रे शिष्ये हितं वदेत् ॥ १५ ॥

शत्रुके भी गुण ग्रहण करने चाहिये और गुरुके भी दोष बतानेमें संकोच नहीं करना चाहिये। गुरुको सब प्रकारसे पूर्ण प्रयत्न करके पुत्र और शिष्यके लिये जो हितकर हो, वही बात कहनी चाहिये ॥ १५ ॥

दुर्योधन उवाच

आचार्य एव क्षमतां शान्तिरत्र विधीयताम्।
अभिद्यमाने तु गुरौ तद् वृत्तं रोषकारितम् ॥ १६ ॥

दुर्योधनने कहा—आचार्य! क्षमा करें, अब शान्ति धारण करनी चाहिये। यदि गुरुके मनमें भेद न हो, तभी यह समझा जायगा कि पहले जो बातें कही गयी हैं, उनमें रोष ही कारण था ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो द्रोणं क्षमयामास भारत।
सह कर्णेन भीष्मेण कृपेण च महात्मना ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर दुर्योधनने कर्ण, भीष्म और महात्मा कृपाचार्यके साथ आचार्य द्रोणसे क्षमा माँगी ॥ १७ ॥

द्रोण उवाच

यदेतत् प्रथमं वाक्यं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत्।
तेनैवाहं प्रसन्नो वै नीतिरत्र विधीयताम् ॥ १८ ॥
यथा दुर्योधनं पार्थो नोपसर्पति संगरे।
साहसाद् यदि वा मोहात् तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ १९ ॥

तब द्रोण बोले—शान्तनुनन्दन भीष्मजीने पहले जो बात कही थी, उसीसे मैं प्रसन्न हूँ। अब ऐसी नीतिसे काम लेना चाहिये जिससे अर्जुन इस युद्धमें दुर्योधनके पासतक न पहुँच सकें। साहससे अथवा प्रमादवश भी दुर्योधनपर उनका आक्रमण न हो, ऐसी नीति निर्धारित करनी चाहिये ॥ १८-१९ ॥

वनवासे ह्यनिर्वृत्ते दर्शयेन्न धनंजयः।
धनं चालभमानोऽत्र नाद्य तत् क्षन्तुमर्हति ॥ २० ॥

वनवासकी अवधि पूर्ण हुए बिना अर्जुन अपनेको प्रकट नहीं कर सकते थे। आज यदि वे यहाँ आकर अपना गोधन न पा सके, तो हमको क्षमा नहीं कर सकते ॥ २० ॥

यथा नायं समायुञ्ज्याद् धार्तराष्ट्रान् कथंचन।

न च सेनाः पराजय्यात् तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २१ ॥

ऐसी दशामें जैसे भी सम्भव हो; वे धृतराष्ट्रपुत्रोंपर आक्रमण न कर सकें और किसी प्रकार भी कौरवसेनाओंको परास्त न करने पावें, ऐसी कोई नीति बनानी चाहिये ॥ २१ ॥

उक्तं दुर्योधनेनापि पुरस्ताद् वाक्यमीदृशम्।
तदनुस्मृत्य गाङ्गेय यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ २२ ॥

दुर्योधनने भी पहले ऐसी बात कही थी कि पाण्डवोंका अज्ञातवास पूर्ण होनेमें संदेह है, अतः गङ्गानन्दन भीष्म ! आप स्वयं स्मरण करके यथार्थ बात क्या है—उनका अज्ञातवास पूर्ण हो गया है या नहीं, इसका निर्णय करें ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे द्रोणवाक्ये एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय द्रोणवाक्यसम्बन्धी इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

पितामह भीष्मकी सम्मति

भीष्म उवाच

कलाः काष्ठाश्च युज्यन्ते मुहूर्ताश्च दिनानि च।
अर्धमासाश्च मासाश्च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥ १ ॥
ऋतवश्चापि युज्यन्ते तथा संवत्सरा अपि।
एवं कालविभागेन कालचक्रं प्रवर्तते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—कला, काष्ठा, मुहूर्त, दिन, मास, पक्ष, नक्षत्र, ग्रह, ऋतु और संवत्सर—ये सब एक दूसरेसे जुड़ते हैं। इस तरह कालके इन छोटे-छोटे विभागोंद्वारा यह सम्पूर्ण कालचक्र चल रहा है ॥ १-२ ॥

तेषां कालातिरेकेण ज्योतिषां च व्यतिक्रमात्।
पञ्चमे पञ्चमे वर्षे द्वौ मासावुपजायतः ॥ ३ ॥

इन पक्ष-मास आदिके समयके बढ़ने-घटनेसे और ग्रह-नक्षत्रोंकी गतिके व्यतिक्रमसे हर पाँचवें वर्षमें दो महीने अधिमासके बढ़ जाते हैं ॥ ३ ॥

एषामभ्यधिका मासाः पञ्च च द्वादश क्षपाः।
त्रयोदशानां वर्षाणामिति मे वर्तते मतिः ॥ ४ ॥

इस प्रकार इन तेरह वर्षोंके पूर्ण होनेके पश्चात् भी पाण्डवोंके पाँच महीने बारह दिन और अधिक बीत चुके हैं। ऐसा मेरा विचार है * ॥ ४ ॥

सर्वं यथावच्चरितं यद् यदेभिः प्रतिश्रुतम्।
एवमेतद् ध्रुवं ज्ञात्वा ततो बीभत्सुरागतः ॥ ५ ॥

इन पाण्डवोंने जो-जो प्रतिज्ञाएँ की थीं, उन सबका यथावत् पालन किया है; अवश्य इस बातको अच्छी तरह जानकर ही अर्जुन यहाँ आये हैं ॥ ५ ॥

सर्वे चैव महात्मानः सर्वे धर्मार्थकोविदाः।
येषां युधिष्ठिरो राजा कस्माद् धर्मेऽपराध्नुयुः ॥ ६ ॥

सभी पाण्डव महात्मा हैं और सभी धर्म तथा अर्थके ज्ञाता हैं। जिनके नेता राजा युधिष्ठिर हैं, वे धर्मके विषयमें कैसे कोई अपराध कर सकते हैं ? ॥ ६ ॥

अलुब्धाश्चैव कौन्तेयाः कृतवन्तश्च दुष्करम्।
न चापि केवलं राज्यमिच्छेयुस्तेऽनुपायतः ॥ ७ ॥

कुन्तीके पुत्र लोभी नहीं हैं। उन्होंने तपस्या आदि कठिन कर्म किये हैं। वे अधर्म या अनुचित उपायसे (धर्मको गँवाकर) केवल राज्य लेनेके इच्छुक नहीं है ॥ ७ ॥

तदैव ते हि विक्रान्तुमीषुः कौरवनन्दनाः।
धर्मपाशनिबद्धास्तु न चेलुः क्षत्रियव्रतात् ॥ ८ ॥
यच्चानृत इति ख्यायाद् यः स गच्छेत् पराभवम्।
वृणुयुर्मरणं पार्था नानृतत्वं कथंचन ॥ ९ ॥

कुरुकुलको आनन्द देनेवाले पाण्डव उसी समय पराक्रम करनेमें समर्थ थे, किंतु वे धर्मके बन्धनमें बँधे थे; इसलिये क्षत्रियव्रतसे विचलित नहीं हुए। यदि कोई अर्जुनको असत्यवादी कहेगा तो वह पराजयको प्राप्त होगा। कुन्तीके

* चान्द्रवर्ष तीन सौ चौवन दिनोंका होता है और सौरवर्ष तीन सौ पैंसठ दिन पंद्रह घड़ी एवं कुछ पलोंका हुआ करता है। इस हिसाबसे तेरह सौर वर्षोंमें चान्द्रवर्षके लगभग पाँच महीने अधिक हो जाते हैं। इन वर्षोंमें यदि छः बार अधिमास पड़ जायँ, तो जिस तिथिको पाण्डवोंका वनवास हुआ था, तेरहवें वर्षकी उसी तिथितक तेरह वर्षोंसे पाँच महीने और बारह दिन अधिक हो सकते हैं। पाण्डवोंने सूर्यकी संक्रान्तिके अनुसार वर्षकी गणना की थी; अतः उन्होंने अधिमास आदिके कारण बढ़े हुए महीनों और दिनोंकी संख्याको अलग नहीं माना। इसीलिये उनकी गणनामें तेरह ही वर्ष हुए। भीष्मजीने चान्द्र वर्षकी गणनाका आश्रय लेकर बढ़े हुए महीनों और दिनोंको भी गणनामें ले लिया। अतः उनके हिसाबसे उस दिनतक तेरह वर्ष पूर्ण होकर पाँच मास बारह दिन अधिक हुए। यह कालभेद सौर और चान्द्रवर्षोंकी गणनाके भेदसे ही हुआ है। वास्तवमें सूर्यकी संक्रान्तिके हिसाबसे उस समयतक पाण्डवोंके तेरह वर्ष छः दिन हो चुके थे। चान्द्रवर्षकी गणनाके अनुसार वही समय तेरह वर्ष पाँच मास बारह दिनका हो गया।

पुत्र मौतको गले लगा सकते हैं, किंतु किसी प्रकार असत्यका आश्रय नहीं ले सकते ॥ ८-९ ॥

प्राप्तकाले तु प्राप्तव्यं नोत्सृजेयुर्नरर्षभाः ।
अपि वज्रभृता गुप्तं तथावीर्या हि पाण्डवाः ॥ १० ॥

नरश्रेष्ठ पाण्डव समय आनेपर अपने पाने योग्य भाग या हकको भी नहीं छोड़ सकते, भले ही वज्रधारी इन्द्र उस वस्तुकी रक्षा करते हों । पाण्डवोंका ऐसा ही पराक्रम है ॥ १० ॥

प्रतियुध्येम समरे सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
तस्माद् यदत्र कल्याणं लोके सद्भिरनुष्ठितम् ॥
तत् संविधीयतां शीघ्रं
मा वो ह्यर्थोऽभ्यगात् परम् ॥ ११ ॥

इस समय रणभूमिमें समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनके साथ हमें युद्ध करना है । इसलिये जगत्‌में साधुपुरुषोंद्वारा आचरित जो कल्याणकारी उपाय है, उसे शीघ्र करना चाहिये; जिससे तुम्हारा यह गोधन शत्रुके हाथमें न जाय ॥

न हि पश्यामि संग्रामे कदाचिदपि कौरव ।
एकान्तसिद्धिं राजेन्द्र सम्प्राप्तश्च धनंजयः ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन ! राजेन्द्र ! मैं युद्धमें कभी ऐसा नहीं देखता कि किसी एक पक्षकी ही सफलता अनिवार्य हो। लो, अर्जुन आ पहुँचे हैं ॥ १२ ॥

सम्प्रवृत्ते तु संग्रामे भावाभावौ जयाजयौ ।
अवश्यमेकं स्पृशतो दृष्टमेतदसंशयम् ॥ १३ ॥

संग्राम छिड़ जानेपर किसी-न-किसी पक्षको लाभ या हानि, जय अथवा पराजय अवश्य प्राप्त होते हैं, यह सदा देखा गया है । इसमें संशयकी कोई बात नहीं है ॥ १३ ॥

तस्माद् युद्धोचितं कर्म कर्म वा धर्मसंहितम् ।
क्रियतामाशु राजेन्द्र सम्प्राप्तश्च धनंजयः ॥ १४ ॥

अतः राजेन्द्र ! तुम युद्धोचित कर्तव्यका पालन करो अथवा धर्मके अनुसार कार्य करो—बिना युद्धके ही राज्य देकर सन्धि कर लो । जो कुछ करना हो, जल्दी करो । अर्जुन अब सिरपर आ पहुँचे हैं ॥ १४ ॥

(एकोऽपि समरे पार्थः पृथिवीं निर्दहेच्छरैः ।
भ्रातृभिः सहितस्तात किं पुनः कौरवान् रणे।
तस्मात् सन्धिं कुरुश्रेष्ठ कुरुष्व यदि मन्यसे ।)

कुन्तीपुत्र अर्जुन अकेला ही समरभूमिमें समूची पृथ्वीको भी दग्ध कर सकता है, फिर वह अपने सम्पूर्ण वीर बन्धुओंके साथ मिलकर केवल कौरवोंको रणभूमिमें नष्ट कर दे, यह कौन बड़ी बात है ! अतः कुरुश्रेष्ठ ! यदि आप ठीक समझें, तो पाण्डवोंके साथ सन्धि कर लें ॥

दुर्योधन उवाच

नाहं राज्यं प्रदास्यामि पाण्डवानां पितामह ।
युद्धोपचारिकं यत् तु तच्छीघ्रं प्रविधीयताम् ॥ १५ ॥

दुर्योधनने कहा—किन्तु पितामह ! मैं पाण्डवोंको राज्य तो दूँगा नहीं, (अतः उनसे सन्धि हो नहीं सकती तब फिर) युद्धमें उपयोगी जो भी कार्य हो, उसे ही शीघ्र पूरा किया जाय ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच

अत्र या मामिका बुद्धिः श्रूयतां यदि रोचते ।
सर्वथा हि मया श्रेयो वक्तव्यं कुरुनन्दन ॥ १६ ॥

भीष्मने कहा—कुरुनन्दन ! यदि तुम्हें जँचे, तो इस विषयमें मेरी जो सलाह है, उसे सुनो । मैं सर्वथा कल्याणकी ही बात कहूँगा ॥ १६ ॥

क्षिप्रं बलचतुर्भागं गृह्य गच्छ पुरं प्रति ।
ततोऽपरश्चतुर्भागो गाः समादाय गच्छतु ॥ १७ ॥

तुम सेनाका एक चौथाई भाग लेकर शीघ्र ही हस्तिनापुरकी ओर चल दो तथा दूसरी एक चौथाई टुकड़ी गौओंको साथ लेकर जाय ॥ १७ ॥

वयं चार्धेन सैन्यस्य प्रतियोत्स्याम पाण्डवम् ।
अहं द्रोणश्च कर्णश्च अश्वत्थामा कृपस्तथा ।
प्रतियोत्स्याम बीभत्सुमागतं कृतनिश्चयम् ॥ १८ ॥

हमलोग आधी सेना साथ लेकर पाण्डुनन्दन अर्जुनका सामना करेंगे । मैं, द्रोणाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्य युद्धका निश्चय करके आये हुए अर्जुनके साथ लड़ेंगे ॥ १८ ॥

मत्स्यं वा पुनरायातमागतं वा शतक्रतुम् ।
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ १९ ॥

फिर तो चाहे मत्स्यनरेश आ जायँ या साक्षात् इन्द्र, जैसे वेला समुद्रको रोक देती है, उसी प्रकार मैं उन्हें आगे बढ़नेसे रोक रक्खूँगा ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वाक्यं रुरुचे तेषां भीष्मेणोक्तं महात्मना ।
तथा हि कृतवान् राजा कौरवाणामनन्तरम् ॥ २० ॥
भीष्मः प्रस्थाप्य राजानं गोधनं तदनन्तरम् ।
सेनामुख्यान् व्यवस्थाप्य व्यूहितुं सम्प्रचक्रमे॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा भीष्मकी कही हुई यह बात सबको पसंद आ गयी । फिर कौरवोंके राजा दुर्योधनने वैसा ही किया । पहले राजा दुर्योधनको और उसके बाद गोधनको भेजकर सेनापतियोंको व्यवस्थित करके भीष्मजीने सेनाका व्यूह बनानेकी तैयारी की ॥ २०-२१ ॥

भीष्म उवाच

आचार्य मध्ये तिष्ठ त्वमश्वत्थामा तु सव्यतः ।
कृपः शारद्वतो धीमान् पार्श्वं रक्षतु दक्षिणम् ॥ २२ ॥

भीष्मजी बोले—आचार्य ! आप बीचमें खड़े हों, अश्वत्थामा वामभागकी रक्षा करें और शरद्वान्‌के पुत्र बुद्धिमान् कृपाचार्य सेनाके दक्षिणभागकी रक्षा करें ॥ २२ ॥

अग्रतः सूतपुत्रस्तु कर्णस्तिष्ठतु दंशितः ।
अहं सर्वस्य सैन्यस्य पश्चात् स्थास्यामि पालयन्॥ २३ ॥

सूतपुत्र कर्ण कवच धारण करके सेनाके आगे रहे और मैं पृष्ठभागकी रक्षा करता हुआ सम्पूर्ण सेनाके पीछे स्थित रहूँगा ॥ २३ ॥

(सर्वे महारथाः शूरा महेष्वासा महाबलाः ।
युद्ध्यन्तु पाण्डवश्रेष्ठमागतं यत्नतो युधि ॥

सभी महारथी महाधनुर्धर और महाबली शूरवीर योद्धा यहाँ आये हुए पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनके साथ रणभूमिमें यत्नपूर्वक युद्ध करें ॥

वैशम्पायन उवाच

अभेद्यं सर्वसैन्यानां व्यूह्य व्यूहं कुरूत्तमः ।
वज्रगर्भं व्रीहिमुखमर्धचक्रान्तमण्डलम् ॥
तस्य व्यूहस्य पश्चार्धे भीष्मश्चाथोद्यतायुधः ।
सौवर्णं तालमुच्छ्रित्य रथे तिष्ठन्नशोभत ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कुरुश्रेष्ठ भीष्मने समस्त सेनाओंका दुर्भेद्य व्यूह रचकर उसे वज्रगर्भ, व्रीहिमुख तथा अर्धचक्रान्तमण्डल आदिके रूपमें खड़ा किया और उसके पिछले भागमें भीष्मजी भी सुवर्णमय तालध्वज फहराकर हाथमें हथियार लिये खड़े हो गये । उस समय उनकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि भीष्मसैन्यव्यूहे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें भीष्मजीके द्वारा सेनाकी व्यूहरचनाविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल २७½ श्लोक हैं)

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनका दुर्योधनकी सेनापर आक्रमण करके गौओंको लौटा लेना

वैशम्पायन उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु कौरवेयेषु भारत ।
उपायादर्जुनस्तूर्णं रथघोषेण नादयन् ॥ १ ॥
ददृशुस्ते ध्वजाग्रं वै शुश्रुवुश्च महास्वनम् ।
दोधूयमानस्य भृशं गाण्डीवस्य च निस्वनम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार कौरव-सेनाकी व्यूह-रचना हो जानेपर अर्जुन अपने रथकी घर्घराहटसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते हुए शीघ्र ही निकट आ पहुँचे । सैनिकोंने उनकी ध्वजाके अग्रभागको देखा, उनके रथसे आती हुई भयंकर आवाज भी सुनी और खींचे जाते हुए गाण्डीवकी जोर-जोरसे होनेवाली टंकारध्वनि भी उनके कानोंमें पड़ी ॥ १-२ ॥

ततस्तु सर्वमालोक्य द्रोणो वचनमब्रवीत् ।
महारथमनुप्राप्तं दृष्ट्वा गाण्डीवधन्विनम् ॥ ३ ॥

तब सब कुछ देखकर गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले महारथी अर्जुनको निकट आया जानकर आचार्य द्रोण यह वचन बोले ॥ ३ ॥

द्रोण उवाच

एतद् ध्वजाग्रं पार्थस्य दूरतः सम्प्रकाशते ।
एष घोषः स रथजो रोरवीति च वानरः ॥ ४ ॥

द्रोणने कहा—यह अर्जुनकी ध्वजाका ऊपरी भाग दूरसे ही प्रकाशित हो रहा है । यह उन्हींके रथकी घर्घराहटका शब्द है । साथ ही ध्वजापर बैठा हुआ वानर भी उच्च स्वरसे गर्जना कर रहा है ॥ ४ ॥

एष तिष्ठन् रथश्रेष्ठे रथे च रथिनां वरः ।
उत्कर्षति धनुःश्रेष्ठं गाण्डीवमशनिस्वनम् ॥ ५ ॥

यह देखो, उस श्रेष्ठ रथमें बैठे हुए रथियोंमें प्रधान वीर अर्जुन धनुषोंमें सर्वोत्तम गाण्डीवकी डोरी खींच रहे हैं और उससे वज्रकी गड़गड़ाहटके समान शब्द हो रहा है ॥

इमौ च बाणौ सहितौ पादयोर्मे व्यवस्थितौ ।
अपरौ चाप्यतिक्रान्तौ कर्णौ संस्पृश्य मे शरौ ॥ ६ ॥

ये दो बाण एक साथ आकर मेरे पैरोंके आगे गिरे हैं और दूसरे दो बाण मेरे दोनों कानोंको छूकर निकल गये हैं ॥ ६ ॥

निरुष्य हि वने वासं कृत्वा कर्मातिमानुषम् ।
अभिवादयते पार्थः श्रोत्रे च परिपृच्छति ॥ ७ ॥

कुन्तीनन्दन अर्जुन वनमें रहकर वहाँ तपस्या तथा शौर्यद्वारा अतिमानुष (मानवी शक्तिसे बाहरका) पराक्रम करके आज प्रकट हुए हैं । ये प्रथम दो बाणोंद्वारा मुझे प्रणाम कर रहे हैं और दूसरे दो बाणोंद्वारा कानोंमें युद्धके लिये आज्ञा माँगते हैं ॥ ७ ॥

चिरदृष्टोऽयमस्माभिः प्रज्ञावान् बान्धवप्रियः ।
अतीव ज्वलितो लक्ष्म्या पाण्डुपुत्रो धनंजयः ॥ ८ ॥

बन्धु-बान्धवोंको प्रिय लगनेवाले परम बुद्धिमान् अर्जुन

को आज हमने दीर्घकालके बाद देखा है। अहा ! पाण्डुपुत्र धनंजय अपनी दिव्य लक्ष्मी (शोभा) से अत्यन्त प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ८ ॥

रथी शरी चारुतली निषङ्गी
शङ्खी पताकी कवची किरीटी।
खड्गी च धन्वी च विभाति पार्थः
शिखी वृतः स्रुग्भिरिवाज्यसिक्तः ॥ ९ ॥

रथपर बैठे हुए धनंजयने बाण, सुन्दर दस्ताने, तरकस, शङ्ख, कवच, किरीट, खड्ग और धनुष धारण कर रक्खे हैं। इनके रथपर पताका फहरा रही है। इन सामग्रियोंसे सम्पन्न होकर आज ये तेजस्वी पार्थ स्रुवा आदि यज्ञसाधनोंसे घिरे और घीकी आहुति पाकर प्रज्वलित हुए अग्निके समान शोभा पा रहे हैं ॥ ९ ॥

(*वैशम्पायन उवाच*

तमदूरमुपायान्तं दृष्ट्वा पाण्डवमर्जुनम्।
नारयः प्रेक्षितुं शेकुस्तपन्तं हि यथा रविम् ॥
स तं दृष्ट्वा रथानीकं पार्थः सारथिमब्रवीत्।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तपते हुए सूर्यकी भाँति देदीप्यमान पाण्डुनन्दन अर्जुनको समीप आते देख शत्रु उनकी ओर दृष्टिपात न कर सके। रथियोंकी सेनाको सामने देख कुन्तीकुमार अर्जुनने सारथिसे कहा ॥

अर्जुन उवाच

इषुपाते च सेनाया हयान् संयच्छ सारथे।
यावत् समीक्षे सैन्येऽस्मिन् क्वासौ कुरुकुलाधमः॥ १०॥
सर्वानेताननादृत्य दृष्ट्वा तमतिमानिनम्।
तस्य मूर्ध्नि पतिष्यामि तत एते पराजिताः ॥ ११ ॥

अर्जुनने कहा—सारथे ! धनुषसे बाण चलानेपर वह जितनी दूरीपर जाकर गिरता है, कौरवसेनासे उतना ही अन्तर रह जाय, तो घोड़ोंको रोक लेना; जिससे मैं यह देख लूँ कि इस सेनामें वह कुरुकुलाधम दुर्योधन कहाँ है। उस अत्यन्त अभिमानी दुर्योधनको देख लेनेपर मैं इन सब योद्धाओंको छोड़कर उसीके सिरपर पड़ूँगा। उसके पराजित होनेसे ये सब परास्त हो जायँगे ॥ १०-११ ॥

एष व्यवस्थितो द्रोणो द्रौणिश्च तदनन्तरम्।
भीष्मः कृपश्च कर्णश्च महेष्वासाः समागताः ॥ १२ ॥

ये आचार्य द्रोण खड़े हैं। उनके बाद उन्हींके पुत्र अश्वत्थामा हैं। उधर पितामह भीष्म दिखायी देते हैं। इधर कृपाचार्य हैं और वह कर्ण है। ये सब महान् धनुर्धर यहाँ युद्धके लिये आये हैं ॥ १२ ॥

राजानं नात्र पश्यामि गाः समादाय गच्छति।
दक्षिणं मार्गमास्थाय शङ्के जीवपरायणः ॥ १३ ॥

परंतु इनमें मैं राजा दुर्योधनको नहीं देखता हूँ। मुझे संदेह है कि वह दक्षिण दिशाका मार्ग पकड़कर गौओंको साथ ले अपनी जान बचाये भागा जा रहा है ॥ १३ ॥

उत्सृज्यैतद् रथानीकं गच्छ यत्र सुयोधनः।
तत्रैव योत्स्ये वैराटे नास्ति युद्धं निरामिषम्।
तं जित्वा विनिवर्तिष्ये गाः समादाय वै पुनः ॥ १४ ॥

अतः विराटनन्दन ! इस रथियोंकी सेनाको छोड़ो और जहाँ दुर्योधन है, वहीं चलो। मैं वहीं युद्ध करूँगा। यहाँ व्यर्थ युद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है। उसे जीतकर गौओंको अपने साथ ले मैं पुनः लौट आऊँगा ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स वैराटिर्हयान् संयम्य यत्नतः।
नियम्य च ततो रश्मीन् यत्र ते कुरुपुङ्गवाः।
अचोदयत् ततो वाहान् यत्र दुर्योधनो गतः ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अर्जुनके इस प्रकार आज्ञा देनेपर विराटकुमार उत्तरने यत्नपूर्वक घोड़ोंकी रास खींचकर जहाँ बड़े बड़े कौरव महारथी खड़े थे, उधर जानेसे उन्हें रोका। फिर उसने काबूमें रखते हुए उन घोड़ोंको उसी ओर बढ़ाया, जिधर राजा दुर्योधन गया था ॥ १५ ॥

उत्सृज्य रथवंशं तु प्रयाते श्वेतवाहने।
अभिप्रायं विदित्वा च कृपो वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

रथियोंकी सेना छोड़कर श्वेतवाहन अर्जुन जब दूसरी ओर चल दिये, तब उनका अभिप्राय समझकर कृपाचार्य बोले—॥ १६ ॥

नैषोऽन्तरेण राजानं बीभत्सुः स्थातुमिच्छति।
तस्य पार्ष्णिं ग्रहीष्यामो जवेनाभिप्रयास्यतः ॥ १७ ॥

'ये अर्जुन राजा दुर्योधनके बिना ठहरना नहीं चाहते, इसलिये उधर ही बड़े वेगसे जा रहे हैं। अतः हमलोग शीघ्र चलकर इनका पीछा करें ॥ १७ ॥

न ह्येनमतिसंक्रुद्धमेको युध्येत संयुगे।
अन्यो देवात् सहस्राक्षात् कृष्णाद् वा देवकीसुतात्।
आचार्याच्च सपुत्राद् वा भारद्वाजान्महारथात् ॥ १८ ॥

'इस समय ये बड़े क्रोधमें भरे हैं; अतः साक्षात् इन्द्र या देवकीनन्दन श्रीकृष्ण अथवा पुत्रसहित महारथी आचार्य द्रोणके सिवा दूसरा कोई इनके साथ अकेला युद्ध नहीं कर सकता ॥ १८ ॥

किं नो गावः करिष्यन्ति धनं वा विपुलं तथा।
दुर्योधनः पार्थजले पुरा नौरिव मज्जति ॥ १९ ॥

'ये गौएँ अथवा प्रचुर धन हमें क्या लाभ पहुचायेंगे ? राजा दुर्योधन पार्थरूपी जलमें पुरानी नावकी भाँति डूबना चाहता है ॥ १९ ॥

तथैव गत्वा बीभत्सुर्नाम विश्राव्य चात्मनः।
शलभैरिव तां सेनां शरैः शीघ्रमवाकिरत् ॥ २० ॥

उधर अर्जुन उसी प्रकार रथसे दुर्योधनके पास पहुँच गये और उच्चस्वरसे अपना नाम सुनाकर बड़ी शीघ्रतासे कौरवसेनापर टिड्डीदलोंकी भाँति असंख्य बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २० ॥

कीर्यमाणाः शरौघैस्तु योधास्ते पार्थचोदितैः।
नापश्यन्नावृतां भूमिं नान्तरिक्षं च पत्रिभिः ॥ २१ ॥

अर्जुनके छोड़े हुए बाणसमूहोंसे आच्छादित होकर वे समस्त सैनिक कुछ देख नहीं पाते थे। पृथ्वी और आकाश भी बाणोंसे ढँक गये थे ॥ २१ ॥

तेषामापततां युद्धे नापयानेऽभवन्मतिः।
शीघ्रत्वमेव पार्थस्य पूजयन्ति स्म चेतसा ॥ २२ ॥

युद्धमें बाणोंकी मार खाकर कौरवसैनिक धराशायी होते जा रहे थे, तो भी उनका मन वहाँसे भागनेको नहीं होता था। वे मन-ही-मन अर्जुनकी फुर्तीकी सराहना करते थे ॥ २२ ॥

ततः शङ्खं प्रदध्मौ स द्विषतां लोमहर्षणम्।
विस्फार्य च धनुःश्रेष्ठं ध्वजे भूतान्यचोदयत् ॥ २३ ॥

तदनन्तर पार्थने अपना शङ्ख बजाया, जो शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। फिर उन्होंने अपने श्रेष्ठ धनुषकी टंकार करके ध्वजापर बैठे हुए भूतोंको सिंहनाद करनेकी प्रेरणा दी ॥ २३ ॥

तस्य शङ्खस्य शब्देन रथनेमिस्वनेन च।
गाण्डीवस्य च घोषेण पृथिवी समकम्पत ॥ २४ ॥
अमानुषाणां भूतानां तेषां च ध्वजवासिनाम्।
ऊर्ध्वं पुच्छान् विधुन्वाना रेभमाणाः समन्ततः।
गावः प्रतिन्यवर्तन्त दिशमास्थाय दक्षिणाम् ॥ २५ ॥

अर्जुनके शङ्खनाद, रथके पहियोंकी घर्घराहट, गाण्डीव धनुषकी टंकार तथा ध्वजमें निवास करनेवाले मानवेतर भूतोंके भयंकर कोलाहलसे पृथ्वी काँप उठी तथा गौएँ ऊपरको पूँछ उठाकर हिलाती और रँभाती हुई सब ओरसे लौट पड़ीं और दक्षिण दिशाकी ओर भाग चलीं ॥ २४-२५ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे गोनिवर्तने त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय गौओंके लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ श्लोक हैं)

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनका कर्णपर आक्रमण, विकर्णकी पराजय, शत्रुंतप और संग्रामजित्का वध, कर्ण और अर्जुनका युद्ध तथा कर्णका पलायन

वैशम्पायन उवाच

स शत्रुसेनां तरसा प्रणुद्य
गास्ता विजित्याथ धनुर्धराग्र्यः।
दुर्योधनायाभिमुखं प्रयातो
भूयो रणं सोऽभिचिकीर्षमाणः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने शत्रुसेनाको बड़े वेगसे दबाकर उन गौओंको जीत लिया और वे युद्धकी इच्छासे फिर दुर्योधनकी ओर चले ॥ १ ॥

गोषु प्रयातासु जवेन मत्स्यान्
किरीटिनं कृतकार्यं च मत्वा।
दुर्योधनायाभिमुखं प्रयातं
कुरुप्रवीराः सहसा निपेतुः ॥ २ ॥

जब गौएँ तीव्र गतिसे मत्स्यदेशकी राजधानीकी ओर भाग गयीं और अर्जुन अपने कार्यमें सफल होकर दुर्योधनकी ओर बढ़ चले, तब यह सब जानकर कौरव वीर सहसा वहाँ आ पहुँचे ॥ २ ॥

तेषामनीकानि बहूनि गाढं
व्यूढानि दृष्ट्वा बहुलध्वजानि।
मत्स्यस्य पुत्रं द्विषतां निहन्ता
वैराटिमामन्त्र्य ततोऽभ्युवाच ॥ ३ ॥

उसकी अनेक सेनाएँ थीं और उन सबकी अच्छी तरह व्यूह-रचना की गयी थी। उन सेनाओंमें बहुत-सी ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं। शत्रुओंका नाश करनेवाले अर्जुनने उन सबको देखकर विराटपुत्र उत्तरको सम्बोधित करके कहा— ॥ ३ ॥

एतेन तूर्णं प्रतिपादयेमान्
श्वेतान् हयान् काञ्चनरश्मियोक्त्रान्।
जवेन सर्वेण कुरु प्रयत्न-
मासादयेऽहं कुरुसिंहवृन्दम् ॥ ४ ॥
गजो गजेनेव मया दुरात्मा
योद्धुं समाकाङ्क्षति सूतपुत्रः।
तमेव मां प्रापय राजपुत्र
दुर्योधनापाश्रयजातदर्पम् ॥ ५ ॥

राजकुमार ! सुनहरी रस्सियोंसे जुते हुए मेरे इन सफेद घोड़ोंको तुम शीघ्र ही इस मार्गसे ले चलो और सम्पूर्ण वेगसे ऐसा प्रयत्न करो कि मैं कुरुश्रेष्ठ दुर्योधनकी सेनाके पास पहुँच जाऊँ । यह देखो, जैसे हाथी हाथीके साथ भिड़ना चाहता हो, उसी प्रकार यह दुरात्मा सूतपुत्र कर्ण मेरे साथ युद्ध करना चाहता है । पहले इसीके पास मुझे ले चलो । यह दुर्योधनका सहारा पाकर बड़ा घमंडी हो गया है ॥ ४-५ ॥

स तैर्हयैर्वातजवैर्बृहद्भिः
पुत्रो विराटस्य सुवर्णकक्षैः ।
व्यध्वंसयत् तद् रथिनामनीकं
ततोऽवहत् पाण्डवमाजिमध्ये ॥ ६ ॥

अर्जुनके विशाल घोड़े वायुके समान वेगशाली थे। उनकी जीनके नीचे लगे हुए कपड़ेके दोनों पिछले छोर सुनहरे थे। विराटपुत्र उत्तरने तेजीसे हाँककर उन घोड़ोंके द्वारा कौरव-रथियोंकी सेनाको कुचलवाते हुए पाण्डुनन्दन अर्जुनको सेना-के मध्यभागमें पहुँचा दिया ॥ ६ ॥

तं चित्रसेनो विशिखैर्विपाठैः
संग्रामजिच्छत्रुसहो जयश्च ।
प्रत्युद्ययुर्भारतमापतन्तं
महारथाः कर्णमभीप्समानाः ॥ ७ ॥

इतनेमें ही चित्रसेन, संग्रामजित्, शत्रुसह तथा जय आदि महारथी विपाठ नामक बाणोंकी वर्षा करते हुए कर्णकी रक्षा करने-के उद्देश्यसे वहाँ आक्रमण करनेवाले अर्जुनके सामने आ डटे ॥

ततः स तेषां पुरुषप्रवीरः
शरासनार्चिः शरवेगतापः ।
व्रातं रथानामदहत् समन्यु-
र्वनं यथाग्निः कुरुपुङ्गवानाम् ॥ ८ ॥

तब पुरुषश्रेष्ठ वीरवर अर्जुन क्रोधसे युक्त हो आग-बबूले हो गये । धनुष मानो उस आगकी ज्वाला थी और बाणोंका वेग ही आँच बन गया था । जैसे आग वनको जला डालती है, उसी प्रकार वे उन कुरुश्रेष्ठ महारथियोंके रथसमूहोंको भस्म करने लगे ॥ ८ ॥

तस्मिंस्तु युद्धे तुमुले प्रवृत्ते
पार्थं विकर्णोऽतिरथं रथेन ।
विपाठवर्षेण कुरुप्रवीरो
भीमेन भीमानुजमाससाद ॥ ९ ॥

इस प्रकार घोर युद्ध छिड़ जानेपर कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर विकर्णने रथपर सवार हो विपाठ नामक बाणोंकी भयंकर वर्षा करते हुए भीमके छोटे भाई अतिरथी वीर अर्जुनपर आक्रमण किया ॥ ९ ॥

ततो विकर्णस्य धनुर्विकृष्य
जाम्बूनदाग्र्योपचितं दृढज्यम् ।
अपातयत् तं ध्वजमस्य मथ्य
च्छिन्नध्वजः सोऽप्यपयाज्जवेन ॥ १० ॥

तब अर्जुनने अपने बाणोंसे जाम्बूनद नामक उत्तम सुवर्ण मढ़े हुए सुदृढ़ प्रत्यञ्चावाले विकर्णके धनुषको काटकर उसके ध्वजको भी टुकड़े-टुकड़े करके गिरा दिया । रथकी ध्वजा कट जानेपर विकर्ण बड़े वेगसे भाग निकला ॥ १० ॥

तं शात्रवाणां गणबाधितारं
कर्माणि कुर्वन्तममानुषाणि ।
शत्रुंतपः पार्थममृष्यमाणः
समार्दयच्छरवर्षेण पार्थम् ॥ ११ ॥

शत्रुदलके वीरोंका वध करनेवाले कुन्तीनन्दन अर्जुनको इस प्रकार अमानुषिक पराक्रम करते देख शत्रुंतप नामक वीर उनके सामने आया । वह अर्जुनका पराक्रम न सह अपनी बाणवर्षासे पार्थको पीड़ा देने लगा ॥ ११ ॥

स तेन राज्ञातिरथेन विद्धो
विगाहमानो ध्वजिनीं कुरूणाम् ।
शत्रुंतपं पञ्चभिराशु विद्ध्वा
ततोऽस्य सूतं दशभिर्जघान ॥ १२ ॥

कौरवसेनामें विचरनेवाले अर्जुनने अतिरथी राजा शत्रुंतपके बाणोंसे घायल होकर उसे भी तुरंत ही पाँच बाणोंसे बींध डाला । फिर उसके सारथिको दस बाण मार-कर यमलोक पहुँचा दिया ॥ १२ ॥

ततः स विद्धो भरतर्षभेण
बाणेन गात्रावरणातिगेन ।
गतासुराजौ निपपात भूमौ
नगो नगाग्रादिव वातरुग्णः ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ अर्जुनके बाण कवच छेदकर शरीरके भीतर घुस जाते थे । उनके द्वारा घायल होकर राजा शत्रुंतपके प्राणपखेरू उड़ गये और जैसे आँधीसे उखड़ा हुआ वृक्ष पर्वतशिखरसे नीचे गिरे, उसी प्रकार वह रथसे रणभूमिमें गिर पड़ा ॥ १३ ॥

नरर्षभास्तेन नरर्षभेण
वीरा रणे वीरतरेण भग्नाः ।
चकम्पिरे वातवशेन काले
प्रकम्पितानीव महावनानि ॥ १४ ॥

नरश्रेष्ठ वीरवर धनंजयके बाणोंकी मार खाकर कौरव-सेनाके कितने ही श्रेष्ठ वीर घायल हो इस प्रकार काँपने लगे, जैसे समयानुसार प्रचण्ड आँधीके वेगसे बड़े-बड़े जंगलोंके वृक्ष हिलने लगते हैं ॥ १४ ॥

हतास्तु पार्थेन नरप्रवीरा
गतासवोर्व्यां सुषुपुः सुवेषाः ।
वसुप्रदा वासवतुल्यवीर्याः
पराजिता वासवजेन संख्ये ॥ १५ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुनके द्वारा मारे गये बहुतेरे उत्कृष्ट नर-वीर जो सुन्दर वेश-भूषासे सुशोभित थे, प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर सो गये । जो वीर दूसरोंको वसु (धन) देनेवाले और वासव (इन्द्र) के तुल्य पराक्रमी थे, वे भी वासव-नन्दन अर्जुनके द्वारा उस युद्धमें पराजित हो गये ॥ १५ ॥

सुवर्णकार्ष्णायसवर्मनद्धा
नागा यथा हैमवताः प्रवृद्धाः ।
तथा स शत्रून् समरे विनिघ्नन्
गाण्डीवधन्वा पुरुषप्रवीरः ॥ १६ ॥
चचार संख्ये विदिशो दिशश्च
दहन्निवाग्निर्वनमातपान्ते ।

उनमेंसे कुछ तो सोनेके कवच पहने थे और कुछ लोगोंने काले लोहेके बख्तर बाँध रक्खे थे । वे उस युद्ध-भूमिमें पड़े हुए हिमालयप्रदेशके विशालकाय गजराजोंके समान जान पड़ते थे । इस प्रकार संग्राममें शत्रुओंका संहार करनेवाले गाण्डीवधारी वीरशिरोमणि नररत्न अर्जुन वहाँ सब दिशाओंमें इस प्रकार विचरने लगे, मानो ग्रीष्म-ऋतुमें दावानल सम्पूर्ण वनको दग्ध करता हुआ चारों ओर फैल रहा हो ॥ १६½ ॥

प्रकीर्णपर्णानि यथा वसन्ते
विशातयित्वा पवनोऽम्बुदांश्च ॥ १७ ॥
तथा सपत्नान् विकिरन् किरीटी
चचार संख्येऽतिरथो रथेन ।

जैसे वसन्तऋतुमें (तेज चलनेवाली) हवा पतझड़के बिखरे पत्तोंको उड़ाती और बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार उस रणभूमिमें रथपर बैठे हुए अतिरथी वीर किरीटधारी अर्जुन शत्रुओंका संहार करते हुए विचरने लगे ॥ १७½ ॥

शोणाश्ववाहस्य हयान् निहत्य
वैकर्तनभ्रातुरदीनसत्त्वः ।
एकेन संग्रामजितः शरेण
शिरो जहाराथ किरीटमाली ॥ १८ ॥

उनके हृदयमें दीनताका लेश भी नहीं था। वे सुन्दर किरीट और मालाओंसे अलंकृत थे । उन्होंने लाल घोड़े-वाले रथपर बैठकर अपने सामने आये हुए कर्णके भाई संग्रामजित्के घोड़ोंको मार डाला और एक बाणसे उसके मस्तकको भी धड़से अलग कर दिया ॥ १८ ॥

तस्मिन् हते भ्रातरि सूतपुत्रो
वैकर्तनो वीर्यमथाददानः ।
प्रगृह्य दन्ताविव नागराजो
महर्षभं व्याघ्र इवाभ्यधावत् ॥ १९ ॥

अपने भाई संग्रामजित्के मारे जानेपर सूतपुत्र कर्णने कुपित हो पराक्रम दिखानेकी इच्छासे अर्जुन और उत्तरपर इस प्रकार हठपूर्वक धावा किया, मानो कोई गजराज दो पर्वत-शिखरोंसे भिड़ने चला हो अथवा कोई व्याघ्र किसी महा-बली साँड़पर टूट पड़ा हो ॥ १९ ॥

स पाण्डवं द्वादशभिः पृषत्कै-
र्वैकर्तनः शीघ्रमथो जघान ।
विव्याध गात्रेषु हयांश्च सर्वान्
विराटपुत्रं च करे निजघ्ने ॥ २० ॥

सूर्यपुत्र कर्णने बड़ी शीघ्रताके साथ पाण्डुनन्दन अर्जुनको बारह बाणोंसे घायल किया, उनके घोड़ोंके शरीर छेदकर छलनी कर दिये और विराटपुत्र उत्तरके हाथमें भी भारी चोट पहुँचायी ॥ २० ॥

तमापतन्तं सहसा किरीटी
वैकर्तनं वै तरसाभिपत्य ।
प्रगृह्य वेगं न्यपतज्जवेन
नागं गरुत्मानिव चित्रपक्षः ॥ २१ ॥

कर्णको सहसा आते देख किरीटधारी अर्जुन भी तीव्र गतिसे आगे बढ़कर जैसे विचित्र पंखवाले गरुड़ किसी नागपर जोरसे आक्रमण करते हों, उसी प्रकार बड़े वेगसे उसपर टूट पड़े ॥ २१ ॥

तावुत्तमौ सर्वधनुर्धराणां
महाबलौ सर्वसपत्नसाहौ ।
कर्णस्य पार्थस्य निशम्य युद्धं
दिदृक्षमाणाः कुरवोऽभितस्थुः ॥ २२ ॥

वे दोनों ही सम्पूर्ण धनुर्धर वीरोंमें श्रेष्ठ, महान् बलवान् तथा समस्त शत्रुओंका वेग सहन करनेवाले थे । कर्ण और अर्जुनका युद्ध सुनकर समस्त कौरववीर उसे देखनेके लिये दर्शकोंकी भाँति खड़े हो गये ॥ २२ ॥

स पाण्डवस्तूर्णमुदीर्णकोपः
कृतागसं कर्णमुदीक्ष्य हर्षात् ।
क्षणेन साश्वं सरथं ससारथि-
मन्तर्दधे घोरशरौघवृष्ट्या ॥ २३ ॥

अपने अपराधी कर्णको सामने देखकर पाण्डुनन्दन अर्जुनकी क्रोधाग्नि भड़क उठी । वे तुरंत ही हर्ष एवं उत्साहसे भर गये और भयंकर बाणोंकी वर्षा करके

उन्होंने क्षणभरमें घोड़े, रथ और सारथिसहित कर्णको ढँक दिया ॥ २३ ॥

ततः सुविद्धाः सरथाः सनागा
योधा विनेदुर्भरतर्षभाणाम् ।
अन्तर्हिता भीष्ममुखाः सहाश्वाः
किरीटिना कीर्णरथाः पृषत्कैः ॥ २४ ॥

तदनन्तर कौरवसेनाके रथियों और हाथीसवारों-सहित सम्पूर्ण योद्धा अत्यन्त घायल होकर चीखने-चिल्लाने लगे। किरीटधारी पार्थके बाणोंसे रथ आच्छादित हो जानेके कारण भीष्म आदि सभी महारथी घोड़ोंसहित अदृश्य हो गये ॥ २४ ॥

स चापि तानर्जुनबाहुमुक्ता-
ञ्छराञ्छरौघैः प्रतिहत्य वीरः ।
तस्थौ महात्मा सधनुः सबाणः
सविस्फुलिङ्गोऽग्निरिवाशु कर्णः ॥ २५ ॥

तब महामना वीर कर्ण भी बाणसमूहोंद्वारा अर्जुनकी भुजाओंसे छोड़े गये सम्पूर्ण बाणोंको शीघ्र ही काटकर अपने धनुष और बाणोंके साथ चिनगारियोंसे युक्त अग्निकी भाँति सुशोभित होने लगा ॥ २५ ॥

ततस्त्वभूद् वै तलतालशब्दः
सशङ्खभेरीपणवप्रणादः ।
प्रक्ष्वेडितज्यातलनिस्वनं तं
वैकर्तनं पूजयतां कुरूणाम् ॥ २६ ॥

फिर तो वहाँ कर्ण बार-बार प्रत्यञ्चा खींचकर धनुष-की टंकार फैलाने लगा और उसकी प्रशंसा करनेवाले कौरवोंके दलमें हथेलियों और तालियोंकी गड़गड़ाहट होने लगी। शङ्ख बज उठे, नगाड़े पीटे जाने लगे और ढोलों-का गम्भीर शब्द सब ओर गूँजने लगा ॥ २६ ॥

उद्धतलाङ्गूलमहापताक-
ध्वजोत्तमांसाकुलभीषणान्तम् ।
गाण्डीवनिर्ह्रादकृतप्रणादं
किरीटिनं प्रेक्ष्य ननाद कर्णः ॥ २७ ॥

अर्जुनके रथकी ध्वजापर बैठे वानरवीरकी पूँछ बहुत बड़ी पताकाके समान हिल रही थी और उसके अग्रभागपर भयंकर भूतोंका भैरवनाद हो रहा था। इसके साथ ही वज्रकी गड़गड़ाहटके समान गाण्डीव धनुषकी टंकार फैल रही थी। ऐसे किरीटधारी अर्जुनकी ओर देखकर कर्ण बार-बार सिंहनाद करने लगा ॥ २७ ॥

स चापि वैकर्तनमर्दयित्वा
साश्वं ससूतं सरथं पृषत्कैः ।
तमाववर्ष प्रसभं किरीटी
पितामहं द्रोणकृपौ च दृष्ट्वा ॥ २८ ॥

तब अर्जुनने भी घोड़े, सारथि एवं रथसहित कर्णको बाणोंद्वारा पीड़ित करके पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्यकी ओर देखते हुए कर्णपर हठपूर्वक बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की ॥ २८ ॥

स चापि पार्थं बहुभिः पृषत्कै-
र्वैकर्तनो मेघ इवाभ्यवर्षत् ।
तथैव कर्णं च किरीटमाली
संछादयामास शितैः पृषत्कैः ॥ २९ ॥

यह देख कर्णने भी अर्जुनपर मेघकी भाँति बहुत-से बाणोंकी झड़ी लगा दी। इसी प्रकार किरीटमाली अर्जुनने भी अपने तीखे सायकोंसे कर्णको ढँक दिया ॥ २९ ॥

तयोः सुतीक्ष्णान् सृजतोः शरौघान्
महाशरौघास्त्रविवर्धने रणे ।
रथे विलग्नाविव चन्द्रसूर्यौ
घनान्तरेणानुददर्श लोकः ॥ ३० ॥

इस प्रकार जहाँ राशि-राशि बाणोंद्वारा भीषण मार-काट मची हुई थी, उस रणक्षेत्रमें ये दोनों वीर अत्यन्त तीक्ष्ण शरसमूहोंकी बौछार कर रहे थे। लोगोंने देखा, वे रथपर बैठे हुए बाणसमूहके भीतरसे इस प्रकार प्रकाशित हो रहे हैं, मानो बादलोंके भीतरसे सूर्य और चन्द्रमा चमक रहे हों ॥ ३० ॥

अथाशुकारी चतुरो हयांश्च
विव्याध कर्णो निशितैः किरीटिनः ।
त्रिभिश्च यन्तारममृष्यमाणो
विव्याध तूर्णं त्रिभिरस्य केतुम् ॥ ३१ ॥

कर्णको अर्जुनका पराक्रम असह्य हो उठा। उसने अपनी आशुकारिता (शीघ्र बाण छोड़नेकी कला) का परिचय देते हुए तीखे बाणोंसे अर्जुनके चारों घोड़ोंको बींध डाला; फिर तीन बाणोंसे उनके सारथिको घायल किया और तुरंत ही तीन बाण मारकर ध्वजको भी छेद डाला ॥ ३१ ॥

ततोऽभिविद्धः समरावमर्दी
प्रबोधितः सिंह इव प्रसुप्तः ।
गाण्डीवधन्वा ऋषभः कुरूणा-
मजिह्मगैः कर्णमियाय जिष्णुः ॥ ३२ ॥

कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष गाण्डीवधारी अर्जुन समरभूमिमें शत्रुओंको रौंद डालनेवाले थे। वे सूतपुत्रके बाणोंसे घायल होकर सोये हुए सिंहके समान जाग उठे और विपक्षियोंपर सीधे आघात करनेवाले बाणोंद्वारा कर्णका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ ३२ ॥

शरौघवृष्ट्या निहतो महात्मा
प्रादुश्चकारातिमनुष्यकर्म ।
प्राच्छादयत् कर्णरथं पृषत्कै-
र्लोकानिमान् सूर्य इवांशुजालैः॥ ३३ ॥

कर्णकी बाणवर्षासे आहत हुए महात्मा अर्जुनने अतिमानुष पराक्रम प्रकट किया। जैसे सूर्य अपनी किरणोंके समूहसे समस्त संसारको आच्छादित कर देते हैं, उसी प्रकार उन्होंने बाणसमुदायसे कर्णके रथको ढँक दिया ॥ ३३ ॥

स हस्तिनेवाभिहतो गजेन्द्रः
प्रगृह्य भल्लान् निशितान् निषङ्गात्।
आकर्णपूर्णं च धनुर्विकृष्य
विव्याध गात्रेष्वथ सूतपुत्रम् ॥ ३४ ॥

उस समय अर्जुनकी दशा उस गजराजकी भाँति हो रही थी, जो अपने प्रतिद्वन्द्वी गजका प्रहार सहकर स्वयं भी उसपर चोट करनेके लिये उद्यत हो। उन्होंने तरकससे भल्ल नामक तीखे बाण निकाले और धनुषको कानतक खींचकर सूतपुत्रके अङ्गोंको बींध डाला ॥ ३४ ॥

अथास्य बाहूरुशिरोललाटं
ग्रीवां वराङ्गानि परावमर्दी।
शितैश्च बाणैर्युधि निर्बिभेद
गाण्डीवमुक्तैरशनिप्रकाशैः ॥ ३५ ॥

शत्रुओंका मान मर्दन करनेवाले वीर धनंजयने गाण्डीव धनुषसे छूटकर वज्रके समान प्रकाशित होनेवाले तीखे सायकोंद्वारा उस युद्धमें कर्णकी दोनों भुजाओं, जाँघों, मस्तक, ललाट तथा ग्रीवा आदि उत्तम अङ्गोंको छेद डाला ॥ ३५ ॥

स पार्थमुक्तैरिषुभिः प्रणुन्नो
गजो गजेनेव जितस्तरस्वी।
विहाय संग्रामशिरः प्रयातो
वैकर्तनः पाण्डवबाणतप्तः ॥ ३६ ॥

अर्जुनके छोड़े हुए बाणोंकी चोट खाकर सूर्यपुत्र कर्ण तिलमिला उठा और एक हाथीसे पराजित हुए दूसरे वेगशाली हाथीकी भाँति वह पाण्डुनन्दन अर्जुनके बाणोंसे संतप्त हो युद्धका मुहाना छोड़कर भाग निकला ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे कर्णापयाने चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय कर्णका युद्धसे पलायनविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा कौरवसेनाका संहार और उत्तरका उनके रथको कृपाचार्यके पास ले जाना

वैशम्पायन उवाच

अपयाते तु राधेये दुर्योधनपुरोगमाः।
अनीकेन यथास्वेन शनैराच्छन्त पाण्डवम्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राधानन्दन कर्णके भाग जानेपर दुर्योधन आदि कौरवयोद्धा अपनी-अपनी सेनाके साथ धीरे-धीरे पाण्डुनन्दन अर्जुनकी ओर बढ़ आये ॥ १ ॥

बहुधा तस्य सैन्यस्य व्यूढस्यापततः शरैः।
अधारयत वेगं स वेलेव तु महोदधेः ॥ २ ॥

तब जैसे वेला (तटभूमि) महासागरके वेगको रोक लेती है, उसी प्रकार अर्जुनने व्यूहरचनापूर्वक बाणवर्षाके साथ आती हुई अनेक भागोंमें विभक्त कौरवसेनाके बढ़ावको रोक दिया ॥ २ ॥

ततः प्रहस्य बीभत्सुः कौन्तेयः श्वेतवाहनः।
दिव्यमस्त्रं प्रकुर्वाणः प्रत्यायाद् रथसत्तमः ॥ ३ ॥

यथा रश्मिभिरादित्यः प्रच्छादयति मेदिनीम्।
तथा गाण्डीवनिर्मुक्तैः शरैः पार्थो दिशो दश॥ ४ ॥

तदनन्तर श्वेत घोड़ोंवाले श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ कुन्तीनन्दन अर्जुनने हँसकर दिव्यास्त्र प्रकट करते हुए उस सेनाका सामना किया। जैसे सूर्यदेव अपनी अनन्त किरणोंद्वारा समूची पृथ्वीको आच्छादित कर लेते हैं, उसी प्रकार अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए असंख्य बाणोंद्वारा दसों दिशाओंको ढँक दिया ॥ ३-४ ॥

न रथानां न चाश्वानां न गजानां न वर्मणाम्।
अनिर्विद्धं शितैर्बाणैरासीद् द्व्यङ्गुलमन्तरम् ॥ ५ ॥

वहाँ रथों, घोड़ों, हाथियों तथा उनके सवारोंके अङ्गों और कवचोंमें दो अङ्गुल भी ऐसा स्थान नहीं बचा था, जो अर्जुनके तीखे बाणोंसे बिंध न गया हो ॥ ५ ॥

दिव्ययोगाच्च पार्थस्य हयानामुत्तरस्य च।
शिक्षाशिल्पोपपन्नत्वादस्त्राणां च परिक्रमात्।

वीर्यवत्त्वं द्रुतं चाग्र्यं दृष्ट्वा जिष्णोरपूजयन् ॥ ६ ॥

अर्जुनके दिव्यास्त्रोंका प्रयोग, घोड़ोंकी शिक्षा, रथ-सञ्चालनकी कलामें उत्तरका कौशल तथा पार्थके अस्त्र चलानेका क्रम—इन सबके कारण तथा उनका पराक्रम और अत्यन्त फुर्ती देखकर शत्रु भी इनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ६ ॥

कालाग्निमिव बीभत्सुं निर्दहन्तमिव प्रजाः।
नारयः प्रेक्षितुं शेकुर्ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ ७ ॥

अर्जुन समस्त प्रजाका संहार करनेवाली प्रलयकालीन अग्निके समान शत्रुओंको भस्म कर रहे थे। वे मानो जलती आग हो रहे थे। शत्रु उनकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं पाते थे ॥ ७ ॥

तानि ग्रस्तान्यनीकानि रेजुरर्जुनमार्गणैः।
शैलं प्रति बलाभ्राणि व्याप्तानीवार्करश्मिभिः ॥ ८ ॥

अर्जुनके बाणोंसे आच्छादित हुई कौरवोंकी सेना इस प्रकार सुशोभित हुई, मानो पर्वतके निकट नवीन मेघोंकी घटा सूर्यकी किरणोंसे व्याप्त हो गयी हो ॥ ८ ॥

अशोकानां वनानीवच्छन्नानि बहुशः शुभैः।
रेजुः पार्थशरैस्तत्र तदा सैन्यानि भारत ॥ ९ ॥

भारत ! उस समय कुन्तीपुत्र अर्जुनके बाणोंसे घायल हो लहूलुहान हुए कौरवसैनिक बहुतेरे लाल फूलोंसे आच्छादित अशोकवनके समान शोभा पा रहे थे ॥ ९ ॥

स्रजोऽर्जुनशरैः शीर्णं शुष्यत्पुष्पं हिरण्मयम्।
छत्राणि च पताकाश्च खे दधार सदागतिः ॥ १० ॥

अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो हारसे टूटकर बिखरे हुए स्वर्णचम्पाके सूखे फूल, छत्र और पताकाओं आदिको वायु कुछ देरतक आकाशमें ही धारण किये रहती थी (बाणोंके जालपर रुक जानेसे वे जल्दी नीचे नहीं गिरते थे) ॥ १० ॥

स्वबलत्रासनात्त्रस्ताः परिपेतुर्दिशो दश।
रथाङ्गदेशानादाय पार्थच्छिन्नयुगा हयाः ॥ ११ ॥

अर्जुनने जिनके जुए काट दिये थे, वे शत्रुदलके घोड़े अपनी सेनाकी घबराहटसे स्वयं भी व्यग्र हो उठे और जुएका एक-एक टुकड़ा अपने साथ लिये सब ओर भागने लगे ॥

कर्णकक्षविषाणेषु अन्तरोष्ठेषु चैव ह।
मर्मस्वङ्गेषु चाहत्यापातयत् समरे गजान् ॥ १२ ॥

अब अर्जुन युद्धभूमिमें गजराजोंके कान, कक्ष, दाँत, निचले ओठ तथा अन्य मर्मस्थानोंमें बाण मारकर उन्हें धराशायी करने लगे ॥ १२ ॥

कौरवाग्रगजानां तु शरीरैर्गतचेतसाम्।
क्षणेन संवृता भूमिर्मेघैरिव नभस्तलम् ॥ १३ ॥

एक ही क्षणमें प्राणहीन हुए कौरवसेनाके आगे चलनेवाले गजराजोंकी लाशोंसे वहाँकी भूमि पट गयी एवं मेघोंकी घटासे आच्छादित आकाशकी भाँति प्रतीत होने लगी ॥ १३ ॥

युगान्तसमये सर्वं यथा स्थावरजङ्गमम्।
कालक्षयमशेषेण दहत्यग्रशिखः शिखी।
तद्वत् पार्थो महाराज ददाह समरे रिपून् ॥ १४ ॥

महाराज ! जैसे प्रलयकालमें लपलपाती लपटोंके साथ आगे बढ़नेवाली संवर्तकाग्नि सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार कुन्तीनन्दन अर्जुन उस समरभूमिमें शत्रुओंको अपनी बाणाग्निसे दग्ध करने लगे ॥ १४ ॥

ततः सर्वास्त्रतेजोभिर्धनुषो निस्वनेन च।
शब्देनामानुषाणां च भूतानां ध्वजवासिनाम्।
भैरवं शब्दमत्यर्थं वानरस्य च कुर्वतः ॥ १५ ॥
दैवारिपाञ्च बीभत्सुस्तस्मिन् दौर्योधने वने।
भयमुत्पादयामास बलवानरिमर्दनः ॥ १६ ॥

तदनन्तर शत्रुओंका मान-मर्दन करनेवाले बलवान् अर्जुनने अपने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके तेजसे, धनुषकी टंकारसे, ध्वजामें निवास करनेवाले मानवेतर भूतोंके भयंकर कोलाहलसे, अत्यन्त भैरव गर्जना करनेवाले वानरके प्रभावसे तथा भीषण नाद फैलानेवाले शङ्खसे भी दुर्योधनकी उस सेनामें भारी भय उत्पन्न कर दिया ॥ १५-१६ ॥

रथशक्तिममित्राणां प्रागेव निपतद् भुवि।
सोऽपयात् सहसा पश्चात् साहसाच्चाभ्युपेयिवान् ॥ १७ ॥

शत्रुओंकी रथशक्तिको तो अर्जुन पहलेसे ही धरतीपर सुला चुके थे। फिर असमर्थोंका वध करना अनुचित साहस मानकर वे एक बार वहाँसे हट गये, परंतु (उन सैनिकोंको युद्धके लिये उद्यत देख) फिर उनके पास आ गये ॥

शरव्रातैः सुतीक्ष्णाग्रैः समादिष्टैः खगैरिव।
अर्जुनस्तु खमावव्रे लोहितप्राशनैः खगैः ॥ १८ ॥

अर्जुनके धनुषसे छूटे हुए अत्यन्त तीखी धारवाले बाणसमूह मानो रक्त पीनेवाले आकाशचारी पक्षी थे, उनके द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण आकाशको ढँक दिया ॥ १८ ॥

अत्र मध्ये यथार्कस्य रश्मयस्तिग्मतेजसः।
दिशासु च तथा राजन्नसंख्याताः शरास्तदा ॥ १९ ॥

राजन् ! जैसे प्रचण्ड तेजवाले सूर्यदेवकी किरणें एक

पात्रमें नहीं अँट सकती, उसी प्रकार उस समय सम्पूर्ण दिशाओंमें फैले हुए अर्जुनके असंख्य बाण आकाशमें समा नहीं पाते थे ॥ १९ ॥

सकृदेवानतं शेकू रथमभ्यसितुं परे ।
अलभ्यः पुनरश्वैस्तु रथात् सोऽतिप्रपादयेत् ॥ २० ॥

शत्रुसैनिक अर्जुनका रथ निकट आनेपर उसे एक ही बार पहचान पाते थे; दुबारा इसके लिये उन्हें अवसर नहीं मिलता था; क्योंकि पास आते ही अर्जुन उन्हें घोड़ोंसहित इस लोकसे परलोक भेज देते थे ॥ २० ॥

ते शरा द्विट्शरीरेषु यथैव न ससज्जिरे ।
द्विडनीकेषु बीभत्सोर्न ससज्जे रथस्तदा ॥ २१ ॥

अर्जुनके वे बाण जिस प्रकार शत्रुओंके शरीरमें अटकते नहीं थे, उन्हें छेदकर पार निकल जाते थे, उसी प्रकार उनका रथ भी उस समय शत्रु-सेनाओंमें कहीं रुकता नहीं था; उनको चीरता हुआ आगे बढ़ जाता था ॥ २१ ॥

स तद् विक्षोभयामास ह्यरातिबलमञ्जसा ।
अनन्तभोगो भुजगः क्रीडन्निव महार्णवे ॥ २२ ॥

जैसे अनन्त फणोंवाले नागराज शेष महासागरमें क्रीड़ा करते हुए उसे मथ डालते हैं, उसी प्रकार अर्जुनने अनायास ही शत्रुसेनामें घूम-घूमकर भारी हलचल पैदा कर दी ॥ २२ ॥

अस्यतो नित्यमत्यर्थं सर्वमेवातिगस्तथा ।
अश्रुतः श्रूयते भूतैर्धनुर्घोषः किरीटिनः ॥ २३ ॥

जब अर्जुन बाण चलाते थे, उस समय समस्त प्राणी सदा उनके गाण्डीव धनुषकी बड़े जोरसे होनेवाली अद्भुत टंकार सुनते थे । वैसी टंकार-ध्वनि पहले किसीने कभी नहीं सुनी थी । उसके सामने दूसरे सभी प्रकारके शब्द दब जाते थे ॥ २३ ॥

संततास्तत्र मातङ्गा बाणैरल्पान्तरान्तरे ।
संवृतास्तेन दृश्यन्ते मेघा इव गभस्तिभिः ॥ २४ ॥

उस युद्धभूमिमें खड़े हुए हाथियोंके सम्पूर्ण अङ्ग बहुत थोड़ी-थोड़ी दूरपर बाणोंसे छिद गये थे । इस कारण वे सूर्यकी किरणोंसे आवृत मेघोंकी घटाके समान दिखायी देते थे ॥

दिशोऽनुभ्रमतः सर्वाः सव्यदक्षिणमस्यतः ।
सततं दृश्यते युद्धे सायकासनमण्डलम् ॥ २५ ॥

अर्जुन सब दिशाओंमें बार-बार घूमते हुए दाँयें-बाँयें बाण चला रहे थे; इसलिये युद्धमें अलातचक्रकी भाँति उनका मण्डलाकार धनुष सदा दृष्टिगोचर होता रहता था ॥

पतन्त्यरूपेषु यथा चक्षूंषि न कदाचन ।
नालक्ष्येषु शराः पेतुस्तथा गाण्डीवधन्वनः ॥ २६ ॥

जैसे आँखें रूपहीन पदार्थोंपर कभी नहीं पड़तीं, उसी प्रकार गाण्डीवधारी अर्जुनके बाण उन व्यक्तियोंपर नहीं पड़ते थे, जो उनके बाणोंके लक्ष्य नहीं थे (अर्थात् जिन्हें वे अपने बाणोंका निशाना नहीं बनाना चाहते थे ।) ॥ २६ ॥

मार्गो गजसहस्रस्य युगपद् गच्छतो वने ।
यथा भवेत् तथा जज्ञे रथमार्गः किरीटिनः ॥ २७ ॥

जैसे वनमें एक साथ चलते हुए सहस्रों हाथियोंके पद-चिह्नोंसे बहुत साफ और चौड़ा रास्ता बन जाता है, उसी प्रकार किरीटधारी अर्जुनके रथका मार्ग भी उनकी बाणवर्षासे साफ हो जाता था ॥ २७ ॥

नूनं पार्थजयैषित्वाच्छक्रः सर्वामरैः सह ।
हन्त्यस्मानित्यमन्यन्त पार्थेन निहताः परे ॥ २८ ॥

अर्जुनके बाणोंसे घायल हुए शत्रु ऐसा समझते थे कि निश्चय ही अर्जुनकी विजयकी अभिलाषा रखनेके कारण साक्षात् इन्द्र सम्पूर्ण देवताओंके साथ आकर हमें मार रहे हैं ॥ २८ ॥

घ्नन्तमत्यर्थमहितान् विजयं तत्र मेनिरे ।
कालमर्जुनरूपेण संहरन्तमिव प्रजाः ॥ २९ ॥

उस समरभूमिमें असंख्य शत्रुओंका संहार करते हुए पार्थकी ओर देखकर लोग यह मानने लगे कि अर्जुनके रूपमें साक्षात् काल ही आकर सबका संहार कर रहा है ॥ २९ ॥

कुरुसेनाशरीराणि पार्थेनैवाहतान्यपि ।
सेदुः पार्थहतानीव पार्थकर्मानुशासनात् ॥ ३० ॥

कौरव-योद्धाओंके शरीर कुन्तीनन्दन अर्जुनके बाणोंसे घायल होकर छिन्न-भिन्न हो गये थे । वे पार्थके बाणोंसे मारे हुएकी ही भाँति पड़े थे; क्योंकि पार्थके इस अद्भुत पराक्रमकी उन्हींसे उपमा दी जा सकती है ॥ ३० ॥

ओषधीनां शिरांसीव द्विषच्छीर्षाणि सोऽन्वयात् ।
अवनेशुः कुरूणां हि वीर्याण्यर्जुनजाद् भयात् ॥ ३१ ॥

वे धानकी बालके समान शत्रुओंके सिर क्रमशः काटते जाते थे । अर्जुनके भयसे कौरवोंकी सारी शक्ति नष्ट हो गयी थी ॥ ३१ ॥

अर्जुनानिलभिन्नानि वनान्यर्जुनविद्विषाम्।
चक्रुर्लोहितधाराभिर्धरणीं लोहितान्तराम्॥ ३२॥

अर्जुनके शत्रुरूपी वन अर्जुनरूपी वायुसे ही छिन्न-भिन्न हो लाल धाराएँ (रक्त) बहाकर पृथ्वीको भी लाल करने लगे॥ ३२॥

लोहितेन समायुक्तैः पांसुभिः पवनोद्धूतैः।
बभूवुर्लोहितास्तत्र भृशमादित्यरश्मयः॥ ३३॥

वायुद्वारा उड़ायी हुई रक्तसे सनी धूलके संसर्गसे आकाशमें सूर्यकी किरणें भी अधिक लाल हो गयीं॥ ३३॥

सार्कं खं तत्क्षणेनासीत् संध्यायामिव लोहितम्।
अप्यस्तं प्राप्य सूर्योऽपि निवर्तेत न पाण्डवः॥ ३४॥

जैसे संध्याकालमें पश्चिमका आकाश लाल हो जाता है, उसी प्रकार उस समय सूर्यसहित आकाश लाल रंगका हो गया था। संध्याकालमें तो सूर्य अस्ताचलपर पहुँचकर परसंताप-कर्मसे निवृत्त हो जाते हैं; परंतु पाण्डुनन्दन अर्जुन शत्रुपीड़नरूपी कर्मसे निवृत्त नहीं हुए॥ ३४॥

तान् सर्वान् समरे शूरः पौरुषे समवस्थितान्।
दिव्यैरस्त्रैरचिन्त्यात्मा सर्वानार्च्छद् धनुर्धरान्॥३५॥

अचिन्त्य मन-बुद्धिवाले शूरवीर अर्जुनने रणभूमिमें पुरुषार्थ दिखानेके लिये डटे हुए उन सभी धनुषधारियोंपर अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा आक्रमण किया॥ ३५॥

स तु द्रोणं त्रिसप्तत्या क्षुरप्राणां समार्पयत्।
दुःसहं दशभिर्बाणैर्द्रौणिमष्टाभिरेव च॥ ३६॥
दुःशासनं द्वादशभिः कृपं शारद्वतं त्रिभिः।
भीष्मं शान्तनवं षष्ट्या राजानं च शतेन ह।
कर्णं च कर्णिना कर्णे विव्याध परवीरहा॥ ३७॥

उन्होंने द्रोणाचार्यको तिहत्तर, दुःसहको दस, अश्वत्थामाको आठ, दुःशासनको बारह, शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यको तीन, शान्तनुनन्दन भीष्मको साठ तथा राजा दुर्योधनको सौ क्षुरप्र नामवाले बाणोंसे घायल किया। तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले अर्जुनने कर्णके कानमें एक कर्णी नामक बाण मारकर उसे बींध डाला॥ ३६-३७॥

तस्मिन् विद्धे महेष्वासे कर्णे सर्वास्त्रकोविदे।
हताश्वसूते विरथे ततोऽनीकमभज्यत॥ ३८॥

फिर उसके घोड़े और सारथिको भी यमलोक भेजकर रथहीन कर दिया। इस प्रकार सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता महाधनुर्धर सुप्रसिद्ध कर्णके घायल होने तथा उसके घोड़े, सारथि एवं रथके नष्ट हो जानेपर सारी सेनामें भगदड़ मच गयी॥

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा पार्थमाजिस्थितं पुनः।
अभिप्रायं समाज्ञाय वैराटिरिदमब्रवीत्॥ ३९॥
आस्थाय रुचिरं जिष्णो रथं सारथिना मया।
कतमं यास्यसेऽनीकमुक्तो यास्याम्यहं त्वया॥ ४०॥

विराटकुमार उत्तरने कौरव-सेनाको भागती और कुन्तीपुत्र अर्जुनको पुनः युद्धके लिये डटा हुआ देखकर उनका अभिप्राय समझकर यों कहा—'जिष्णो ! मुझ सारथिके साथ इस सुन्दर रथपर बैठे हुए आप अब किस सेनाकी ओर जाना चाहते हैं ? आप जहाँके लिये आज्ञा दें, वहीं आपके साथ चलूँ॥ ३९-४०॥

अर्जुन उवाच

लोहिताश्वमरिष्टं यं वैयाघ्रमनुपश्यसि।
नीलां पताकामाश्रित्य रथे तिष्ठन्तमुत्तर॥ ४१॥
कृपस्यैतदनीकाग्र्यं प्रापयस्वैतदेव माम्।
एतस्य दर्शयिष्यामि शीघ्रास्त्रं दृढधन्विनः॥ ४२॥

अर्जुन बोले—उत्तर ! जिनके लाल-लाल घोड़े हैं, जिन शुभस्वरूप महापुरुषको तुम बाघम्बर पहने देख रहे हो, जो अपने रथपर नीले रंगकी पताका फहराकर बैठे हुए हैं, वे कृपाचार्यजी हैं और वहीं यह उनकी श्रेष्ठ सेना है। मुझे इसी सेनाके पास ले चलो। मैं इन दृढ़ धनुषवाले कृपाचार्यजीको शीघ्र अस्त्र चलानेकी कला दिखलाऊँगा॥ ४१-४२॥

ध्वजे कमण्डलुर्यस्य शातकौम्भमयः शुभः।
आचार्य एष हि द्रोणः सर्वशस्त्रभृतां वरः॥ ४३॥

जिनकी ध्वजामें सुन्दर सुवर्णमय कमण्डलु सुशोभित है, ये सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण हैं॥ ४३॥

सदा ममैष मान्यस्तु सर्वशस्त्रभृतामपि।
सुप्रसन्नं महावीरं कुरुष्वैनं प्रदक्षिणम्॥ ४४॥

ये मेरे तथा अन्य सब शस्त्रधारियोंके माननीय हैं। तुम इन परम प्रसन्न महावीर आचार्यपादकी रथद्वारा प्रदक्षिणा करो॥ ४४॥

अत्रैव चावरोहैनमेष धर्मः सनातनः।
यदि मे प्रथमं द्रोणः शरीरे प्रहरिष्यति।
ततोऽस्य प्रहरिष्यामि नास्य कोपो भवेदिति॥ ४५॥

तुम इसी समय इन्हें आदर दो और युद्धके लिये उद्यत हो रथपर बैठे रहो। यह सनातन धर्म है। यदि आचार्य द्रोण पहले मेरे शरीरपर प्रहार करेंगे, तब मैं इनके ऊपर भी

बाणोंद्वारा आघात करूँगा। ऐसा करनेपर इन्हें क्रोध नहीं होगा ॥ ४५ ॥

अस्याविदूरे हि धनुर्ध्वजाग्रे यस्य दृश्यते।
आचार्यस्यैष पुत्रो वै अश्वत्थामा महारथः ॥ ४६ ॥
सदा ममैष मान्यस्तु सर्वशस्त्रभृतामपि।
एतस्य त्वं रथं प्राप्य निवर्तेथाः पुनः पुनः ॥ ४७ ॥

इनके पास ही जिनकी ध्वजाके अग्रभागमें धनुषका चिह्न दिखायी देता है, ये आचार्यके ही योग्य पुत्र महारथी अश्वत्थामा हैं। ये भी मेरे तथा सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंके लिये माननीय हैं, अतः इनके रथके समीप जाकर भी तुम बार-बार लौट आना ॥ ४६-४७ ॥

य एष तु रथानीके सुवर्णकवचावृतः।
सेनाग्र्येण तृतीयेन व्यावहार्येण तिष्ठति ॥ ४८ ॥
यस्य नागो ध्वजाग्रेऽसौ हेमकेतनसंवृतः।
धृतराष्ट्रात्मजः श्रीमानेष राजा सुयोधनः ॥ ४९ ॥

यह जो रथियोंकी सेनामें सोनेका कवच धारण किये तीसरी काम देने योग्य (बिना थकी-मादी) सेनाके साथ विराजमान है, जिसकी ध्वजाके अग्रभागमें नागका चिह्न है और सोनेकी पताका फहरा रही है, यह धृतराष्ट्रपुत्र श्रीमान् राजा सुयोधन है ॥ ४८-४९ ॥

एतस्याभिमुखं वीर रथं पररथारुजम्।
प्रापयस्वैष राजा हि प्रमाथी युद्धदुर्मदः ॥ ५० ॥

वीर ! शत्रुओंके रथको तोड़ डालनेवाले अपने इस रथको तुम इसीके सम्मुख ले चलो। यह राजा शत्रुओंको मथ डालनेवाला तथा युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाला है ॥ ५० ॥

एष द्रोणस्य शिष्याणां शीघ्रास्त्रे प्रथमो मतः।
एतस्य दर्शयिष्यामि शीघ्रास्त्रं विपुलं रणे ॥ ५१ ॥

यह शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेमें आचार्य द्रोणके शिष्योंमें प्रथम माना गया है। इस युद्धमें आज मैं इसे शीघ्र अस्त्र चलानेकी विपुल कलाका दर्शन कराऊँगा ॥ ५१ ॥

नागकक्षा तु रुचिरा ध्वजाग्रे यस्य तिष्ठति।
एष वैकर्तनः कर्णो विदितः पूर्वमेव ते ॥ ५२ ॥

जिसकी ध्वजाके अग्रभागपर हाथी या उसकी साँकलके चिह्नसे युक्त पताका फहरा रही है, यह विकर्तनपुत्र कर्ण है। इससे तुम पहले ही परिचित हो चुके हो ॥ ५२ ॥

एतस्य रथमास्थाय राधेयस्य दुरात्मनः।
यत्तो भवेथाः संग्रामे स्पर्धते हि सदा मया ॥ ५३ ॥

इस दुरात्मा राधापुत्रके रथके निकट जाकर सावधान हो जाना। यह सदा युद्धमें मेरे साथ स्पर्धा रखता है ॥ ५३ ॥

यस्तु नीलानुसारेण पञ्चतारेण केतुना।
हस्तावापी बृहद्धन्वा रथे तिष्ठति वीर्यवान् ॥ ५४ ॥
यस्य तारार्कचित्रोऽसौ ध्वजो रथवरे स्थितः।
यस्यैतत् पाण्डुरं छत्रं विमलं मूर्ध्नि तिष्ठति ॥ ५५ ॥
महतो रथवंशस्य नानाध्वजपताकिनः।
बलाहकाग्रे सूर्यो वा य एष प्रमुखे स्थितः ॥ ५६ ॥
हैमं चन्द्रार्कसंकाशं कवचं यस्य दृश्यते।
जातरूपशिरस्त्राणं मनस्तापयतीव मे ॥ ५७ ॥
एष शान्तनवो भीष्मः सर्वेषां नः पितामहः।
राजश्रियाभिवृद्धश्च सुयोधनवशानुगः ॥ ५८ ॥

जो नीले रंगकी पाँच तारोंके चिह्नसे सुशोभित पताका-वाले रथपर बैठे हुए हैं, जिनका धनुष विशाल है, जिन्होंने हाथोंमें दस्ताने पहन रक्खे हैं, जिनका वह तारों और सूर्यके चिह्नोंसे विचित्र शोभा धारण करनेवाला ध्वज फहरा रहा है, जिनके मस्तकपर श्वेत रंगका उज्ज्वल छत्र सुशोभित है, जो नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे उपलक्षित रथियोंकी विशाल सेनाके अग्रभागमें बादलोंके आगे सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं, जिनके शरीरपर चन्द्रमा और सूर्यके समान चमकीला सोनेका कवच और सुवर्णमय शिरस्त्राण दिखायी देता है, वे श्रेष्ठ रथपर विराजमान महापराक्रमी वीर पुरुष हम सबके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्म हैं। ये राज्य-लक्ष्मीसे सम्पन्न होकर भी दुर्योधनके अधीन हो रहे हैं। इसलिये मेरे मनको संतप्त-सा किये देते हैं ॥ ५४-५८ ॥

पश्चादेष प्रयातव्यो न मे विघ्नकरो भवेत्।
एतेन युध्यमानस्य यत्तः संयच्छ मे हयान् ॥ ५९ ॥

इनके पास सबसे पीछे चलना। ये मेरे मार्गमें विघ्न-कारक नहीं होंगे। इनके साथ युद्ध करते समय सावधान होकर मेरे घोड़ोंको सँभालना ॥ ५९ ॥

ततोऽभ्यवहदव्यग्रो वैराटिः सव्यसाचिनम्।
यत्रातिष्ठत् कृपो राजन् योत्स्यमानो धनंजयम् ॥ ६० ॥

राजन् ! अर्जुनकी यह बात सुनकर विराटपुत्र उत्तर निर्भय एवं सावधान हो सव्यसाची धनंजयको उस स्थानपर ले गया, जहाँ कृपाचार्य उनसे युद्ध करनेके लिये खड़े थे ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि अर्जुनकृपसंग्रामे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें अर्जुन-कृप-संग्रामविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुन और कृपाचार्यका युद्ध देखनेके लिये देवताओंका आकाशमें विमानोंपर आगमन

वैशम्पायन उवाच

तान्यनीकान्यदृश्यन्त कुरूणामुग्रधन्विनाम्।
संसर्पन्ते यथा मेघा घर्मान्ते मन्दमारुताः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भयंकर धनुष धारण करनेवाले कौरवोंके वे सैनिक शनैः-शनैः आगे बढ़ने लगे। उस समय वे ऐसे दिखायी देते थे, मानो ग्रीष्मके अन्त एवं वर्षाके प्रारम्भमें मन्द वायुद्वारा प्रेरित मेघ धीरे-धीरे आ रहे हों॥ १॥

अभ्याशे वाजिनस्तस्थुः समारूढाः प्रहारिणः।
भीमरूपाश्च मातङ्गास्तोमराङ्कुशनोदिताः।
महामात्रैः समारूढा विचित्रकवचोज्ज्वलाः॥ २॥

घुड़सवार योद्धा समीप आकर खड़े हो गये। घोड़ोंके साथ ही भयंकर हाथी भी आगे बढ़ आये। उन्हें महावत तोमर और अङ्कुशोंकी मारसे आगे बढ़नेकी प्रेरणा दे रहे थे और उन हाथियोंपर बैठे हुए शूर-वीर अपने विचित्र कवचोंकी प्रभासे प्रकाशित हो रहे थे॥ २॥

ततः शक्रः सुरगणैः समारुह्य सुदर्शनम्।
सहोपायात् तदा राजन् विश्वाश्विमरुतां गणैः॥ ३॥

राजन्! इसी समय देवताओंसहित इन्द्र विमानपर बैठकर विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्गणोंके साथ वहाँ आये, जहाँ परस्पर शत्रुता रखनेवाले दो दलोंका भयंकर संघर्ष छिड़ा हुआ था॥ ३॥

तद् देवयक्षगन्धर्वमहोरगसमाकुलम्।
शुशुभेऽभ्रविनिर्मुक्तं ग्रहाणामिव मण्डलम्॥ ४॥

उस समय देवता, यक्ष, गन्धर्व तथा बड़े-बड़े नागों (के विमानों) से भरा हुआ वहाँका आकाश बादलोंके आवरणसे रहित ग्रहमण्डलकी भाँति शोभा पाने लगा॥ ४॥

अस्त्राणां च बलं तेषां मानुषेषु प्रयुञ्जताम्।
तच्च भीमं महद् युद्धं कृपार्जुनसमागमे।
द्रष्टुमभ्यागता देवाः स्वविमानैः पृथक् पृथक्॥ ५॥

कृपाचार्य और अर्जुनके संग्राममें देवताओंके उन अस्त्रोंकी शक्तिका मनुष्योंपर प्रयोग करनेवाले शूरवीरोंके उस महाभयंकर युद्धको अपनी आँखों देखनेके लिये देवतालोग पृथक्-पृथक् अपने विमानोंपर बैठकर आये थे॥ ५॥

शतं शतसहस्राणां यत्र स्थूणा हिरण्मयी।
मणिरत्नमयी चान्या प्रासादं तदधारयत्॥ ६॥

ततः कामगमं दिव्यं सर्वरत्नविभूषितम्।
विमानं देवराजस्य शुशुभे खेचरं तदा॥ ७॥

उन विमानोंमें देवराज इन्द्रका आकाशचारी विमान उस समय सबसे अधिक शोभा पा रहा था। वह इच्छानुसार चलनेवाला दिव्य यान सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित था। उस विमानको एक करोड़ खंभोंने धारण कर रक्खा था। उनमें एक ओर सोनेके और दूसरी ओर मणि एवं रत्नोंके खंभे लगे थे॥ ६-७॥

तत्र देवास्त्रयस्त्रिंशत् तिष्ठन्ति सहवासवाः।
गन्धर्वा राक्षसाः सर्पाः पितरश्च महर्षिभिः॥ ८॥
तथा राजा वसुमना बलाक्षः सुप्रतर्दनः।
अष्टकश्च शिबिश्चैव ययातिर्नहुषो गयः॥ ९॥
मनुः पूरू रघुर्भानुः कृशाश्वः सगरो नलः।
विमाने देवराजस्य समदृश्यन्त सुप्रभाः॥ १०॥

उस विमानमें इन्द्रसहित तैंतीस देवता विराजमान थे। इनके सिवा गन्धर्व, राक्षस, सर्प, पितर, महर्षिगण, राजा वसुमना, बलाक्ष, सुप्रतर्दन, अष्टक, शिबि, ययाति नहुष, गय, मनु, पूरु, रघु, भानु, कृशाश्व, सगर तथा नल—ये सब तेजस्वी रूप धारण करके देवराजके विमानमें दृष्टिगोचर हो रहे थे॥ ८-१०॥

अग्नेरीशस्य सोमस्य वरुणस्य प्रजापतेः।
तथा धातुर्विधातुश्च कुबेरस्य यमस्य च॥ ११॥
अलम्बुषोग्रसेनानां गन्धर्वस्य च तुम्बुरोः।
यथामानं यथोद्देशं विमानानि चकाशिरे॥ १२॥

अग्नि, ईश, सोम, वरुण, प्रजापति, धाता, विधाता कुबेर, यम, अलम्बुष और उग्रसेन आदि गन्धर्व तथा गन्धर्वराज तुम्बुरुके भी पृथक्-पृथक् विमान अपनी-अपनी लंबाई-चौड़ाईके अनुसार आकाशके विभिन्न प्रदेशोंमें प्रकाशित हो रहे थे॥ ११-१२॥

सर्वदेवनिकायाश्च सिद्धाश्च परमर्षयः।
अर्जुनस्य कुरूणां च द्रष्टुं युद्धमुपागताः॥ १३॥

ये सभी देवसमुदाय, सिद्ध और महर्षिगण अर्जुन तथा कौरवदलका युद्ध देखनेके लिये जुटे थे॥ १३॥

दिव्यानां सर्वमाल्यानां गन्धः पुण्योऽथ सर्वशः।
प्रससार वसन्ताग्रे वनानामिव भारत॥ १४॥

जनमेजय! जैसे वसन्तके प्रारम्भमें वनके फूलोंकी मनोहर सुगन्ध सब ओर फैलने लगती है, उसी प्रकार दिव्य मालाओंकी पुण्यमय गन्ध वहाँ सब ओर छा गयी॥ १४॥

तत्र रत्नानि देवानां समदृश्यन्त तिष्ठताम्।
आतपत्राणि वासांसि स्रजश्च व्यजनानि च ॥ १५ ॥

उन विमानोंमें बैठे हुए देवताओंके रत्न, छत्र, वस्त्र, मालाएँ और चँवर आदि स्पष्ट दिखायी दे रहे थे ॥ १५ ॥

उपाशाम्यद् रजो भौमं सर्वं व्याप्तं मरीचिभिः।
दिव्यगन्धानुपादाय वायुर्योधानसेवत ॥ १६ ॥

धरतीकी धूल शान्त हो गयी थी और पृथ्वीकी प्रत्येक वस्तुपर (दिव्य) किरणोंका प्रकाश छा गया था। वायु दिव्य गन्ध लेकर वहाँपर स्थित योद्धाओंका सेवन करती थी ॥ १६ ॥

प्रभासितमिवाकाशं चित्ररूपमलंकृतम्।
सम्पतद्भिः स्थितैश्चापि नानारत्नविभासितैः ॥ १७ ॥

विमानैर्विविधैश्चित्रैरुपानीतैः सुरोत्तमैः।
वज्रभृच्छुशुभे तत्र विमानस्थैः सुरैर्वृतः ॥ १८ ॥
बिभ्रन्मालां महातेजाः पद्मोत्पलसमायुताम्।
विप्रेक्ष्यमाणो बहुभिर्नातृप्यत् सुमहाहवम् ॥ १९ ॥

श्रेष्ठ देवताओंद्वारा लाये हुए भाँति-भाँतिके विचित्र विमान अनेकानेक रत्नोंसे उद्भासित थे। उनमेंसे कुछ स्थिर हो गये थे और कुछ (नीचे-ऊपर) उड़ रहे थे। उनके द्वारा उद्भासित होनेवाले आकाशकी विचित्र शोभा हो रही थी। वहाँ विमानस्थ देवताओंसे घिरे हुए वज्रधारी महातेजस्वी इन्द्र पद्म और उत्पलोंकी माला पहने सुशोभित हो रहे थे। वे अनेक वीरोंके साथ छिड़े हुए अर्जुनके उस महान् संग्रामको बार-बार देखते थे, तो भी तृप्त नहीं होते थे ॥ १७–१९ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि देवागमने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें देवागमनविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कृपाचार्य और अर्जुनका युद्ध तथा कौरवपक्षके सैनिकोंद्वारा कृपाचार्यको हटा ले जाना

वैशम्पायन उवाच

दृष्ट्वा व्यूढान्यनीकानि कुरूणां कुरुनन्दन।
तत्र वैराटिमामन्त्र्य पार्थो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कौरवसेनाओंको व्यूह-रचना करके खड़ी हुई देखकर कुन्तीनन्दन अर्जुनने विराटकुमार उत्तरको सम्बोधित करके कहा— ॥ १ ॥

जाम्बूनदमयी वेदी ध्वजे यस्य प्रदृश्यते।
तस्य दक्षिणतो याहि कृपः शारद्वतो यतः ॥ २ ॥

'उत्तर! जिसकी ध्वजापर सोनेकी वेदीका चिह्न दिखायी देता है, उस रथके दाहिने होकर चलो। उधर ही शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य हैं' ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

धनंजयवचः श्रुत्वा वैराटिस्त्वरितस्ततः।
हयान् रजतसंकाशान् हेमभाण्डानचोदयत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! धनंजयकी बात सुनकर विराटकुमार उत्तरने तुरंत ही चाँदीके समान चमकीले उन श्वेत घोड़ोंको; जो सोनेके साज-सामानसे सुशोभित हो रहे थे, हाँका ॥ ३ ॥

आनुपूर्व्यात् तु तत् सर्वमास्थाय जवमुत्तमम्।
प्राहिणोच्चन्द्रसंकाशान् कुपितानिव तान् हयान् ॥ ४ ॥

घोड़ोंको वेगपूर्वक भगानेके जितने उत्तम ढंग हैं, क्रमशः उन सबका सहारा लेकर उत्तरने उन चन्द्रमाके समान श्वेत घोड़ोंको इतनी तीव्र गतिसे आगे बढ़ाया, मानो वे कुपित होकर भाग रहे हों ॥ ४ ॥

स गत्वा कुरुसेनायाः समीपं हयकोविदः।
पुनरावर्तयामास तान् हयान् वातरंहसः ॥ ५ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य मण्डलं सव्यमेव च।

अश्वविद्यामें प्रवीण विराटपुत्रने पहले कौरवसेनाके समीप जाकर उन वायुके समान वेगशाली घोड़ोंको पुनः लौटाया और दायीं ओरसे घुमाकर बाँयीं ओर बढ़ा दिया ॥ ५½ ॥

कुरून् सम्मोहयामास मत्स्यो यानेन तत्त्ववित् ॥ ६ ॥
कृपस्य रथमास्थाय वैराटिरकुतोभयः।
प्रदक्षिणमुपावृत्य तस्थौ तस्याग्रतो बली ॥ ७ ॥

अश्वसंचालनका रहस्य जाननेवाले मत्स्यनरेशके पुत्रने रथकी चालसे कौरवोंको मोह (भ्रम) में डाल दिया—वे यह न जान सके कि रथ किस महारथीके पास जाना चाहता है। विराटनन्दन महाबली उत्तरको किसी ओरसे कोई भय नहीं था। उसने कृपाचार्यके रथके समीप जा रथद्वारा उनकी प्रदक्षिणा की। फिर उनके सामने जा वह रथ रोककर खड़ा हो गया ॥ ६-७ ॥

ततोऽर्जुनः शङ्खवरं देवदत्तं महारवम्।
प्रदध्मौ बलमास्थाय नाम विश्राव्य चात्मनः ॥ ८ ॥

तब अर्जुनने अपना नाम सुनाकर और पूरा बल लगाकर भारी आवाज करनेवाले अपने उत्तम शङ्ख देवदत्तको बजाया ॥

तस्य शब्दो महानासीद् धम्यमानस्य जिष्णुना ।
तथा वीर्यवता संख्ये पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ ९ ॥

युद्धभूमिमें वैसे महापराक्रमी विजयशील अर्जुनके द्वारा बजाये जानेपर उस शङ्खसे इतने जोरकी आवाज हुई, मानो कोई पर्वत फट गया हो ॥ ९ ॥

पूजयांचक्रिरे शङ्खं कुरवः सहसैनिकाः ।
अर्जुनेन तथा ध्मातः शतधा यन्न दीर्यते ॥ १० ॥

उस समय समस्त कौरव अपने सैनिकोंके साथ यह कहकर उस शङ्खकी सराहना करने लगे कि अहो ! यह अद्भुत शङ्ख है, जो अर्जुनके इस प्रकार बजानेपर भी उसके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते ? ॥ १० ॥

दिवमावृत्य शब्दस्तु निवृत्तः शुश्रुवे पुनः ।
सृष्टो मघवता वज्रः प्रपतन्निव पर्वते ॥ ११ ॥

वह शङ्खनाद स्वर्गलोकसे टकराकर जब पुनः लौटा, तब इस प्रकार सुनायी दिया, मानो इन्द्रका चलाया हुआ वज्र किसी पर्वतपर गिरा हो ॥ ११ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरो बलवीर्यसमन्वितः ।
अर्जुनं प्रति संरब्धः कृपः परमदुर्जयः ।
अमृष्यमाणस्तं शब्दं कृपः शारद्वतस्तदा ॥ १२ ॥
अर्जुनं प्रति संरब्धो युद्धार्थी स महारथः ।
महोदधिजमादाय दध्मौ वेगेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥

वीरवर कृपाचार्य बल और पराक्रमसे सम्पन्न थे । उन्हें जीतना अत्यन्त कठिन था । वे अर्जुनके शङ्ख बजानेके अनन्तर उनके प्रति कुपित हो उठे । शरद्वान्‌के पुत्र महारथी कृपाचार्य उस समय अर्जुनके शङ्खनादको नहीं सह सके, उनके मनमें अर्जुनपर कुछ रोष हो आया; इसलिये युद्धके (उसके साथ) अभिलाषी होकर उन महापराक्रमी महारथीने अपना शङ्ख लेकर उसे बड़े जोरसे फूँका ॥ १२-१३ ॥

स तु शब्देन लोकांस्त्रीनावृत्य रथिनां वरः ।
धनुरादाय सुमहज्ज्याशब्दमकरोत् तदा ॥ १४ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यने उस शङ्खनादसे तीनों लोकोंको गुँजाकर उस समय हाथमें धनुष ले लिया और उसकी प्रत्यञ्चा खींचकर टंकारध्वनि की ॥ १४ ॥

तौ रथौ सूर्यसंकाशौ योत्स्यमानौ महाबलौ ।
शारदाविव जीमूतौ व्यरोचेतां व्यवस्थितौ ॥ १५ ॥

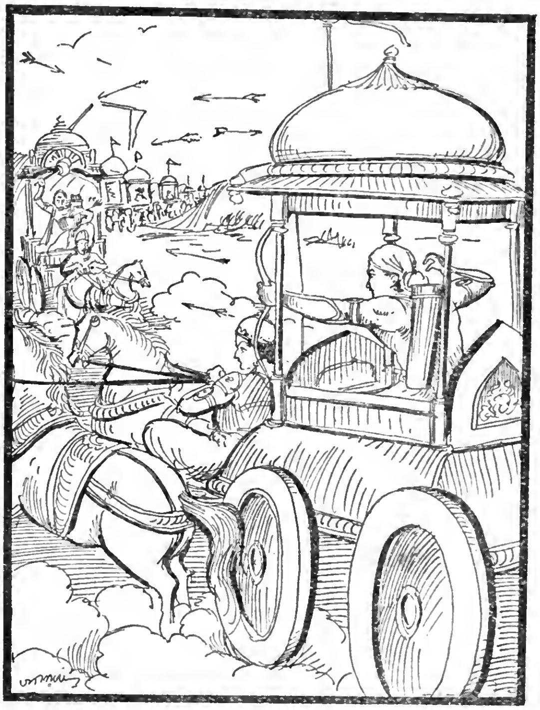
वे दोनों महारथी बड़े पराक्रमी और सूर्यके समान तेजस्वी थे, अतः युद्ध करनेके लिये खड़े हुए वे दोनों वीर शरत्कालके दो मेघोंकी भाँति शोभा पाने लगे ॥ १५ ॥

ततः शारद्वतस्तूर्णं पार्थं दशभिराशुगैः ।
विव्याध परवीरघ्नं निशितैर्मर्मभेदिभिः ॥ १६ ॥

तदनन्तर कृपाचार्यने मर्मस्थानको विदीर्ण कर देनेवाले दस तीखे बाणोंद्वारा शत्रुवीरोंके संहारक कुन्तीनन्दन अर्जुनको तुरंत बींध डाला ॥ १६ ॥

पार्थोऽपि विश्रुतं लोके गाण्डीवं परमायुधम् ।
विकृष्य चिक्षेप बहून् नाराचान् मर्मभेदिनः ॥ १७ ॥

तब अर्जुनने भी अपने विश्वविख्यात उत्तम आयुध गाण्डीवको (कानतक) खींचकर बहुत-से मर्मभेदी नाराच छोड़े ॥ १७ ॥



तान् प्राप्ताञ्छितैर्बाणैर्नाराचान् रक्तभोजनान् ।
कृपश्चिच्छेद पार्थस्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १८ ॥

किंतु अर्जुनके द्वारा चलाये हुए उन रक्त पीनेवाले नाराचोंको अपने पास आनेसे पहले ही कृपाचार्यने तीखे बाण मारकर उनके सैकड़ों और हजारों टुकड़े कर डाले ॥ १८ ॥

ततः पार्थस्तु संक्रुद्धश्चित्रान् मार्गान् प्रदर्शयन् ।
दिशः संछादयन् बाणैः प्रदिशश्च महारथः ।
एकच्छायमिवाकाशमकरोत् सर्वतः प्रभुः ॥ १९ ॥

तब सामर्थ्यशाली महारथी कुन्तीपुत्र अर्जुनने क्रोधमें भरकर बाण चलानेकी विचित्र पद्धतियोंका प्रदर्शन करते हुए बाणोंकी झड़ी लगाकर सम्पूर्ण दिशा-विदिशाओंको ढँक दिया और आकाशको सब ओरसे एकमात्र अन्धकारमें निमग्न-सा कर दिया ॥ १९ ॥

प्राच्छादयदमेयात्मा पार्थः शरशतैः कृपम् ।
स शरैरर्दितः क्रुद्धः शितैरग्निशिखोपमैः ॥ २० ॥

तदनन्तर अचिन्त्य मन-बुद्धिवाले पृथापुत्र अर्जुनने

सैकड़ों बाण मारकर कृपाचार्यको ढँक दिया। आगकी लपटोंके समान जलानेवाले उन तीखे बाणोंसे पीड़ित होनेपर कृपाचार्यको बड़ा क्रोध हुआ ॥ २० ॥

तूर्णं दशसहस्रेण पार्थमप्रतिमौजसम्।
अर्दयित्वा महात्मानं ननर्द समरे कृपः ॥ २१ ॥

तब उन्होंने अनुपम पराक्रमी महात्मा पृथापुत्रको युद्धमें तुरंत ही दस हजार बाणोंसे पीड़ित करके बड़े ज़ोरसे गर्जना की ॥ २१ ॥

ततः कनकपर्वाग्रैर्वीरः संनतपर्वभिः।
त्वरन् गाण्डीवनिर्मुक्तैरर्जुनस्तस्य वाजिनः ॥ २२ ॥
चतुर्भिश्चतुरस्तीक्ष्णैरविध्यत् परमेषुभिः।
ते हया निशितैर्बाणैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः।
उत्पेतुः सहसा सर्वे कृपः स्थानादथाच्यवत् ॥ २३ ॥

तब वीर अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए झुकी हुई गाँठ और सुनहरे पर्वाग्र (फल) वाले चार बाणोंद्वारा बड़ी उतावलीसे कृपाचार्यके चारों घोड़ोंको बींध डाला। वे चारों बाण बड़े तीखे और उत्तम थे। विषाग्निसे जलते हुए सर्पोंकी भाँति उन तेज बाणोंकी मार खाकर वे सभी घोड़े सहसा उछल पड़े। इससे कृपाचार्य अपने स्थानसे गिर गये ॥ २२-२३ ॥

च्युतं तु गौतमं स्थानात् समीक्ष्य कुरुनन्दनः।
नाविध्यत् परवीरघ्नो रक्षमाणोऽस्य गौरवम् ॥ २४ ॥

कृपाचार्यको स्थानसे गिरा हुआ देख शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले कुरुनन्दन अर्जुनने उनके गौरवकी रक्षा करते हुए उनपर बाणोंसे आघात नहीं किया ॥ २४ ॥

स तु लब्ध्वा पुनः स्थानं गौतमः सव्यसाचिनम्।
विव्याध दशभिर्बाणैस्त्वरितः कङ्कपत्रिभिः ॥ २५ ॥

किंतु कृपाचार्यने पुनः अपना स्थान ग्रहण कर लेनेपर तुरंत ही सफेद चीलके पंखोंसे युक्त दस बाणोंका प्रहार करके सव्यसाची अर्जुनको बींध डाला ॥ २५ ॥

ततः पार्थो धनुस्तस्य भल्लेन निशितेन ह।
चिच्छेदैकेन भूयश्च हस्तावापमथाहरत् ॥ २६ ॥

तब अर्जुनने एक तीखे भल्ल नामक बाणद्वारा कृपाचार्यका धनुष काट डाला और पुनः उनके दस्तानेको नष्ट कर दिया ॥ २६ ॥

अथास्य कवचं बाणैर्निशितैर्मर्मभेदिभिः।
व्यधमन्न च पार्थोऽस्य शरीरमवपीडयत् ॥ २७ ॥

उसके बाद पार्थने मर्मभेदी तीखे बाणोंद्वारा उनके कवचको भी छिन्न-भिन्न कर दिया, किंतु उनके शरीरको तनिक भी कष्ट नहीं पहुँचाया ॥ २७ ॥

तस्य निर्मुच्यमानस्य कवचात् काय आबभौ।
समये मुच्यमानस्य सर्पस्येव तनुर्यथा ॥ २८ ॥

कवचसे मुक्त होनेपर कृपाचार्यका शरीर इस प्रकार सुशोभित हुआ, मानो समयपर केंचुल छूटनेके बाद सर्पका शरीर सुशोभित हो रहा हो ॥ २८ ॥

छिन्ने धनुषि पार्थेन सोऽन्यदादाय कार्मुकम्।
चकार गौतमः सज्यं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २९ ॥

अर्जुनद्वारा धनुष काट दिये जानेपर गौतम (कृप) ने दूसरा धनुष लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा ली। यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ २९ ॥

स तदप्यस्य कौन्तेयश्चिच्छेद नतपर्वणा।
एवमन्यानि चापानि बहूनि कृतहस्तवत्।
शारद्वतस्य चिच्छेद पाण्डवः परवीरहा ॥ ३० ॥

परंतु कुन्तीनन्दनने झुकी हुई गाँठवाले एक बाणसे उनके उस धनुषको भी काट दिया और इसी प्रकार कृपाचार्यके बहुत-से दूसरे धनुष भी शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पाण्डुनन्दनने हाथकी फुर्ती दिखानेमें कुशल वीरकी भाँति छिन्न-भिन्न कर डाले ॥ ३० ॥

सच्छिन्नधनुरादाय रथशक्तिं प्रतापवान्।
प्राहिणोत् पाण्डुपुत्राय प्रदीप्तामशनीमिव ॥ ३१ ॥

इस तरह धनुष कट जानेपर प्रतापी कृपाचार्यने पाण्डुपुत्र अर्जुनपर वज्रकी भाँति प्रज्वलित रथशक्ति चलायी ॥ ३१ ॥

तामर्जुनस्तदाऽऽयान्तीं शक्तिं हेमविभूषिताम्।
वियद्गतां महोल्काभां चिच्छेद दशभिः शरैः ॥ ३२ ॥
सापतद् दशधा छिन्ना भूमौ पार्थेन धीमता ॥ ३३ ॥

तब अर्जुनने भारी उल्काकी भाँति अपनी ओर आती हुई उस सुवर्णभूषित शक्तिको दस बाण मारकर आकाशमें ही काट डाला। बुद्धिमान् पार्थके द्वारा दस टुकड़ोंमें कटी हुई वह शक्ति पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३२-३३ ॥

युगपच्चैव भल्लैस्तु ततः सज्यधनुः कृपः।
तमाशु निशितैः पार्थं बिभेद दशभिः शरैः ॥ ३४ ॥

तब कृपाचार्यने पुनः प्रत्यञ्चासहित धनुष लेकर उसके ऊपर एक ही साथ भल्ल नामक दस बाणोंका संधान किया और उन दसों तीक्ष्ण बाणोंद्वारा तुरंत ही अर्जुनको बींध डाला ॥ ३४ ॥

ततः पार्थो महातेजा विशिखानग्नितेजसः।
चिक्षेप समरे क्रुद्धस्त्रयोदश शिलाशितान् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी कुन्तीपुत्रने उस संग्रामभूमिमें कुपित हो (कृपाचार्यपर) पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए अग्निके समान तेजस्वी तेरह बाण चलाये ॥ ३५ ॥

अथास्य युगमेकेन चतुर्भिश्चतुरो हयान्।
षष्ठेन च शिरः कायाच्छरेण रथसारथेः॥ ३६॥

एक बाणसे उनके रथका जूआ काटकर चार बाणोंसे चारों घोड़े मार डाले और छठे बाणसे रथके सारथिका सिर धड़से अलग कर दिया॥ ३६॥

त्रिभिस्त्रिवेणुं समरे द्वाभ्यामक्षं महारथः।
द्वादशेन तु भल्लेन चकर्तास्य ध्वजं तदा॥ ३७॥
ततो वज्रनिकाशेन फाल्गुनः प्रहसन्निव।
त्रयोदशेनेन्द्रसमः कृपं वक्षस्यविध्यत॥ ३८॥

फिर उन महारथी अर्जुनने तीन बाणोंसे रथके तीनों वेणु, दोसे रथका धुरा और बारहवें भल्ल नामक बाणसे उनके रथकी ध्वजाको भी उस समय रणभूमिमें काट गिराया। इसके बाद इन्द्रके समान पराक्रमी फाल्गुनने हँसते हुए-से वज्रसदृश तेरहवें बाणद्वारा कृपाचार्यकी छातीमें चोट पहुँचायी॥ ३७-३८॥

सच्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
गदापाणिरवप्लुत्य तूर्णं चिक्षेप तां गदाम्॥ ३९॥

इस प्रकार धनुष, रथ, घोड़े और सारथि आदिके नष्ट हो जानेपर कृपाचार्य हाथमें गदा लिये रथसे कूद पड़े और तुरंत ही उसे अर्जुनपर दे मारा॥ ३९॥

सा च मुक्ता गदा गुर्वी कृपेण सुपरिष्कृता।
अर्जुनेन शरैर्नुन्ना प्रतिमार्गमथागमत्॥ ४०॥

जिसका सुवर्ण आदिसे भलीभाँति परिष्कार किया गया था, वह कृपाचार्यद्वारा चलायी हुई भारी गदा अर्जुनके बाणोंसे प्रेरित हो उल्टी लौट गयी॥ ४०॥

तं तु योधाः परीप्सन्तः शारद्वतममर्षणम्।
सर्वतः समरे पार्थं शरवर्षैरवाकिरन्॥ ४१॥

शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य अत्यन्त अमर्षमें भरे थे। उनके प्राण बचानेकी इच्छावाले कौरव सैनिक सब ओरसे आकर उस युद्धमें अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे॥

ततो विराटस्य सुतः सव्यमावृत्य वाजिनः।
यमकं मण्डलं कृत्वा तान् योधान् प्रत्यवारयत्॥ ४२॥

यह देख विराटपुत्र उत्तरने घोड़ोंको दाँयीं ओरसे घुमाकर यमकमण्डलसे रथ-संचालन करते हुए उन सब योधाओंको बाणवर्षासे रोक दिया॥ ४२॥

ततः कृपमुपादाय विरथं ते नरर्षभाः।
अपजह्रुर्महावेगा कुन्तीपुत्राद् धनंजयात्॥ ४३॥

इतनेमें ही वे नरश्रेष्ठ सैनिक कुन्तीपुत्र धनंजयसे डरकर रथहीन कृपाचार्यको बड़े वेगसे हटा ले गये॥ ४३॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहणे कृपापयाने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोष्ठकी गौओंके अपहरणके प्रसङ्गमें कृपाचार्यका पलायनसम्बन्धी सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५७॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनका द्रोणाचार्यके साथ युद्ध और आचार्यका पलायन

वैशम्पायन उवाच

कृपेऽपनीते द्रोणस्तु प्रगृह्य सशरं धनुः।
अभ्यद्रवदनाधृष्यः शोणाश्वः श्वेतवाहनम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब कृपाचार्य रणभूमिसे बाहर हटा दिये गये, तब लाल घोड़ोंवाले दुर्धर्ष वीर आचार्य द्रोणने धनुष-बाण लेकर श्वेतवाहन अर्जुनपर धावा किया॥ १॥

स तु रुक्मरथं दृष्ट्वा गुरुमायान्तमन्तिकात्।
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठ उत्तरं वाक्यमब्रवीत्॥ २॥

सुवर्णमय रथपर आरूढ़ गुरुदेवको अपने निकट आते देख विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उत्तरसे इस प्रकार बोले॥२॥

अर्जुन उवाच

यत्रैषा काञ्चनी वेदी ध्वजे यस्य प्रकाशते।
उच्छ्रिता प्रवरे दण्डे पताकाभिरलङ्कृता।
अत्र मां वह भद्रं ते द्रोणानीकाय सारथे॥ ३॥

अर्जुनने कहा—सारथे! तुम्हारा कल्याण हो। जिस रथकी ध्वजामें ऊँचे डंडेके ऊपर पताकाओंसे विभूषित यह ऊँची सुवर्णमयी वेदी प्रकाशित हो रही है, वहाँ आचार्य द्रोणकी सेना है। मुझे वहीं ले चलो॥ ३॥

अश्वाः शोणाः प्रकाशन्ते बृहन्तश्चारुवाहिनः।
स्निग्धविद्रुमसंकाशास्ताम्रास्याः प्रियदर्शनाः।
युक्ता रथवरे यस्य सर्वशिक्षाविशारदाः॥ ४॥
दीर्घबाहुर्महातेजा बलरूपसमन्वितः।
सर्वलोकेषु विक्रान्तो भारद्वाजः प्रतापवान्॥ ५॥

जिनके श्रेष्ठ रथमें जुते हुए सब प्रकारकी शिक्षाओंमें निपुण, चिकने, मूँगेके समान लाल रंगके, ताँबे-से मुखवाले, सुन्दर तथा अच्छे ढंगसे रथका भार वहन करनेवाले बड़े-बड़े अश्व सुशोभित हो रहे हैं, वे महातेजस्वी दीर्घबाहु, बल एवं रूपसे सम्पन्न तथा समस्त संसारमें विख्यात पराक्रमी प्रतापी वीर भरद्वाजनन्दन द्रोण हैं॥ ४-५॥

बुद्ध्या तुल्यो ह्युशनसा बृहस्पतिसमो नये ।
वेदास्तथैव चत्वारो ब्रह्मचर्यं तथैव च ॥ ६ ॥
ससंहाराणि सर्वाणि दिव्यान्यस्त्राणि मारिष ।
धनुर्वेदश्च कार्त्स्न्येन यस्मिन् नित्यं प्रतिष्ठितः ॥ ७ ॥

ये बुद्धिमें शुक्राचार्य और नीतिमें बृहस्पतिके समान हैं। मारिष[1] ! इनमें चारों वेद, ब्रह्मचर्य, संहार-विधिसहित सम्पूर्ण दिव्यास्त्र और समस्त धनुर्वेद सदा प्रतिष्ठित है ॥ ६-७ ॥

क्षमा दमश्च सत्यं च आनृशंस्यमथार्जवम् ।
एते चान्ये च बहवो यस्मिन् नित्यं द्विजे गुणाः ॥ ८ ॥

इन विप्रशिरोमणिमें क्षमा, इन्द्रियसंयम, सत्य, कोमलता, सरलता तथा अन्य बहुत से सद्गुण नित्य विद्यमान हैं ॥ ८ ॥

तेनाहं योद्धुमिच्छामि महाभागेन संयुगे ।
तस्मात् तं प्रापयाचार्यं क्षिप्रमुत्तर वाहय ॥ ९ ॥

अतः मैं इन्हीं महाभाग आचार्यके साथ इस समरभूमिमें युद्ध करना चाहता हूँ । अतः उत्तर ! रथ बढ़ाओ और मुझे शीघ्र उन आचार्यके समीप पहुँचा दो ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु वैराटिर्हेमभूषणान् ।
चोदयामास तानश्वान् भारद्वाजरथं प्रति ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! अर्जुनके इस प्रकार आदेश देनेपर विराटनन्दन उत्तरने सोनेके आभूषणोंसे विभूषित उन अश्वोंको आचार्य द्रोणके रथकी ओर हाँक दिया ॥ १० ॥

तमापतन्तं वेगेन पाण्डवं रथिनां वरम् ।
द्रोणः प्रत्युद्ययौ पार्थं मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥ ११ ॥

महारथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन अर्जुनको बड़े वेगसे अपनी ओर आते देख आचार्य द्रोण भी पार्थकी ओर आगे बढ़ आये, ठीक उसी तरह जैसे एक उन्मत्त गजराज दूसरे मतवाले गजराजसे भिड़नेके लिये जा रहा हो ॥ ११ ॥

ततः प्राध्मापयच्छङ्खं भेरीशतनिनादिनम् ।
प्रचुक्षुभे बलं सर्वमुद्धूत इव सागरः ॥ १२ ॥

तदनन्तर द्रोणने सौ नगाड़ोंके बराबर आवाज करनेवाले अपने शङ्खको बजाया । उसे सुनकर सारी सेनामें हलचल मच गयी, मानो समुद्रमें ज्वार आ गया हो ॥ १२ ॥

अथ शोणान् सदश्वांस्तान् हंसवर्णैर्मनोजवैः ।
मिश्रितान् समरे दृष्ट्वा व्यस्मयन्त रणे नराः ॥ १३ ॥

रणभूमिमें उन लाल रंगके सुन्दर घोड़ोंको हंसके समान वर्णवाले मनके सदृश वेगशाली श्वेत घोड़ोंसे मिला देख युद्ध करनेके विषयमें सब लोग आश्चर्यमें पड़ गये ॥ १३ ॥

तौ रथौ वीर्यसम्पन्नौ दृष्ट्वा संग्राममूर्धनि ।
आचार्यशिष्यावजितौ कृतविद्यौ मनस्विनौ ॥ १४ ॥
समाश्लिष्टौ तदान्योन्यं द्रोणपार्थौ महाबलौ ।
दृष्ट्वा प्राकम्पत मुहुर्भरतानां महद् बलम् ॥ १५ ॥

महाबली द्रोण और कुन्तीपुत्र अर्जुन दोनों महारथी बल वीर्य सम्पन्न, अजेय, अस्त्रविद्याके विशेषज्ञ और मनस्वी थे । युद्धके सिरेपर वे दोनों आचार्य और शिष्य अपने-अपने रथपर बैठे हुए (ही एक दूसरेकी ओर हाथ बढ़ाकर मानो) परस्पर आलिङ्गन करने लगे । उन्हें इस अवस्थामें देखकर भरत-वंशियोंकी वह विशाल सेना बारंबार भयसे काँपने लगी ॥

हर्षयुक्तस्ततः पार्थः प्रहसन्निव वीर्यवान् ।
रथं रथेन द्रोणस्य समासाद्य महारथः ॥ १६ ॥
अभिवाद्य महाबाहुः सामपूर्वमिदं वचः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा कौन्तेयः परवीरहा ॥ १७ ॥

तदनन्तर शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले महारथी और महापराक्रमी कुन्तीपुत्र महाबाहु अर्जुन हर्षोल्लासमें भर गये और आचार्य द्रोणके रथसे अपना रथ भिड़ाकर उन्हें प्रणाम करके हँसते हुए-से शान्तिपूर्वक मधुर वाणीमें यों बोले—॥

उषिताः स्मो वने वासं प्रतिकर्म चिकीर्षवः ।
कोपं नार्हसि नः कर्तुं सदा समरदुर्जय ॥ १८ ॥
अहं तु प्रहृते पूर्वं प्रहरिष्यामि तेऽनघ ।
इति मे वर्तते बुद्धिस्तद् भवान् कर्तुमर्हति ॥ १९ ॥

'आचार्य ! युद्धमें आपपर विजय पाना सर्वथा कठिन है । हमलोग बहुत वर्षोंतक वनमें रहकर कष्ट उठाते रहे हैं। अब शत्रुओंसे बदला लेनेकी इच्छासे आये हैं; अतः आप हमलोगोंपर क्रोध न करें । अनघ ! मैं तो आपपर तभी प्रहार करूँगा, जब पहले आप मुझपर प्रहार कर लेंगे । मेरा यही निश्चय है, अतः आप ही पहले मुझपर प्रहार करें' ॥

ततोऽस्मै प्राहिणोद् द्रोणः शरानधिकविंशतिम् ।
अप्राप्तांश्चैव तान् पार्थश्चिच्छेद कृतहस्तवत् ॥ २० ॥

तब आचार्य द्रोणने अर्जुनपर इक्कीस बाण चलाये; किंतु पार्थने उन सबको अपने पास आनेसे पहले ही काट गिराया, मानो उनके हाथ इस कलामें पूर्ण सुशिक्षित थे ॥

ततः शरसहस्रेण रथं पार्थस्य वीर्यवान् ।
अवाकिरत् ततो द्रोणः शीघ्रमस्त्रं विदर्शयन् ॥ २१ ॥

तदनन्तर पराक्रमी द्रोणने अपनी अस्त्र चलानेकी फुर्ती दिखाते हुए अर्जुनके रथपर सहस्रों बाणोंकी वृष्टि की ॥ २१ ॥

हयांश्च रजतप्रख्यान् कङ्कपत्रैः शिलाशितैः ।
अवाकिरदमेयात्मा पार्थं संकोपयन्निव ॥ २२ ॥

उनका आत्मबल असीम था । उन्होंने चाँदीके समान अंगवाले अर्जुनके श्वेत घोड़ोंको भी शानपर चढ़ाकर तेज

---
१. 'आर्यस्तु मारिषः' (अमरकोष)

किये हुए सफेद चीलकी पाँखवाले बाणोंसे ढँक दिया। जान पड़ता था, आचार्य यह सब करके अर्जुनके क्रोधको उभाड़ना चाहते थे ॥ २२ ॥

एवं प्रववृते युद्धं भारद्वाजकिरीटिनोः।
समं विमुञ्चतोः संख्ये विशिखान् दीप्ततेजसः ॥ २३ ॥

इस प्रकार भरद्वाजनन्दन द्रोण और किरीटधारी अर्जुनमें युद्ध छिड़ गया। वे दोनों समरभूमिमें (एक-दूसरेपर) समानरूपसे तेजस्वी बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २३ ॥

तावुभौ ख्यातकर्माणावुभौ वायुसमौ जवे।
उभौ दिव्यास्त्रविदुषावुभावुत्तमतेजसौ।
क्षिपन्तौ शरजालानि मोहयामासतुर्नृपान् ॥ २४ ॥

दोनों ही विख्यात पराक्रमी थे। वेगमें दोनों ही वायुके समान थे। वे दोनों गुरु-शिष्य दिव्यास्त्रोंके महापण्डित और उत्तम तेजसे सम्पन्न थे। परस्पर बाणोंकी झड़ी लगाते हुए दोनोंने सब राजाओंको मोहमें डाल दिया ॥ २४ ॥

व्यस्मयन्त ततो योधा ये तत्रासन् समागताः।
शरान् विसृजतोस्तूर्णं साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ २५ ॥

तदनन्तर जो-जो सैनिक वहाँ आये थे, वे एक-दूसरेपर तीव्र गतिसे बाण-वर्षा करनेवाले दोनों वीरोंकी 'साधु साधु' कहकर सराहना करने लगे—॥ २५ ॥

द्रोणं हि समरे कोऽन्यो योद्धुमर्हति फाल्गुनात्।
रौद्रः क्षत्रियधर्मोऽयं गुरुणा यदयुध्यत।
इत्यब्रुवञ्जनास्तत्र संग्रामशिरसि स्थिताः ॥ २६ ॥

'भला, युद्धमें अर्जुनके सिवा दूसरा कौन द्रोणाचार्यका सामना कर सकता है? यह क्षत्रियधर्म कितना भयंकर है कि शिष्यको गुरुसे युद्ध करना पड़ा है।' इस प्रकार वहाँ युद्धके मुहानेपर खड़े हुए योद्धा आपसमें बातें करते थे ॥२६॥

वीरौ तावभिसंरब्धौ संनिकृष्टौ महाभुजौ।
छादयेतां शरव्रातैरन्योन्यमपराजितौ ॥ २७ ॥

दोनों महाबाहु वीर क्रोधमें भरकर निकट आ गये और बाणसमूहोंसे एक-दूसरेको आच्छादित करने लगे। उनमेंसे कोई भी पराजित होनेवाला न था ॥ २७ ॥

विस्फार्य सुमहच्चापं हेमपृष्ठं दुरासदम्।
भारद्वाजोऽथ संक्रुद्धः फाल्गुनं प्रत्यविध्यत ॥ २८ ॥

भरद्वाजनन्दन द्रोण अत्यन्त कुपित हो, जिसके पृष्ठभागमें सुवर्ण जड़ा हुआ था और जिसे उठाना दूसरोंके लिये बहुत कठिन था, उस महान् धनुषको खींचकर अर्जुनको बाणोंसे बींधने लगे ॥ २८ ॥

स सायकमयैर्जालैरर्जुनस्य रथं प्रति।
भानुमद्भिः शिलाधौतैर्भानोराच्छादयत् प्रभाम् ॥२९॥

उन्होंने अर्जुनके रथपर बाणोंका जाल-सा बिछा दिया। इतना ही नहीं, शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए उन तेजस्वी बाणोंद्वारा उन्होंने सूर्यकी प्रभाको भी आच्छादित कर दिया ॥

पार्थं च सुमहाबाहुर्महावेगैर्महारथः।
विव्याध निशितैर्बाणैर्मेघो वृष्ट्येव पर्वतम् ॥ ३० ॥

जैसे मेघ पर्वतपर जलकी वर्षा करता है, उसी प्रकार महाबाहु महारथी द्रोण पृथापुत्र अर्जुनको अत्यन्त वेगशाली तीखे बाणोंद्वारा बींध रहे थे ॥ ३० ॥

तथैव दिव्यं गाण्डीवं धनुरादाय पाण्डवः।
शत्रुघ्नं वेगवान् हृष्टो भारसाधनमुत्तमम् ॥ ३१ ॥
विससर्ज शरांश्चित्रान् सुवर्णविकृतान् बहून्।
नाशयन् शरवर्षाणि भारद्वाजस्य वीर्यवान्।
तूर्णं चापविनिर्मुक्तैस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार हर्षमें भरे हुए वेगशाली पाण्डुनन्दन अर्जुन भी भार सहन करनेमें समर्थ और शत्रुओंका नाश करनेवाला उत्तम एवं दिव्य गाण्डीव धनुष लेकर बहुत-से स्वर्णभूषित विचित्र बाणोंकी वर्षा कर रहे थे। पराक्रमी पार्थ अपने धनुषसे छूटे हुए बाणसमूहोंद्वारा तुरंत ही आचार्य द्रोणकी बाण-वर्षाको नष्ट करते जाते थे। यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ ३१-३२ ॥

स रथेन चरन् पार्थः प्रेक्षणीयो धनंजयः।
युगपद् दिक्षु सर्वासु सर्वतोऽस्त्राण्यदर्शयत् ॥ ३३ ॥
एकच्छायमिवाकाशं बाणैश्चक्रे समन्ततः।
नादृश्यत तदा द्रोणो नीहारेणेव संवृतः ॥ ३४ ॥

रथसे विचरनेवाले कुन्तीपुत्र धनंजय सबके लिये दर्शनीय हो रहे थे। उन्होंने सब दिशाओंमें एक ही साथ अस्त्रोंकी वर्षा दिखायी और आकाशको चारों ओरसे बाणोंद्वारा ढँककर एकमात्र अन्धकारमें निमग्न-सा कर दिया। उस समय आचार्य द्रोण कुहरेसे ढके हुएकी भाँति अदृश्य हो गये ॥

तस्याभवत् तदा रूपं संवृतस्य शरोत्तमैः।
जाज्वल्यमानस्य तदा पर्वतस्येव सर्वतः ॥ ३५ ॥

उत्तम बाणोंसे ढके हुए द्रोणाचार्यका स्वरूप उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो सब ओरसे जलता हुआ कोई पर्वत हो ॥ ३५ ॥

दृष्ट्वा तु पार्थस्य रणे शरैः स्वरथमावृतम्।
स विस्फार्य धनुः श्रेष्ठं मेघस्तनितनिस्वनम् ॥ ३६ ॥
अग्निचक्रोपमं घोरं व्यकर्षत् परमायुधम्।
व्यशातयच्छरांस्तांस्तु द्रोणः समितिशोभनः ॥ ३७ ॥

आचार्य द्रोण संग्रामभूमिमें बड़ी शोभा पानेवाले थे। संग्राममें उन्होंने अपने रथको जब अर्जुनके बाणोंसे ढका हुआ देखा, तब मेघगर्जनाके समान गम्भीर नाद करनेवाले अग्निचक्रके

सदृश भयंकर परम उत्तम आयुधश्रेष्ठ धनुषकी टंकार फैलाते हुए उसे (कानोंतक) खींचा और अपने शर-समूहोंसे अर्जुनके उन सब बाणोंको काट डाला ॥ ३६-३७ ॥

महानभूत् ततः शब्दो वंशानामिव दह्यताम् ॥ ३८ ॥

उस समय जलते हुए बाँसोंके चटखनेका-सा बड़ा भयंकर शब्द हो रहा था ॥ ३८ ॥

जाम्बूनदमयैः पुङ्खैश्चित्रचापविनिर्गतैः ।
प्राच्छादयदमेयात्मा दिशः सूर्यस्य च प्रभाम् ॥ ३९ ॥

जिनकी मन-बुद्धि अमेय है, उन द्रोणने अपने विचित्र धनुषसे छूटे हुए सुवर्णमय पंखोंवाले बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओं तथा सूर्यके प्रकाशको भी ढक दिया ॥ ३९ ॥

ततः कनकपुङ्खानां शराणां नतपर्वणाम् ।
वियच्चराणां वियति दृश्यन्ते बहवो व्रजाः ॥ ४० ॥

उस समय सोनेकी पाँख और झुकी हुई गाँठवाले आकाशचारी बाणोंके बहुत-से समुदाय आकाशमें दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ४० ॥

द्रोणस्य पुङ्खसक्ताश्च प्रभवन्तः शरासनात् ।
एको दीर्घ इवादृश्यदाकाशे संहतः शरः ॥ ४१ ॥

वे सभी पक्षधारी बाण-समुदाय आचार्य द्रोणके धनुषसे प्रकट हुए थे । आकाशमें उन बाणोंका समूह परस्पर सटकर एक ही विशाल बाणके समान दिखायी देता था ॥ ४१ ॥

एवं तौ स्वर्णविकृतान् विमुञ्चन्तौ महाशरान् ।
आकाशं संवृतं वीरावुल्काभिरिव चक्रतुः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार वे दोनों वीर सुवर्णविभूषित महाबाणोंकी वर्षा करते हुए आकाशको मानो उल्काओंसे आच्छादित करने लगे ॥ ४२ ॥

शरास्तयोस्तु विबभुः कङ्कबर्हिणवाससः ।
पङ्क्तयः शरदि खस्थानां हंसानां चरतामिव ॥ ४३ ॥

कङ्क और मोरकी पाँखवाले उन दोनोंके बाण शरद्‌ऋतुमें आकाशमें विचरनेवाले हंसोंकी पाँतके समान सुशोभित होते थे ॥

युद्धं समभवत् तत्र सुसंरब्धं महात्मनोः ।
द्रोणपाण्डवयोर्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥ ४४ ॥

महामना द्रोण और पाण्डुनन्दन अर्जुनका वह रोषपूर्ण युद्ध वृत्रासुर और इन्द्रके समान भयंकर प्रतीत होता था ॥

तौ गजाविव चासाद्य विषाणाग्रैः परस्परम् ।
शरैः पूर्णायतोत्सृष्टैरन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ ४५ ॥

जैसे दो हाथी एक दूसरेसे भिड़कर दाँतोंके अग्रभागसे प्रहार करते हों, उसी प्रकार वे दोनों धनुषको अच्छी तरह खींचकर छोड़े हुए बाणोंद्वारा एक दूसरेको घायल कर रहे थे ॥ ४५ ॥

तौ व्यवाहरतां युद्धे संरब्धौ रणशोभिनौ ।
उदीरयन्तौ समरे दिव्यान्यस्त्राणि भागशः ॥ ४६ ॥

क्रोधमें भरे हुए उन दोनों वीरोंकी रणभूमिमें बड़ी शोभा हो रही थी । वे उस संग्राममें पृथक्-पृथक् दिव्यास्त्र प्रकट करते हुए धर्मयुद्ध कर रहे थे ॥ ४६ ॥

अथ त्वाचार्यमुख्येन शरान् सृष्टाञ्छिलाशितान् ।
न्यवारयच्छितैर्बाणैरर्जुनो जयतां वरः ॥ ४७ ॥

तदनन्तर विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने आचार्यप्रवर द्रोणके द्वारा चलाये हुए शानपर तेज किये हुए बाणोंको अपने तीखे सायकोंसे नष्ट कर दिया ॥ ४७ ॥

दर्शयन् वीक्षमाणानामस्त्रमुग्रपराक्रमः ।
इषुभिस्तूर्णमाकाशं बहुभिश्च समावृणोत् ॥ ४८ ॥
जिघांसन्तं नरव्याघ्रमर्जुनं तिग्मतेजसम् ।
आचार्यमुख्यः समरे द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ।
अर्जुनेन सहाक्रीडच्छरैः संनतपर्वभिः ॥ ४९ ॥

वे भयानक पराक्रमी थे, उन्होंने दर्शकोंको अपना अस्त्र-कौशल दिखाते हुए तुरंत बहुसंख्यक बाणोंद्वारा आकाशको ढँक दिया । यद्यपि प्रचण्ड तेजस्वी नरश्रेष्ठ अर्जुन विपक्षीको मार डालनेकी इच्छा रखते थे, तो भी शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ आचार्यप्रवर द्रोण उस समरभूमिमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा प्रहार करके अर्जुनके साथ मानो खेल कर रहे थे (उनमें अर्जुनके प्रति वात्सल्यका भाव उमड़ रहा था) ॥ ४८-४९ ॥

दिव्यान्यस्त्राणि वर्षन्तं तस्मिन् वै तुमुले रणे ।
अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य फाल्गुनं समयोधयत् ॥ ५० ॥

उस तुमुल युद्धमें अर्जुन दिव्यास्त्रोंकी वर्षा कर रहे थे, किंतु आचार्य अपने अस्त्रोंद्वारा उनके अस्त्रोंका निवारणमात्र करके उन्हें लड़ा रहे थे ॥ ५० ॥

तयोरासीत् सम्प्रहारः क्रुद्धयोर्नरसिंहयोः ।
अमर्षिणोस्तदान्योन्यं देवदानवयोरिव ॥ ५१ ॥

वे दोनों नरश्रेष्ठ जब क्रोध और अमर्षमें भर गये, तब उनमें परस्पर देवताओं और दानवोंकी भाँति घमासान युद्ध छिड़ गया ॥ ५१ ॥

ऐन्द्रं वायव्यमाग्नेयमस्त्रमस्त्रेण पाण्डवः ।
द्रोणेन मुक्तमात्रं तु ग्रसति स्म पुनः पुनः ॥ ५२ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन आचार्य द्रोणके छोड़े हुए ऐन्द्र, वायव्य और आग्नेय आदि अस्त्रोंको उसके विरोधी अस्त्रद्वारा बार-बार नष्ट कर देते थे ॥ ५२ ॥

एवं शूरौ महेष्वासौ विसृजन्तौ शिताञ्छरान् ।
एकच्छायं चक्रतुस्तावाकाशं शरवृष्टिभिः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार वे दोनों महान् धनुर्धर शूरवीर तीखे बाण

छोड़ते हुए अपनी बाणवर्षाद्वारा आकाशको एकमात्र अन्धकारमें निमग्न करने लगे ॥ ५३ ॥

तत्रार्जुनेन मुक्तानां पततां वै शरीरिषु ।
पर्वतेष्विव वज्राणां शराणां श्रूयते स्वनः ॥ ५४ ॥

अर्जुनके छोड़े हुए बाण जब देहधारियोंपर पड़ते थे, तब पर्वतोंपर गिरनेवाले वज्रके समान भयंकर शब्द सुनायी देता था ॥ ५४ ॥

ततो नागा रथाश्चैव वाजिनश्च विशाम्पते ।
शोणिताक्ता व्यदृश्यन्त पुष्पिता इव किंशुकाः ॥ ५५ ॥

जनमेजय ! उस समय हाथीसवार, रथी और घुड़सवार लोहूलुहान् होकर फूले हुए पलाश-वृक्षके समान दिखायी देते थे ॥ ५५ ॥

बाहुभिश्च सकेयूरैर्विचित्रैश्च महारथैः ।
सुवर्णचित्रैः कवचैर्ध्वजैश्च विनिपातितैः ॥ ५६ ॥
योधैश्च निहतैस्तत्र पार्थबाणप्रपीडितैः ।
बलमासीत् समुद्भ्रान्तं द्रोणार्जुनसमागमे ॥ ५७ ॥

द्रोणाचार्य और अर्जुनके उस युद्धमें पार्थके बाणोंसे पीड़ित हो कितने ही योद्धा मर गये थे। कितनोंकी केयूरभूषित भुजाएँ कटकर गिरी थीं। विचित्र वेष-भूषावाले महारथी धराशायी हो रहे थे । सुवर्णजटित विचित्र कवच और ध्वजाएँ वहाँ बिखरी पड़ी थीं । इन सब कारणोंसे वह सारी सेना उद्भ्रान्त- (भयसे अचेत-) सी हो गयी थी ॥५६-५७॥

विधुन्वानौ तु तौ तत्र धनुषी भारसाधने ।
आच्छादयेतामन्योन्यं ततक्षतुरथेषुभिः ॥ ५८ ॥

उन दोनोंके धनुष भार सहन करनेमें समर्थ थे । वे उन धनुषोंको कँपाते हुए (तीखे) बाणोंद्वारा एक दूसरेको बींधते और आच्छादित कर देते थे ॥ ५८ ॥

तयोः समभवद् युद्धं तुमुलं भरतर्षभ ।
द्रोणकौन्तेययोस्तत्र बलिवासवयोरिव ॥ ५९ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! तदनन्तर द्रोण और कुन्तीपुत्रमें बलि और इन्द्रके संग्राम-सा तुमुल युद्ध होने लगा ॥ ५९ ॥

अथ पूर्णायतोत्सृष्टैः शरैः संनतपर्वभिः ।
व्यदारयेतामन्योन्यं प्राणद्यूते प्रवर्तिते ॥ ६० ॥

उस समय प्राणोंकी बाजी लगाकर (युद्धका जूआ खेला जा रहा था ।) दोनों वीर धनुषको कानतक खींचकर छोड़े हुए झुकी गाँठवाले बाणोंसे एक दूसरेको विदीर्ण कर रहे थे ॥ ६० ॥

अथान्तरिक्षे नादोऽभूद् द्रोणं तत्र प्रशंसताम् ।
दुष्करं कृतवान् द्रोणो यदर्जुनमयोधयत् ॥ ६१ ॥
प्रमाथिनं महावीर्यं दृढमुष्टिं दुरासदम् ।
जेतारं देवदैत्यानां सर्वेषां च महारथम् ॥ ६२ ॥

इसी समय आचार्य द्रोणकी प्रशंसा करनेवाले देवताओंका यह शब्द आकाशमें गूँज उठा—'अहो ! द्रोणाचार्यने बड़ा दुष्कर कार्य किया कि अबतक अर्जुनके साथ युद्धमें डटे रह गये । ये अर्जुन तो शत्रुओंको मथ डालनेवाले, महापराक्रमी, दृढ़ मुष्टिवाले, दुर्धर्ष तथा सम्पूर्ण देवताओं और दैत्योंको जीतनेवाले महारथी वीर हैं' ॥ ६१-६२ ॥

अविभ्रमं च शिक्षां च लाघवं दूरपातिताम् ।
पार्थस्य समरे दृष्ट्वा द्रोणस्याभूच्च विस्मयः ॥ ६३ ॥

उस समरभूमिमें अर्जुनका कभी न चूकनेका स्वभाव, अस्त्र-शस्त्रोंकी अद्भुत शिक्षा, हाथोंकी फुर्ती और दूरतक बाण मारनेकी शक्ति देखकर आचार्य द्रोणको भी बड़ा विस्मय हुआ ॥ ६३ ॥

अथ गाण्डीवमुद्यम्य दिव्यं धनुरमर्षणः ।
विचकर्ष रणे पार्थो बाहुभ्यां भरतर्षभ ॥ ६४ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर रणभूमिमें कुन्तीपुत्रने दिव्य गाण्डीव धनुषको ऊँचे उठाकर कुपित हो उसे दोनों हाथोंसे खींचना आरम्भ किया ॥ ६४ ॥

तस्य बाणमयं वर्षं शलभानामिवायतिम् ।
दृष्ट्वा ते विस्मिताः सर्वे साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ ६५ ॥

फिर तो टिड्डियोंके झुंडके समान उनकी (अद्भुत) बाणवर्षा देखकर वे सभी सैनिक आश्चर्यचकित हो 'साधु-साधु' कहते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ६५ ॥

न च बाणान्तरे वायुरस्य शक्नोति सर्पितुम् ।
अनिशं संदधानस्य शरानुत्सृजतस्तथा ॥ ६६ ॥
ददर्श नान्तरं कश्चित् पार्थस्याददतोऽपि च ॥ ६७ ॥

उनके बाणोंके भीतर वायु भी प्रवेश नहीं कर पाती थी। कुन्तीनन्दन अर्जुन निरन्तर बाणोंको हाथमें लेते, धनुषपर रखते और छोड़ते थे। कोई भी उनकी इन क्रियाओंमें क्षण-भरका भी अन्तर नहीं देख पाता था ॥ ६६-६७ ॥

तथा शीघ्रास्त्रयुद्धे तु वर्तमाने सुदारुणे ।
शीघ्रं शीघ्रतरं पार्थः शरानन्यानुदीरयत् ॥ ६८ ॥

इस प्रकार शीघ्रतापूर्वक अस्त्रप्रहारके द्वारा चलनेवाले उस अत्यन्त भयंकर संग्राममें कुन्तीपुत्र अर्जुन शीघ्र एवं अत्यन्त शीघ्र दूसरे-दूसरे बाण प्रकट करने लगे ॥ ६८ ॥

ततः शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ।
युगपत् प्रापतंस्तत्र द्रोणस्य रथमन्तिकात् ॥ ६९ ॥
कीर्यमाणे तदा द्रोणे शरैर्गाण्डीवधन्वना ।
हाहाकारो महानासीत् सैन्यानां भरतर्षभ ॥ ७० ॥

तत्पश्चात् एक ही साथ झुकी हुई गाँठवाले एक लाख बाण द्रोणाचार्यके रथके समीप आ गिरे। जनमेजय! गाण्डीवधन्वा अर्जुनके द्वारा जब द्रोणपर इस प्रकार बाणवर्षा होने लगी, तब कौरव-सैनिकोंमें भारी हाहाकार मच गया॥ ६९-७०॥

पाण्डवस्य तु शीघ्रास्त्रं मघवा प्रत्यपूजयत्।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव ये च तत्र समागताः॥ ७१॥

पाण्डुनन्दनके शीघ्रतापूर्वक अस्त्र-संचालनके लिये इन्द्रने उनकी बड़ी प्रशंसा की। उनके सिवा वहाँ जो गन्धर्व और अप्सराएँ आयी थीं, उन्होंने भी उनकी बड़ी सराहना की॥ ७१॥

ततो वृन्देन महता रथानां रथयूथपः।
आचार्यपुत्रः सहसा पाण्डवं पर्यवारयत्॥ ७२॥

तदनन्तर रथियोंके यूथपति आचार्यपुत्र अश्वत्थामाने रथारोहियोंके विशाल समूहके साथ सहसा वहाँ पहुँचकर पाण्डुनन्दनको चारों ओरसे घेर लिया॥ ७२॥

अश्वत्थामा तु तत् कर्म हृदयेन महात्मनः।
पूजयामास पार्थस्य कोपं चास्याकरोद् भृशम्॥ ७३॥

अश्वत्थामाने महात्मा अर्जुनके उस पराक्रमकी मन-ही-मन भूरि-भूरि प्रशंसा की और उनपर अपना महान् क्रोध प्रकट किया॥ ७३॥

स मन्युवशमापन्नः पार्थमभ्यद्रवद् रणे।
किरञ्छरसहस्राणि पर्जन्य इव वृष्टिमान्॥ ७४॥

आचार्यपुत्र क्रोधके वशीभूत हो गया था। वह रणभूमिमें जल बरसानेवाले मेघकी भाँति सहस्रों बाणोंकी बौछार करता हुआ पार्थपर टूट पड़ा॥ ७४॥

आवृत्य तु महाबाहुर्यतो द्रौणिस्ततो हयान्।
अन्तरं प्रददौ पार्थो द्रोणस्य व्यपसर्पितुम्॥ ७५॥

तब महाबाहु अर्जुनने जिधर अश्वत्थामा था, उसी ओर घोड़ोंको घुमाकर आचार्य द्रोणको भाग जानेका अवसर दे दिया॥ ७५॥

स तु लब्ध्वान्तरं तूर्णमपायाज्जवनैर्हयैः।
छिन्नवर्मध्वजः शूरो निकृत्तः परमेषुभिः॥ ७६॥

अर्जुनके उत्तम बाणोंसे द्रोणके कवच और ध्वज छिन्न-भिन्न हो चुके थे। वे स्वयं भी बहुत घायल हो गये थे, अतः मौका पाते ही वेगशाली घोड़ोंको बढ़ाकर तुरंत वहाँसे भाग निकले॥ ७६॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि द्रोणापयाने अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें द्रोणाचार्यके पलायनसे सम्बन्ध रखनेवाला अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५८॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

अश्वत्थामाके साथ अर्जुनका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रौणिर्महाराज प्रययावर्जुनं रणे।
तं पार्थः प्रतिजग्राह वायुवेगमिवोद्धतम्।
शरजालेन महता वर्षमाणमिवाम्बुदम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज! तदनन्तर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने रणभूमिमें जब अर्जुनपर बड़े वेगसे आक्रमण किया, तब अर्जुनने भी प्रचण्ड वायुवेगके समान तीव्र गतिसे आते हुए अश्वत्थामाको रोका। उस समय जल बरसानेवाले मेघकी भाँति वह महान् शरसमूहकी वर्षा कर रहा था॥ १॥

तयोर्देवासुरसमः संनिपातो महानभूत्।
किरतोः शरजालानि वृत्रवासवयोरिव॥ २॥

उन दोनोंमें देवताओं और असुरोंके समान भारी संघर्ष होने लगा। वे दोनों (एक-दूसरेपर) बाणसमूहोंकी बौछार करते हुए वृत्रासुर और इन्द्रके समान जान पड़ते थे॥ २॥

न स्म सूर्यस्तदा भाति न च वाति समीरणः।
शरजालावृते व्योम्निच्छायाभूते समन्ततः॥ ३॥

उनके बाणोंके जालसे आच्छादित होकर आकाश सब ओरसे अन्धकारमय हो रहा था। उस समय न तो सूर्य प्रकाशित हो रहे थे और न वायु ही चल पाती थी॥ ३॥

महांश्चटचटाशब्दो योधयोर्हन्यमानयोः।
दह्यतामिव वेणूनामासीत् परपुरंजय॥ ४॥

शत्रुविजयी जनमेजय! जब दोनों योद्धा एक दूसरेपर आघात करते, तब जलते हुए बाँसोंके चटखनेकी भाँति चट-चट शब्द होने लगता था॥ ४॥

हयानस्यार्जुनः सर्वान् कृतवानल्पजीवितान्।
ते राजन् न प्रजानन्त दिशं काञ्चन मोहिताः॥ ५॥

अर्जुनने अश्वत्थामाके घोड़ोंको घायल करके अल्पजीवी बना दिया। राजन्! वे मोहग्रस्त (मूर्च्छित) होनेके कारण किसी भी दिशाको नहीं जान पाते थे॥ ५॥

ततो द्रौणिर्महावीर्यः पार्थस्य विचरिष्यतः ।
विवरं सूक्ष्ममालोक्य ज्यां चिच्छेद क्षुरेण ह ।
तदस्यापूजयन् देवाः कर्म दृष्ट्वातिमानुषम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर महापराक्रमी अश्वत्थामाने रणभूमिमें विचरते हुए अर्जुनका छोटा-सा छिद्र (तनिक-सी असावधानी) देखकर क्षुर नामक बाणसे उनकी प्रत्यञ्चा काट डाली। उसके इस अतिमानुष कर्मको देखकर सब देवता उसकी बड़ी प्रशंसा करने लगे ॥ ६ ॥

द्रोणो भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्चैव महारथाः ।
साधु साध्विति भाषन्तोऽपूजयन् कर्म तस्य तत्॥ ७ ॥

द्रोण, भीष्म, कर्ण और कृपाचार्य—ये सभी महारथी साधुवाद देते हुए अश्वत्थामाके उस कार्यकी सराहना करने लगे ॥ ७ ॥

ततो द्रौणिर्धनुः श्रेष्ठमपकृष्य रथर्षभम् ।
पुनरेवाहनत् पार्थं हृदये कङ्कपत्रिभिः ॥ ८ ॥

तदनन्तर द्रोणपुत्रने अपना श्रेष्ठ धनुष खींचकर कङ्क पक्षीके पंखवाले बाणोंद्वारा रथियोंमें श्रेष्ठ पार्थकी छातीमें पुनः भारी आघात पहुँचाया ॥ ८ ॥

ततः पार्थो महाबाहुः प्रहस्य स्वनवत् तदा ।
योजयामास नवया मौर्व्या गाण्डीवमोजसा ॥ ९ ॥

उस समय महाबाहु पार्थ ठहाका मारकर हँसने लगे। फिर उन्होंने गाण्डीव धनुषपर बलपूर्वक नयी प्रत्यञ्चा चढ़ा दी ॥ ९ ॥

ततोऽर्धचन्द्रमावृत्य तेन पार्थः समागमत् ।
वारणेनेव मत्तेन मत्तो वारणयूथपः ॥ १० ॥

तदनन्तर पसीनेसे अर्धचन्द्राकार धनुषकी डोरीको माँजकर अर्जुन अश्वत्थामासे भिड़ गये, मानो कोई उन्मत्त गजयूथाधिपति किसी दूसरे मतवाले हाथीके साथ जा भिड़ा हो॥१०॥

ततः प्रववृते युद्धं पृथिव्यामेकवीरयोः ।
रणमध्ये द्वयोरेवं सुमहल्लोमहर्षणम् ॥ ११ ॥

इसके बाद उस रणभूमिमें भूमण्डलके इन दोनों अनुपम वीरोंका ऐसा भयंकर संग्राम हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ ११ ॥

तौ वीरौ ददृशुः सर्वे कुरवो विस्मयान्विताः ।
युध्यमानौ महावीर्यौ यूथपाविव संगतौ ॥ १२ ॥

समस्त कौरव विस्मयविमुग्ध होकर उन दोनों वीरोंकी ओर देखने लगे । महापराक्रमी अश्वत्थामा और अर्जुन परस्पर भिड़े हुए दो यूथपतियोंकी भाँति लड़ रहे थे ॥ १२ ॥

तौ समाजघ्नतुर्वीरावन्योन्यं पुरुषर्षभौ ।
शरैराशीविषाकारैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः ॥ १३ ॥

वे दोनों पुरुषसिंह वीर विषधर सर्पके समान आकारवाले जलते हुए-से बाणोंद्वारा एक दूसरेको चोट पहुँचाने लगे ॥ १३ ॥

अक्षय्याविषुधी दिव्यौ पाण्डवस्य महात्मनः ।
तेन पार्थो रणे शूरस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १४ ॥

महात्मा पाण्डुनन्दनके पास दो दिव्य अक्षय तूणीर थे, इससे कुन्तीपुत्र शूरवीर अर्जुन रणभूमिमें पर्वतकी भाँति अविचल खड़े रहे ॥ १४ ॥

अश्वत्थाम्नः पुनर्बाणाः क्षिप्रमभ्यस्यतो रणे ।
जग्मुः परिक्षयं तूर्णमभूत् तेनाधिकोऽर्जुनः ॥ १५ ॥

परंतु संग्राममें शीघ्रतापूर्वक बार-बार शरसंधान करनेवाले अश्वत्थामाके बाण जल्दी समाप्त हो गये । इस कारण अर्जुन उसकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए ॥ १५ ॥

ततः कर्णो महाचापं विकृष्याभ्यधिकं तदा ।
अवाक्षिपत् ततः शब्दो हाहाकारो महानभूत् ॥ १६ ॥

तब कर्णने अपने महान् धनुषको बड़े जोरसे खींचकर टंकार की । उससे वहाँ महान् हाहाकारका शब्द होने लगा ॥ १६ ॥

ततश्चक्षुर्दधे पार्थो यत्र विस्फार्यते धनुः ।
ददर्श तत्र राधेयं तस्य कोपो व्यवर्धत ॥ १७ ॥

तब अर्जुनने जहाँ धनुषकी टंकार हो रही थी, उधर दृष्टि डाली, तो वहाँ राधानन्दन कर्ण दिखायी पड़ा। इससे उनका क्रोध बहुत बढ़ गया ॥ १७ ॥

स रोषवशमापन्नः कर्णमेव जिघांसया ।
तमैक्षत विवृत्ताभ्यां नेत्राभ्यां कुरुपुङ्गवः ॥ १८ ॥

तब कुरुश्रेष्ठ अर्जुन रोषके वशीभूत हो कर्णको ही मार डालनेकी इच्छासे दोनों आँखें फाड़-फाड़कर उसकी ओर देखने लगे ॥ १८ ॥

तथा तु विमुखे पार्थे द्रोणपुत्रस्य सायकान् ।
त्वरिताः पुरुषा राजन्नुपाजह्रुः सहस्रशः ॥ १९ ॥

राजन् ! इस प्रकार जब अर्जुनने उधरसे दृष्टि हटाकर दूसरी ओर मुँह फेर लिया, तब बहुत-से सैनिक तुरंत वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने द्रोणपुत्रके हजारों बाणोंको (रणभूमिसे उठाकर) उन्हें समर्पित कर दिया ॥ १९ ॥

उत्सृज्य च महाबाहुर्द्रोणपुत्रं धनंजयः ।
अभिदुद्राव सहसा कर्णमेव सपत्नजित् ॥ २० ॥

तब शत्रुविजयी महाबाहु धनंजयने द्रोणपुत्रको वहीं छोड़कर सहसा कर्णपर ही धावा किया ॥ २० ॥

तमभिद्रुत्य कौन्तेयः क्रोधसंरक्तलोचनः ।

कामयन् द्वैरथं तेन युद्धं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

और कर्णके पास पहुँचकर उसके साथ द्वन्द्वयुद्धकी इच्छा रखते हुए कुन्तीकुमारने क्रोधसे लाल आँखें करके यह बात कही ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनाश्वत्थामयुद्धे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय अर्जुन और अश्वत्थामाके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

अर्जुन और कर्णका संवाद तथा कर्णका अर्जुनसे हारकर भागना

अर्जुन उवाच

कर्ण यत् ते सभामध्ये बहु वाचा विकत्थितम् ।
न मे युधि समोऽस्तीति तदिदं समुपस्थितम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—कर्ण ! पहले कौरवोंकी सभामें तूने जो अपनी बहुत प्रशंसा करते हुए यह बात कही थी कि युद्धमें मेरे समान दूसरा कोई योद्धा नहीं है। (उसकी सच्चाईकी परीक्षाके लिये) यह युद्धका अवसर उपस्थित हो गया है॥१॥

सोऽद्य कर्ण मया सार्धं व्यवहृत्य महामृधे ।
ज्ञास्यस्यबलमात्मानं न चान्यानवमंस्यसे ॥ २ ॥

कर्ण ! आज इस महासंग्राममें मेरे साथ भिड़कर तू अपनेको भलीभाँति निर्बल समझ लेगा और फिर कभी दूसरोंका अपमान नहीं करेगा ॥ २ ॥

अवोचः परुषा वाचो धर्ममुत्सृज्य केवलम् ।
इदं तु दुष्करं मन्ये यदिदं ते चिकीर्षितम् ॥ ३ ॥

पहले तूने केवल धर्मकी अवहेलना करके बड़ी कठोर बातें कही हैं, परंतु तू जो कुछ करना चाहता है, वह तेरे लिये मैं अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ ॥ ३ ॥

यत् त्वया कथितं पूर्वं मामनासाद्य किंचन ।
तदद्य कुरु राधेय कुरुमध्ये मया सह ॥ ४ ॥

राधानन्दन ! मेरे साथ भिड़न्त होनेके पहले कौरवोंकी सभामें तूने जो कुछ कहा है, आज मेरे साथ युद्ध करके वह सब सत्य कर दिखा ॥ ४ ॥

यत् सभायां स पाञ्चालीं क्लिश्यमानां दुरात्मभिः ।
दृष्टवानसि तस्याद्य फलमाप्नुहि केवलम् ॥ ५ ॥

अरे ! भरी सभामें दुरात्मा कौरव पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको क्लेश दे रहे थे और तू मौजसे यह सब देखता रहा। आज केवल उस अत्याचारका फल भोग ले ॥ ५ ॥

धर्मपाशनिबद्धेन यन्मया मर्षितं पुरा ।
तस्य राधेय कोपस्य विजयं पश्य मे मृधे ॥ ६ ॥

पहले मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हुआ था। इसलिये मैंने सब कुछ (चुपचाप) सह लिया। परंतु राधापुत्र ! आजके युद्धमें मेरे उस क्रोधका फल मेरी विजयके रूपमें अभी देख ले ॥ ६ ॥

वने द्वादश वर्षाणि यानि सोढानि दुर्मते ।
तस्याद्य प्रतिकोपस्य फलं प्राप्नुहि सम्प्रति ॥ ७ ॥

ओ दुर्मते ! हमने बारह वर्षोंतक वनमें रहकर जो क्लेश सहन किये हैं, उनका बदला चुकानेके लिये आज मेरे बढ़े हुए क्रोधका फल तू अभी चख ले ॥ ७ ॥

एहि कर्ण मया सार्धं प्रतियुध्यस्व सङ्गरे ।
प्रेक्षकाः कुरवः सर्वे भवन्तु तव सैनिकाः ॥ ८ ॥

कर्ण ! आ, रणभूमिमें मेरा सामना कर। समस्त कौरव और तेरे सैनिक सब दर्शक होकर हमारे युद्धको देखें ॥ ८ ॥

कर्ण उवाच

ब्रवीषि वाचा यत् पार्थ कर्मणा तत् समाचर ।
अतिशेते हि ते वाक्यं कर्मैतत् प्रथितं भुवि ॥ ९ ॥

कर्णने कहा—कुन्तीपुत्र ! तू मुझसे जो कुछ कहता है, उसे क्रियाद्वारा करके दिखा। तेरी बातें कार्य करनेकी अपेक्षा बहुत बढ़-चढ़कर होती हैं। यह बात भूमण्डलमें प्रसिद्ध है ॥ ९ ॥

यत् त्वया मर्षितं पूर्वं तदशक्तेन मर्षितम् ।
इतो गृह्णीमहे पार्थ तव दृष्ट्वा पराक्रमम् ॥ १० ॥

पार्थ ! तेरा यह जबानी पराक्रम देखकर तो हम इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि तूने पहले जो कुछ सहन किया है, वह अपनी असमर्थताके ही कारण किया है ॥१०॥

धर्मपाशनिबद्धेन यत् त्वया मर्षितं पुरा ।
तथैव बद्धमात्मानमबद्धमिव मन्यसे ॥ ११ ॥

यदि तूने पहले धर्मके बन्धनमें बँधकर कष्ट सहन किया है, तो आज भी तू उसी प्रकार बँधा हुआ है; तो भी तू अपने आपको उस बन्धनसे मुक्त-सा मान रहा है ॥ ११ ॥

यदि तावद् वने वासो यथोक्तश्चरितस्त्वया ।
तत् त्वं धर्मार्थवित् क्लिष्टः स मया योद्धुमिच्छसि॥१२॥

यदि तूने वनवासके पूर्वोक्त नियमका भलीभाँति पालन

कर लिया है, तो तू धर्म और अर्थका ज्ञाता ठहरा। इसलिये तूने कष्ट सहा है और उसीको याद करके इस समय मेरे साथ लड़ना चाहता है॥ १२॥

यदि शक्रः स्वयं पार्थ युध्यते तव कारणात्।
तथापि न व्यथा काचिन्मम स्याद् विक्रमिष्यतः॥ १३॥

पार्थ! यदि इस समय साक्षात् इन्द्र भी तेरे लिये युद्ध करने आयें तो भी युद्धमें पराक्रम दिखाते हुए मुझको किसी प्रकारकी व्यथा न होगी॥ १३॥

अयं कौन्तेय कामस्ते नचिरात् समुपस्थितः।
योत्स्यसे हि मया सार्धमद्य द्रक्ष्यसि मे बलम्॥ १४॥

कुन्तीकुमार! मेरे साथ युद्धका जो तेरा हौसला है, वह अभी-अभी प्रकट हुआ है। अतः अब मेरे साथ तेरा युद्ध होगा और आज तू मेरा बल स्वयं देख लेगा॥ १४॥

अर्जुन उवाच

इदानीमेव तावत् त्वमपयातो रणान्मम।
तेन जीवसि राधेय निहतस्त्वनुजस्तव॥ १५॥

अर्जुन बोले—राधापुत्र! अभी कुछ ही देर पहलेकी बात है, मेरे सामने युद्धसे पीठ दिखाकर तू भाग गया था, इसीलिये अबतक जी रहा है; किंतु तेरा छोटा भाई मारा गया॥ १५॥

भ्रातरं घातयित्वा कस्त्यक्त्वा रणशिरश्च कः।
त्वदन्यः कः पुमान् सत्सु ब्रूयादेवं व्यवस्थितः॥ १६॥

तेरे सिवा दूसरा कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपने भाईको मरवाकर और युद्धका मुहाना छोड़कर (भाग जानेके बाद भी) भलेमानसोंके बीचमें खड़ा हो ऐसी डींग मारेगा?॥ १६॥

वैशम्पायन उवाच

इति कर्णं ब्रुवन्नेव बीभत्सुरपराजितः।
अभ्ययाद् विसृजन् बाणान् कायावरणभेदिनः॥ १७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुन किसीसे भी परास्त होनेवाले नहीं थे। वे कर्णसे उपर्युक्त बातें कहकर कवचको भी विदीर्ण कर देनेवाले बाण छोड़ते हुए उसकी ओर बढ़े॥ १७॥

प्रतिजग्राह तं कर्णः प्रीयमाणो महारथः।
महता शरवर्षेण वर्षमाणमिवाम्बुदम्॥ १८॥

महारथी कर्णने बड़ी प्रसन्नताके साथ मेघके सदृश बाणोंकी वृष्टि करनेवाले अर्जुनको अपने सायकोंकी भारी बौछार करके रोका॥ १८॥

उत्पेतुः शरजालानि घोररूपाणि सर्वशः।
अविध्यदश्वान् बाह्वोश्च हस्तावापं पृथक्-पृथक्॥ १९॥

सोऽमृष्यमाणः कर्णस्य निषङ्गस्यावलम्बनम्।
चिच्छेद निशिताग्रेण शरेण नतपर्वणा॥ २०॥

फिर तो आकाशमें सब ओर भयंकर बाणोंके समूह उड़ने लगे। अर्जुनसे यह सहन न हो सका; अतः उन्होंने झुकी हुई गाँठ एवं तीखी नोकवाले बाणसे कर्णके घोड़ोंको बींध डाला। भुजाओंमें भी गहरी चोट पहुँचायी और हाथोंके दस्तानोंको भी पृथक्-पृथक् विदीर्ण कर दिया। इतना ही नहीं, कर्णके भाथा लटकानेकी रस्सीको भी काट गिराया॥ १९-२०॥

उपासङ्गादुपादाय कर्णो बाणानथापरान्।
विव्याध पाण्डवं हस्ते तस्य मुष्टिरशीर्यत॥ २१॥

तब कर्णने (अलग रक्खे हुए) छोटे तरकससे दूसरे बाण लेकर पाण्डुनन्दन अर्जुनके हाथमें चोट पहुँचायी। इससे उनकी मुट्ठी ढीली पड़ गयी॥ २१॥

ततः पार्थो महाबाहुः कर्णस्य धनुरच्छिनत्।
स शक्तिं प्राहिणोत् तस्मै तां पार्थो व्यधमच्छरैः॥

तब महाबाहु पार्थने कर्णका धनुष काट दिया। यह देख कर्णने अर्जुनपर शक्ति चलायी; किंतु पार्थने उसे बाणोंसे नष्ट कर दिया॥ २२॥

ततोऽनुपेतुर्बहवो राधेयस्य पदानुगाः।
तांश्च गाण्डीवनिर्मुक्तैः प्राहिणोद् यमसादनम्॥ २३॥

इतनेमें ही राधापुत्र कर्णके बहुत-से सैनिक वहाँ आ पहुँचे; किंतु अर्जुनने गाण्डीवद्वारा छोड़े हुए बाणोंसे मारकर उन सबको यमलोक भेज दिया॥ २३॥

ततोऽस्याश्वाञ्छरैस्तीक्ष्णैर्बीभत्सुर्भारसाधनैः।
आकर्णमुक्तैरवधीत् ते हताः प्रापतन् भुवि॥ २४॥

तत्पश्चात् बीभत्सुने भार (शत्रुओंके आघात) सहनेमें समर्थ तीखे बाणोंद्वारा, जो धनुषको कानतक खींचकर छोड़े गये थे, घोड़ोंको घायल कर दिया। वे घोड़े मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े॥ २४॥

अथापरेण बाणेन ज्वलितेन महौजसा।
विव्याध कर्णं कौन्तेयस्तीक्ष्णेनोरसि वीर्यवान्॥ २५॥

तत्पश्चात् पराक्रमी कुन्तीकुमारने महान् तेजस्वी तथा अग्निके समान प्रज्वलित दूसरे बाणद्वारा कर्णकी छातीमें आघात किया॥ २५॥

तस्य भित्त्वा तनुत्राणं कायमभ्यगमच्छरः।
ततः स तमसाऽऽविष्टो न स्म किंचित् प्रजज्ञिवान्॥

वह बाण कर्णका कवच काटकर उसके वक्षःस्थलके भीतर घुस गया। इससे कर्णको मूर्च्छा आ गयी और उसे किसी भी बातकी सुध-बुध न रही॥ २६॥

स गाढवेदनो हित्वा रणं प्रायादुदङ्मुखः।
ततोऽर्जुन उदक्रोशदुत्तरश्च महारथः॥ २७॥

कर्णको उस चोटसे बड़ी भारी वेदना हुई और वह युद्धभूमिको छोड़कर उत्तर दिशाकी ओर भागा । यह देख अर्जुन और उत्तर दोनों महारथी जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि कर्णापयाने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें कर्णका पलायनविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एक षष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनका उत्तरकुमारको आश्वासन तथा अर्जुनसे दुःशासन आदिकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

ततो वैकर्तनं जित्वा पार्थो वैराटिमब्रवीत् ।
एतन्मां प्रापयानीकं यत्र तालो हिरण्मयः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार वैकर्तन कर्णको जीतकर अर्जुनने विराटकुमार उत्तरसे कहा—सारथे ! तुम मुझे इस सेनाकी ओर ले चलो, जिसकी ध्वजापर सुवर्णमय ताड़ वृक्षका चिह्न है ॥ १ ॥

अत्र शान्तनवो भीष्मो रथेऽस्माकं पितामहः ।
काङ्क्षमाणो मया युद्धं तिष्ठत्यमरदर्शनः ॥ २ ॥

'उस रथपर हम सबके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मजी बैठे हैं। वे मेरे साथ युद्धकी इच्छा रखकर खड़े हैं। उनका दर्शन देवताओंके समान है' ॥ २ ॥

अथ सैन्यं महद् दृष्ट्वा रथनागहयाकुलम् ।
अब्रवीदुत्तरः पार्थमपविद्धः शरैर्भृशम् ॥ ३ ॥
नाहं शक्ष्यामि वीरेह नियन्तुं ते हयोत्तमान् ।
विषीदन्ति मम प्राणा मनो विह्वलतीव मे ॥ ४ ॥

यह सुनकर उत्तरने, जो बाणोंसे अत्यन्त घायल हो चुका था, रथों, हाथियों और घोड़ोंसे भरी हुई विशाल सेनाकी ओर देखकर कहा—'वीर ! अब मैं युद्धभूमिमें आपके उत्तम घोड़ोंको नहीं सम्हाल सकूँगा। मेरे प्राण बड़ी व्यथामें हैं और मन व्याकुल-सा हो रहा है ॥ ३-४ ॥

अस्त्राणामिव दिव्यानां प्रभावः सम्प्रयुज्यताम्।
त्वया च कुरुभिश्चैव द्रवन्तीव दिशो दश॥ ५ ॥

'आपके तथा कौरव वीरोंके द्वारा प्रयुक्त होनेवाले दिव्यास्त्रोंका प्रभाव यह है कि मुझे दसों दिशाएँ भागती-सी प्रतीत होती हैं ॥ ५ ॥

गन्धेन मूर्च्छितश्चाहं वसारुधिरमेदसाम् ।
द्वैधीभूतं मनो मेऽद्य तव चैव प्रपश्यतः ॥ ६ ॥

'मैं चर्बी, रक्त और मेदकी गन्धसे मूर्च्छित हो रहा हूँ। आज आपके देखते-देखते मेरा मन दुविधामें पड़ गया है ॥६॥

अदृष्टपूर्वः शूराणां मया संख्ये समागमः ।
गदापातेन महता शङ्खानां निस्वनेन च ॥ ७ ॥
सिंहनादैश्च शूराणां गजानां बृंहितैस्तथा ।
गाण्डीवशब्देन भृशमशनिप्रतिमेन च ।
श्रुतिः स्मृतिश्च मे वीर प्रणष्टा मूढचेतसः ॥ ८ ॥

'युद्धमें इतने शूरवीरोंका जमघट मैंने पहले कभी नहीं देखा था । वीरवर ! गदाओंके भारी आघात, शङ्खोंके भयंकर शब्द, शूरवीरोंके सिंहनाद, हाथियोंके चिग्घाड़ तथा वज्रकी गड़गड़ाहटके समान गाण्डीव धनुषकी भारी टंकार-ध्वनिसे मेरा चित्त मोहित हो गया है। मेरी श्रवणशक्ति और स्मरणशक्ति भी जवाब दे चुकी है ॥ ७-८ ॥

अलातचक्रप्रतिमं मण्डलं सततं त्वया ।
व्याक्षिप्यमाणं समरे गाण्डीवं च प्रकर्षता ।
दृष्टिः प्रचलिता वीर हृदयं दीर्यतीव मे ॥ ९ ॥

'रणभूमिमें आप निरन्तर गाण्डीव धनुषको खींचते और टंकारते रहते हैं, जिससे यह अलातचक्रके समान गोल प्रतीत होता है। उसे देखकर मेरी आँखें चौंधियाँ रही हैं तथा हृदय फटा-सा जा रहा है ॥ ९ ॥

वपुश्चोग्रं तव रणे क्रुद्धस्येव पिनाकिनः ।
व्यायच्छतस्तव भुजं दृष्ट्वा भीर्मे भवत्यपि ॥ १० ॥

'इस संग्राममें कुपित हुए पिनाकपाणि भगवान् रुद्रकी भाँति आपका शरीर भयानक जान पड़ता है और लगातार धनुष-बाण चलानेके व्यायाममें संलग्न रहनेवाले आपकी भुजाओंको देखकर भी मुझे भय लगता है ॥ १० ॥

नाददानं न संधानं न मुञ्चन्तं शरोत्तमान् ।
त्वामहं सम्प्रपश्यामि पश्यन्नपि न चेतनः ॥ ११ ॥

'आप कब उत्तम बाणोंको हाथमें लेते, कब धनुषपर रखते और कब उन्हें छोड़ते हैं, यह सब मैं नहीं देख पाता और देखनेपर भी मुझे चेत नहीं रहता ॥ ११ ॥

अवसीदन्ति मे प्राणा भूरियं चलतीव च ।
न च प्रतोदं रश्मींश्च संयन्तुं शक्तिरस्ति मे ॥ १२ ॥

इस समय मेरे प्राण अकुला रहे हैं। यह पृथ्वी काँपती-सी जान पड़ती है। इस समय मुझमें इतनी शक्ति नहीं है कि घोड़ोंकी रास सँभालूँ और चाबुक लेकर इन्हें हाँकूँ' ॥

अर्जुन उवाच

मा भैषीः स्तम्भयात्मानं त्वयापि नरपुङ्गव ।
अत्यद्भुतानि कर्माणि कृतानि रणमूर्धनि ॥ १३ ॥

अर्जुन बोले—नरश्रेष्ठ ! डरो मत । अपने आपको सँभालो । तुमने भी युद्धके मुहानेपर बड़े अद्भुत पराक्रम दिखाये हैं ॥ १३ ॥

राजपुत्रोऽसि भद्रं ते कुले मत्स्यस्य विश्रुते ।
जातस्त्वं शत्रुदमने नावसीदितुमर्हसि ॥ १४ ॥
धृतिं कृत्वा सुविपुलां राजपुत्र रथे मम ।
युध्यमानस्य समरे हयान् संयच्छ शत्रुहन् ॥ १५ ॥

तुम राजकुमार हो । तुम्हारा कल्याण हो । तुमने मत्स्यनरेशके विख्यात वंशमें जन्म ग्रहण किया है; अतः शत्रुओंके संहारके अवसरपर तुम्हें शिथिल नहीं होना चाहिये । राजपुत्र ! तुम तो शत्रुओंका नाश करनेवाले हो, अतः पूर्णरूपसे धैर्य धारण करके रथपर बैठो और युद्ध करते समय मेरे घोड़ोंको काबूमें रक्खो ॥ १४-१५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाबाहुर्वैराटिं नरसत्तमः ।
अर्जुनो रथिनां श्रेष्ठ उत्तरं वाक्यमब्रवीत् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार समझा-बुझाकर रथियोंमें श्रेष्ठ और मनुष्योंमें सर्वोत्तम महाबाहु अर्जुन विराट-कुमार उत्तरसे पुनः यह वचन बोले—॥ १६ ॥

सेनाग्रमाशु भीष्मस्य प्रापयस्वैतदेव माम् ।
आच्छेत्स्याम्यहमेतस्य धनुर्ज्यामपि चाहवे ॥ १७ ॥

'राजकुमार ! तुम शीघ्र ही पितामह भीष्मकी इसी सेनाके सामने मेरा रथ ले चलो, मुझे पहुँचाओ । इस युद्धमें मैं इनकी प्रत्यञ्चा भी काट डालूँगा ॥ १७ ॥

अस्यन्तं दिव्यमस्त्रं मां चित्रमद्य निशामय ।
शतह्रदामिवायान्तीं स्तनयित्नोरिवाम्बरे ॥ १८ ॥
सुवर्णपृष्ठं गाण्डीवं द्रक्ष्यन्ति कुरवो मम ।
दक्षिणेनाथ वामेन कतरेण स्विदस्यति ॥ १९ ॥
इति मां सङ्गताः सर्वे तर्कयिष्यन्ति शत्रवः ।
शोणितोदां रथावर्तां नागनक्रां दुरत्ययाम् ।
नदीं प्रस्कन्दयिष्यामि परलोकप्रवाहिनीम् ॥ २० ॥

'आज मुझे विचित्र दिव्यास्त्रोंका प्रहार करते देखो । जैसे आकाशमें मेघोंकी घटासे बिजली प्रकट होती है, उसी प्रकार (बाणोंकी विद्युच्छटा प्रकट करनेवाले) मेरे गाण्डीव धनुषको, जिसके पृष्ठभागमें सोना मढ़ा है, आज कौरवलोग विस्मित होकर देखेंगे । आज सारी शत्रुमण्डली इकट्ठी होकर यह अनुमान लगायेगी कि अर्जुन किस हाथसे बाण चलाते हैं ? दाहिने हाथसे या बायेंसे ? आज मैं परलोककी ओर प्रवाहित होनेवाली (शत्रुसेनारूप) दुर्लङ्घ्य नदीको मथ डालूँगा, जिसमें रक्त ही जल है, रथ भँवर हैं और हाथी ग्राहके स्थानमें हैं ॥ १८—२० ॥

पाणिपादशिरःपृष्ठबाहुशाखानिरन्तरम् ।
वनं कुरूणां छेत्स्यामि शरैः संनतपर्वभिः ॥ २१ ॥

'आज झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा कौरवसेनारूपी जंगलको काट डालूँगा । हाथ, पैर, सिर, पृष्ठ (पीठ) तथा बाहु आदि अङ्ग ही विविध शाखाओंके रूपमें फैलकर इस कौरव-वनको सघन किये हुए हैं ॥ २१ ॥

जयतः कौरवीं सेनामेकस्य मम धन्विनः ।
शतं मार्गा भविष्यन्ति पावकस्येव कानने ॥ २२ ॥

'जैसे वनमें लगे हुए दावानलको आगे बढ़नेके लिये सैकड़ों मार्ग सुलभ होते हैं, उसी प्रकार कौरवसेनापर विजय पानेवाले मुझ एकमात्र धनुर्धर वीरके लिये इसमें सैकड़ों मार्ग प्रकट हो जायँगे ॥ २२ ॥

मया चक्रमिवाविद्धं सैन्यं द्रक्ष्यसि केवलम् ।
इष्वस्त्रे शिक्षितं चित्रमहं दर्शयितास्मि ते ॥ २३ ॥

'मेरे बाणोंसे घायल हुई सारी सेनाको तुम चक्रकी भाँति घूमती हुई देखोगे । आज तुम्हें बाणविद्यामें प्राप्त की हुई अपनी विचित्र शिक्षाका परिचय कराऊँगा ॥ २३ ॥

असम्भ्रान्तो रथे तिष्ठ समेषु विषमेषु च ।
दिवमावृत्य तिष्ठन्तं गिरिं भिन्द्यां स्म पत्रिभिः ॥ २४ ॥

'तुम सम-विषम (ऊँची-नीची) भूमियोंमें सम्भ्रम-रहित (सावधान) होकर रथपर बैठो (और घोड़ोंकी सँभाल रखो ।) आज मैं सारे आकाशको घेरकर खड़े हुए (महान्) पर्वतको भी अपने बाणोंसे विदीर्ण कर डालूँगा ॥ २४ ॥

अहमिन्द्रस्य वचनात् संग्रामेऽभ्यहनं पुरा ।
पौलोमान् कालखञ्जांश्च सहस्राणि शतानि च ॥ २५ ॥

'मैंने पहले देवराज इन्द्रकी आज्ञासे युद्धमें उनके शत्रु पौलोम और कालखञ्ज नामक लाखों दानवोंका वध किया है ॥ २५ ॥

अहमिन्द्राद् दृढां मुष्टिं ब्रह्मणः कृतहस्तताम् ।
प्रगाढे तुमुलं चित्रमिति विद्धि प्रजापतेः ॥ २६ ॥

'तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि मैंने धनुष पकड़ते समय मुट्ठीको दृढ़ रखना इन्द्रसे, बाण चलाते समय हाथोंकी फुर्ती ब्रह्माजीसे तथा संकटके समय विचित्र प्रकारसे तुमुल युद्ध करनेकी कला प्रजापतिसे सीखी है ॥ २६ ॥

अहं पारे समुद्रस्य हिरण्यपुरवासिनाम् ।
जित्वा षष्टिं सहस्राणि रथिनामुग्रधन्विनाम् ॥ २७ ॥

'पहलेकी बात है, मैंने समुद्रके उस पार हिरण्यपुरमें

निवास करनेवाले साठ हजार अत्यन्त भयंकर धनुर्धर महारथियोंको परास्त किया था ॥ २७ ॥

शीर्यमाणानि कूलानि प्रवृद्धेनेव वारिणा।
मया कुरूणां वृन्दानि पात्यमानानि पश्य वै ॥ २८ ॥

'आज देख लेना, जैसे प्रबल वेगसे आयी हुई जलकी बाढ़ किनारोंको काट-काटकर गिरा देती है, उसी प्रकार मैं कौरवदलके सैन्यसमूहोंको मार गिराऊँगा ॥ २८ ॥

ध्वजवृक्षं पत्तितृणं रथसिंहगणायुतम्।
वनमादीपयिष्यामि कुरूणामस्त्रतेजसा ॥ २९ ॥

'कौरवोंकी सेना एक जंगलके समान है, उसमें ध्वज ही वृक्ष हैं, पैदल सैनिक घास-फूस हैं तथा रथ ही सिंहोंके स्थानमें हैं । मैं अपने अस्त्र-शस्त्ररूपी अग्निसे आज इस कौरववनको जलाकर भस्म कर दूँगा ॥ २९ ॥

तानहं रथनीडेभ्यः शरैः संनतपर्वभिः।
यत्तान् सर्वानतिबलान् योत्स्यमानानवस्थितान्।
एकः संकालयिष्यामि वज्रपाणिरिवासुरान् ॥ ३० ॥

'जैसे व्याध घोंसलेमें बैठे हुए पक्षियोंको भी मार गिराता है, उसी प्रकार मैं मुड़ी हुई नोकवाले (तीखे) बाणोंसे मारकर उन सभी कौरववीरोंको रथोंकी बैठकोंसे नीचे गिरा दूँगा । जैसे वज्रधारी इन्द्र अकेले ही समस्त असुरोंका संहार कर डालते हैं, उसी प्रकार मैं भी अकेला ही यहाँ युद्धके लिये सावधान होकर खड़े हुए समस्त महाबली योद्धाओंका भलीभाँति विनाश कर डालूँगा ॥ ३० ॥

रौद्रं रुद्रादहं ह्यस्त्रं वारुणं वरुणादपि।
अस्त्रमाग्नेयमग्नेश्च वायव्यं मातरिश्वनः।
वज्रादीनि तथास्त्राणि शक्रादहमवाप्तवान् ॥ ३१ ॥

'मैंने भगवान् रुद्रसे रौद्रास्त्रकी, वरुणसे वारुणास्त्रकी, अग्निसे आग्नेयास्त्रकी और वायु देवतासे वायव्यास्त्रकी शिक्षा प्राप्त की है । इसी प्रकार साक्षात् इन्द्रसे मैंने वज्र आदि अस्त्र प्राप्त किये हैं ॥ ३१ ॥

धार्तराष्ट्रवनं घोरं नरसिंहाभिरक्षितम्।
अहमुत्पाटयिष्यामि वैराटे व्येतु ते भयम् ॥ ३२ ॥

'वीर मानवरूपी सिंहोंसे सुरक्षित इस भयंकर कौरव-वनको मैं अकेला ही उजाड़ डालूँगा, अतः विराटकुमार ! तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये' ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितस्तेन वैराटिः सव्यसाचिना।
व्यवागाहद् रथानीकं भीमं भीष्माभिरक्षितम् ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सव्यसाची अर्जुनके इस प्रकार सान्त्वना देनेपर विराटकुमार उत्तरने भीष्मजीके द्वारा सब ओरसे सुरक्षित रथियोंकी भयंकर सेनामें प्रवेश किया ॥ ३३ ॥

तमायान्तं महाबाहुं जिगीषन्तं रणे कुरून्।
अभ्यवारयदव्यग्रः क्रूरकर्माऽऽपगासुतः ॥ ३४ ॥

रणभूमिमें कौरवोंको जीतनेकी इच्छासे आते हुए महाबाहु अर्जुनको कठोर कर्म करनेवाले गङ्गानन्दन भीष्मने बिना किसी घबराहटके रोक दिया ॥ ३४ ॥

तस्य जिष्णुरुपावृत्य ध्वजं मूलादपातयत्।
विकृष्य कलधौताग्रैः स विद्धः प्रापतद् भुवि ॥ ३५ ॥

तब अर्जुनने उनकी ओर घूमकर सुनहरी धारवाले बाणोंसे भीष्मजीकी ध्वजाको जड़से काट गिराया, बाणोंसे छिद जानेके कारण वह ध्वजा पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३५ ॥

तं चित्रमाल्याभरणाः कृतविद्या मनस्विनः।
आगच्छन् भीमधन्वानं चत्वारश्च महाबलाः ॥ ३६ ॥
दुःशासनो विकर्णश्च दुःसहोऽथ विविंशतिः।
आगत्य भीमधन्वानं बीभत्सुं पर्यवारयन् ॥ ३७ ॥

इतनेहीमें विचित्र माला और आभूषणोंसे विभूषित और अस्त्रसंचालनकी विद्यामें निपुण चार महाबली मनस्वी वीर दुःशासन, विकर्ण, दुःसह और विविंशति वहाँ भयंकर धनुषवाले अर्जुनपर चढ़ आये और वहाँ आकर उन्होंने उग्रधन्वा बीभत्सुको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३६-३७ ॥

दुःशासनस्तु भल्लेन विद्ध्वा वैराटमुत्तरम्।
द्वितीयेनार्जुनं वीरः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ॥ ३८ ॥

वीर दुःशासनने भल्ल नामक एक बाणसे विराटकुमार उत्तरको घायल करके दूसरेसे अर्जुनकी छाती छेद डाली ॥३८॥

तस्य जिष्णुरुपावृत्य पृथुधारेण कार्मुकम्।
चकर्त गार्ध्रपत्रेण जातरूपपरिष्कृतम् ॥ ३९ ॥

तब अर्जुन उसकी ओर मुड़े और मोटी धार और गीधकी पाँख-जैसे पंखवाले बाणसे उन्होंने दुःशासनके सुवर्णजटित धनुषको काट डाला ॥ ३९ ॥

अथैनं पञ्चभिः पश्चात् प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे।
सोऽपयातो रणं हित्वा पार्थबाणप्रपीडितः ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् उसकी छातीमें भी पाँच बाण मारे । पार्थके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो दुःशासन युद्ध छोड़कर भाग गया ॥ ४०॥

तं विकर्णः शरैस्तीक्ष्णैर्गृध्रपत्रैरजिह्मगैः।
विव्याध परवीरघ्नमर्जुनं धृतराष्ट्रजः ॥ ४१ ॥

तब धृतराष्ट्रपुत्र विकर्णने शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले अर्जुनको सीधे लक्ष्यकी ओर जानेवाले गृध्रपत्रयुक्त तीखे बाणोंसे बींध डाला ॥ ४१ ॥

ततस्तमपि कौन्तेयः शरेणानतपर्वणा ।
ललाटेऽभ्यहनत् तूर्णं स विद्धः प्रापतद् रथात्॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् कुन्तीनन्दन अर्जुनने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे उसको भी ललाटमें बींध डाला। उस बाणसे घायल होकर विकर्ण तुरंत ही रथसे नीचे गिर पड़ा ॥४२॥

ततः पार्थमभिद्रुत्य दुःसहः सविविंशतिः ।
अवाकिरच्छरैस्तीक्ष्णैः परीप्सुर्भ्रातरं रणे ॥ ४३ ॥

तब दुःसह और विविंशति अर्जुनकी ओर दौड़े और युद्धमें भाईका बदला लेनेके लिये उनके ऊपर तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥४३॥

तावुभौ गार्ध्रपत्राभ्यां निशिताभ्यां धनंजयः ।
विद्ध्वा युगपदव्यग्रस्तयोर्वाहानसूदयत् ॥ ४४ ॥

फिर धनंजयने गृध्रकी पाँखवाले दो तीखे बाणोंद्वारा उन दोनोंको एक ही साथ घायल करके बिना किसी घबराहटके उनके घोड़ोंको भी मार गिराया ॥४४॥

तौ हताश्वौ विभिन्नाङ्गौ धृतराष्ट्रात्मजावुभौ ।
अभिपत्य रथैरन्यैरपनीतौ पदानुगैः ॥ ४५ ॥

घोड़ोंके मारे जाने और शरीरके बिंध जानेपर उन दोनों धृतराष्ट्रकुमारोंके पास उनके सेवक आ पहुँचे और उन्हें दूसरे रथपर डालकर अन्यत्र हटा ले गये ॥४५॥

सर्वा दिशश्चाभ्यपतद् बीभत्सुरपराजितः ।
किरीटमाली कौन्तेयो लब्धलक्षो महाबलः ॥ ४६ ॥

किसीसे परास्त न होनेवाले किरीट-मालाधारी महाबली कुन्तीनन्दन अर्जुनका निशाना कभी चूकता नहीं था। वे उस सेनामें सब ओर विचरने लगे ॥४६॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि अर्जुनदुःशासनादियुद्धे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें अर्जुनदुःशासन आदिके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनका सब योद्धाओं और महारथियोंके साथ युद्ध

वैशम्पायन उवाच

अथ संगम्य सर्वे ते कौरवाणां महारथाः ।
अर्जुनं सहिता यत्ताः प्रत्ययुध्यन्त भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कौरवसेनाके सब महारथी मिलकर एक साथ संगठित हो बड़ी सावधानीके साथ अर्जुनका सामना करने लगे ॥ १ ॥

स सायकमयैर्जालैः सर्वतस्तान् महारथान् ।
प्राच्छादयदमेयात्मा नीहारेणेव पर्वतान् ॥ २ ॥

परंतु असीम आत्मबलसे सम्पन्न कुन्तीपुत्रने सब ओर सायकोंका जाल-सा बिछाकर कुहरेसे ढके हुए पहाड़ोंकी तरह उन सब महारथियोंको आच्छादित कर दिया ॥ २ ॥

नदद्भिश्च महानागैर्हेषमाणैश्च वाजिभिः ।
भेरीशङ्खनिनादैश्च स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ ३ ॥

बड़े-बड़े गजराजोंके चिग्घाड़ने, घोड़ोंके हिनहिनाने और नगाड़ों तथा शङ्खोंके बजाये जानेसे जो शब्द हुए, उनके एकत्र मिलनेसे उस रणभूमिमें भारी कोलाहल मच गया ॥३॥

नराश्वकायान् निर्भिद्य लौहानि कवचानि च ।
पार्थस्य शरजालानि विनिष्पेतुः सहस्रशः ॥ ४ ॥

पार्थके सहस्रों बाणसमुदाय मनुष्यों और घोड़ोंके शरीरोंको छेदकर और उनके लोहेके बने हुए कवचोंको भी छिन्न-भिन्न करके नीचे गिरा रहे थे ॥ ४ ॥

त्वरमाणः शरानस्यन् पाण्डवः प्रबभौ रणे ।
मध्यंदिनगतोऽर्चिष्मान्छरदीव दिवाकरः ॥ ५ ॥

जैसे शरद्‌ऋतुके (निर्मल आकाशमें) दोपहरका सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणें फैलाकर प्रकाशित होता है, उसी प्रकार संग्राममें पाण्डुनन्दन अर्जुन शत्रुसेनापर उतावलीके साथ बाणवर्षा करते हुए सुशोभित होते थे ॥ ५ ॥

उपप्लवन्ति वित्रस्ता रथेभ्यो रथिनस्तथा ।
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चैव पदातयः ॥ ६ ॥

उस समय अत्यन्त भयभीत होकर रथी सैनिक रथोंसे कूदकर और घुड़सवार घोड़ोंकी पीठसे उछलकर जान लेकर भाग चले और पैदल योद्धा तो भूमिपर थे ही; उन्होंने भी (डरके मारे) इधर-उधरकी राह ली ॥ ६ ॥

शरैः संछिद्यमानानां कवचानां महात्मनाम् ।
ताम्रराजतलौहानां प्रादुरासीन्महास्वनः ॥ ७ ॥

महामना शूरवीरोंके ताँबे, चाँदी और लोहेके बने हुए कवच जब बाणोंसे कटते थे, तब उनका बड़ा भारी शब्द होता था ॥ ७ ॥

छन्नमायोधनं सर्वं शरीरैर्गतचेतसाम् ।
गजाश्वसादिनां तत्र शितबाणात्तजीवितैः ॥ ८ ॥
रथोपस्थाभिपतितैरास्तृता मानवैर्मही ।
प्रनृत्यतीव संग्रामे चापहस्तो धनंजयः ॥ ९ ॥

कुछ ही देरमें युद्धका सारा मैदान मूर्छित हुए सैनिकोंके शरीरोंसे पट गया। तीखे बाणोंकी मारसे जिनके प्राण निकल गये थे, उन हाथीसवारों, घुड़सवारों तथा रथकी बैठकसे गिरे हुए मनुष्योंकी लाशोंसे वहाँकी भूमि आच्छादित हो गयी थी। उस समय ऐसा जान पड़ता था, जैसे धनुष हाथमें लिये अर्जुन युद्धभूमिमें सब ओर नाचते फिर रहे हों ॥ ८-९ ॥

श्रुत्वा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
त्रस्तानि सर्वसैन्यानि व्यपागच्छन् महाहवात् ॥ १० ॥
कुण्डलोष्णीवधारीणि जातरूपस्रजस्तथा।
पतितानि स्म दृश्यन्ते शिरांसि रणमूर्धनि ॥ ११ ॥

गाण्डीवकी टंकार वज्रकी गड़गड़ाहटको भी मात कर रही थी। उसे सुनकर समस्त सैनिक भयभीत हो उस महान् संग्रामसे भाग निकले। युद्धके मुहानेपर कुण्डल और पगड़ी धारण किये असंख्य कटे हुए सिर पड़े दिखायी देते थे। कितने ही सोनेके हार इधर-उधर गिरे थे॥ १०-११ ॥

विशिखोन्मथितैर्गात्रैर्बाहुभिश्च सकार्मुकैः।
सहस्ताभरणैश्चान्यैः प्रच्छन्ना भाति मेदिनी ॥ १२ ॥

अर्जुनके बाणोंसे मथित हुई लाशोंसे वहाँकी जमीन पट गयी थी। कितनी ही भुजाएँ कटकर गिरी थीं; जो अब भी (मुट्ठीमें दृढ़तापूर्वक) धनुष पकड़े हुए थीं। उन हाथोंमें बाजूबन्द, कड़े और अंगूठी आदि आभूषण सभी ज्यों-के-त्यों थे। इन सबसे आच्छादित होकर उस रणभूमिकी विचित्र शोभा हो रही थी ॥ १२ ॥

शिरसां पात्यमानानामन्तरा निशितैः शरैः।
अश्मवृष्टिरिवाकाशादभवद् भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! बीचमें तीखे बाणोंसे काटकर गिराये जानेवाले योद्धाओंके मस्तकोंकी श्रेणी आकाशसे होनेवाली पत्थरोंकी वर्षा-सी जान पड़ती थी ॥ १३ ॥

दर्शयित्वा तथाऽऽत्मानं रौद्रं रुद्रपराक्रमः।
अवरुद्धोऽचरत् पार्थो वर्षाणि त्रिदशानि च।
क्रोधाग्निमुत्सृजन् वीरो धार्तराष्ट्रेषु पाण्डवः ॥ १४ ॥

भयानक पराक्रमी कुन्तीपुत्र अर्जुन तेरह वर्षोंतक वनमें विवश होकर रुके थे। अब (उपयुक्त अवसर पाकर) वे वीर पाण्डुकुमार धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर अपनी क्रोधाग्नि बरसाते तथा अपने रौद्र रूपका दर्शन कराते हुए रणभूमिमें विचरने लगे ॥ १४ ॥

तस्य तद् दहतः सैन्यं दृष्ट्वा चैव पराक्रमम्।
सर्वे शान्तिपरा योधा धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ॥ १५ ॥

कौरव-योद्धाओंको दग्ध करनेवाले अर्जुनका वह पराक्रम देखकर सभी सैनिक दुर्योधनके सामने ही ठण्डे पड़ गये ॥ १५ ॥

वित्रासयित्वा तत् सैन्यं द्रावयित्वा महारथान्।
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठः पर्यवर्तत भारत ॥ १६ ॥

भारत ! विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उस सेनाको भयभीत करके (सामने आये हुए) महारथियोंको भगाकर रणभूमिमें चारों ओर घूमने लगे ॥ १६ ॥

प्रावर्तयन्नदीं घोरां शोणितोदां तरङ्गिणीम्।
अस्थिशैवालसम्बाधां युगान्ते कालनिर्मिताम् ॥ १७ ॥

पार्थने उस समय वहाँ खूनकी नदी बहा दी; जो बड़ी ही भयंकर थी। उसमें जलकी जगह रक्तकी धारा बहती थी तथा रक्तकी ही तरङ्गें उठती थीं। हड्डियाँ ही उसमें सेवार बनकर छा रही थीं। जान पड़ता था, प्रलयकालमें साक्षात् कालने ही उसका निर्माण किया हो ॥ १७ ॥

शरचापप्लवां घोरां केशशैवलशाद्वलाम्।
तनुत्रोष्णीषसम्बाधां नागकूर्ममहाद्विपाम् ॥ १८ ॥

उसमें धनुष और बाण ऐसे बहते थे, मानो डोंगियाँ चल रही हों। उसका स्वरूप बड़ा भयानक लगता था। केश उसमें सेवार और घासके समान प्रतीत होते थे। उसमें वीरोंके कवच और पगड़ियाँ भरी थीं। हाथी कछुओं और बड़े-बड़े जलहस्तियोंके समान जान पड़ते थे ॥ १८ ॥

मेदोवसासृक्प्रवहां महाभयविवर्धिनीम्।
रौद्ररूपां महाभीमां श्वापदैरभिनादिताम् ॥ १९ ॥

मेदा, चर्बी तथा रुधिरको बहानेवाली वह नदी महान् भयको बढ़ानेवाली थी। उसकी स्थिति बड़ी भीषण थी। उस रौद्ररूपा नदीके तटपर (रक्तभोजी) हिंसक जन्तु कोलाहल कर रहे थे ॥ १९ ॥

तीक्ष्णशस्त्रमहाग्राहां क्रव्यादगणसेविताम्।
मुक्ताहारोर्मिकलिलां चित्रालंकारबुद्बुदाम् ॥ २० ॥

तीखे शस्त्र उसके भीतर बड़े-बड़े ग्राहोंके समान जान पड़ते थे। मांसभोजी जीव-जन्तु वहाँ निवास करते थे। मोतियोंकी मालाएँ लहरोंके समान जान पड़ती थीं। विचित्र आभूषण उसमें उठते हुए जलके बुलबुले-जैसे प्रतीत होते थे ॥२०॥

शरसंघमहावर्तां नागनक्रां दुरत्ययाम्।
महारथमहाद्वीपां शङ्खदुन्दुभिनिस्वनाम्।
चकार च तदा पार्थो नदीं दुस्तरशोणिताम् ॥ २१ ॥

बाणोंके समूह बड़ी-बड़ी भँवरें थे। हाथी घड़ियालों-से जान पड़ते थे; अतः उसके पार जाना अत्यन्त कठिन था। बड़े-बड़े रथ उसके भीतर विशाल टापू-जैसे प्रतीत होते थे। शङ्ख और नगाड़ोंकी आवाज ही उस

नदीकी कलकल ध्वनि थी। इस प्रकार अर्जुनने वहाँ खूनकी दुर्लंघ्य नदी बहा दी ॥ २१ ॥

आददानस्य हि शरान् संधाय च विमुञ्चतः ।
विकर्षतश्च गाण्डीवं न कश्चिद् ददृशे जनः ॥ २२ ॥

अर्जुन कब बाण हाथमें लेते, गाण्डीव धनुषपर रखते, उसकी प्रत्यञ्चा खींचते और बाण छोड़ते हैं, यह कोई भी मनुष्य नहीं देख पाता था ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि अर्जुनसंकुलयुद्धे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें अर्जुनके संकुलयुद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

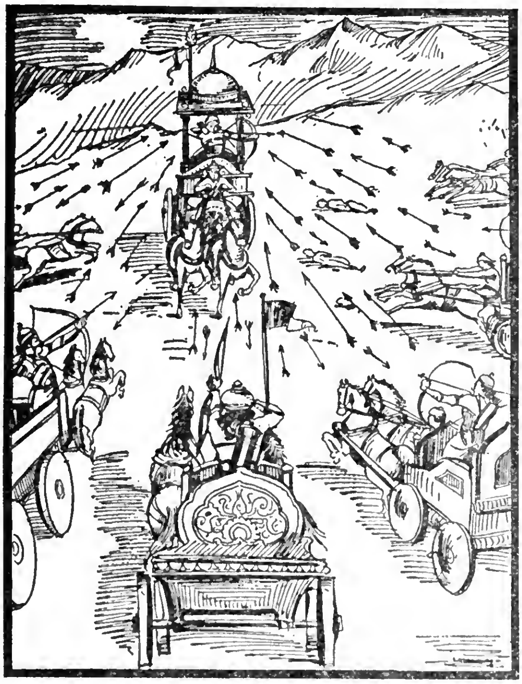
त्रिषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनपर समस्त कौरवपक्षी महारथियोंका आक्रमण और सबका युद्धभूमिसे पीठ दिखाकर भागना

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनः कर्णो दुःशासनविविंशती ।
द्रोणश्च सह पुत्रेण कृपश्चापि महारथः ॥ १ ॥
पुनर्ययुश्च संरब्धा धनंजयजिघांसवः ।
विस्फारयन्तश्चापानि बलवन्ति दृढानि च ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन, विविंशति, पुत्रसहित आचार्य द्रोण और महारथी कृपाचार्य—ये सब योद्धा रोषमें भरकर धनंजयको मार डालनेकी इच्छासे अपने मजबूत और दृढ़ धनुषोंकी टंकार फैलाते हुए उनपर पुनः चढ़ आये ॥ १-२ ॥



तान् विकीर्णपताकेन रथेनादित्यवर्चसा ।
प्रत्युद्ययौ महाराज समन्ताद् वानरध्वजः ॥ ३ ॥

महाराज ! तब वानरयुक्त ध्वजावाले अर्जुन भी सूर्यके समान तेजस्वी तथा फहराती हुई पताकासे सुशोभित रथके द्वारा सब ओरसे उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ ३ ॥

ततः कृपश्च कर्णश्च द्रोणश्च रथिनां वरः ।
तं महास्त्रैर्महावीर्यं परिवार्य धनंजयम् ॥ ४ ॥
शरौघान् सम्यगस्यन्तो जीमूता इव वार्षिकाः ।
ववर्षुः शरवर्षाणि पातयन्तो धनंजयम् ॥ ५ ॥

यह देख कृपाचार्य, कर्ण तथा रथियोंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण—ये महापराक्रमी धनंजयको (चारों ओरसे) घेरकर अपने महान् धनुषोंसे उनपर राशि-राशि बाणोंका खूब जमकर प्रहार करने लगे। वे तीनों महारथी धनंजयको मार गिरानेकी इच्छासे वर्षाकालके मेघोंकी भाँति सायकोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ ४-५ ॥

इषुभिर्बहुभिस्तूर्णं समरे लोमवाहिभिः ।
अदूरात् पर्यवस्थाप्य पूरयामासुरादृताः ॥ ६ ॥

उन्होंने समरभूमिमें थोड़ी ही दूरपर पार्थकी गतिको कुण्ठित करके बड़े चावसे बहुसंख्यक पंखयुक्त बाणोंकी बौछार करते हुए उन्हें तुरंत ढँक दिया ॥ ६ ॥

तथा तैरवकीर्णस्य दिव्यैरस्त्रैः समन्ततः ।
न तस्य द्व्यङ्गुलमपि विवृतं सम्प्रदृश्यते ॥ ७ ॥

वे महारथी जब इस प्रकार सब ओरसे अर्जुनपर दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंकी वर्षा करने लगे, उस समय उनके शरीरका दो अङ्गुल भाग भी बाणोंसे खाली नहीं दिखायी देता था ॥ ७ ॥

ततः प्रहस्य बीभत्सुर्दिव्यमैन्द्रं महारथः ।
अस्त्रमादित्यसंकाशं गाण्डीवे समयोजयत् ॥ ८ ॥

तब महारथी अर्जुनने हँसकर गाण्डीव धनुषपर सूर्यके समान तेजस्वी दिव्य ऐन्द्रास्त्रका संधान किया ॥ ८ ॥

शररश्मिरिवादित्यः प्रतस्थे समरे बली ।
किरीटमाली कौन्तेयः सर्वान् प्राच्छादयत् कुरून् ॥ ९ ॥

फिर तो महाबली किरीटमाली कुन्तीनन्दन अर्जुन सूर्यकी भाँति बाणरूपी प्रचण्ड किरणोंको बिखेरते हुए समरभूमिमें आगे बढ़े। उन्होंने समस्त कौरव-योद्धाओंको सायकोंसे ढँक दिया ॥ ९ ॥

यथा बलाहके विद्युत् पावको वा शिलोच्चये ।
तथा गाण्डीवमभवदिन्द्रायुधमिवानतम् ॥ १० ॥

जैसे मेघोंमें बिजली और पर्वतपर आगकी ज्वाला शोभा पाती है, उसी प्रकार अर्जुनके हाथमें गाण्डीव धनुष सुशोभित होता था। वह आकाशमें इन्द्रधनुष-सा झुका हुआ था ॥१०॥

यथा वर्षति पर्जन्ये विद्युद् विभ्राजते दिवि।
द्योतयन्ती दिशः सर्वाः पृथिवीं च समन्ततः ॥ ११ ॥
तथा दश दिशः सर्वाः पतद्गाण्डीवमावृणोत् ।
नागाश्च रथिनः सर्वे मुमुहुस्तत्र भारत ॥ १२ ॥

जैसे मेघके वर्षा करते समय आकाशमें बिजली चमक उठती है और वह सम्पूर्ण दिशाओं तथा पृथ्वीको भी सब ओरसे प्रकाशित कर देती है, उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करते हुए गाण्डीव धनुषने दसों दिशाओंको सम्पूर्णतया आच्छादित कर दिया। जनमेजय ! उस समय वहाँ हाथीसवार और रथी आदि सब सैनिक मोहित (मूर्च्छित) हो रहे थे ॥११-१२॥

सर्वे शान्तिपरा योधाः स्वचित्तानि न लेभिरे।
संग्रामे विमुखाः सर्वे योधास्ते हतचेतसः ॥ १३ ॥

सबने शान्ति (जडता और मूकता) धारण कर ली थी। किसीका होश ठिकाने न था। सभी योद्धाओंने हतोत्साह होकर युद्धसे मुँह मोड़ लिया ॥ १३ ॥

एवं सर्वाणि सैन्यानि भग्नानि भरतर्षभ ।
व्यद्रवन्त दिशः सर्वा निराशानि स्वजीविते ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! इस प्रकार सारी सेनाका व्यूह टूट गया। सब सैनिक अपने जीवनसे निराश होकर चारों दिशाओंमें भागने लगे ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनसंकुलयुद्धे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय अर्जुनका संकुलयुद्धविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६३॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुन और भीष्मका अद्भुत युद्ध तथा मूर्च्छित भीष्मका सारथिद्वारा रणभूमिसे हटाया जाना

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो भरतानां पितामहः।
वध्यमानेषु योधेषु धनंजयमुपाद्रवत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भरतवंशके सुप्रसिद्ध वीर शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म अपने पक्षके योद्धाओंका संहार होता देख अर्जुनकी ओर दौड़े ॥ १ ॥

प्रगृह्य कार्मुकश्रेष्ठं जातरूपपरिष्कृतम् ।
शरानादाय तीक्ष्णाग्रान् मर्मभेदान् प्रमाथिनः ॥ २ ॥

उन्होंने हाथमें सुवर्णभूषित श्रेष्ठ धनुष और शत्रुओंको मथ डालनेवाले तीखे एवं मर्मभेदी बाण ले रक्खे थे ॥ २ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
शुशुभे स नरव्याघ्रो गिरिः सूर्योदये यथा ॥ ३ ॥

उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे वे नरश्रेष्ठ भीष्म सूर्योदयकालमें उदयाचलकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ ३ ॥

प्रध्माय शङ्खं गाङ्गेयो धार्तराष्ट्रान् प्रहर्षयन् ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य बीभत्सुं समवारयत् ॥ ४ ॥

गङ्गानन्दन भीष्मने शङ्ख बजाकर धृतराष्ट्रपुत्रोंका हर्ष बढ़ाया और दाहिनी ओर मुड़कर अर्जुनको आगे बढ़नेसे रोका ॥ ४ ॥

तमुदीक्ष्य समायान्तं कौन्तेयः परवीरहा।
प्रत्यगृह्णात् प्रहृष्टात्मा धाराधरमिवाचलः ॥ ५ ॥

शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले कुन्तीकुमार धनंजयने भीष्मको आते देख प्रसन्नचित्त होकर उनका सामना किया; ठीक उसी तरह, जैसे पर्वत अविचलभावसे खड़ा हो जल बरसानेवाले मेघका आघात सहन करता है ॥ ५ ॥

ततो भीष्मः शरानष्टौ ध्वजे पार्थस्य वीर्यवान् ।
समार्पयन्महावेगाञ्छ्वसमानानिवोरगान् ॥ ६ ॥

तब पराक्रमी भीष्मने पार्थकी ध्वजापर फुफकारते हुए सर्पोंके समान अत्यन्त वेगशाली आठ बाण मारे ॥ ६ ॥

ते ध्वजं पाण्डुपुत्रस्य समासाद्य पतत्रिणः।
ज्वलन्तं कपिमाजघ्नुर्ध्वजाग्रनिलयांश्च तान् ॥ ७ ॥

उन बाणोंमें पाण्डुनन्दन अर्जुनकी ध्वजाके समीप पहुँचकर वहाँ बैठे हुए तेजस्वी वानरको तथा ध्वजके अग्रभागमें निवास करनेवाले अन्य भूतोंको भी गहरी चोट पहुँचायी ॥

ततो भल्लेन महता पृथुधारेण पाण्डवः।
छत्रं चिच्छेद भीष्मस्य तूर्णं तदपतद् भुवि ॥ ८ ॥

तब पाण्डुकुमारने मोटी धारवाले विशाल भल्लके द्वारा भीष्मका छत्र काट दिया, जिससे वह तुरंत ही पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ८ ॥

ध्वजं चैवास्य कौन्तेयः शरैरभ्यहनद् भृशम् ।
शीघ्रकृद् रथवाहांश्च तथोभौ पार्ष्णिसारथी ॥ ९ ॥

फिर कुन्तीनन्दनने शीघ्रता करते हुए उनकी ध्वजाको भी अपने बाणोंसे छेद डाला और रथके घोड़ों, पार्श्वरक्षकों तथा सारथिको भी बहुत घायल कर दिया ॥ ९ ॥

अमृष्यमाणस्तद् भीष्मो जानन्नपि स पाण्डवम्।
दिव्येनास्त्रेण महता धनंजयमवाकिरत् ॥१०॥

भीष्मजी अपने सैनिकोंपर किये गये अर्जुनके उस पराक्रमको सह न सके। वे यह जानते हुए भी कि ये पाण्डुपुत्र धनंजय हैं, महान् दिव्यास्त्रद्वारा उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १० ॥

तथैव पाण्डवो भीष्मे दिव्यमस्त्रमुदीरयन्।
प्रत्यगृह्णादमेयात्मा महामेघमिवाचलः ॥ ११ ॥

परंतु असीम आत्मबलसे सम्पन्न पाण्डुपुत्र अर्जुन जैसे पर्वत महामेघका सामना करता है, उसी प्रकार भीष्मपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करते हुए उनका सामना करने लगे ॥

तयोस्तदभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
भीष्मस्य सह पार्थेन बलिवासवयोरिव ॥ १२ ॥

उन दोनोंका वह तुमुल युद्ध रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। पार्थके साथ भीष्मका वह संग्राम बलि और इन्द्रके युद्धके समान था ॥ १२ ॥

प्रेक्षन्त कुरवः सर्वे योधाश्च सहसैनिकाः।
भल्लैर्भल्लाः समागम्य भीष्मपाण्डवयोर्युधि।
अन्तरिक्षे व्यराजन्त खद्योताः प्रावृषीव हि ॥ १३ ॥

समस्त कौरव-योद्धा अपने सैनिकोंके साथ खड़े-खड़े तमाशा देखने लगे। रणभूमिमें भीष्म पाण्डुकुमारके भल्ल एक-दूसरेसे टकराकर वर्षाकालके आकाशमें जुगुनुओंकी भाँति चमक उठते थे ॥ १३ ॥

अग्निचक्रमिवाविद्धं सव्यदक्षिणमस्यतः।
गाण्डीवमभवद् राजन् पार्थस्य सृजतः शरान् ॥ १४ ॥
ततः संछादयामास भीष्मं शरशतैः शितैः।
पर्वतं वारिधाराभिश्छादयन्निव तोयदः ॥ १५ ॥

राजन्! दाँयें-बाँयें बाण फेंकनेवाले पार्थके द्वारा घुमाया जाता हुआ गाण्डीव धनुष अलातचक्रके समान जान पड़ता था। तदनन्तर जैसे मेघ अपनी जलधाराओंसे पर्वतको भी आच्छादित कर देता है, उसी प्रकार अर्जुनने सैकड़ों पैने बाणोंसे भीष्मको ढँक दिया ॥ १४-१५ ॥

तां स वेलामिवोद्भूतां शरवृष्टिं समुत्थिताम्।
व्यधमत् सायकैर्भीष्मः पाण्डवं समवारयत् ॥ १६ ॥

जैसे समुद्रमें ज्वार आ गया हो, उसी प्रकार वहाँ प्रकट हुई उस बाणवर्षाको भीष्मने अपने सायकोंसे छिन्न-भिन्न कर दिया और पाण्डुपुत्र अर्जुनको कुण्ठित कर दिया ॥१६॥

ततस्तानि निकृत्तानि शरजालानि भागशः।
समरे च व्यशीर्यन्त फाल्गुनस्य रथं प्रति ॥ १७ ॥

तदनन्तर रणभूमिमें कटकर टुकड़े-टुकड़े हुए वे बाण-समूह अर्जुनके रथपर बिखरने लगे ॥ १७ ॥

ततः कनकपुङ्खानां शरवृष्टिं समुत्थिताम्।
पाण्डवस्य रथात् तूर्णं शलभानामिवायतिम्।
व्यधमत् तां पुनस्तस्य भीष्मः शरशतैः शितैः ॥ १८ ॥

इसके बाद पुनः पाण्डुपुत्र अर्जुनके रथसे टिड्डियोंके दलकी भाँति तुरंत ही सोनेके पंखवाले बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ हुई; किंतु भीष्मने सैकड़ों पैने बाणोंद्वारा उसे फिर शान्त कर दिया ॥ १८ ॥

ततस्ते कुरवः सर्वे साधु साध्विति चाब्रुवन्।
दुष्करं कृतवान् भीष्मो यदर्जुनमयोधयत् ॥ १९ ॥

उस समय समस्त कौरव साधुवाद देते बोल उठे—'अहो! भीष्मजीने यह दुष्कर पराक्रम किया, जो कि अर्जुनके साथ युद्ध किया ॥ १९ ॥

बलवांस्तरुणो दक्षः क्षिप्रकारी धनंजयः।
कोऽन्यः समर्थः पार्थस्य वेगं धारयितुं रणे ॥ २० ॥
ऋते शान्तनवाद् भीष्मात् कृष्णाद् वा देवकीसुतात्।
आचार्यप्रवराद् वापि भारद्वाजान्महाबलात् ॥ २१ ॥

अर्जुन बलवान्, तरुण, कुशल और शीघ्रतापूर्वक बाण चलानेवाले हैं। शान्तनुनन्दन भीष्म, देवकीनन्दन श्रीकृष्ण अथवा आचार्यप्रवर महाबली भरद्वाजनन्दन द्रोणके सिवा दूसरा कौन ऐसा है, जो संग्राममें पार्थका वेग रोक सके ? ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य क्रीडन्तौ भरतर्षभौ।
चक्षूंषि सर्वभूतानां मोहयन्तौ महाबलौ ॥ २२ ॥

वे दोनों भरतकुलशिरोमणि महाबली वीर समस्त प्राणियोंके नेत्रोंमें मोह एवं आश्चर्य उत्पन्न करते हुए अस्त्रोंद्वारा एक-दूसरेके अस्त्रोंका निवारण करके खेल-सा कर रहे थे ॥ २२ ॥

प्राजापत्यं तथैवैन्द्रमाग्नेयं रौद्रदारुणम्।
कौबेरं वारुणं चैव याम्यं वायव्यमेव च।
प्रयुञ्जानौ महात्मानौ समरे तौ विचेरतुः ॥ २३ ॥

प्राजापत्य, ऐन्द्र, आग्नेय, भयंकर रौद्र, कौबेर, वारुण, याम्य तथा वायव्य अस्त्रोंका प्रयोग करते हुए वे दोनों महापुरुष समरभूमिमें विचर रहे थे ॥ २३ ॥

विस्मितान्यथ भूतानि तौ दृष्ट्वा संयुगे तदा।
साधु पार्थ महाबाहो साधु भीष्मेति चाब्रुवन् ॥ २४ ॥

उस समय युद्धमें उन दोनोंकी ओर देखकर सब प्राणी आश्चर्यचकित हो बोल उठते थे—'महाबाहु पार्थ! साधुवाद, महाबाहु भीष्म! साधुवाद ॥ २४ ॥

नायं युक्तो मनुष्येषु योऽयं संदृश्यते महान्।
महास्त्राणां सम्प्रयोगः समरे भीष्मपार्थयोः ॥ २५ ॥

'भीष्म और पार्थके युद्धमें जो यह बड़े-बड़े दिव्यास्त्रोंका

महान् प्रयोग देखा जा रहा है, यह मनुष्योंमें अन्यत्र कहीं सम्भव नहीं है' ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सर्वास्त्रविदुषोरस्त्रयुद्धमवर्तत ।
अस्त्रयुद्धे तु निर्वृत्ते शरयुद्धमवर्तत ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता भीष्म और अर्जुनमें कुछ कालतक दिव्यास्त्रोंका युद्ध चलता रहा। उसके समाप्त हो जानेपर पुनः बाणयुद्ध प्रारम्भ हुआ ॥ २६ ॥

अथ जिष्णुरुपावृत्य क्षुरधारेण कार्मुकम् ।
चकर्त भीष्मस्य तदा जातरूपपरिष्कृतम् ॥ २७ ॥

तदनन्तर विजयशील अर्जुनने निकट आकर छुरेके समान धारवाले एक बाणसे भीष्मके सुवर्णभूषित धनुषको काट डाला ॥ २७ ॥

निमेषान्तरमात्रेण भीष्मोऽन्यत् कार्मुकं रणे ।
समादाय महाबाहुः सज्यं चक्रे महारथः ।
शरांश्च सुबहून् क्रुद्धो मुमोचाशु धनंजये ॥ २८ ॥

किंतु विशाल भुजाओंवाले महारथी भीष्मने पलक मारते-मारते उस युद्धमें दूसरा धनुष ले उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी और क्रोधमें भरकर धनंजयपर बहुत-से बाणोंका प्रहार किया ॥ २८ ॥

अर्जुनोऽपि शरांस्तीक्ष्णान् भीष्माय निशितान् बहून् ।
चिक्षेप सुमहातेजास्तथा भीष्मश्च पाण्डवे ॥ २९ ॥

तब महातेजस्वी अर्जुनने भी भीष्मपर बहुत-से पैने बाण फेंके और भीष्मने भी पाण्डुपुत्रको अनेक तीखे बाण मारे।२९।

तयोर्दिव्यास्त्रविदुषोरस्यतोर्निशिताञ्छरान् ।
न विशेषस्तदा राजँल्लक्ष्यते स्म महात्मनोः ॥ ३० ॥

राजन् ! वे दोनों महात्मा दिव्यास्त्रोंके पण्डित थे और एक दूसरेपर पैने बाण फेंक रहे थे। उस समय उन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ ३० ॥

अथावृणोद् दश दिशः शरैरतिरथस्तदा ।
किरीटमाली कौन्तेयः शूरः शान्तनवस्तथा ॥ ३१ ॥

किरीटमाली कुन्तीकुमार अर्जुन और शान्तनुनन्दन भीष्म दोनों ही अतिरथी वीर थे। उन्होंने अपने बाणोंसे दसों दिशाओंको आच्छादित कर दिया ॥ ३१ ॥

अतीव पाण्डवो भीष्मं भीष्मश्चातीव पाण्डवम् ।
बभूव तस्मिन् संग्रामे राजँल्लोके तदद्भुतम् ॥ ३२ ॥

राजा जनमेजय ! उस युद्धमें कभी पाण्डुपुत्र अर्जुन भीष्मसे बढ़ जाते थे, तो कभी भीष्म ही अर्जुनको लाँघ जाते थे। जगत्‌में यह एक अद्भुत बात थी ॥ ३२ ॥

पाण्डवेन हताः शूरा भीष्मस्य रथरक्षिणः ।
शेरते स्म तदा राजन् कौन्तेयस्याभितो रथम् ॥ ३३ ॥

राजन् ! भीष्मके रथकी रक्षा करनेवाले शूरवीर सैनिक अर्जुनके द्वारा मारे जाकर उनके रथके दोनों ओर पड़े थे ॥ ३३ ॥

ततो गाण्डीवनिर्मुक्ता निरमित्रं चिकीर्षवः ।
आगच्छन् पुङ्खसंश्लिष्टाः श्वेतवाहनपत्रिणः ॥ ३४ ॥

तदनन्तर श्वेतवाहन अर्जुनके पंखधारी बाण गाण्डीव धनुषसे छूटकर संसारको शत्रुरहित करनेकी इच्छासे सब ओर आने लगे ॥ ३४ ॥

निष्पतन्तो रथात् तस्य धौता हैरण्यवाससः ।
आकाशे समदृश्यन्त हंसानामिवपङ्क्तयः ॥ ३५ ॥

उनके रथसे निकलते हुए सुनहरे पंखवाले श्वेत बाण आकाशमें हंसोंकी पंक्तिसे दिखायी देते थे ॥ ३५ ॥

तस्य तद् दिव्यमस्त्रं हि विगाढं चित्रमस्यतः ।
प्रेक्षन्ते स्मान्तरिक्षस्थाः सर्वे देवाः सवासवाः ॥ ३६ ॥

अर्जुन विचित्र ढंगसे मर्मभेदी दिव्यास्त्रोंका प्रयोग कर रहे थे और आकाशमें खड़े हुए इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता उनका वह अस्त्रकौशल देख रहे थे ॥ ३६ ॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीतो गन्धर्वश्चित्रमद्भुतम् ।
शशंस देवराजाय चित्रसेनः प्रतापवान् ॥ ३७ ॥

उस समय प्रतापी चित्रसेन गन्धर्वने अर्जुनकी ओर देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो देवराज इन्द्रसे उनके विचित्र एवं अद्भुत रणकौशलकी प्रशंसा करते हुए कहा—॥ ३७ ॥

पश्येमान् पार्थनिर्मुक्तान् संसक्तानिव गच्छतः ।
चित्ररूपमिदं जिष्णोर्दिव्यमस्त्रमुदीर्यतः ॥ ३८ ॥

'प्रभो ! देखिये, ये पार्थके छोड़े हुए बाण परस्पर सटे हुए-से जा रहे हैं। दिव्यास्त्र प्रकट करनेवाले अर्जुनकी यह अस्त्र-संचालनकला विचित्र एवं अद्भुत है ॥ ३८ ॥

नेदं मनुष्याः संदध्युर्न हीदं तेषु विद्यते ।
पौराणानां महास्त्राणां विचित्रोऽयं समागमः॥ ३९ ॥

'दूसरे मनुष्य इस दिव्यास्त्रका संधान नहीं कर सकते; क्योंकि यह अस्त्र दूसरे मनुष्योंके पास है ही नहीं। यहाँ प्राचीनकालके बड़े-बड़े अस्त्रोंका यह अद्भुत समागम हुआ है ॥ ३९ ॥

आददानस्य हि शरान् संधाय च विमुञ्चतः ।
विकर्षतश्च गाण्डीवं नान्तरं समदृश्यत ॥ ४० ॥

'अर्जुन कब बाण निकालते हैं, कब चढ़ाते हैं, कब छोड़ते हैं और कब गाण्डीव धनुषको खींचते हैं तथा इन क्रियाओंमें कितना अन्तर पड़ता है; यह सब किसीको दिखायी ही नहीं देता था ॥ ४० ॥

मध्यंदिनगतं सूर्यं प्रतपन्तमिवाम्बरे ।
नाशक्नुवन्त सैन्यानि पाण्डवं प्रति वीक्षितुम् ॥ ४१ ॥

'आकाशमें दोपहरके समय प्रचण्ड किरणोंसे तपते हुए सूर्यकी ओर जैसे कोई देख नहीं सकता, उसी प्रकार प्रतापी पाण्डुपुत्रकी ओर कौरव-सैनिक आँख उठाकर देखनेमें भी असमर्थ हो गये हैं ॥ ४१ ॥

तथैव भीष्मं गाङ्गेयं द्रष्टुं नोत्सहते जनः ॥ ४२ ॥

'इसी प्रकार गङ्गानन्दन भीष्मकी ओर भी कोई मनुष्य देखनेका साहस नहीं करता है ॥ ४२ ॥

उभौ विश्रुतकर्माणावुभौ तीव्रपराक्रमौ ।
उभौ सदृशकर्माणावुभौ युधि सुदुर्जयौ ॥ ४३ ॥

'दोनों वीर अपने अद्भुत कार्योंके लिये संसारमें प्रसिद्ध हैं। दोनोंके पराक्रम उग्र हैं। दोनों एक-सा पराक्रम दिखानेवाले तथा युद्धमें अत्यन्त दुर्जय हैं' ॥ ४३ ॥

इत्युक्तो देवराजस्तु पार्थभीष्मसमागमम् ।
पूजयामास दिव्येन पुष्पवर्षेण भारत ॥ ४४ ॥

जनमेजय ! चित्रसेनके ऐसा कहनेपर देवराज इन्द्रने दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करके अर्जुन और भीष्मके इस अद्भुत संग्रामके प्रति आदर प्रकट किया ॥ ४४ ॥

ततः शान्तनवो भीष्मो वामं पार्श्वमताडयत् ।
पश्यतः प्रतिसंधाय विध्यतः सव्यसाचिनः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्मने (कौरवसेनाको) घायल करनेवाले सव्यसाची अर्जुनके देखते-देखते बाणसंधान करके उनका बाँयाँ पार्श्व बींध डाला ॥ ४५ ॥

ततः प्रहस्य बीभत्सुः पृथुधारेण कार्मुकम् ।
चिच्छेद गार्ध्रपत्रेण भीष्मस्यादित्यतेजसः ॥ ४६ ॥

तब अर्जुनने भी हँसकर मोटी धार एवं गीधकी पाँख-वाले बाणसे सूर्यके समान तेजस्वी भीष्मका धनुष फिर काट दिया ॥ ४६ ॥

अथैनं दशभिर्बाणैः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ।
यतमानं पराक्रान्तं कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ ४७ ॥

तत्पश्चात् कुन्तीपुत्र धनंजयने विजयके लिये प्रयत्नशील पराक्रमी भीष्मकी छातीमें दस बाण मारकर गहरी चोट पहुँचायी ॥ ४७ ॥



स पीडितो महाबाहुर्गृहीत्वा रथकूबरम् ।
गाङ्गेयो युद्धदुर्धर्षस्तस्थौ दीर्घमिवान्तरम् ॥ ४८ ॥

उससे पीडित हो रणदुर्धर्ष वीर महाबाहु भीष्म रथका कूबर पकड़कर बहुत देरतक निश्चेष्ट बैठे रह गये ॥ ४८ ॥

तं विसंज्ञमपोवाह संयन्ता रथवाजिनाम् ।
उपदेशमनुस्मृत्य रक्षमाणो महारथम् ॥ ४९ ॥

वे बेहोश थे। 'ऐसी दशामें सारथिको रथीकी रक्षा करनी चाहिये' इस उपदेशका स्मरण करके महारथी भीष्मकी प्राणरक्षाके उद्देश्यसे उनके रथ और घोड़ोंको काबूमें रखनेवाला सारथि उन्हें संग्रामभूमिसे दूर हटा ले गया। ४९।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि भीष्मापयाने चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें भीष्मके रणभूमिसे हटाये जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुन और दुर्योधनका युद्ध, विकर्ण आदि योद्धाओंसहित दुर्योधनका युद्धके मैदानसे भागना

वैशम्पायन उवाच

भीष्मे तु संग्रामशिरो विहाय
पलायमाने धृतराष्ट्रपुत्रः ।
उत्सृज्य केतुं विनदन् महात्मा
धनुर्विगृह्यार्जुनमाससाद ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब भीष्मजी युद्धका मुहाना छोड़कर दूर हट गये, तब धृतराष्ट्रपुत्र महामना दुर्योधन अपने रथकी पताका फहराकर हाथमें धनुष ले सिंहनाद करता हुआ अर्जुनपर चढ़ आया ॥ १ ॥

स भीमधन्वानमुदग्रवीर्यं
धनंजयं शत्रुगणे चरन्तम्।
आकर्णपूर्णायतचोदितेन
विव्याध भल्लेन ललाटमध्ये ॥ २ ॥

उस समय भयंकर धनुष धारण करनेवाले प्रचण्ड पराक्रमी धनंजय शत्रुसेनामें विचर रहे थे। दुर्योधनने धनुषको कानतक खींचकर छोड़े हुए भल्लनामक बाणसे उनके ललाटमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २ ॥

स तेन बाणेन समर्पितेन
जाम्बूनदाग्रेण सुसंहितेन।
रराज राजन् महनीयकर्मा
यथैकपर्वा रुचिरैकश्रृङ्गः ॥ ३ ॥

वह बाण अर्जुनके ललाटमें धँस गया। राजन्! प्रशंसनीय पराक्रमवाले अर्जुन सुनहरी धारवाले उस धँसे हुए बाणके द्वारा उसी प्रकार सुशोभित हुए, जैसे एक सुन्दर शिखरवाला पर्वत अपने ऊपर उगे हुए एक ही बाँसके पेड़से शोभा पा रहा हो ॥ ३ ॥

अथास्य बाणेन विदारितस्य
प्रादुर्बभूवासृगजस्रमुष्णम्।
स तस्य जाम्बूनदपुङ्खचित्रो
भित्त्वा ललाटं सुविराजते स्म ॥ ४ ॥

दुर्योधनके उस बाणसे अर्जुनका ललाट विदीर्ण हो गया और उससे गरम-गरम रक्तकी अविच्छिन्न धारा बहने लगी। जाम्बूनद सुवर्णकी पाँखवाला वह विचित्र बाण पार्थका ललाट छेदकर बड़ी शोभा पा रहा था ॥ ४ ॥

दुर्योधनश्चापि तमुग्रतेजाः
पार्थश्च दुर्योधनमेकवीरः।
अन्योन्यमाजौ पुरुषप्रवीरौ
समौ समाजग्मतुराजमीढौ ॥ ५ ॥

तदनन्तर उग्रतेजस्वी अद्वितीय वीर अर्जुनने दुर्योधनपर और दुर्योधनने अर्जुनपर आक्रमण किया। अजमीढवंशके वे दोनों प्रमुख वीर पुरुष एक समान पराक्रमी थे। उन्होंने संग्राममें एक-दूसरेपर बड़े वेगसे धावा किया ॥ ५ ॥

ततः प्रभिन्नेन महागजेन
महीधराभेन पुनर्विकर्णः।
रथैश्चतुर्भिर्गजपादरक्षैः
कुन्तीसुतं जिष्णुमथाभ्यधावत् ॥ ६ ॥

उसी समय एक पर्वताकार विशाल गजराजपर, जिसके मस्तकसे मद टपक रहा था, चढ़कर विकर्ण पुनः विजयशाली कुन्तीनन्दन अर्जुनपर चढ़ आया। उसके साथ चार रथारोही योद्धा भी थे, जो हाथीके चारों पैरोंकी रक्षा करते थे।६।

तमापतन्तं त्वरितं गजेन्द्रं
धनंजयः कुम्भविभागमध्ये।
आकर्णपूर्णेन महायसेन
बाणेन विव्याध महाजवेन ॥ ७ ॥

गजराजको तीव्र गतिसे अपनी ओर आते देख धनंजयने धनुषको कानतक खींचकर चलाये हुए लोहेके अत्यन्त वेगशाली बाणद्वारा उसके कुम्भस्थलको बींध डाला ॥ ७ ॥

पार्थेन सृष्टः स तु गार्ध्रपत्र
आपुङ्खदेशात् प्रविवेश नागम्।
विदार्य शैलप्रवरं प्रकाशं
यथाशनिः पर्वतमिन्द्रसृष्टः ॥ ८ ॥

पार्थका छोड़ा हुआ वह गीध पक्षीके परोंवाला बाण उस हाथीके मस्तकमें पंखसहित घुस गया; मानो इन्द्रका चलाया हुआ वज्र किसी प्रकाशपूर्ण गिरिराजको विदीर्ण करके उसके भीतर समा गया हो ॥ ८ ॥

शरप्रतप्तः स तु नागराजः
प्रवेपिताङ्गो व्यथितान्तरात्मा।
संसीदमानो निपपात मह्यां
वज्राहतं श्रृङ्गमिवाचलस्य ॥ ९ ॥

वह गजराज अर्जुनके बाणसे संतप्त हो उठा। उसकी अन्तरात्मा व्यथित हो गयी और सारा शरीर काँपने लगा। जैसे वज्रका मारा हुआ पर्वतशिखर ढक जाता है, उसी प्रकार वह नागराज शिथिल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ९ ॥

निपातिते दन्तिवरे पृथिव्यां
त्रासाद् विकर्णः सहसावतीर्य।
तूर्णं पदान्यष्टशतानि गत्वा
विविंशतेः स्यन्दनमारुरोह ॥ १० ॥

उस विशाल हाथीके धराशायी हो जानेपर विकर्ण बहुत डर गया और सहसा कूदकर शीघ्रतापूर्वक भाग गया और आठ सौ पग चलकर विविंशतिके रथपर चढ़ गया ॥ १९ ॥

निहत्य नागं तु शरेण तेन
वज्रोपमेनाद्रिवराम्बुदाभम्।
तथाविधेनैव शरेण पार्थो
दुर्योधनं वक्षसि निर्बिभेद ॥ ११ ॥

उस वज्रसदृश बाणद्वारा पर्वत तथा मेघोंकी घटाके समान प्रतीत होनेवाले गजराजको मारकर पार्थने वैसे ही दूसरे बाणसे दुर्योधनकी छाती छेद डाली ॥ ११ ॥

ततो गजे राजनि चैव भिन्ने
भग्ने विकर्णे च सपादरक्षे।
गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैः प्रणुन्ना-
स्ते योधमुख्याः सहसापजग्मुः ॥ १२ ॥

इस प्रकार गजराज और कुरुराज दोनोंके घायल होने तथा गजराजके पादरक्षकोंसहित विकर्णके भाग जानेपर गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए सायकोंकी मार खाकर पीड़ित हुए समस्त मुख्य-मुख्य योद्धा सहसा मैदान छोड़कर भाग गये ॥ १२ ॥

दृष्ट्वैव पार्थेन हतं च नागं
योधांश्च सर्वान् द्रवतो निशम्य।
रथं समावृत्य कुरुप्रवीरो
रणाद् प्रदुद्राव यतो न पार्थः ॥ १३॥

अर्जुनके हाथसे गजराज मारा गया और सम्पूर्ण योद्धा भी रणभूमि छोड़कर भाग रहे हैं, यह देखकर कुरुवंशका प्रमुख वीर दुर्योधन भी जिस ओर अर्जुन नहीं थे, उसी दिशामें रथ घुमाकर भागा ॥ १३ ॥

तं भीमरूपं त्वरितं द्रवन्तं
दुर्योधनं शत्रुसहोऽभिषङ्गात्।
प्रास्फोटयद् योद्धुमनाः किरीटी
बाणेन विद्धं रुधिरं वमन्तम् ॥ १४ ॥

उस समय दुर्योधनका रूप भयंकर हो रहा था। वह हार खाकर बाणसे घायल हो रक्त वमन करता हुआ भागा जा रहा था। यह देखकर शत्रुका वेग सहन करनेवाले किरीटधारी अर्जुनने ताल ठोंकी और मनमें युद्धके लिये उत्साह रखते हुए वे शत्रुको ललकारने लगे ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

विहाय कीर्तिं विपुलं यशश्च
युद्धात् परावृत्य पलायसे किम्।
न तेऽद्य तूर्याणि समाहतानि
तथैव राज्यादवरोपितस्य ॥ १५ ॥
युधिष्ठिरस्यास्मि निदेशकारी
पार्थस्तृतीयो युधि संस्थितोऽस्मि।
तदर्थमावृत्य मुखं प्रयच्छ
नरेन्द्रवृत्तं स्मर धार्तराष्ट्र ॥ १६ ॥

अर्जुन बोले—धृतराष्ट्रके पुत्र! तू युद्धसे पीठ दिखाकर क्यों भागा जा रहा है? अरे! ऐसा करके तू अपनी कीर्ति और विशाल यशसे हाथ धो बैठा है। आज तेरे विजयके बाजे पहले-जैसे नहीं बज रहे हैं। तूने जिन्हें राज्यसे उतार दिया है, उन्हीं महाराज युधिष्ठिर-का आज्ञाकारी मैं तीसरा पाण्डव युद्धके लिये खड़ा हूँ। अतः तू मेरा सामना करनेके लिये लौटकर अपना मुँह तो दिखा। राजाका आचार-व्यवहार कैसा होना चाहिये, इसकी याद तो कर ले ॥ १५-१६ ॥

मोघं तवेदं भुवि नामधेयं
दुर्योधनेतीह कृतं पुरस्तात्।
न हीह दुर्योधनता तवास्ति
पलायमानस्य रणं विहाय ॥ १७ ॥

व्यर्थ ही इस पृथ्वीपर तेरा नाम दुर्योधन रक्खा गया। तू तो युद्ध छोड़कर भागा जा रहा है; अतः यहाँ तुझमें दुर्योधन नामके अनुरूप कोई गुण नहीं है ॥ १७ ॥

न ते पुरस्तादथ पृष्ठतो वा
पश्यामि दुर्योधनरक्षितारम्।
अपेहि युद्धात् पुरुषप्रवीर
प्राणान् प्रियान् पाण्डवतोऽथ रक्ष॥ १८॥

दुर्योधन! अच्छा, तेरे आगे या पीछे कोई रक्षक नहीं दिखायी देता। अतः वीर पुरुष! तू युद्धसे भाग जा और पाण्डुपुत्र अर्जुनके हाथसे आज अपने प्यारे प्राणोंकी रक्षा कर ले ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दुर्योधनापयाने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दुर्योधनका युद्धसे पलायनविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा समस्त कौरवदलका पराजय तथा कौरवोंका स्वदेशको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

आहूयमानश्च स तेन संख्ये
महात्मना वै धृतराष्ट्रपुत्रः।
निवर्तितस्तस्य गिराङ्कुशेन
महागजो मत्त इवाङ्कुशेन ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महात्मा अर्जुनने जब इस प्रकार युद्धके लिये ललकारा, तब धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन अङ्कुशकी चोट खाये हुए मतवाले गजराजकी भाँति उनके कटुवचनरूपी अङ्कुशसे पीड़ित हो पुनः लौट पड़ा ॥ १ ॥

सोऽमृष्यमाणो वचसाभिमृष्टो
महारथेनातिरथस्तरस्वी।
पर्याववर्ताथ रथेन वीरो
भोगी यथा पादतलाभिमृष्टः ॥ २ ॥

महारथी कुन्तीकुमारने अपने वचनोंद्वारा उसका तिरस्कार किया था अतः वह वेगशाली अतिरथी वीर इस

अपमानको न सह सका, अतएव जैसे पैरोंसे कुचला हुआ सर्प बदला लेनेके लिये लौट पड़ता है, उसी प्रकार दुर्योधन अपने रथके साथ लौट आया ॥ २ ॥

तं प्रेक्ष्य कर्णः परिवर्तमानं
निवर्त्य संस्तभ्य च विद्धगात्रम्।
दुर्योधनस्योत्तरतोऽभ्यगच्छत्
पार्थं नृवीरो युधि हेममाली ॥ ३ ॥

उसको लौटते देख कर्ण भी अपने घायल शरीरको किसी प्रकार सँभालकर लौट पड़ा और दुर्योधनके उत्तर (वाम) भागमें रहकर युद्धभूमिमें पार्थका सामना करनेके लिये चला। नरवीर कर्ण सोनेकी मालासे अलंकृत था ॥ ३ ॥

भीष्मस्ततः शान्तनवो विवृत्य
हिरण्यकक्षस्त्वरयाभिभङ्गी ।
दुर्योधनं पश्चिमतोऽभ्यरक्षत्
पार्थान्महाबाहुरधिज्यधन्वा ॥ ४ ॥

तदनन्तर सुनहरे रंगकी चादर ओढ़े शान्तनुनन्दन भीष्म भी बड़े वेगसे रथ घुमाकर वहाँ आ पहुँचे। वे शत्रुको पराजित करनेमें समर्थ थे। महाबाहु भीष्म धनुषकी प्रत्यञ्चा चढ़ाकर पश्चिम या पीछेकी ओरसे पार्थके आक्रमणोंसे दुर्योधन-की रक्षा करने लगे ॥ ४ ॥

द्रोणः कृपश्चैव विविंशतिश्च
दुःशासनश्चैव विवृत्य शीघ्रम्।
सर्वे पुरस्ताद् विततोरुचापा
दुर्योधनार्थं त्वरिताभ्युपेयुः॥ ५ ॥

तत्पश्चात् द्रोण, कृपाचार्य, विविंशति और दुःशासन भी शीघ्र ही घूमकर आ गये। वे सब अपने विशाल धनुषको ताने हुए पूर्व या सामनेकी ओरसे दुर्योधनकी रक्षाके लिये बड़ी उतावलीके साथ आये थे ॥ ५ ॥

स तान्यनीकानि निवर्तमाना-
न्यालोक्य पूर्णौघनिभानि पार्थः।
हंसो यथा मेघमिवापतन्तं
धनंजयः प्रत्यतपत् तरस्वी ॥ ६ ॥

जैसे सूर्य घिरती हुई मेघोंकी घटाको अपनी किरणोंसे तपाता है, उसी प्रकार वेगशाली कुन्तीपुत्र धनंजयने भारी जलप्रवाहके समान लौटती हुई उन कौरवसेनाओंको देखकर उन्हें संताप देना आरम्भ किया ॥ ६ ॥

ते सर्वतः सम्परिवार्य पार्थ-
मस्त्राणि दिव्यानि समाददानाः।
ववर्षुरभ्येत्य शरैः समन्ता-
न्मेघा यथा भूधरमम्बुवर्गैः ॥ ७ ॥

दिव्य अस्त्र धारण किये हुए उन योद्धाओंने अर्जुनको चारों ओरसे घेर लिया और जैसे बादल पहाड़के ऊपर सब ओरसे पानी बरसाते हैं, उसी प्रकार वे निकट आकर उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ७ ॥

ततोऽस्त्रमस्त्रेण निवार्य तेषां
गाण्डीवधन्वा कुरुपुङ्गवानाम्।
सम्मोहनं शत्रुसहोऽन्यदस्त्रं
प्रादुश्चकारैन्द्रिरपारणीयम् ॥ ८ ॥

तब शत्रुओंका वेग सहन करनेवाले इन्द्रपुत्र गाण्डीव-धारी अर्जुनने अपने अस्त्रसे कौरवदलके उन श्रेष्ठ वीरोंके अस्त्रोंका निवारण करके सम्मोहन नामक दूसरा अस्त्र प्रकट किया, जिसका निवारण करना किसीके लिये भी असम्भव था ॥

ततो दिशश्चानुदिशो विवृत्य
शरैः सुधारैर्निशितैः सुपत्रैः ।
गाण्डीवघोषेण मनांसि तेषां
महाबलः प्रव्यथयाञ्चकार॥ ९ ॥

फिर तो उन महाबलीने सुन्दर पंख और पैनी धार-वाले बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओं और दिक्कोणोंको आच्छादित करके गाण्डीव धनुषकी (भयंकर) टंकारसे कौरवयोद्धाओंके हृदयमें बड़ी व्यथा उत्पन्न कर दी ॥ ९ ॥

ततः पुनर्भीमरवं प्रगृह्य
दोर्भ्यां महाशङ्खमुदारघोषम्।
व्यनादयत् स प्रदिशो दिशः खं
भुवं च पार्थो द्विषतां निहन्ता ॥ १० ॥

तत्पश्चात् शत्रुहन्ता कुन्तीकुमारने भयंकर शब्द करने-वाले अपने महाशङ्खको, जिसकी आवाज बहुत दूरतक सुनायी पड़ती थी, दोनों हाथोंसे थामकर बजाया। उसकी ध्वनि सम्पूर्ण दिशाओं-विदिशाओं, आकाश तथा पृथ्वीमें सब ओर गूँज उठी ॥ १० ॥

ते शङ्खनादेन कुरुप्रवीराः
सम्मोहिताः पार्थसमीरितेन।
उत्सृज्य चापानि दुरासदानि
सर्वे तदा शान्तिपरा बभूवुः ॥ ११ ॥

अर्जुनके बजाये हुए उस शङ्खकी आवाजसे वे समस्त कौरव वीर मोहित (मूर्च्छित) हो गये और अपने दुर्लभ धनुषोंको त्यागकर सब-के-सब गहरी शान्ति (बेहोशी) में डूब गये ॥ ११ ॥

तथा विसंज्ञेषु च तेषु पार्थः
स्मृत्वा च वाक्यानि तथोत्तरायाः।
निर्याहि मध्यादिति मत्स्यपुत्र-
मुवाच यावत् कुरवो विसंज्ञाः ॥ १२ ॥

आचार्यशारद्वतयोः सुशुक्ले
कर्णस्य पीतं रुचिरं च वस्त्रम्।
द्रौणेश्च राज्ञश्च तथैव नीले
वस्त्रे समादत्स्व नरप्रवीर ॥ १३ ॥

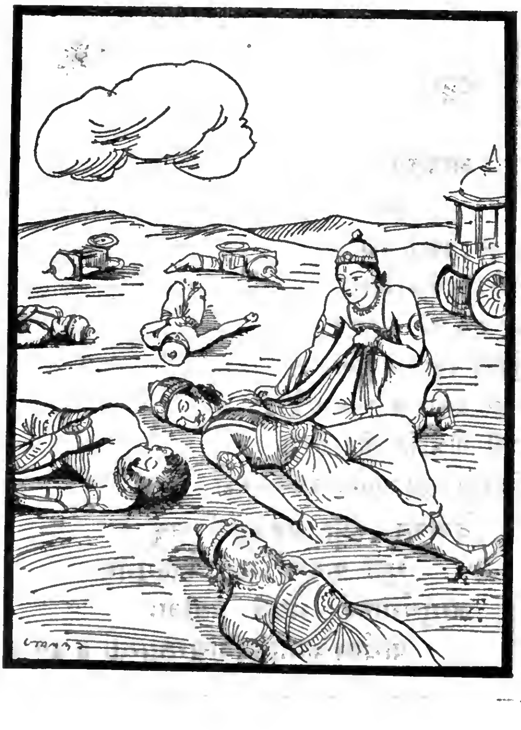
उन कौरव महारथियोंके अचेत हो जानेपर अर्जुनको उत्तराकी कही हुई बातें स्मरण हो आयीं और उन्होंने मत्स्य-नरेशके पुत्र उत्तरसे कहा—'नरवीर ! ये कौरव अभी बेहोश पड़े हुए हैं। ये जबतक होशमें आवें, उसके पहले ही सेनाके बीचसे निकल जाओ। आचार्य द्रोण और कृपाचार्यके शरीरपर जो श्वेत वस्त्र सुशोभित हैं, कर्णके अङ्गोंपर जो सुन्दर पीले रंगका वस्त्र है, अश्वत्थामा तथा राजा दुर्योधनके शरीर-पर जो नीले रंगके कपड़े हैं, उन सबको उतार लो ॥ १२-१३ ॥

भीष्मस्य संज्ञां तु तथैव मन्ये
जानाति सोऽस्त्रप्रतिघातमेषः।
एतस्य वाहान् कुरु सव्यतस्त्व-
मेवं हि यातव्यममूढसंज्ञैः ॥ १४ ॥

'मैं समझता हूँ, पितामह भीष्मको होश बना हुआ है; क्योंकि वे इस सम्मोहन अस्त्रको निवारण करनेकी विधि जानते हैं। उनके घोड़ोंको बाँयीं ओर छोड़कर जाना; क्योंकि जिनकी चेतना लुप्त नहीं हुई है, ऐसे वीरोंके निकटसे जाना हो, तो इसी प्रकार जाना चाहिये' ॥ १४ ॥

रश्मीन् समुत्सृज्य ततो महात्मा
रथादवप्लुत्य विराटपुत्रः।
वस्त्राण्युपादाय महारथानां
तूर्णं पुनः स्वं रथमारुरोह ॥ १५ ॥

तब महामना विराटपुत्र घोड़ोंकी रास छोड़कर रथसे कूद पड़ा और उन महारथियोंके कपड़े लेकर फिर शीघ्र ही अपने रथपर चढ़ आया ॥ १५ ॥



ततोऽन्वशासच्चतुरः सदश्वान्
पुत्रो विराटस्य हिरण्यकक्षान्।
ते तद् व्यतीयुर्ध्वजिनामनीकं
श्वेता वहन्तोऽर्जुनमाजिमध्यात् ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् विराटकुमारने सोनेके साज-सामानसे सुशोभित उन चारों सुन्दर घोड़ोंको हाँक दिया। वे श्वेत घोड़े अर्जुनको रथमें लिये हुए रणभूमिके मध्यभागसे निकले और रथारोहियोंकी ध्वजायुक्त सेनाका घेरा पार करके बाहर पहुँच गये ॥ १६ ॥

तथानुयान्तं पुरुषप्रवीरं
भीष्मः शरैरभ्यहनत् तरस्वी।
स चापि भीष्मस्य हयान् निहत्य
विव्याध पार्थो दशभिः पृषत्कैः ॥ १७ ॥

मनुष्योंमें प्रधान वीर अर्जुनको इस प्रकार जाते देख वेगशाली भीष्मने बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया। तब अर्जुनने भी भीष्मके घोड़ोंको मारकर दस बाणोंसे उन्हें भी घायल कर दिया ॥ १७ ॥

ततोऽर्जुनो भीष्ममपास्य युद्धे
विद्ध्वास्य यन्तारमरिष्टधन्वा।
तस्थौ विमुक्तो रथवृन्दमध्या-
न्मेघं विदार्येव सहस्ररश्मिः ॥ १८ ॥

दुर्भेद्य धनुषवाले अर्जुन भीष्मको युद्धभूमिमें छोड़कर और उनके सारथिको बाणोंसे बींधकर रथोंके घेरेसे बाहर जा खड़े हुए। उस समय वे बादलोंको छिन्न-भिन्न करके प्रकाशित होनेवाले सूर्यदेवकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ १८ ॥

लब्ध्वा हि संज्ञां तु कुरुप्रवीराः
पार्थं निरीक्ष्याथ सुरेन्द्रकल्पम्।
रणे विमुक्तं स्थितमेकमाजौ
स धार्तराष्ट्रस्त्वरितं बभाषे ॥ १९ ॥

थोड़ी देर बाद होशमें आकर कौरववीरोंने देखा, देव-राज इन्द्रके समान पराक्रमी कुन्तीपुत्र अर्जुन युद्धमें रथोंके घेरेसे बाहर हो अकेले खड़े हैं। उन्हें इस अवस्थामें देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन तुरंत बोल उठा— ॥ १९ ॥

अयं कथं वै भवतो विमुक्त-
स्तथा प्रमथ्नीत यथा न मुच्येत्।
तमब्रवीच्छान्तनवः प्रहस्य
क्व ते गता बुद्धिरभूत् क्व वीर्यम् ॥ २० ॥
शान्तिं परां प्राप्य यदा स्थितोऽभू-
दुत्सृज्य बाणांश्च धनुर्विचित्रम्।

'पितामह ! यह आपके हाथसे कैसे बच गया ? आप इसे इस प्रकार मथ डालिये, जिससे यह छूटने न पावे।' तब

शान्तनुनन्दन भीष्मने हँसकर दुर्योधनसे कहा—'राजन्! जब तू अपने विचित्र धनुष और बाणोंको त्यागकर यहाँ गहरी शान्तिमें डूबा हुआ अचेत पड़ा था, उस समय तेरी बुद्धि कहाँ गयी थी? और पराक्रम कहाँ था? ॥ २०½ ॥

न त्वेष बीभत्सुरलं नृशंसं
कर्तुं न पापेऽस्य मनो विशिष्टम् ॥ २१ ॥
त्रैलोक्यहेतोर्न जहेत् स्वधर्मं
सर्वे न तस्मान्निहता रणेऽस्मिन् ।
क्षिप्रं कुरून् याहि कुरुप्रवीर
विजित्य गाश्च प्रतियातु पार्थः ।
मा ते स्वकोऽर्थो निपतेत मोहात्
तत् संविधातव्यमरिष्टबन्धम् ॥ २२ ॥

'ये अर्जुन कभी निर्दयताका व्यवहार नहीं कर सकते। इनका मन कभी पापाचारमें प्रवृत्त नहीं होता। ये त्रिलोकीके राज्यके लिये भी अपना धर्म नहीं छोड़ सकते। यही कारण है कि इन्होंने इस युद्धमें हम सबके प्राण नहीं लिये। कुरुकुलके प्रमुख वीर! अब तू शीघ्र ही कुरुदेशको लौट चल। अर्जुन भी गायोंको जीतकर लौट जायँ। अब मोहवश तेरा अपना स्वार्थ भी नष्ट न हो जाय, इसका ध्यान रख। सबको वही काम करना चाहिये, जिससे अपना कल्याण हो' ॥ २१-२२ ॥

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनस्तस्य तु तन्निशम्य
पितामहस्यात्महितं वचोऽथ ।
अतीतकामो युधि सोऽत्यमर्षी
राजा विनिःश्वस्य बभूव तूष्णीम् ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पितामहके ये अपने लिये हितकर वचन सुनकर राजा दुर्योधनके मनमें युद्धकी इच्छा नहीं रह गयी। वह भीतर-ही-भीतर अत्यन्त अमर्षका भार लिये लंबी साँसें भरता हुआ चुप हो गया ॥

तद् भीष्मवाक्यं हितमीक्ष्य सर्वे
धनंजयाग्निं च विवर्धमानम् ।
निवर्तनायैव मनो निदध्यु-
र्दुर्योधनं ते परिरक्षमाणाः ॥ २४ ॥

अन्य सब योद्धाओंको भी भीष्मजीका वह कथन हितकर जान पड़ा; क्योंकि युद्ध करनेसे तो धनंजयरूपी अग्नि उत्तरोत्तर बढ़कर प्रचण्ड रूप ही धारण करती जाती, यह सब सोचकर उन सबने दुर्योधनकी रक्षा करते हुए अपने देशको लौट जानेका ही निश्चय किया ॥ २४ ॥

तान् प्रस्थितान् प्रीतमनाः स पार्थो
धनंजयः प्रेक्ष्य कुरुप्रवीरान् ।
अभाषमाणोऽनुनयं मुहूर्तं
वचोऽब्रवीत् सम्परिहृत्य भूयः ॥ २५ ॥
पितामहं शान्तनवं च वृद्धं
द्रोणं गुरुं च प्रणिपत्य मूर्ध्ना ।

उन कौरववीरोंको वहाँसे प्रस्थान करते देख कुन्तीपुत्र धनंजय मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। वे दो घड़ीतक किसीसे अनुनय-विनयपूर्ण वचन न कहकर मौन रहे। फिर लौटकर उन्होंने वृद्ध पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्यके चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और कुछ बातचीत भी की ॥

द्रौणिं कृपं चैव कुरूंश्च मान्या-
ञ्छरैर्विचित्रैरभिवाद्य चैव ॥ २६ ॥
दुर्योधनस्योत्तमरत्नचित्रं
चिच्छेद पार्थो मुकुटं शरेण ।

फिर अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा अन्य माननीय (बाह्लीक, सोमदत्त आदि) कौरवोंको बाणोंकी विचित्र रीतिसे नमस्कार करके पार्थने एक बाण मारकर दुर्योधनके उत्तम रत्नजटित विचित्र मुकुटको काट डाला ॥ २६½ ॥

आमन्त्र्य वीरांश्च तथैव मान्यान्
गाण्डीवघोषेण विनाद्य लोकान् ॥ २७ ॥
स देवदत्तं सहसा विनाद्य
विदार्य वीरो द्विषतां मनांसि ।

इसी प्रकार अन्य माननीय वीरोंसे भी विदा ले गाण्डीवकी टंकारसे सम्पूर्ण जगत्‌को प्रतिध्वनित करके वीर अर्जुनने सहसा देवदत्त नामक शङ्ख बजाया और शत्रुओंका दिल दहला दिया ॥ २७½ ॥

ध्वजेन सर्वानभिभूय शत्रून्
सहेममालेन विराजमानः ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा प्रयातांस्तु कुरून् किरीटी
हृष्टोऽब्रवीत् तत्र स मत्स्यपुत्रम् ।
आवर्तयाश्वान् पशवो जितास्ते
याताः परे याहि पुरं प्रहृष्टः ॥ २९ ॥

इस प्रकार अपने रथकी सुवर्णमालामण्डित ध्वजासे सम्पूर्ण शत्रुओंका तिरस्कार करके अर्जुन विजयोल्लाससे विशेष शोभा पाने लगे। कौरव चले गये, यह देखकर किरीटधारी अर्जुनको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने मत्स्यनरेशके पुत्र उत्तरसे वहाँ इस प्रकार कहा—'राजकुमार! अब घोड़ोंको लौटाओ। तुम्हारी गौओंको जीत लिया गया और शत्रु भाग गये; इसलिये अब तुम आनन्दपूर्वक नगरकी ओर चलो' ॥ २८-२९ ॥

देवास्तु दृष्ट्वा महदद्भुतं तद्
युद्धं कुरूणां सह फाल्गुनेन ।
जग्मुर्यथास्वं भवनं प्रतीताः
पार्थस्य कर्माणि विचिन्तयन्तः ॥ ३० ॥

अर्जुनके साथ होनेवाला कौरवोंका वह अत्यन्त अद्भुत युद्ध देखकर देवतालोग बड़े प्रसन्न हुए और अर्जुनके पराक्रमका स्मरण करते हुए अपने-अपने भवनको चले गये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि समस्तकौरवपलायने षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें समस्त कौरवोंके पलायनसे सम्बन्ध रखनेवाला छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ६६

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

विजयी अर्जुन और उत्तरका राजधानीकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततो विजित्य संग्रामे कुरून् स वृषभेक्षणः ।
समानयामास तदा विराटस्य धनं महत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार बैल-सी विशाल आँखोंवाले अर्जुन उस समय युद्धमें कौरवोंको जीतकर विराटका वह महान् गोधन लौटा लाये ॥ १ ॥

गतेषु च प्रभग्नेषु धार्तराष्ट्रेषु सर्वतः ।
वनान्निष्क्रम्य गहनाद् बहवः कुरुसैनिकाः ॥ २ ॥
भयात् संत्रस्तमनसः समाजग्मुस्ततस्ततः ।
मुक्तकेशास्त्वदृश्यन्त स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा ॥ ३ ॥
क्षुत्पिपासापरिश्रान्ता विदेशस्था विचेतसः ।

जब कौरव-दलके लोग चले गये या इधर-उधर सब दिशाओंमें भाग गये, उस समय बहुत-से कौरवसैनिक जो घने जंगलमें छिपे हुए थे, वहाँसे निकलकर डरते-डरते अर्जुनके पास आये। उनके मनमें भय समा गया था। वे भूखे-प्यासे और थके-माँदे थे। परदेशमें होनेके कारण उनके हृदयकी व्याकुलता और बढ़ गयी थी। वे उस समय केश खोले और हाथ जोड़े हुए खड़े दिखायी दिये ॥ २-३½ ॥

ऊचुः प्रणम्य सम्भ्रान्ताः पार्थ किं करवाम ते ॥ ४ ॥
(प्राणानन्तर्मनोयातान् प्रयाचिष्यामहे वयम् ।
वयं चार्जुन ते दासा ह्यनुरक्ष्या ह्यनायकाः ॥

वे सब-के-सब अर्जुनको प्रणाम करके घबराये हुए बोले—'कुन्तीनन्दन ! हम आपकी क्या सेवा करें ? अर्जुन ! हम आपसे हृदयके भीतर छिपे हुए अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये याचना करते हैं। हमलोग आपके दास और अनाथ हैं; अतः आपको सदा हमारी रक्षा करनी चाहिये' ॥

अर्जुन उवाच

अनाथान् दुःखितान् दीनान्
कृशान् वृद्धान् पराजितान् ।
न्यस्तशस्त्रान् निराशांश्च
नाहं हन्मि कृताञ्जलीन् ॥)

स्वस्ति व्रजत वो भद्रं न भेतव्यं कथंचन ।
नाहमार्ताञ्जिघांसामि भृशमाश्वासयामि वः ॥ ५ ॥

अर्जुनने कहा—सैनिको ! जो लोग अनाथ, दुखी, दीन, दुर्बल, वृद्ध, पराजित, अस्त्र-शस्त्रोंको नीचे डाल देनेवाले, प्राणोंसे निराश एवं हाथ जोड़कर शरणागत होते हैं, उन सबको मैं नहीं मारता हूँ। तुम्हारा भला हो। तुम कुशलपूर्वक घर लौट जाओ ! तुम्हें मेरी ओरसे किसी प्रकारका भय नहीं होना चाहिये। मैं संकटमें पड़े हुए मनुष्योंको नहीं मारना चाहता। इस बातके लिये मैं तुम्हें पूरा-पूरा विश्वास दिलाता हूँ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तामभयां वाचं श्रुत्वा योधाः समागताः ।
आयुःकीर्तियशोदाभिस्तमाशीर्भिरनन्दयन् ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनकी वह अभयदानयुक्त वाणी सुनकर वहाँ आये हुए समस्त योद्धाओंने उन्हें आयु, कीर्ति तथा सुयश बढ़ानेवाले आशीर्वाद देते हुए उनका अभिनन्दन किया ॥ ६ ॥

ततोऽर्जुनं नागमिव प्रभिन्न-
मुत्सृज्य शत्रून् विनिवर्तमानम् ।
विराटराष्ट्राभिमुखं प्रयान्तं
नाशक्नुवंस्तं कुरवोऽभियातुम् ॥ ७ ॥

उस समय अर्जुन शत्रुओंको छोड़कर—उन्हें जीवनदान दे, मदकी धारा बहानेवाले हाथीकी भाँति मस्तीकी चालसे विराटनगरकी ओर लौटे जा रहे थे। कौरवोंको उनपर आक्रमण करनेका साहस नहीं हुआ ॥ ७ ॥

ततः स तन्मेघमिवापतन्तं
विद्राव्य पार्थः कुरुसैन्यवृन्दम् ।
मत्स्यस्य पुत्रं द्विषतां निहन्ता
वचोऽब्रवीत् सम्परिरभ्य भूयः ॥ ८ ॥

कौरवोंकी सेना मेघोंकी घटा-सी उमड़ आयी थी; किंतु शत्रुहन्ता पार्थने उसे मार भगाया। इस प्रकार शत्रुसेनाको परास्त करके अर्जुनने उत्तरको पुनः हृदयसे लगाकर कहा—॥

पितुः सकाशे तव तात सर्वे
वसन्ति पार्था विदितं तवैव ।

तान् मा प्रशंसेर्नगरं प्रविश्य
भीतः प्रणश्येद्धि स मत्स्यराजः ॥ ९ ॥

'तात ! तुम्हारे पिताके समीप समस्त पाण्डव निवास करते हैं, यह बात अबतक तुम्हींको विदित हुई है; अतः तुम नगरमें प्रवेश करके पाण्डवोंकी प्रशंसा न करना, नहीं तो मत्स्यराज डरकर प्राण त्याग देंगे ॥ ९ ॥

मया जिता सा ध्वजिनी कुरूणां
मया च गावो विजिता द्विषद्भ्यः ।
पितुः सकाशं नगरं प्रविश्य
त्वमात्मनः कर्म कृतं ब्रवीहि ॥ १० ॥

'राजधानीमें प्रवेश करके पिताके समीप जानेपर तुम यही कहना कि मैंने कौरवोंकी उस विशाल सेनापर विजय पायी है और मैंने ही शत्रुओंसे अपनी गौओंको जीता है। सारांश यह कि युद्धमें जो कुछ हुआ है, वह सब तुम अपना ही किया हुआ पराक्रम बताना' ॥ १० ॥

उत्तर उवाच

यत् ते कृतं कर्म न पारणीयं
तत् कर्म कर्तुं मम नास्ति शक्तिः ।
न त्वां प्रवक्ष्यामि पितुः सकाशे
यावन्न मां वक्ष्यसि सव्यसाचिन् ॥ ११ ॥

उत्तरने कहा—सव्यसाचिन् ! आपने जो पराक्रम किया है, वह दूसरेके लिये असम्भव है। वैसा अद्भुत कर्म करनेकी मुझमें शक्ति नहीं है; तथापि जबतक आप मुझे आज्ञा न देंगे, तबतक पिताजीके निकट आपके विषयमें मैं कुछ भी नहीं कहूँगा ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

स शत्रुसेनामवजित्य जिष्णु-
राच्छिद्य सर्वं च धनं कुरुभ्यः ।
श्मशानमागत्य पुनः शमीं ता-
मभ्येत्य तस्थौ शरविक्षताङ्गः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विजयशील अर्जुन पूर्वोक्तरूपसे सेनाको परास्त करके कौरवोंके हाथसे सारा गोधन छीन लेनेके बाद पुनः श्मशानभूमिमें उसी शमी-वृक्षके समीप आकर खड़े हुए। उस समय उनके सभी अङ्ग बाणोंके आघातसे क्षत-विक्षत हो रहे थे ॥ १२ ॥

ततः स वह्निप्रतिमो महाकपिः
सहैव भूतैर्दिवमुत्पपात ।
तथैव माया विहिता बभूव
ध्वजं च सैंहं युयुजे रथे पुनः ॥ १३ ॥

तदनन्तर वह अग्निके समान तेजस्वी महावानर ध्वज-निवासी भूतगणोंके साथ आकाशमें उड़ गया। उसी प्रकार ध्वजसहित वह दैवी माया भी विलीन हो गयी और अर्जुनके रथमें फिर वही सिंहध्वज लगा दिया गया ॥ १३ ॥

विधाय तच्चायुधमाजिवर्धनं
कुरूत्तमानामिषुधिः शरांस्तथा ।
प्रायात् स मत्स्यो नगरं प्रहृष्टः
किरीटिना सारथिना महात्मना ॥ १४ ॥

कुरुकुलशिरोमणि पाण्डवोंके युद्धक्षमतावर्धक आयुधों, तरकसों और बाणोंको फिर पूर्ववत् शमीवृक्षपर रखकर मत्स्य-कुमार उत्तर महात्मा अर्जुनको सारथि बना उनके साथ प्रसन्नतापूर्वक नगरको चला ॥ १४ ॥

पार्थस्तु कृत्वा परमार्यकर्म
निहत्य शत्रून् द्विषतां निहन्ता ।
चकार वेणीं च तथैव भूयो
जग्राह रश्मीन् पुनरुत्तरस्य ।
विवेश हृष्टो नगरं महामना
बृहन्नलारूपमुपेत्य सारथिः ॥ १५ ॥

शत्रुहन्ता कुन्तीपुत्रने शत्रुओंको मारकर महान् वीरोचित पराक्रम करके पुनः पूर्ववत् सिरपर वेणी धारण कर ली और उत्तरके घोड़ोंकी रास सँभाली। इस प्रकार बृहन्नलाका रूप धारणकर महामना अर्जुनने सारथिके रूपमें प्रसन्नतापूर्वक राजधानीमें प्रवेश किया ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो निवृत्ताः कुरवः प्रभग्ना वशमास्थिताः ।
हस्तिनापुरमुद्दिश्य सर्वे दीना ययुस्तदा ॥ १६ ॥
पन्थानमुपसङ्गम्य फाल्गुनो वाक्यमब्रवीत् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर कौरव युद्धसे भागकर विवशतापूर्वक लौट गये। उन सबने दीनभावसे उस समय हस्तिनापुरकी ओर प्रस्थान किया। इधर अर्जुनने नगरके रास्तेमें आकर उत्तरसे कहा—॥ १६-१७ ॥



राजपुत्र प्रत्यवेक्ष समानीतानि सर्वशः ।
गोकुलानि महाबाहो वीर गोपालकैः सह ॥ १८ ॥
ततोऽपराह्ने यास्यामो विराटनगरं प्रति ।
आश्वास्य पाययित्वा च परिप्लाव्य च वाजिनः ॥ १९ ॥

'महाबाहु राजकुमार ! देख लो, तुम्हारे सब गोधन ग्वालोंके साथ यहाँ आ गये हैं । वीर ! अब हमलोग घोड़ोंको पानी पिला और नहलाकर उनकी थकावट दूर हो जानेके बाद अपराह्णकालमें विराटनगर चलेंगे ॥ १८-१९ ॥

गच्छन्तु त्वरिताश्चेमे गोपालाः प्रेषितास्त्वया ।
नगरे प्रियमाख्यातुं घोषयन्तु च ते जयम् ॥ २० ॥

'तुम्हारेद्वारा भेजे हुए ये ग्वाले तुरंत नगरमें विजयका प्रिय संवाद सुनानेके लिये जायँ और यह घोषित कर दें कि राजकुमार उत्तरकी जीत हुई है' ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

अथोत्तरस्त्वरमाणः स दूता-
नाज्ञापयद् वचनात् फाल्गुनस्य ।
आचक्षध्वं विजयं पार्थिवस्य
भग्नाः परे विजिताश्चापि गावः ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब अर्जुनके कथनानुसार उत्तरने बड़ी उतावलीके साथ दूतोंको आज्ञा दी—'जाओ और सूचित करो कि महाराजकी विजय हुई है । शत्रु भाग गये और गौएँ जीतकर वापस लायी गयी हैं' ॥

इत्येवं तौ भारतमत्स्यवीरौ
सम्मन्त्र्य सङ्गम्य ततः शमीं ताम् ।
अभ्येत्य भूयो विजयेन तृप्ता-
वुत्सृष्टमारोपयतां स्वभाण्डम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार भरतकुल और मत्स्यकुलके उन दोनों वीरोंने आपसमें सलाह करके पूर्वोक्त शमीवृक्षके समीप जा पहलेके उतारे हुए अपने अलंकार आदि शरीरपर धारण कर लिये थे और उनके रखनेके पात्र (भी) रथपर चढ़ा लिये थे ॥२२॥

स शत्रुसेनामभिभूय सर्वा-
माच्छिद्य सर्वं च धनं कुरुभ्यः ।
वैराटिरायान्नगरं प्रतीतो
बृहन्नलासारथिना प्रवीरः ॥ २३ ॥

इस तरह शत्रुओंकी सम्पूर्ण सेनाको पराजित करके कौरवोंसे सारा गोधन छीनकर विराटकुमार वीर उत्तर बृहन्नला सारथिके साथ प्रसन्नतापूर्वक नगरकी ओर प्रस्थित हुआ ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरागमने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरका आगमन-विषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

राजा विराटकी उत्तरके विषयमें चिन्ता, विजयी उत्तरका नगरमें प्रवेश, प्रजाओंद्वारा उनका स्वागत, विराटद्वारा युधिष्ठिरका तिरस्कार और क्षमाप्रार्थना एवं उत्तरसे युद्धका समाचार पूछना

वैशम्पायन उवाच

धनं चापि विजित्याशु विराटो वाहिनीपतिः ।
विवेश नगरं हृष्टश्चतुर्भिः पाण्डवैः सह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सेनाओंके स्वामी राजा विराटने (दक्षिण गोष्ठकी) गौओंको जीतकर शीघ्र ही चारों पाण्डवोंके साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक नगरमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

जित्वा त्रिगर्तान् संग्रामे गाश्चैवादाय सर्वशः ।
अशोभत महाराज सहपार्थैः श्रिया वृतः ॥ २ ॥

महाराज ! संग्राममें त्रिगर्तोंको हराकर सम्पूर्ण गौएँ वापस ले विजय-लक्ष्मीसे सम्पन्न महाराज विराट कुन्तीपुत्रोंके साथ बड़ी शोभा पाने लगे ॥ २ ॥

तमासनगतं वीरं सुहृदां हर्षवर्धनम् ।
उपासाञ्चक्रिरे सर्वे सह पार्थैः परंतपाः ॥ ३ ॥

मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाले वीरवर विराट राजसिंहासनपर विराजमान हुए । उस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले सब शूरवीर कुन्तीपुत्रोंके साथ राजाकी सेवाके लिये उनके पास बैठे ॥ ३ ॥

उपतस्थुः प्रकृतयः समस्ता ब्राह्मणैः सह ।
सभाजितः ससैन्यस्तु प्रतिनन्द्याथ मत्स्यराट् ॥ ४ ॥

फिर ब्राह्मणोंसहित समस्त प्रजावर्गके लोग उपस्थित हुए । सबने सेनासहित मत्स्यराजका अभिनन्दन एवं स्वागत-सत्कार किया ॥ ४ ॥

विसर्जयामास तदा द्विजांश्च प्रकृतीस्तथा ।
तथा स राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः ॥ ५ ॥
उत्तरं परिपप्रच्छ क्व यात इति चाब्रवीत् ।
आचख्युस्तस्य तत् सर्वं स्त्रियः कन्याश्च वेश्मनि ॥ ६ ॥

तदनन्तर मत्स्यदेशके राजा सेनाओंके स्वामी विराटने

ब्राह्मणों तथा प्रजावर्गके लोगोंको विदा कर दिया और (अन्तः-पुरमें जाकर) उत्तरके विषयमें पूछा—'राजकुमार उत्तर कहाँ गये हैं?' तब घरमें रहनेवाली स्त्रियों और कन्याओंने उनसे सब बातें बतायीं—॥ ५-६ ॥

अन्तःपुरचराश्चैव कुरुभिर्गोधनं हृतम्।
विजेतुमभिसंरब्ध एक एवातिसाहसात्।
बृहन्नलासहायश्च निर्गतः पृथिवीञ्जयः॥ ७ ॥

'इसी प्रकार अन्तःपुरमें रहनेवाली स्त्रियोंने भी बताया कि कौरवोंने हमारे गोष्ठका गोधन हर लिया है, अतः कुमार भूमिंजय अत्यन्त साहसके कारण क्रोधमें भरकर अकेले ही उन गौओंको जीत लानेके लिये बृहन्नलाके साथ निकले हैं॥

उपयातानतिरथान् भीष्मं शान्तनवं कृपम्।
कर्णं दुर्योधनं द्रोणं द्रोणपुत्रं च षड् रथान्॥ ८ ॥

'सुना है, शान्तनुनन्दन भीष्म, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, द्रोणाचार्य तथा द्रोणपुत्र अश्वत्थामा—ये छः अतिरथी वीर युद्धके लिये आये हैं'॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

राजा विराटोऽथ भृशाभितप्तः
श्रुत्वा सुतं त्वेकरथेन यातम्।
बृहन्नलासारथिमाजिवर्धनं
प्रोवाच सर्वानथ मन्त्रिमुख्यान्॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युद्धमें आगे बढ़नेवाले अपने पुत्रको बृहन्नला सारथिके साथ एकमात्र रथकी सहायतासे कौरवोंका सामना करनेके लिये गया हुआ सुनकर राजा विराटको बड़ा संताप हुआ। उन्होंने (अपने) सभी प्रधान मन्त्रियोंसे कहा—॥ ९ ॥

सर्वथा कुरवस्ते हि ये चान्ये वसुधाधिपाः।
त्रिगर्तान् निःसृताञ्छ्रुत्वा न स्थास्यन्ति कदाचन॥१०॥

'कौरव हों या दूसरे कोई राजा, जब वे सुनेंगे कि त्रिगर्त लोग युद्धमें पीठ दिखाकर भाग गये हैं, तब वे कदापि यहाँ ठहर नहीं सकेंगे॥ १० ॥

तस्माद् गच्छन्तु मे योधा बलेन महता वृताः।
उत्तरस्य परीप्सार्थं ये त्रिगर्तैरविक्षताः॥ ११ ॥

'अतः मेरे सैनिकोंमेंसे जो लोग त्रिगर्तोंके साथ होनेवाले युद्धमें घायल नहीं हुए हों, वे सब विशाल सेनाके साथ राजकुमार उत्तरकी रक्षाके लिये जायँ'॥ ११ ॥

हयांश्च नागांश्च रथांश्च शीघ्रं
पदातिसङ्घांश्च ततः प्रवीरान्।
प्रस्थापयामास सुतस्य हेतो-
र्विचित्रशस्त्राभरणोपपन्नान्॥ १२ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने पुत्रकी रक्षाके लिये विचित्र-विचित्र आयुधों और आभूषणोंसे विभूषित घुड़सवारों, हाथीसवारों, रथारोहियों तथा पैदल योद्धाओंके समूहोंको, जो बड़े शूरवीर थे, भेजा॥ १२ ॥

एवं स राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः।
व्यादिदेशाथ तां क्षिप्रं वाहिनीं चतुरङ्गिणीम्॥ १३ ॥
कुमारमाशु जानीत यदि जीवति वा न वा।
यस्य यन्ता गतः षण्ढो मन्येऽहं स न जीवति॥ १४ ॥

इस प्रकार सेनाओंके स्वामी मत्स्यनरेश विराटने अपनी उस चतुरंगिणी सेनाको शीघ्र आदेश दिया, 'जाओ, शीघ्र पता लगाओ। कुमार जीवित हैं या नहीं। एक हिजड़ा जिसका सारथि बनकर गया है, वह मेरी समझसे तो अब जीवित नहीं होगा'॥ १३-१४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमब्रवीद् धर्मराजो विहस्य
विराटराजं तु भृशाभितप्तम्।
बृहन्नला सारथिश्चेन्नरेन्द्र
परे न नेष्यन्ति तवाद्य गास्ताः॥ १५ ॥
सर्वान् महीपान् सहितान् कुरूंश्च
तथैव देवासुरसिद्धयक्षान्।
अलं विजेतुं समरे सुतस्ते
स्वनुष्ठितः सारथिना हि तेन॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा विराटको बहुत दुखी देखकर धर्मराज युधिष्ठिरने उनसे हँसकर कहा—'नरेन्द्र! यदि बृहन्नला सारथि है, तो यह विश्वास कीजिये कि शत्रु आज आपकी वे गौएँ नहीं ले जा सकेंगे। उस हितैषी सारथिके सहयोगसे सब कार्य ठीक-ठीक कर लेनेपर आपका पुत्र युद्धमें समस्त राजाओं तथा संगठित होकर आये हुए कौरवोंकी तो बात ही क्या, देवता, असुर, सिद्ध और यक्षोंपर भी निश्चय ही विजय पा सकता है'॥ १५-१६ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथोत्तरेण प्रहिता दूतास्ते शीघ्रगामिनः।
विराटनगरं प्राप्य विजयं समवेदयन्॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इसी समय उत्तरके भेजे हुए शीघ्रगामी दूतोंने विराटनगरमें आकर विजयकी सूचना दी॥ १७ ॥

राज्ञस्तत् सर्वमाचख्यौ मन्त्री विजयमुत्तमम्।
पराजयं कुरूणां चाप्युपायान्तं तथोत्तरम्॥ १८ ॥
सर्वा विनिर्जिता गावः कुरवश्च पराजिताः।
उत्तरः सह सूतेन कुशली च परंतपः॥ १९ ॥

मन्त्रीने वह सब समाचार महाराजसे कह सुनाया। अपने पक्षकी उत्तम विजय और कौरवोंकी करारी हार हुई है। राजकुमार उत्तर नगरमें आ रहे हैं। समस्त गौएँ जीत

ली गयीं तथा कौरव परास्त होकर भाग गये। शत्रुओंको संताप देनेवाले कुमार उत्तर सारथिसहित सकुशल हैं ॥

युधिष्ठिर उवाच

दिष्ट्या विनिर्जिता गावः कुरवश्च पलायिताः।
नाद्भुतं त्वेव मन्येऽहं यत् ते पुत्रोऽजयत् कुरून् ॥ २० ॥
ध्रुव एव जयस्तस्य यस्य यन्ता बृहन्नला।
(देवेन्द्रसारथिश्चैव मातलिर्लघुविक्रमः।
कृष्णस्य सारथिश्चैव न बृहन्नलया समौ ॥)

युधिष्ठिरने कहा—महाराज ! सौभाग्यकी बात है कि गौएँ जीत ली गयीं और कौरव भाग गये। आपके पुत्रने कौरवोंपर जो विजय पायी है, उसे मैं कोई आश्चर्यकी बात नहीं मानता। जिसका सारथि बृहन्नला हो, उसकी विजय तो निश्चित ही है। देवराज इन्द्रका शीघ्रगामी सारथि मातलि तथा श्रीकृष्णका सारथि दारुक—ये दोनों बृहन्नलाकी समानता नहीं कर सकते ॥ २०½ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो विराटो नृपतिः सम्प्रहृष्टतनूरुहः ॥ २१ ॥
श्रुत्वा स विजयं तस्य कुमारस्यामितौजसः।
आच्छादयित्वा दूतांस्तान् मन्त्रिणं सोऽभ्यचोदयत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपने अमित-पराक्रमी कुमारकी विजयका समाचार सुनकर राजा विराट बड़े प्रसन्न हुए। उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उन्होंने वस्त्र और आभूषणोंसे उन दूतोंका सत्कार किया और मन्त्रीको आज्ञा दी—॥ २१-२२ ॥

राजमार्गाः क्रियन्तां मे पताकाभिरलंकृताः।
पुष्पोपहारैरर्च्यन्तां देवताश्चापि सर्वशः ॥ २३ ॥
कुमारा योधमुख्याश्च गणिकाश्च स्वलंकृताः।
वादित्राणि च सर्वाणि प्रत्युद्यान्तु सुतं मम ॥ २४ ॥

'मेरे नगरकी सड़कोंको पताकाओंसे अलंकृत किया जाय। फूलों तथा नाना प्रकारके उपहारोंसे सब देवताओंकी पूजा होनी चाहिये। कुमार, मुख्य-मुख्य योद्धा, शृङ्गारसे सुशोभित वाराङ्गनाएँ और सब प्रकारके बाजे-गाजे मेरे पुत्रकी अगवानीमें भेजे जायँ ॥ २३-२४ ॥

घण्टावान् मानवः शीघ्रं मत्तमारुह्य वारणम्।
शृङ्गाटकेषु सर्वेषु आख्यातु विजयं मम ॥ २५ ॥
उत्तरा च कुमारीभिर्बह्वीभिः परिवारिता।
शृङ्गारवेषाभरणा प्रत्युद्यातु सुतं मम ॥ २६ ॥

'एक मनुष्य शीघ्र ही हाथमें घण्टा लिये मतवाले गजराजपर बैठ जाय और नगरके समस्त चौराहोंपर हमारी विजयका संवाद सुनावे। राजकुमारी उत्तरा भी उत्तम शृङ्गार और सुन्दर वेष-भूषासे सुशोभित हो अन्य राजकुमारियोंके साथ मेरे पुत्रकी अगवानीमें जायँ' ॥ २५-२६ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा चेदं वचनं पार्थिवस्य
सर्वं पुरं स्वस्तिकपाणिभूतम्।
भेर्यश्च तूर्याणि च वारिजाश्च
वेषैः परार्ध्यैः प्रमदाः शुभाश्च ॥ २७ ॥
तथैव सूतैः सह मागधैश्च
नान्दीवाद्याः पणवास्तूर्यवाद्याः।
पुराद् विराटस्य महाबलस्य
प्रत्युद्ययुः पुत्रमनन्तवीर्यम् ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! राजाकी इस आज्ञाको सुनकर बहुमूल्य वेशभूषासे सुशोभित सौभाग्यवती तरुणी स्त्रियों, सूत, मागध और वंदीजनोंसहित समस्त पुरवासी, हाथोंमें माङ्गलिक वस्तुएँ लेकर भेरी, तूर्य, शङ्ख तथा पणव आदि माङ्गलिक बाजे साथ लिये महाबली विराटके अनन्त पराक्रमी पुत्र उत्तरकी अगवानी करनेके लिये नगरसे बाहर गये ॥ २७-२८ ॥

प्रस्थाप्य सेनां कन्याश्च गणिकाश्च स्वलङ्कृताः।
मत्स्यराजो महाप्राज्ञः प्रहृष्ट इदमब्रवीत् ॥ २९ ॥

राजन् ! तदनन्तर सेना, सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कन्याओं और वाराङ्गनाओंको भेजकर परम बुद्धिमान् मत्स्यनरेश हर्षोल्लासमें भरकर इस प्रकार बोले—॥ २९ ॥

अक्षानाहर सैरन्ध्रि कङ्क द्यूतं प्रवर्तताम्।
तं तथावादिनं दृष्ट्वा पाण्डवः प्रत्यभाषत ॥ ३० ॥

'सैरन्ध्री ! जा, पासे ले आ। कङ्क ! जूआ प्रारम्भ हो।' उन्हें ऐसा कहते देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर बोले—॥

न देवितव्यं हृष्टेन कितवेनेति नः श्रुतम्।
तं त्वामद्य मुदा युक्तं नाहं देवितुमुत्सहे।
प्रियं तु ते चिकीर्षामि वर्ततां यदि मन्यसे ॥ ३१ ॥

'राजन् ! मैंने सुना है, जब चालाक जुआरी अत्यन्त हर्षमें भरा हो, तो उसके साथ जूआ नहीं खेलना चाहिये। आज आप भी बड़े आनन्दमें मग्न हैं; अतः आपके साथ जूआ खेलनेका साहस नहीं होता, तथापि आपका प्रिय कार्य तो करना ही चाहता हूँ, अतः यदि आपकी इच्छा हो, तो खेल शुरू हो सकता है' ॥ ३१ ॥

विराट उवाच

स्त्रियो गावो हिरण्यं च यच्चान्यद् वसु किञ्चन।
न मे किञ्चित् त्वया रक्ष्यमन्तरेणापि देवितुम् ॥ ३२ ॥

विराटने कहा—स्त्रियाँ, गौएँ, सुवर्ण तथा अन्य जो कोई भी धन सुरक्षित रक्खा जाता है, बिना जूएके वह सब मुझे कुछ नहीं चाहिये। (मुझे तो जूआ ही सबसे अधिक प्रिय है)॥ ३२ ॥

कङ्क उवाच

किं ते द्यूतेन राजेन्द्र बहुदोषेण मानद।
देवने बहवो दोषास्तस्मात् तत् परिवर्जयेत्॥ ३३॥

कङ्क बोले—सबको मान देनेवाले महाराज! आपको जूएसे क्या लेना है? इसमें तो बहुत-से दोष हैं। जूआ खेलनेमें अनेक दोष होते हैं, इसलिये इसे त्याग देना चाहिये॥ ३३॥

श्रुतस्ते यदि वा दृष्टः पाण्डवेयो युधिष्ठिरः।
स राष्ट्रं सुमहत् स्फीतं भ्रातृंश्च त्रिदशोपमान्॥ ३४॥
राज्यं हारितवान् सर्वं तस्माद् द्यूतं न रोचये।
(निःसंशयं स कितवः पश्चात् तप्यति पाण्डवः॥
विविधानां च रत्नानां धनानां च पराजये।
अस्मिन् क्षितिविनाशश्च वाक्पारुष्यमनन्तरम्॥
अविश्वास्यं बुधैर्नित्यमेकाह्ना द्रव्यनाशनम्।)
अथवा मन्यसे राजन् दीव्याम यदि रोचते॥ ३५॥

आपने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको देखा होगा अथवा उनका नाम तो अवश्य सुना होगा। वे अपने अत्यन्त समृद्धिशाली राष्ट्रको, देवताओंके समान तेजस्वी भाइयोंको तथा समूचे राज्यको भी जूएमें हार गये थे। अतः मैं जूएको पसंद नहीं करता। नाना प्रकारके रत्नों और धनको हार जानेके कारण अब वे जुआरी युधिष्ठिर निश्चय ही पश्चात्ताप करते होंगे। इस जूएमें आसक्त होनेपर राज्यका नाश होता है, फिर जुआरी एक दूसरेके प्रति कटु वचनोंका प्रयोग करते हैं। जूआ एक ही दिनमें महान् धनराशिका नाश करनेवाला है। अतः विद्वान् पुरुषोंको इस (धोखा देनेवाले जूए) पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। राजन्! तो भी यदि आपकी रुचि और आग्रह हो, तो हम खेलेंगे ही॥ ३४-३५॥

वैशम्पायन उवाच

प्रवर्तमाने द्यूते तु मत्स्यः पाण्डवमब्रवीत्।
पश्य पुत्रेण मे युद्धे तादृशाः कुरवो जिताः॥ ३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जूएका खेल आरम्भ हो गया। खेलते-खेलते मत्स्यराजने पाण्डुनन्दनसे कहा—'देखो, आज मेरे बेटेने युद्धमें उन प्रसिद्ध कौरवोंपर विजय पायी है'॥ ३६॥

ततोऽब्रवीन्महात्मा स एनं राजा युधिष्ठिरः।
बृहन्नला यस्य यन्ता कथं स न जयेद् युधि॥ ३७॥

तब महात्मा राजा युधिष्ठिरने विराटसे कहा—'बृहन्नला जिसका सारथि हो, वह युद्धमें कैसे नहीं जीतेगा?'॥ ३७॥

इत्युक्तः कुपितो राजा मत्स्यः पाण्डवमब्रवीत्।
समं पुत्रेण मे षण्ढं ब्रह्मबन्धो प्रशंससि॥ ३८॥

यह सुनते ही मत्स्यनरेश कुपित हो उठे और पाण्डुनन्दनसे बोले—'अधम ब्राह्मण! तू मेरे पुत्रके समान एक हिजड़ेकी प्रशंसा करता है!॥ ३८॥

वाच्यावाच्यं न जानीषे नूनं मामवमन्यसे।
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वान् कस्मान्न स विजेष्यति॥ ३९॥
वयस्यत्वात् तु ते ब्रह्मन्नपराधमिमं क्षमे।
नेदृशं तु पुनर्वाच्यं यदि जीवितुमिच्छसि॥ ४०॥

'क्या कहना चाहिये और क्या नहीं, इसका तुझे ज्ञान नहीं है। निश्चय ही तू अपनी बातोंसे मेरा अपमान कर रहा है। भला मेरा पुत्र भीष्म-द्रोण आदि समस्त वीरोंको क्यों नहीं जीत लेगा? ब्रह्मन्! मित्र होनेके नाते ही मैं तुम्हारे इस अपराधको क्षमा करता हूँ। यदि जीनेकी इच्छा हो, तो फिर ऐसी बात न कहना'॥ ३९-४०॥

युधिष्ठिर उवाच

यत्र द्रोणस्तथा भीष्मो द्रौणिर्वैकर्तनः कृपः।
दुर्योधनश्च राजेन्द्रस्तथान्ये च महारथाः॥ ४१॥
मरुद्गणैः परिवृतः साक्षादपि मरुत्पतिः।
कोऽन्यो बृहन्नलायास्तान् प्रतियुध्येत सङ्गतान्॥ ४२॥

युधिष्ठिर बोले—जहाँ द्रोणाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा, कर्ण, कृपाचार्य, राजा दुर्योधन तथा अन्य महारथी उपस्थित हों, वहाँ बृहन्नलाके सिवा दूसरा कौन पुरुष, चाहे वह देवताओंसे घिरा हुआ साक्षात् देवराज इन्द्र ही क्यों न हो, उन सब संगठित वीरोंका सामना कर सकता है?॥ ४१-४२॥

यस्य बाहुबले तुल्यो न भूतो न भविष्यति।
अतीव समरं दृष्ट्वा हर्षो यस्योपजायते॥ ४३॥
योऽजयत् सङ्गतान् सर्वान् ससुरासुरमानवान्।
तादृशेन सहायेन कस्मात् स न विजेष्यते॥ ४४॥

बाहुबलमें जिसकी समानता करनेवाला न कोई हुआ है और न होगा ही, युद्धका अवसर आया देखकर जिसे अत्यन्त हर्ष होता है, जिसने युद्धमें एकत्र हुए देवता, असुर और मनुष्य—सबको जीत लिया है, वैसे बृहन्नला जैसे सहायकके होनेपर राजकुमार उत्तर विजयी क्यों न होंगे?॥ ४३-४४॥

विराट उवाच

बहुशः प्रतिषिद्धोऽसि न च वाचं नियच्छसि।
नियन्ता चेन्न विद्येत न कश्चिद् धर्ममाचरेत्॥ ४५॥

विराटने कहा—कङ्क! मैंने बहुत बार मना किया, तो भी तू अपनी जबान नहीं बंद कर रहा है। सच है, यदि शासन करनेवाला राजा न हो, तो कोई भी धर्मका आचरण नहीं कर सकता॥ ४५॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रकुपितो राजा तमक्षेणाहनद् भृशम्।
मुखे युधिष्ठिरं कोपान्नैवमित्येव भर्त्सयन्॥ ४६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इतना कहकर कोपमें भरे हुए राजा विराटने वह पासा युधिष्ठिरके मुखपर जोरसे दे मारा तथा रोषपूर्वक डाँटते हुए उनसे कहा—'फिर कभी ऐसी बात न कहना' ॥ ४६ ॥

बलवत् प्रतिविद्धस्य नस्तः शोणितमावहत्।
तदप्राप्तं महीं पार्थः पाणिभ्यां प्रत्यगृह्णत ॥ ४७ ॥
अवैक्षत स धर्मात्मा द्रौपदीं पार्श्वतः स्थिताम्।
सा ज्ञात्वा तमभिप्रायं भर्तुश्चित्तवशानुगा ॥ ४८ ॥
पात्रं गृहीत्वा सौवर्णं जलपूर्णमनिन्दिता।
तच्छोणितं प्रत्यगृह्णाद् यत् प्रसुस्राव नस्ततः ॥ ४९ ॥

पासेका आघात जोरसे लगा था; अतः उनकी नाकसे रक्तकी धारा बह चली । किंतु धर्मात्मा युधिष्ठिरने उस रक्तको पृथ्वीपर गिरनेसे पहले ही अपने दोनों हाथोंमें रोक लिया और पास ही खड़ी हुई द्रौपदीकी ओर देखा । द्रौपदी अपने स्वामीके मनके अधीन रहनेवाली और उनकी अनुगामिनी थी। उस सती साध्वी देवीने उनका अभिप्राय समझ लिया; अतः जलसे भरा हुआ सुवर्णमय पात्र ले आकर युधिष्ठिरकी नाकसे जो रक्त बहता था, वह सब उसमें ले लिया ॥ ४७-४९ ॥



अथोत्तरः शुभैर्गन्धैर्माल्यैश्च विविधैस्तथा।
अवकीर्यमाणः संहृष्टो नगरं स्वैरमागतः ॥ ५० ॥

इसी समय राजकुमार उत्तर बड़े हर्षके साथ स्वच्छन्दतापूर्वक नगरमें आये। मार्गमें उनके ऊपर उत्तम गन्ध और भाँति-भाँतिके पुष्पहार बरसाये जा रहे थे ॥ ५० ॥

सभाज्यमानः पौरैश्च स्त्रीभिर्जानपदैस्तथा।
आसाद्य भवनद्वारं पित्रे सम्प्रत्यवेदयत् ॥ ५१ ॥

मत्स्यदेशके लोगों, पुरवासियों तथा सुन्दरी स्त्रियोंने उनका स्वागत किया; फिर राजभवनके द्वारपर पहुँचकर उन्होंने पिताको अपने आगमनकी सूचना करवायी ॥ ५१ ॥

ततो द्वाःस्थः प्रविश्यैव विराटमिदमब्रवीत्।
बृहन्नलासहायश्च पुत्रो द्वार्युत्तरः स्थितः ॥ ५२ ॥

तब द्वारपालने भीतर जाकर महाराज विराटसे कहा—'प्रभो ! बृहन्नलाके साथ राजकुमार उत्तर द्वारपर खड़े हैं' ॥

ततो हृष्टो मत्स्यराजः क्षत्तारमिदमब्रवीत्।
प्रवेश्यतामुभौ तूर्णं दर्शनेप्सुरहं तयोः ॥ ५३ ॥

इस समाचारसे प्रसन्न होकर मत्स्यराज अपने सेवकसे बोले—'मैं उन दोनोंसे मिलना चाहता हूँ; अतः उन्हें शीघ्र भीतर ले आओ' ॥ ५३ ॥

क्षत्तारं कुरुराजस्तु शनैः कर्ण उपाजपत्।
उत्तरः प्रविशत्वेको न प्रवेश्या बृहन्नला ॥ ५४ ॥

तब जाते हुए सेवकके कानमें युधिष्ठिरने धीरेसे कहा—'पहले अकेले राजकुमार उत्तर ही यहाँ आवें । बृहन्नलाको साथमें न ले आना' ॥ ५४ ॥

एतस्य हि महाबाहो व्रतमेतत् समाहितम्।
यो ममाङ्गे व्रणं कुर्याच्छोणितं वापि दर्शयेत्।
अन्यत्र संग्रामगतान्न स जीवेत् कथञ्चन ॥ ५५ ॥

'महाबाहो ! बृहन्नलाका यह निश्चित व्रत है कि जो युद्धभूमिके सिवा अन्य किसी स्थानमें मेरे शरीरमें घाव कर दे या रक्त बहता दिखा दे, वह किसी प्रकार जीवित न रहने पाये ॥ ५५ ॥

न मृष्याद् भृशसंक्रुद्धो मां दृष्ट्वा तु सशोणितम्।
विराटमिह सामात्यं हन्यात् सबलवाहनम् ॥ ५६ ॥

'मेरे शरीरमें रक्त देखकर वह अत्यन्त कुपित हो उठेगा और इस अपराधको क्षमा नहीं करेगा एवं राजा विराटको मन्त्री, सेना और वाहनोंसहित यहीं मार डालेगा' ॥ ५६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञः सुतो ज्येष्ठः प्राविशत् पृथिवीञ्जयः।
सोऽभिवाद्य पितुः पादौ कङ्कं चाप्युपतिष्ठत ॥ ५७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा विराटके ज्येष्ठ पुत्र कुमार भूमिंजय (उत्तर) ने भीतर प्रवेश किया और पिताके दोनों चरणोंमें प्रणाम करके कङ्कको भी मस्तक झुकाया ॥ ५७ ॥

ततो रुधिरसंयुक्तमनेकाग्रमनागसम्।
भूमावासीनमेकान्ते सैरन्ध्र्या प्रत्युपस्थितम् ॥ ५८ ॥

उसने देखा, कङ्क एकान्तमें भूमिपर बैठे हैं। सैरन्ध्री उनकी सेवामें उपस्थित है। उनका मन एकाग्र नहीं है और वे निरपराध हैं, तो भी उनके शरीरसे रक्त बह रहा है ॥ ५८ ॥

ततः पप्रच्छ पितरं त्वरमाण इवोत्तरः।
केनायं ताडितो राजन् केन पापमिदं कृतम् ॥ ५९ ॥

तब उत्तरने बड़ी उतावलीके साथ अपने पितासे पूछा—'राजन्! किसने इन्हें मारा है? किसने यह पाप किया है?' ॥ ५९ ॥

विराट उवाच

मयायं ताडितो जिह्मो न चाप्येतावदर्हति।
प्रशस्यमाने यच्छूरे त्वयि षण्ढं प्रशंसति ॥ ६० ॥

विराटने कहा—बेटा! मैंने ही इस कुटिलको मारा है। यह इतने सम्मानके योग्य कदापि नहीं है। देखो न, जब मैं तुम्हारे शौर्यकी प्रशंसा करता हूँ, तब यह उस हिजड़ेकी बड़ाई करने लगता है ॥ ६० ॥

उत्तर उवाच

अकार्यं ते कृतं राजन् क्षिप्रमेव प्रसाद्यताम्।
मा त्वां ब्रह्मविषं घोरं समूलमिह निर्दहेत् ॥ ६१ ॥

उत्तर बोले—राजन्! आपने इन्हें मारकर बड़ा अनुचित कार्य किया है। शीघ्र ही इनको मनाइये; अन्यथा ब्राह्मणका भयंकर क्रोधविष आपको यहाँ जड़-मूलसहित भस्म कर डालेगा ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन उवाच

स पुत्रस्य वचः श्रुत्वा विराटो राष्ट्रवर्धनः।
क्षमयामास कौन्तेयं भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ ६२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पुत्रकी यह बात सुनकर अपने राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाले महाराज विराटने राखमें छिपी हुई अग्निकी भाँति तेजस्वी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे क्षमा माँगी ॥ ६२ ॥

क्षमयन्तं तु राजानं पाण्डवः प्रत्यभाषत।
चिरं क्षान्तमिदं राजन् न मन्युर्विद्यते मम ॥ ६३ ॥

राजाको क्षमा माँगते देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने कहा—'राजन्! मैंने चिरकालसे क्षमाका व्रत ले रक्खा है, अतः आपका यह अपराध क्षमा हो चुका है। मुझे आपपर जरा भी क्रोध नहीं है ॥ ६३ ॥

यदि ह्येतत् पतेद् भूमौ रुधिरं मम नस्ततः।
सराष्ट्रस्त्वं महाराज विनश्येथा न संशयः ॥ ६४ ॥

'महाराज! यदि मेरी नाकसे बहनेवाला यह रक्त धरती-पर गिर जाता, तो आप सारे राष्ट्रके साथ नष्ट हो जाते; इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ६४ ॥

न दूषयामि ते राजन् यद् वै हन्याददूषकम्।
बलवन्तं प्रभुं राजन् क्षिप्रं दारुणमाप्नुयात् ॥ ६५ ॥

'राजन्! जो किसीकी निन्दा या अपराध न करे, उसे मार देना अन्याय है, तथापि मैं आपके इस कार्यकी निन्दा नहीं करता; क्योंकि बलवान् राजाको प्रायः शीघ्र ही ऐसे कठोर कर्म करनेका अवसर प्राप्त हो जाता है' ६५

वैशम्पायन उवाच

शोणिते तु व्यतिक्रान्ते प्रविवेश बृहन्नला।
अभिवाद्य विराटं तु कङ्कं चाप्युपतिष्ठत ॥ ६६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब युधिष्ठिरकी नाकसे रक्त बहना बंद हो गया, उस समय बृहन्नलाने राजसभामें प्रवेश किया। उसने विराटको नमस्कार करके कङ्कको भी प्रणाम किया ॥ ६६ ॥

क्षामयित्वा तु कौरव्यं रणादुत्तरमागतम्।
प्रशशंस ततो मत्स्यः शृण्वतः सव्यसाचिनः ॥ ६७ ॥

इधर मत्स्यनरेश कुरुनन्दन युधिष्ठिरसे क्षमा माँगकर सव्यसाची अर्जुनके सुनते हुए ही रणभूमिसे आये हुए उत्तरकी प्रशंसा करने लगे— ॥ ६७ ॥

त्वया दायादवानस्मि कैकेयीनन्दिवर्धन।
त्वया मे सदृशः पुत्रो न भूतो न भविष्यति ॥ ६८ ॥

'कैकेयीनन्दन! तुम्हें पाकर मैं वास्तवमें पुत्रवान् हूँ। तुम्हारे समान मेरा दूसरा कोई पुत्र न हुआ है; न होगा ही ॥ ६८ ॥

पदं पदसहस्रेण यश्चरन् नापराध्नुयात्।
तेन कर्णेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ६९ ॥
मनुष्यलोके सकले यस्य तुल्यो न विद्यते।
तेन भीष्मेण ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ७० ॥

'तात! जो एक ही लक्ष्यके साथ-साथ सहस्रों लक्ष्योंका वेध करनेके लिये बाण चलाता है और कहीं भी चूकता नहीं है, उस कर्णके साथ तुम्हारा युद्ध किस प्रकार हुआ? बेटा! सारे मनुष्यलोकमें जिनकी समानता करनेवाला कोई नहीं है, उन भीष्मजीके साथ तुम्हारी भिड़न्त किस प्रकार हुई? ॥ ६९-७० ॥

आचार्यो वृष्णिवीराणां कौरवाणां च यो द्विजः।
सर्वक्षत्रस्य चाचार्यः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
तेन द्रोणेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ७१ ॥

'तात! जो वृष्णिवीरों और कौरवों दोनोंके आचार्य हैं अथवा दोनोंके ही नहीं, सम्पूर्ण क्षत्रियोंके आचार्य हैं, समस्त शस्त्रधारियोंमें जिनका सबसे ऊँचा स्थान है, उन द्रोणाचार्यके साथ तुम्हारा संग्राम किस प्रकार हुआ? ॥ ७१ ॥

आचार्यपुत्रो यः शूरः सर्वशस्त्रभृतामपि ।
अश्वत्थामेति विख्यातस्तेनासीत् संगरः कथम् ॥ ७२॥

'आचार्यके जो शूरवीर पुत्र सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं, जिनकी अश्वत्थामा नामसे ख्याति है, उनके साथ तुम्हारी लड़ाई कैसे हुई ?॥ ७२ ॥

रणे यं प्रेक्ष्य सीदन्ति हृतस्वा वणिजो यथा ।
कृपेण तेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ७३॥

'बेटा ! जैसे वणिक् अपना धन छिन जानेपर दुखी होते हैं, उसी प्रकार युद्धमें जिन्हें देखकर बड़े-बड़े योद्धा शिथिल हो जाते हैं, उन कृपाचार्यके साथ तुम्हारा संग्राम किस प्रकार हुआ ?॥ ७३ ॥

पर्वतं योऽभिविध्येत राजपुत्रो महेषुभिः ।
दुर्योधनेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ७४ ॥

'तात ! जो राजपुत्र अपने महान् बाणोंसे पर्वतको भी विदीर्ण कर सकता है, उस दुर्योधनके साथ तुम्हारी मुठभेड़ कैसे हुई ?॥ ७४ ॥

अवगाढा द्विषन्तो मे सुखो वातोऽभिवाति माम् ।
यस्त्वं धनमथाजैषीः कुरुभिर्ग्रस्तमाहवे ॥ ७५ ॥

'बेटा ! कौरवोंने जिस गोधनको संग्राममें हड़प लिया था, उसे तुम जीतकर ले आये, यह बहुत अच्छा हुआ। आज हमारे शत्रु परास्त हो गये, इसलिये आजकी वायु मुझे बड़ी सुखदायिनी प्रतीत हो रही है॥ ७५ ॥

तेषां भयाभिपन्नानां सर्वेषां बलशालिनाम् ।
नूनं प्रकाल्य तान् सर्वांस्त्वया युधि नरर्षभ ।
आच्छिन्नं गोधनं सर्वं शार्दूलेनामिषं यथा ॥ ७६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! तुमने उन समस्त शत्रुओंको युद्धमें जीतकर उन्हें भयमें डाल दिया है और उन समस्त बलशालियोंके हाथसे अपने सारे गोधनको इस प्रकार छीन लिया है, जैसे सिंह दूसरे जन्तुओंके हाथसे मांस छीन लेता है'॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि विराटोत्तरसंवादे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें विराट-उत्तर-संवाद-विषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ७९ श्लोक हैं)

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

राजा विराट और उत्तरकी विजयके विषयमें बातचीत

उत्तर उवाच

न मया निर्जिता गावो न मया निर्जिताः परे ।
कृतं तत् सकलं तेन देवपुत्रेण केनचित् ॥ १ ॥

उत्तरने कहा—पिताजी ! मैंने गौओंको नहीं जीता है और न मैंने शत्रुओंपर ही विजय पायी है। यह सब कार्य तो किसी देवकुमारने किया है॥ १ ॥

स हि भीतं द्रवन्तं मां देवपुत्रो न्यवर्तयत् ।
स चातिष्ठद् रथोपस्थे वज्रसंहननो युवा ॥ २ ॥

मैं तो डरकर भागा आ रहा था; किंतु वज्रके समान सुदृढ़ शरीरवाले उस तरुण देवपुत्रने मुझे लौटाया और वह स्वयं ही रथके पिछले भागमें रथी बनकर बैठ गया॥ २ ॥

तेन ता निर्जिता गावः कुरवश्च पराजिताः ।
तस्य तत् कर्म वीरस्य न मया तात तत् कृतम् ॥ ३ ॥

उसीने उन गौओंको जीता है और कौरवोंको भी परास्त किया है। पिताजी ! यह सब उसी वीरका कर्म है। मैंने कुछ नहीं किया है॥ ३ ॥

स हि शारद्वतं द्रोणं द्रोणपुत्रं च षड् रथान् ।
सूतपुत्रं च भीष्मं च चकार विमुखाञ्छरैः ॥ ४ ॥
दुर्योधनं विकर्णं च सनागमिव यूथपम् ।
प्रभग्नमब्रवीद् भीतं राजपुत्रं महाबलः ॥ ५ ॥

उसीने कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कर्ण, भीष्म और दुर्योधन—इन छहों महारथियोंको अपने बाणोंसे मार-कर युद्धसे भगा दिया। वहाँ जैसे यूथपति गजराज अपने झुंडके हाथियोंसहित भागा जाता हो, उसी प्रकार दुर्योधन और विकर्ण आदि राजपुत्र भयभीत होकर भागने लगे; तब उस महाबली देवपुत्रने दुर्योधनसे कहा—॥ ४-५ ॥

न हास्तिनपुरे त्राणं तव पश्यामि किंचन ।
व्यायामेन परीप्सस्व जीवितं कौरवात्मज ॥ ६ ॥

'धृतराष्ट्रकुमार ! अब हस्तिनापुरमें तेरी जीवनरक्षाका कोई उपाय मुझे नहीं दिखायी देता; अतः देश-देशान्तरोंमें घूमकर अपनी जान बचा॥ ६ ॥

न मोक्ष्यसे पलायंस्त्वं राजन् युद्धे मनः कुरु ।
पृथिवीं भोक्ष्यसे जित्वा हतो वा स्वर्गमाप्स्यसि ॥ ७ ॥

'राजन् ! भागनेसे तू नहीं बच सकता। युद्धमें मन लगा। जीत लेगा, तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा अथवा मारे जानेपर तुझे स्वर्ग मिलेगा'॥ ७ ॥

स निवृत्तो नरव्याघ्रो मुञ्चन् वज्रनिभाञ्छरान् ।
सचिवैः संवृतो राजा रथे नाग इव श्वसन् ॥ ८ ॥

महाराज ! इतना सुनना था कि नरश्रेष्ठ दुर्योधन साँपकी भाँति फुँफकारता हुआ रथके द्वारा लौट आया और

मन्त्रियोंसे घिरकर उस देवपुत्रपर वज्र-सरीखे बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ८ ॥

तं दृष्ट्वा रोमहर्षोऽभूदूरुकम्पश्च मारिष ।
स तत्र सिंहसंकाशमनीकं व्यधमच्छरैः ॥ ९ ॥

मारिष ! उस समय उसे देखकर मेरे तो रोंगटे खड़े हो गये और जाँघें काँपने लगीं; किंतु उस देवपुत्रने अपने बाणोंद्वारा सिंहके समान पराक्रमी दुर्योधन और उसकी सेनाको संतप्त कर दिया ॥ ९ ॥

तत् प्रणुद्य रथानीकं सिंहसंहननो युवा ।
कुरूंस्तान् प्रहसन् राजन् संस्थितान् हृतवाससः ॥ १० ॥
एकेन तेन वीरेण षड् रथाः परिनिर्जिताः ।
शार्दूलेनेव मत्तेन यथा वनचरा मृगाः ॥ ११ ॥

सिंहके समान सुदृढ़ शरीरवाले उस तरुण वीरने रथारोहियोंकी सेनाको छिन्न-भिन्न करके हँसते-हँसते उन कौरवोंको भी धराशायी कर दिया, जिससे उनके कपड़े उतार लिये गये। जैसे मदोन्मत्त सिंह वनमें विचरनेवाले मृगोंको परास्त करता है, उसी प्रकार उस वीर देवपुत्रने अकेले ही उन छः महारथियोंको हराया है ॥ १०-११ ॥

विराट उवाच

क स वीरो महाबाहुर्देवपुत्रो महायशाः ।
यो मे धनमथाजैषीत् कुरुभिर्ग्रस्तमाहवे ॥ १२ ॥
इच्छामि तमहं द्रष्टुमर्चितुं च महाबलम् ।
येन मे त्वं च गावश्च रक्षिता देवसूनुना ॥ १३ ॥

विराटने पूछा—बेटा ! वह महायशस्वी महाबाहु वीर देवपुत्र कहाँ है, जिसने युद्धमें कौरवोंद्वारा काबूमें की हुई मेरी गौओंको जीता है ? जिस देवकुमारने तुम्हें और मेरी गौओंको भी बचाया है, मैं उस महापराक्रमी वीरको देखना और उसका सत्कार करना चाहता हूँ ॥ १२-१३ ॥

उत्तर उवाच

अन्तर्धानं गतस्तत्र देवपुत्रो महाबलः ।
स तु श्वो वा परश्वो वा मन्ये प्रादुर्भविष्यति ॥ १४ ॥

उत्तरने कहा—पिताजी ! वह महाबली देवपुत्र वहीं अन्तर्धान हो गया; किंतु मेरा विश्वास है कि वह कल या परसों यहाँ फिर प्रकट होगा ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाख्यायमानं तु छन्नं सत्रेण पाण्डवम् ।
वसन्तं तत्र नाज्ञासीद् विराटो वाहिनीपतिः ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार संकेतपूर्वक बतानेपर भी सेनाओंके स्वामी राजा विराट नपुंसक-वेशमें छिपकर वहीं रहनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनको पहचान न सके ॥ १५ ॥

ततः पार्थोऽभ्यनुज्ञातो विराटेन महात्मना ।
प्रददौ तानि वासांसि विराटदुहितुः स्वयम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर महामना विराटकी आज्ञासे बृहन्नलारूपी अर्जुनने स्वयं विराटकन्या उत्तराको वे सब कपड़े, जो महारथियोंके शरीरसे उतारे गये थे, दे दिये ॥ १६ ॥

उत्तरा तु महार्हाणि विविधानि नवानि च ।
प्रतिगृह्याभवत् प्रीता तानि वासांसि भामिनी ॥ १७ ॥
मन्त्रयित्वा तु कौन्तेय उत्तरेण महात्मना ।
इतिकर्तव्यतां सर्वां राजन् पार्थे युधिष्ठिरे ॥ १८ ॥
ततस्तथा तद् व्यदधाद् यथावत् पुरुषर्षभ ।
सह पुत्रेण मत्स्यस्य प्रहृष्टा भरतर्षभाः ॥ १९ ॥

भामिनी उत्तरा उन भाँति-भाँतिके नवीन एवं बहुमूल्य वस्त्रोंको लेकर बहुत प्रसन्न हुई। जनमेजय ! कुन्तीनन्दन अर्जुनने महामना उत्तरके साथ राजा युधिष्ठिरको प्रकट करनेके विषयमें सलाह की और क्या-क्या करना चाहिये, इन सब बातोंका निश्चय कर लिया। नरश्रेष्ठ ! तदनन्तर उन्होंने उसी निश्चयके अनुसार सब कार्य ठीक-ठीक किया। भरतकुल-शिरोमणि पाण्डव मत्स्यनरेशके पुत्र उत्तरके साथ वह सब व्यवस्था करके बड़े प्रसन्न हुए ॥ १७-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि विराटोत्तरसंवादे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें विराट-उत्तर-संवादविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

(वैवाहिकपर्व)

सप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका राजा विराटको महाराज युधिष्ठिरका परिचय देना

वैशम्पायन उवाच

ततस्तृतीये दिवसे भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
स्नाताः शुक्लाम्बरधराः समये चरितव्रताः ॥ १ ॥
युधिष्ठिरं पुरस्कृत्य सर्वाभरणभूषिताः ।
द्वारि मत्ता यथा नागा भ्राजमाना महारथाः ॥ २ ॥
विराटस्य सभां गत्वा भूमिपालासनेष्वथ ।
निषेदुः पावकप्रख्याः सर्वे धिष्ण्येष्विवाग्नयः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर

नियत समयतक अपनी प्रतिज्ञाका पालन करके अग्निके समान तेजस्वी पाँचों भाई महारथी पाण्डव तीसरे दिन स्नान करके श्वेत वस्त्र धारणकर समस्त राजोचित आभूषणोंसे विभूषित हो राजसभामें द्वारपर स्थित मदोन्मत्त गजराजोंकी भाँति सुशोभित होने लगे। वे राजा युधिष्ठिरको आगे करके विराटकी सभामें गये और राजाओंके लिये रक्खे हुए सिंहासनोंपर बैठे। उस समय वे भिन्न-भिन्न यज्ञवेदियोंपर प्रज्वलित अग्नियोंके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १—३ ॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु विराटः पृथिवीपतिः।
आजगाम सभां कर्तुं राजकार्याणि सर्वशः ॥ ४ ॥

पाण्डवोंके वहाँ बैठ जानेपर राजा विराट अपने समस्त राजकाज करनेके लिये सभामें आये ॥ ४ ॥

श्रीमतः पाण्डवान् दृष्ट्वा ज्वलतः पावकानिव।
मुहूर्तमिव च ध्यात्वा सरोषः पृथिवीपतिः ॥ ५ ॥
अथ मत्स्योऽब्रवीत् कङ्कं देवरूपमिव स्थितम्।
मरुद्गणैरुपासीनं त्रिदशानामिवेश्वरम् ॥ ६ ॥

वहाँ प्रज्वलित अग्नियोंके समान तेजस्वी श्रीसम्पन्न पाण्डवोंको देखकर पृथ्वीपति विराटने दो घड़ीतक मन-ही-मन कुछ विचार किया। फिर वे कुपित होकर देवताके समान स्थित मरुद्गणोंसे घिरे हुए देवराजके तुल्य सुशोभित कङ्कसे बोले—॥ ५–६ ॥

स किलाक्षातिवापस्त्वं सभास्तारो मया वृतः।
अथ राजासने कस्मादुपविष्टस्त्वलंकृतः ॥ ७ ॥

'कङ्क ! तुम्हें तो मैंने पासा फेंकनेवाला सभासद् बनाया था। आज बन-ठनकर राजसिंहासनपर कैसे बैठ गये !' ।७।

वैशम्पायन उवाच

परिहासेप्सया वाक्यं विराटस्य निशम्य तत्।
स्मयमानोऽर्जुनो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मानो परिहास करनेके लिये कहा गया हो, ऐसा विराटका वह वचन सुनकर अर्जुन मुसकराते हुए इस प्रकार बोले ॥ ८ ॥

अर्जुन उवाच

इन्द्रस्याप्यर्धासनं राजन्नयमारोढुमर्हति।
ब्रह्मण्यः श्रुतवांस्त्यागी यज्ञशीलो दृढव्रतः ॥ ९ ॥

अर्जुनने कहा—राजन् ! आपके राजासनकी तो बात ही क्या है, ये तो इन्द्रके भी आधे सिंहासनपर बैठनेके अधिकारी हैं। ये ब्राह्मणभक्त, शास्त्रोंके विद्वान्, त्यागी, यज्ञशील तथा दृढ़ताके साथ अपने व्रतका पालन करनेवाले हैं ॥ ९ ॥

एष विग्रहवान् धर्म एष वीर्यवतां वरः।
एष बुद्ध्याधिको लोके तपसां च परायणम् ॥ १० ॥
एषोऽस्त्रं विविधं वेत्ति त्रैलोक्ये सचराचरे।
न चैवान्यः पुमान् वेत्ति न वेत्स्यति कदाचन ॥ ११ ॥

ये मूर्तिमान् धर्म हैं तथा पराक्रमी पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं। इस जगत्में ये सबसे बढ़कर बुद्धिमान् और तपस्याके परम आश्रय हैं। ये नाना प्रकारके ऐसे अस्त्रोंको जानते हैं, जिन्हें इस चराचर त्रिलोकीमें दूसरा मनुष्य न तो जानता है और न कभी जान सकेगा ॥ १०-११ ॥

न देवा नासुराः केचिन्न मनुष्या न राक्षसाः।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः ॥ १२ ॥

जिन अस्त्रोंको देवता, असुर, मनुष्य, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और बड़े-बड़े नाग भी नहीं जानते, उन सबका इन्हें ज्ञान है ॥ १२ ॥

दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः।
पाण्डवानामतिरथो यज्ञधर्मपरो वशी ॥ १३ ॥

ये दीर्घदर्शी, महातेजस्वी तथा नगर और देशके लोगोंको अत्यन्त प्रिय हैं। ये पाण्डवोंमें अतिरथी वीर हैं एवं सदा यज्ञ और धर्मके अनुष्ठानमें संलग्न तथा मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले हैं ॥ १३ ॥

महर्षिकल्पो राजर्षिः सर्वलोकेषु विश्रुतः।
बलवान् धृतिमान् दक्षः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
धनैश्च संचयैश्चैव शक्रवैश्रवणोपमः ॥ १४ ॥

ये महर्षियोंके समान हैं, राजर्षि हैं और समस्त लोकोंमें विख्यात हैं। बलवान्, धैर्यवान्, चतुर, सत्यवादी और जितेन्द्रिय हैं। धन और संग्रहकी दृष्टिसे ये इन्द्र और कुबेरके समान हैं ॥ १४ ॥

यथा मनुर्महातेजा लोकानां परिरक्षिता।
एवमेष महातेजाः प्रजानुग्रहकारकः ॥ १५ ॥

जैसे महातेजस्वी मनु समस्त लोकोंके रक्षक हैं, उसी प्रकार ये महातेजस्वी नरेश भी प्रजाजनोंपर अनुग्रह करनेवाले हैं ॥ १५ ॥

अयं कुरूणामृषभो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
अस्य कीर्तिः स्थिता लोके सूर्यस्येवोद्यतः प्रभा ॥ १६ ॥

ये ही कुरुवंशमें सर्वश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर हैं। उदयकालके सूर्यकी शान्त प्रभाके समान इनकी सुखदायिनी कीर्ति समस्त संसारमें फैली हुई है ॥ १६ ॥

संसरन्ति दिशः सर्वा यशसोऽस्य इवांशवः।
उदितस्येव सूर्यस्य तेजसोऽनु गभस्तयः ॥ १७ ॥

जैसे सूर्योदय होनेपर सूर्यके तेजके पश्चात् उनकी किरणें समस्त दिशाओंमें फैल जाती हैं, उसी प्रकार इनके सुयशके साथ-साथ उसकी सुधाधवल किरणें समस्त दिशाओंमें छा रही हैं ॥ १७ ॥

एनं दशसहस्राणि कुञ्जराणां तरस्विनाम्।
अन्वयुः पृष्ठतो राजन् यावदध्यावसत् कुरून्॥ १८॥

राजन्! ये महाराज जब कुरुदेशमें रहते थे, उस समय इनके पीछे दस हजार वेगवान् हाथी चला करते थे॥ १८॥

त्रिंशदेनं सहस्राणि रथाः काञ्चनमालिनः।
सदश्वैरुपसम्पन्नाः पृष्ठतोऽनुययुस्तदा॥ १९॥

इसी प्रकार अच्छे घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णमालामण्डित तीस हजार रथ भी उस समय इनका अनुसरण करते थे॥ १९॥

एनमष्टशताः सूताः सुमृष्टमणिकुण्डलाः।
अस्तुवन् मागधैः सार्धं पुरा शक्रमिवर्षयः॥ २०॥

जैसे महर्षिगण इन्द्रकी स्तुति करते हैं, उसी प्रकार पहले विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण किये आठ सौ सूत और मागध इनके गुण गाते थे॥ २०॥

एनं नित्यमुपासन्त कुरवः किंकरा यथा।
सर्वे च राजन् राजानो धनेश्वरमिवामराः॥ २१॥

राजन्! जैसे देवगण धनाध्यक्ष कुबेरका दरबार किया करते हैं, वैसे ही सब राजा और कौरव किंकरोंकी भाँति इनकी नित्य उपासना करते थे॥ २१॥

एष सर्वान् महीपालान् करदान् समकारयत्।
वैश्यानिव महाभागो विवशान् स्ववशानपि॥ २२॥
अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम्।
उपजीवन्ति राजानमेनं सुचरितव्रतम्॥ २३॥

इन महाभाग नरेशने इस देशके सब राजाओंको वैश्योंकी भाँति स्ववश (अपने अधीन) और विवश करके कर देनेवाला बना दिया था। (अर्थात् सब राजा इन्हें कर दिया करते थे।) अत्यन्त उत्तम व्रतका पालन करनेवाले इन महाराजके यहाँ प्रतिदिन अठासी हजार महाबुद्धिमान् स्नातकोंकी जीविका चलती थी॥ २२-२३॥

एष वृद्धाननाथांश्च पङ्गूनन्धांश्च मानवान्।
पुत्रवत् पालयामास प्रजा धर्मेण वै विभुः॥ २४॥

ये बूढ़े, अनाथ, पङ्गु और अंधे मनुष्योंका भी स्नेहपूर्वक पालन करते थे। ये नरेश अपनी प्रजाकी धर्मपूर्वक पुत्रकी भाँति रक्षा करते थे॥ २४॥

एष धर्मे दमे चैव क्रोधे चापि जितव्रतः।
महाप्रसादो ब्रह्मण्यः सत्यवादी च पार्थिवः॥ २५॥

ये भूपाल धर्म और इन्द्रियसंयममें तत्पर तथा क्रोधको काबूमें रखनेके लिये दृढ़प्रतिज्ञ हैं। ये बड़े कृपालु, ब्राह्मण-भक्त और सत्यवक्ता हैं॥ २५॥

शीघ्रं तापेन चैतस्य तप्यते स सुयोधनः।
सगणः सह कर्णेन सौबलेनापि वा विभुः॥ २६॥

इनके प्रतापसे दुर्योधन शक्तिशाली होकर भी कर्ण, शकुनि तथा अपने गणोंके साथ शीघ्र ही संतप्त होनेवाला है॥ २६॥

न शक्यन्ते ह्यस्य गुणाः प्रसंख्यातुं नरेश्वर।
एष धर्मपरो नित्यमानृशंस्यश्च पाण्डवः॥ २७॥
एवं युक्तो महाराजः पाण्डवः पार्थिवर्षभः।
कथं नार्हति राजार्हमासनं पृथिवीपते॥ २८॥

नरेश्वर! इनके सद्गुणोंकी गणना नहीं की जा सकती। ये पाण्डुनन्दन नित्य धर्मपरायण तथा दयालु स्वभावके हैं। राजन्! समस्त राजाओंके शिरोमणि पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर इस प्रकार सर्वोत्तम गुणोंसे युक्त होकर भी राजोचित आसनके अधिकारी क्यों नहीं हैं?॥ २७-२८॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि पाण्डवप्रकाशे सप्ततितमोऽध्यायः॥ ७०॥

इस प्रकार श्रीमाभहारत विराटपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें पाण्डवप्राकट्यविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७०॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

विराटको अन्य पाण्डवोंका भी परिचय प्राप्त होना तथा विराटके द्वारा युधिष्ठिरको राज्य समर्पण करके अर्जुनके साथ उत्तराके विवाहका प्रस्ताव करना

विराट उवाच

यद्येष राजा कौरव्यः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
कतमोऽस्यार्जुनो भ्राता भीमश्च कतमो बली॥ १॥
नकुलः सहदेवो वा द्रौपदी वा यशस्विनी।
यदा द्यूतजिताः पार्था न प्राज्ञायन्त ते क्वचित्॥ २॥

विराटने पूछा—यदि ये कुरुकुलके रत्न कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर हैं तो इनमें कौन इनके भाई अर्जुन हैं? कौन महाबली भीम हैं? नकुल, सहदेव अथवा यशस्विनी द्रौपदी कौन हैं? जबसे कुन्तीपुत्र जूएमें हार गये, तबसे उनका कहीं भी पता नहीं लगा॥ १-२॥

अर्जुन उवाच

य एष बल्लवो ब्रूते सूदस्तव नराधिप।
एष भीमो महाराज भीमवेगपराक्रमः॥ ३॥

अर्जुन बोले—महाराज ! ये जो बल्लवनामधारी आपके रसोइये हैं, ये ही भयंकर वेग और पराक्रमवाले भीमसेन हैं ॥ ३ ॥

एष क्रोधवशान् हत्वा पर्वते गन्धमादने ।
सौगन्धिकानि दिव्यानि कृष्णार्थे समुपाहरत् ॥ ४ ॥
गन्धर्व एष वै हन्ता कीचकानां दुरात्मनाम् ।
व्याघ्रानृक्षान् वराहांश्च हतवान् स्त्रीपुरे तव ॥ ५ ॥

ये ही गन्धमादन पर्वतपर क्रोधवश नामवाले राक्षसोंको मारकर द्रौपदीके लिये दिव्य सौगन्धिक कमल ले आये थे। दुरात्मा कीचकोंका संहार करनेवाले गन्धर्व भी ये ही हैं। इन्होंने ही आपके अन्तःपुरमें अनेक व्याघ्रों, भालुओं और वराहोंका वध किया है ॥ ४-५ ॥

(हिडिम्बं च बकं चैव किर्मीरं च जटासुरम् ।
हत्वा निष्कण्टकं चक्रेऽरण्यं सर्वतः सुखम् ॥)

इन्होंने ही हिडिम्ब, बकासुर, किर्मीर और जटासुरको मारकर वनको सर्वथा निष्कण्टक और सुखमय बनाया था ॥

यश्चासीदश्वबन्धस्ते नकुलोऽयं परंतपः ।
गोसङ्ख्यः सहदेवश्च माद्रीपुत्रौ महारथौ ॥ ६ ॥
शृङ्गारवेषाभरणौ रूपवन्तौ यशस्विनौ ।
महारथसहस्राणां समर्थौ भरतर्षभौ ॥ ७ ॥

और ये शत्रुओंको संताप देनेवाले नकुल जो अबतक आपके यहाँ अश्वशालाके प्रबन्धक रहे हैं और ये सहदेव हैं, जो गौओंकी सँभाल करते आये हैं। ये दोनों (हमारी माता) माद्रीके पुत्र एवं महारथी वीर हैं। उत्तम शृङ्गार, सुन्दर वेष और आभूषणोंसे सुशोभित ये दोनों भाई बड़े ही रूपवान् और यशस्वी हैं। भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ ये नकुल-सहदेव युद्धमें सहस्रों महारथियोंका सामना करनेमें समर्थ हैं ॥ ६-७ ॥

एषा पद्मपलाशाक्षी सुमध्या चारुहासिनी ।
सैरन्ध्री द्रौपदी राजन् यस्यार्थे कीचका हताः ॥ ८ ॥

राजन् ! यह विकसित कमलदलके समान विशाल नेत्र, सुन्दर कटिप्रदेश और मनोहर मुसकानवाली सैरन्ध्री ही महारानी द्रौपदी है, जिसके धर्मकी रक्षाके लिये कीचकोंका वध किया गया ॥ ८ ॥

अर्जुनोऽहं महाराज व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः ।
भीमादवरजः पार्थो यमाभ्यां चापि पूर्वजः ॥ ९ ॥

महाराज ! मैं ही अर्जुन हूँ। अवश्य मेरा नाम भी आपके कानोंमें पड़ा होगा। मैं कुन्तीदेवीका पुत्र हूँ। भीमसेनसे छोटा और नकुल-सहदेवसे बड़ा हूँ ॥ ९ ॥

उषिताः स्मो महाराज सुखं तव निवेशने ।
अज्ञातवासमुषिता गर्भवास इव प्रजाः ॥ १० ॥

राजन् ! हमलोगोंने बड़े सुखसे आपके महलमें अज्ञातवासका समय बिताया है। जैसे संतान गर्भवासमें रही हो, उसी प्रकार हम भी यहाँ अज्ञातवासमें रहे हैं ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

यदार्जुनेन ते वीराः कथिताः पञ्च पाण्डवाः ।
तदार्जुनस्य वैराटिः कथयामास विक्रमम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! जब अर्जुनने पाँचों पाण्डव वीरोंका परिचय दे दिया, तब विराटकुमार उत्तरने अर्जुनका पराक्रम बताया ॥ ११ ॥

पुनरेव च तान् पार्थान् दर्शयामास चोत्तरः ॥ १२ ॥

साथ ही उन्होंने पाँचों पाण्डवोंका एक-एक करके पुनः राजाको परिचय दिया ॥ १२ ॥

उत्तर उवाच

य एष जाम्बूनदशुद्धगौर-
तनुर्महान् सिंह इव प्रवृद्धः ।
प्रचण्डघोणः पृथुदीर्घनेत्र-
स्ताम्रायताक्षः कुरुराज एषः ॥ १३ ॥

उत्तर बोले—पिताजी ! विशुद्ध जाम्बूनद नामक सुवर्णके समान जिनका गौर शरीर है, जो सबसे बड़े और सिंहके समान हृष्ट-पुष्ट हैं, जिनकी नाक लंबी और बड़े-बड़े नेत्र कुछ लालिमा लिये कानोंतक फैले हुए हैं, ये ही कुरुकुल-नरेश महाराज युधिष्ठिर हैं ॥ १३ ॥

अयं पुनर्मत्तगजेन्द्रगामी
प्रतप्तचामीकरशुद्धगौरः ।
पृथ्वायतांसो गुरुदीर्घबाहु-
र्वृकोदरः पश्यत पश्यतैनम् ॥ १४ ॥

और ये जो मतवाले गजराजकी भाँति मस्तानी चालसे चलनेवाले हैं, तपाये हुए सुवर्णके समान जिनका विशुद्ध गौर शरीर है, जिनके कंधे मोटे और चौड़े हैं तथा भुजाएँ बड़ी-बड़ी और भारी हैं, ये ही भीमसेन हैं। इन्हें अच्छी तरह देखिये ॥ १४ ॥

यस्त्वेव पार्श्वेऽस्य महाधनुष्मान्
श्यामो युवा वारणयूथपोपमः ।
सिंहोन्नतांसो गजराजगामी
पद्मायताक्षोऽर्जुन एष वीरः ॥ १५ ॥

इनके बगलमें जो ये महान् धनुर्धर श्याम वर्णके तरुण वीर विराज रहे हैं, जो यूथपति गजराजके समान शोभा पाते हैं, जिनके कंधे सिंहके समान ऊँचे और चाल मतवाले हाथीके समान मस्तानी है, ये ही कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाले वीरवर अर्जुन हैं ॥ १५ ॥

राज्ञः समीपे पुरुषोत्तमौ तु
यमाविमौ विष्णुमहेन्द्रकल्पौ।
मनुष्यलोके सकले समोऽस्ति
ययोर्न रूपे न बले न शीले ॥ १६ ॥

महाराज युधिष्ठिरके समीप बैठे हुए वे इन्द्र और उपेन्द्रके समान दोनों नरश्रेष्ठ माद्रीके जुड़वें पुत्र नकुल-सहदेव हैं। सम्पूर्ण मानव-जगत्में इनके रूप, बल और शीलकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥ १६ ॥

आभ्यां तु पार्श्वे कनकोत्तमाङ्गी
यैषा प्रभा मूर्तिमतीव गौरी।
नीलोत्पलाभा सुरदेवतेव
कृष्णा स्थिता मूर्तिमतीव लक्ष्मीः॥ १७ ॥

इन दोनोंके बगलमें ये जो तेजस्विनी देवी मूर्तिमती गौरीके समान खड़ी हैं, जिनके उत्तम अङ्गोंसे सुनहरी छटा छिटक रही है, जिनकी कान्ति नीलकमलकी आभाको लज्जित कर रही है तथा जो देवताओंकी भी देवी और साकाररूपमें प्रकट हुई लक्ष्मीके समान शोभा पा रही हैं, ये ही द्रुपद-कुमारी महारानी कृष्णा हैं ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं निवेद्य तान् पार्थान् पाण्डवान् पञ्च भूपतेः।
ततोऽर्जुनस्य वैराटिः कथयामास विक्रमम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार उन पाँचों कुन्तीपुत्र पाण्डवोंका राजाको परिचय देकर विराटकुमारने अर्जुनका पराक्रम बताना प्रारम्भ किया ॥ १८ ॥

उत्तर उवाच

अयं स द्विषतां हन्ता मृगाणामिव केसरी।
अचरद् रथवृन्देषु निघ्नंस्तांस्तान् वरान् रथान्॥ १९॥

उत्तरने कहा—पिताजी! ये ही वे देवपुत्र हैं, जो शत्रुओंका उसी प्रकार वध करते हैं, जैसे सिंह मृगोंका। ये ही कौरव रथारोहियोंकी सेनामें उन सब श्रेष्ठ महारथियोंको घायल करते हुए निर्भय विचर रहे थे ॥ १९ ॥

अनेन विद्धो मातङ्गो महानेकेषुणा हतः।
सुवर्णकक्षः संग्रामे दन्ताभ्यामगमन्महीम् ॥ २० ॥

युद्धमें इनके एक ही बाणसे घायल होकर विकर्णका विशाल गजराज, जो सोनेकी साँकलसे सुशोभित था, धरतीपर दोनों दाँत टेककर मर गया ॥ २० ॥

अनेन विजिता गावो जिताश्च कुरवो युधि।
अस्य शङ्खप्रणादेन कर्णौ मे बधिरीकृतौ ॥ २१ ॥

इन्होंने ही गौओंको जीता और युद्धमें कौरवोंको परास्त किया है। इनके शङ्खकी गम्भीर ध्वनि सुनकर मेरे तो कान बहरे हो गये थे ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा मत्स्यराजः प्रतापवान्।
उत्तरं प्रत्युवाचेदमभिपन्नो युधिष्ठिरे ॥ २२ ॥
प्रसादनं पाण्डवस्य प्राप्तकालं हि रोचते।
उत्तरां च प्रयच्छामि पार्थाय यदि मन्यसे ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उत्तरकी यह बात सुनकर प्रतापी मत्स्यनरेश, जो युधिष्ठिरके अपराधी थे, अपने पुत्रसे इस प्रकार बोले—'बेटा! यह पाण्डवोंको प्रसन्न करनेका समय आया है। मेरी ऐसी ही रुचि है। यदि तुम्हारी राय हो; तो मैं कुमारी उत्तराका विवाह कुन्तीपुत्र अर्जुनसे कर दूँ' ॥ २२-२३ ॥

उत्तर उवाच

आर्याः पूज्याश्च मान्याश्च प्राप्तकालं च मे मतम्।
पूज्यन्तां पूजनार्हाश्च महाभागाश्च पाण्डवाः ॥ २४ ॥

उत्तरने कहा—पिताजी! पाण्डवलोग महान् सौभाग्यशाली हैं। ये सर्वथा श्रेष्ठ, पूजनीय और सम्मानके योग्य हैं। मेरी समझमें इनके सत्कारका हमें अवसर भी मिल गया है, अतः इन पूजने योग्य पाण्डवोंका आप अवश्य पूजन करें ॥ २४ ॥

विराट उवाच

अहं खल्वपि संग्रामे शत्रूणां वशमागतः।
मोक्षितो भीमसेनेन गावश्चापि जितास्तथा ॥ २५ ॥

विराट बोले—बेटा! मैं भी त्रिगर्तोंके साथ होनेवाले संग्राममें शत्रुओंके वशीभूत हो गया था, किंतु भीमसेनने मुझे छुड़ाया और हमारी सब गौओंको भी जीता ॥ २५ ॥

एतेषां बाहुवीर्येण अस्माकं विजयो मृधे।
एवं सर्वे सहामात्याः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
प्रसादयामो भद्रं ते सानुजं पाण्डवर्षभम् ॥ २६ ॥

इन पाण्डवोंके ही बाहुबलसे संग्राममें हमारी विजय हुई है; इसलिये वत्स! तुम्हारा भला हो। हम सब लोग मन्त्रियों-सहित चलकर पाण्डवश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको उनके छोटे भाइयोंसहित प्रसन्न करें ॥ २६ ॥

यदस्माभिरजानद्भिः किंचिदुक्तो नराधिपः।
क्षन्तुमर्हति तत् सर्वं धर्मात्मा ह्येष पाण्डवः ॥ २७ ॥

हमने अनजानमें उनके प्रति जो कुछ अनुचित वचन कह दिया है, वह सब ये धर्मात्मा पाण्डुपुत्र महाराज युधिष्ठिर क्षमा करें ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो विराटः परमाभितुष्टः
समेत्य राजा समयं चकार।
राज्यं च सर्वं विससर्ज तस्मै
सदण्डकोशं सपुरं महात्मा ॥ २८ ॥

पाण्डवांश्च ततः सर्वान् मत्स्यराजः प्रतापवान्।
धनंजयं पुरस्कृत्य दिष्ट्या दिष्ट्येति चाब्रवीत्॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— राजन्! तदनन्तर राजा विराटने बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने पुत्रसे मिलकर कुछ विचार किया, फिर उन महामनाने दण्ड, कोश और नगर आदिसहित सम्पूर्ण राज्य युधिष्ठिरको समर्पित कर दिया। फिर प्रतापी मत्स्यराज अर्जुनको आगे रखकर सब पाण्डवोंसे मिले और यह कहने लगे कि हमारा बड़ा सौभाग्य है, हमारा बड़ा सौभाग्य है; जो आपलोगोंका दर्शन हुआ॥ २८-२९॥

समुपाघ्राय मूर्धानं संश्लिष्य च पुनः पुनः।
युधिष्ठिरं च भीमं च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ॥ ३०॥

फिर उन्होंने युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवका बार-बार मस्तक सूँघा और सबको हृदयसे लगाया॥ ३०॥

नातृप्यद् दर्शने तेषां विराटो वाहिनीपतिः।
स प्रीयमाणो राजानं युधिष्ठिरमथाब्रवीत्॥ ३१॥

सेनाओंके स्वामी राजा विराट पाण्डवोंको देख-देखकर तृप्त नहीं होते थे। वे प्रेमपूर्वक राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥

दिष्ट्या भवन्तः सम्प्राप्ताः सर्वे कुशलिनो वनात्।
दिष्ट्या सम्पालितं कृच्छ्रमज्ञातं वै दुरात्मभिः॥३२॥

'बड़े सौभाग्यकी बात है, जो आप सब लोग वनसे कुशलपूर्वक लौट आये। दुरात्मा कौरवोंसे अज्ञात रहकर आपने यह कष्टसाध्य अज्ञातवासका नियम पूरा कर लिया, यह भी बड़े आनन्दकी बात है॥ ३२॥

इदं च राज्यं पार्थाय यच्चान्यदपि किंचन।
प्रतिगृह्णन्तु तत् सर्वं पाण्डवा अविशङ्कया॥ ३३॥

'मेरा यह राज्य कुन्तीपुत्रको समर्पित है। इसके सिवा और भी जो कुछ मेरे पास है, वह सब पाण्डवलोग बिना किसी संकोचके ग्रहण करें॥ ३३॥

उत्तरां प्रतिगृह्णातु सव्यसाची धनंजयः।
अयं ह्यौपयिको भर्ता तस्याः पुरुषसत्तमः॥ ३४॥

'सव्यसाची धनंजय मेरी कन्या उत्तराको पत्नीरूपमें स्वीकार करें। ये नरश्रेष्ठ उसके लिये सर्वथा योग्य पति हैं'॥ ३४॥

एवमुक्तो धर्मराजः पार्थमैक्षद् धनंजयम्।
ईक्षितश्चार्जुनो भ्रात्रा मत्स्यं वचनमब्रवीत्॥ ३५॥
प्रतिगृह्णाम्यहं राजन् स्नुषां दुहितरं तव।
युक्तश्चावां हि सम्बन्धो मत्स्यभारतयोरपि॥ ३६॥

राजा विराटके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने कुन्तीनन्दन अर्जुनकी ओर देखा। भाईके देखनेपर अर्जुनने मत्स्यराजसे इस प्रकार कहा—'राजन्! मैं आपकी पुत्रीको अपनी पुत्रवधूके रूपमें स्वीकार करता हूँ। मत्स्य और भरतवंशका यह सम्बन्ध सर्वथा उचित है'॥ ३५-३६॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि उत्तराविवाहप्रस्तावे एकसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें उत्तराविवाहप्रस्तावविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७१॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३७ श्लोक हैं)

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका अपनी पुत्रवधूके रूपमें उत्तराको ग्रहण करना एवं अभिमन्यु और उत्तराका विवाह

विराट उवाच

किमर्थं पाण्डवश्रेष्ठ भार्यां दुहितरं मम।
प्रतिग्रहीतुं नेमां त्वं मया दत्तामिहेच्छसि॥ १॥

विराट बोले—पाण्डवश्रेष्ठ! मैं स्वयं तुम्हें अपनी कन्या दे रहा हूँ, फिर तुम उसे अपनी पत्नीके रूपमें क्यों नहीं स्वीकार करते?॥ १॥

अर्जुन उवाच

अन्तःपुरेऽहमुषितः सदा पश्यन् सुतां तव।
रहस्यं च प्रकाशं च विश्वस्ता पितृवन्मयि॥ २॥
प्रियो बहुमतश्चासं नर्तको गीतकोविदः।
आचार्यवच्च मां नित्यं मन्यते दुहिता तव॥ ३॥

अर्जुनने कहा—राजन्! मैं बहुत समयतक आपके रनिवासमें रहा हूँ और आपकी कन्याको एकान्तमें तथा सबके सामने भी (पुत्रीभावसे ही) देखता आया हूँ। उसने भी मुझपर पिताकी भाँति ही विश्वास किया है। मैं नाचता तो था ही, गानविद्यामें भी कुशल हूँ, अतः उसका मेरे प्रति बहुत अधिक प्रेम रहा है, किंतु आपकी पुत्री मुझे सदा आचार्य (गुरु) की भाँति मानती आयी है॥ २-३॥

वयःस्थया तया राजन् सह संवत्सरोषितः।
अतिशङ्का भवेत् स्थाने तव लोकस्य वा विभो॥ ४॥

राजन्! जब वह वयस्क हो चुकी थी तब मैं उसके साथ एक वर्षतक रह चुका हूँ। प्रभो! (ऐसी अवस्थामें यदि मैं उसके साथ विवाह करूँगा, तो) आपको या और किसी मनुष्यको हमारे चरित्रके विषयमें (अवश्य ही) संदेह होगा और वह युक्तिसंगत ही होगा॥ ४॥

तस्मान्निमन्त्रयेऽहं ते दुहितां मनुजाधिप।
शुद्धो जितेन्द्रियो दान्तस्तस्याः शुद्धिः कृता मया॥५॥

महाराज ! वह संदेह न हो, इसके लिये मैं आपकी पुत्रीको पुत्रवधूके रूपमें ही ग्रहण करूँगा। ऐसा होनेपर ही मैं शुद्धचरित्र, जितेन्द्रिय तथा मनको दमन करनेवाला समझा जाऊँगा और इसीसे मेरेद्वारा आपकी कन्याके चरित्रकी शुद्धि स्पष्ट हो जायगी ॥ ५ ॥

स्नुषायां दुहितुर्वापि पुत्रे चात्मनि वा पुनः।
अत्र शङ्कां न पश्यामि तेन शुद्धिर्भविष्यति ॥ ६ ॥

पुत्रवधू और पुत्रीमें तथा पुत्र अथवा आत्मामें भेद नहीं है; अतः उसे पुत्रवधूके रूपमें ग्रहण करनेपर मुझे कलङ्ककी शङ्का नहीं दिखायी देती और इससे हम दोनोंकी पवित्रता भी स्पष्ट हो जायगी ॥ ६ ॥

अभिशापादहं भीतो मिथ्यावादात् परंतप।
स्नुषार्थमुत्तरां राजन् प्रतिगृह्णामि ते सुताम् ॥ ७ ॥

परंतप ! मैं अभिशाप और मिथ्यावादसे डरता हूँ; (यदि मैं आपकी पुत्रीको पत्नीरूपमें ग्रहण करूँ, तो लोग यह कल्पना कर सकते हैं कि इन दोनोंमें पहलेसे ही अनुचित सम्बन्ध था); इसलिये राजन् ! मैं आपकी पुत्री उत्तराको पुत्रवधूके रूपमें ही ग्रहण करता हूँ ॥ ७ ॥

स्वस्रीयो वासुदेवस्य साक्षाद् देवशिशुर्यथा।
दयितश्चक्रहस्तस्य सर्वास्त्रेषु च कोविदः ॥ ८ ॥

मेरा पुत्र देवकुमारके समान है। वह साक्षात् भगवान् वासुदेवका भानजा है। चक्रधारी श्रीकृष्णको वह बहुत प्रिय है। साथ ही वह सब प्रकारकी अस्त्रविद्यामें कुशल है ॥ ८ ॥

अभिमन्युर्महाबाहुः पुत्रो मम विशाम्पते।
जामाता तव युक्तो वै भर्ता च दुहितुस्तव ॥ ९ ॥

महाराज ! मेरे उस महाबाहु पुत्रका नाम अभिमन्यु है। वह आपका सुयोग्य दामाद और आपकी पुत्रीका उपयुक्त पति होगा ॥ ९ ॥

विराट उवाच

उपपन्नं कुरुश्रेष्ठे कुन्तीपुत्रे धनंजये।
य एवं धर्मनित्यश्च जातज्ञानश्च पाण्डवः ॥ १० ॥
यत् कृत्यं मन्यसे पार्थ क्रियतां तदनन्तरम्।
सर्वे कामाः समृद्धा मे सम्बन्धी यस्य मेऽर्जुनः॥ ११ ॥

विराट बोले—पार्थ ! आप कौरवोंमें श्रेष्ठ और कुन्तीदेवीके पुत्र हैं। धनंजयमें इस प्रकार धर्मका विचार होना उचित ही है। पाण्डुपुत्र अर्जुन ही इस प्रकार नित्यधर्मपरायण और ज्ञानसम्पन्न हो सकते हैं। अब इसके बाद जो कर्तव्य आप ठीक समझें, उसे पूर्ण करें। मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो गयीं। जिसके सम्बन्धी अर्जुन हो रहे हों, उसकी कौन-सी कामना अपूर्ण रह सकती है ? ॥ १०-११ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति राजेन्द्रे कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अन्वशासत् स संयोगं समये मत्स्यपार्थयोः॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महाराज विराटके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने उचित अवसर जान मत्स्यनरेश और पार्थके इस सम्बन्धका अनुमोदन किया ॥

ततो मित्रेषु सर्वेषु वासुदेवं च भारत।
प्रेषयामास कौन्तेयो विराटश्च महीपतिः ॥ १३ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर तथा राजा विराटने अपने-अपने सम्पूर्ण सुहृदों एवं सगे-सम्बन्धियोंको तथा भगवान् वासुदेवको भी निमन्त्रण भेजा ॥ १३ ॥

ततस्त्रयोदशे वर्षे निवृत्ते पञ्च पाण्डवाः।
उपप्लव्ये विराटस्य समपद्यन्त सर्वशः ॥ १४ ॥

पाँचों पाण्डवोंका तेरहवाँ वर्ष तो पूर्ण हो ही चुका था, वे सब-के-सब राजा विराटके उपप्लव्य नामक नगरमें आकर रहने लगे ॥ १४ ॥

अभिमन्युं च बीभत्सुरानिनाय जनार्दनम्।
आनर्तेभ्योऽपि दाशार्हानानयामास पाण्डवः ॥ १५ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनने आनर्तदेशसे अभिमन्यु, भगवान् वासुदेव तथा दशार्हवंशके अपने अन्य सम्बन्धियोंको भी वहाँ बुलवा लिया ॥ १५ ॥

काशिराजश्च शैब्यश्च प्रीयमाणौ युधिष्ठिरे।
अक्षौहिणीभ्यां सहितावागतौ पृथिवीपती ॥ १६ ॥

काशिराज और शैब्य दोनों युधिष्ठिरके बड़े प्रेमी थे। वे दोनों नरेश एक-एक अक्षौहिणी सेनाके साथ उपप्लव्य नगरमें आये ॥ १६ ॥

अक्षौहिण्या च सहितो यज्ञसेनो महाबलः।
द्रौपद्याश्च सुता वीराः शिखण्डी चापराजितः॥ १७ ॥
धृष्टद्युम्नश्च दुर्धर्षः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
समस्ताक्षौहिणीपाला यज्वानो भूरिदक्षिणाः।
वेदावभृथसम्पन्नाः सर्वे शूरास्तनुत्यजः ॥ १८ ॥

महाबली राजा द्रुपद भी एक अक्षौहिणी सेनाके साथ पधारे। उनके साथ द्रौपदीके पाँचों वीर पुत्र, कभी परास्त न होनेवाले शिखण्डी और समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ एवं दुर्धर्ष वीर धृष्टद्युम्न भी थे। इनके सिवा और भी अनेक राजा वहाँ पधारे, जो सब-के-सब एक-एक अक्षौहिणी सेनाके पालक, यज्ञकर्ता, यज्ञोंमें अधिक-से-अधिक दक्षिणा देनेवाले, वेद और अवभृथ (यज्ञान्त) स्नानसे सम्पन्न, शूरवीर तथा पाण्डवोंके लिये प्राण देनेवाले थे ॥ १७-१८ ॥

तानागतानभिप्रेक्ष्य मत्स्यो धर्मभृतां वरः।
पूजयामास विधिवत् सभृत्यबलवाहनान् ॥ १९ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ मत्स्यनरेश विराटने उन्हें आया हुआ देख सेवक, सेना और सवारियोंसहित उन सबका विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार किया ॥ १९ ॥

प्रीतोऽभवद् दुहितरं दत्त्वा तामभिमन्यवे।
ततः प्रत्युपयातेषु पार्थिवेषु ततस्ततः ॥ २० ॥

तत्रागमद् वासुदेवो वनमाली हलायुधः।
कृतवर्मा च हार्दिक्यो युयुधानश्च सात्यकिः ॥ २१ ॥
अनाधृष्टिस्तथाक्रूरः साम्बो निशठ एव च।
अभिमन्युमुपादाय सह मात्रा परंतपाः ॥ २२ ॥

अभिमन्युको अपनी पुत्रीका वाग्दान करके राजा विराट बहुत प्रसन्न थे। तत्पश्चात् सब राजालोग अपने-अपने लिये नियत किये हुए स्थानोंमें विश्रामके लिये पधारे। वहाँ वनमालाधारी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण, हलरूपी शस्त्र धारण करनेवाले बलराम, हृदीकपुत्र कृतवर्मा, युयुधान नामसे प्रसिद्ध सात्यकि, अनाधृष्टि, अक्रूर, साम्ब और निशठ—ये सभी शत्रुसंतापन वीर अभिमन्यु और उसकी माता सुभद्राको साथ लिये वहाँ पधारे थे ॥ २०—२२ ॥

इन्द्रसेनादयश्चैव रथैस्तैः सुसमाहितैः।
आययुः सहिताः सर्वे परिसंवत्सरोषिताः ॥ २३ ॥

जिन्होंने एक वर्षतक द्वारकामें निवास किया था, वे इन्द्रसेन आदि सारथि भी अच्छी तरह सब सामग्रियोंसे सम्पन्न किये हुए रथोंसहित वहाँ आये थे ॥ २३ ॥

दशनागसहस्राणि हयानां द्विगुणं तथा।
रथानामयुतं पूर्णं नियुतं च पदातिनाम् ॥ २४ ॥
वृष्ण्यन्धकाश्च बहवो भोजाश्च परमौजसः।
अन्वयुर्वृष्णिशार्दूलं वासुदेवं महाद्युतिम् ॥ २५ ॥

परमतेजस्वी वृष्णिवंशशिरोमणि भगवान् वासुदेवके साथ दस हजार हाथी, उनसे दुगुने अर्थात् बीस हजार घोड़े, दस हजार रथ और दस लाख पैदल सेना थी। इसके सिवा वृष्णि, अन्धक तथा भोजवंशके और भी बहुत-से महापराक्रमी वीर उनके साथ पधारे थे ॥ २४-२५ ॥

पारिबर्हं ददौ कृष्णः पाण्डवानां महात्मनाम्।
स्त्रियो रत्नानि वासांसि पृथक् पृथगनेकशः ॥ २६ ॥
ततो विवाहो विधिवद् ववृधे मत्स्यपार्थयोः।

भगवान् श्रीकृष्णने महात्मा पाण्डवोंको दहेज या निमन्त्रणमें बहुत-सी दासियाँ, नाना प्रकारके रत्न और बहुत-से वस्त्र पृथक्-पृथक् भेंट किये। तत्पश्चात् मत्स्य और पार्थकुलके वैवाहिक सम्बन्धका कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न होने लगा ॥ २६½ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च गोमुखा डम्बरास्तथा ॥ २७ ॥
पार्थैः संयुज्यमानस्य नेदुर्मत्स्यस्य वेश्मनि।
भक्ष्यान्नभोज्यपानानि प्रभूतान्यभ्यहारयन् ॥ २८ ॥

तदनन्तर कुन्तीपुत्रोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेवाले मत्स्यनरेशके महलमें शङ्ख, नगाड़े, गोमुख और डम्बर आदि भाँति-भाँतिके बाजे बजने लगे। साथ ही उन्होंने खाने योग्य अन्न, भोज्य और पीने आदिकी सामग्री भी प्रचुर मात्रामें प्रस्तुत की ॥ २७-२८ ॥

गायनाख्यानशीलाश्च नटवैतालिकास्तथा।
स्तुवन्तस्तानुपातिष्ठन् सूताश्च सह मागधैः ॥ २९ ॥

गानेवाले, प्राचीन उपाख्यान सुनानेवाले, नट और वैतालिक सूत-मागध आदिके साथ उपस्थित हो पाण्डवोंकी स्तुति-प्रशंसा करने लगे ॥ २९ ॥

सुदेष्णां च पुरस्कृत्य मत्स्यानां च वरस्त्रियः।
आजग्मुश्चारुसर्वाङ्ग्यः सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ ३० ॥

मत्स्यनरेशके रनिवासकी सुन्दरी स्त्रियाँ रानी सुदेष्णाको आगे करके महारानी द्रौपदीके यहाँ आयीं। उन सबके समी अङ्ग बड़े मनोहर थे। उन सबने विशुद्ध मणिमय कुण्डल पहन रक्खे थे ॥ ३० ॥

वर्णोपपन्नास्ता नार्यो रूपवत्यः स्वलंकृताः।
सर्वाश्चाभ्यभवन् कृष्णा रूपेण यशसा श्रिया ॥ ३१ ॥

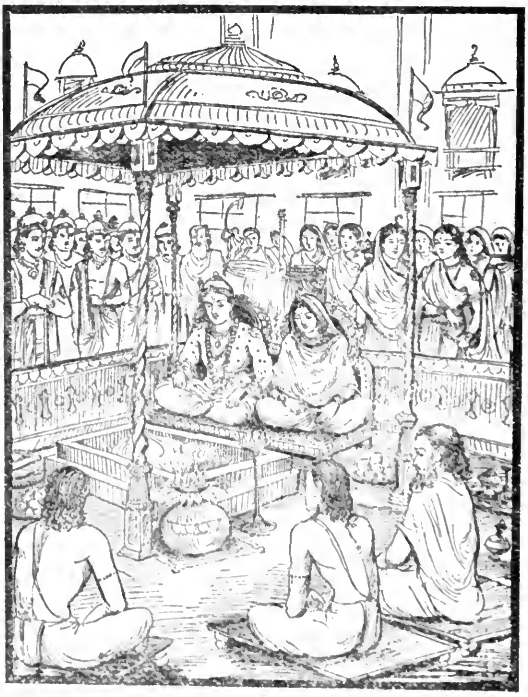
वे सभी नारियाँ उत्तम वर्णकी थीं। रूपवती होनेके साथ ही वे भाँति-भाँतिके सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित भी थीं; परंतु द्रुपदकुमारी कृष्णाने अपने दिव्य रूप, यश और उत्तम कान्तिसे उन सबको तिरस्कृत कर दिया ॥ ३१ ॥

परिवार्योत्तरां तास्तु राजपुत्रीमलंकृताम्।
सुतामिव महेन्द्रस्य पुरस्कृत्योपतस्थिरे ॥ ३२ ॥

उस समय राजकुमारी उत्तरा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो महेन्द्रपुत्री जयन्ती-सी सुशोभित हो रही थी। राजपरिवारकी स्त्रियाँ उसे आगे करके दोनों ओरसे घेरकर वहाँ उपस्थित हुईं ॥ ३२ ॥

तां प्रत्यगृह्णात् कौन्तेयः सुतस्यार्थे धनंजयः।
सौभद्रस्यानवद्याङ्गीं विराटतनयां तदा ॥ ३३ ॥

उस समय कुन्तीनन्दन अर्जुनने अपने पुत्र सुभद्राकुमार अभिमन्युके लिये निर्दोष अङ्गोंवाली विराटकुमारी उत्तराको ग्रहण किया ॥ ३३ ॥



तत्रातिष्ठन्महाराजो रूपमिन्द्रस्य धारयन्।
स्नुषां तां प्रतिजग्राह कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३४ ॥

वहाँ इन्द्रके समान रूप धारण किये कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर भी खड़े थे। उन्होंने भी उत्तराको पुत्रवधूके रूपमें अङ्गीकार किया ॥ ३४ ॥

प्रतिगृह्य च तां पार्थः पुरस्कृत्य जनार्दनम्।
विवाहं कारयामास सौभद्रस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार पार्थने उत्तराको ग्रहण करके भगवान् श्रीकृष्णके सामने महामना अभिमन्यु और उत्तराका विवाह-संस्कार सम्पन्न कराया ॥ ३५ ॥

तस्मै सप्त सहस्राणि हयानां वातरंहसाम्।
द्वे च नागशते मुख्ये प्रादाद् बहुधनं तदा ॥ ३६ ॥
हुत्वा सम्यक् समिद्धाग्निमर्चयित्वा द्विजन्मनः।
राज्यं बलं च कोशं च सर्वमात्मानमेव च ॥ ३७ ॥

विवाहकालमें विराटने प्रज्वलित अग्निमें विधिवत् होम कराकर ब्राह्मणोंका पूजन करनेके पश्चात् दहेजमें वरपक्षको वायुके समान वेगवान् सात हजार घोड़े, दो सौ बड़े-बड़े हाथी तथा और भी बहुत-सा धन भेंट किया। साथ ही राजपाट, सेना और खजानेसहित सब कुछ एवं अपने-आपको भी उनकी सेवामें समर्पित कर दिया ॥ ३६-३७ ॥

कृते विवाहे तु तदा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं यदुपाहरदच्युतः ॥ ३८ ॥

विवाह सम्पन्न हो जानेपर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णसे जो धन मिला था, उसमेंसे बहुत कुछ ब्राह्मणोंको दान किया ॥ ३८ ॥

गोसहस्राणि रत्नानि वस्त्राणि विविधानि च।
भूषणानि च मुख्यानि यानानि शयनानि च ॥ ३९ ॥
भोजनानि च हृद्यानि पानानि विविधानि च।
तन्महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनायुतम्।
नगरं मत्स्यराजस्य शुशुभे भरतर्षभ ॥ ४० ॥

हजारों गौएँ, रत्न, नाना प्रकारके वस्त्र, आभूषण, मुख्य-मुख्य वाहन, शय्या, भोजनसामग्री तथा भाँति-भाँतिकी पीनेयोग्य उत्तम वस्तुएँ भी अर्पण कीं। जनमेजय! उस समय हजारों-लाखों हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरा हुआ मत्स्यराजका वह नगर मूर्तिमान् महोत्सव-सा सुशोभित हो रहा था॥३९-४०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि उत्तराविवाहे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥७२॥

इस प्रकार व्यासनिर्मित श्रीमहाभारत नामक एक लाख श्लोकोंकी संहितामें विराटपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें उत्तराविवाहविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

विराटपर्वकी श्लोक-संख्या

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंका ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक	२१२५	(१९८)	२८३॥	२४०८॥
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक	२४९	(२२॥)	३३॥	२८२॥

विराटपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या २६९१—

श्रवण-महिमा

श्रुत्वा तु चरितं पुण्यं पाण्डवानां महात्मनाम्।
नाधिव्याधिभयं तेषां जायते पुण्यकर्मणाम् ॥ १ ॥

पुण्यकर्मा महात्मा पाण्डवोंका पवित्र चरित्र सुनकर श्रोताओंको आधि (मानसिक दुःख) और व्याधि (शारीरिक कष्ट) का भय नहीं होता है ॥ १ ॥

दुर्गतेस्तरणे तेषामायतं तरणं भवेत्।
सुभिक्षं क्षेममारोग्यं पुण्यवृद्धिः प्रजायते ॥ २ ॥

पाण्डवोंका जो दुर्गतिसे उद्धार हुआ, उस प्रसङ्गका पाठ करनेपर मनुष्यके लिये भारीसे भारी संकटसे छूटना सरल हो जाता है। उन्हें सुभिक्ष, क्षेम, आरोग्य तथा पुण्यकी वृद्धि सुलभ होती है ॥ २ ॥

सर्वपापानि नश्यन्ति जायन्ते सर्वसम्पदः।
एकाकी विजयेच्छत्रून् स्मृत्वा फाल्गुनकर्म च ॥ ३ ॥
ईतयः सम्प्रणश्यन्ति न वियोगः प्रिये जने ॥ ४ ॥

अर्जुनके चरित्रका स्मरण करनेसे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, सब प्रकारकी सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं और मनुष्य अकेला या असहाय होनेपर भी शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेता है। इतना ही नहीं, (अतिवृष्टि आदि) ईतियोंका नाश होता है और प्रियजनोंसे कभी वियोग नहीं होता ॥ ३-४ ॥

श्रुत्वा वैराटकं पर्व वासांसि विविधानि च।
हिरण्यं धान्यं गावश्च दद्याद् वित्तानुसारतः ॥ ५ ॥
प्रीतये देवतानां वै दद्याद् वै द्विजमुख्यके।
वाचके तु सुसंतुष्टे तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणान् भोजयेच्छक्त्या पायसैः सर्पिषा सितैः।
एवं श्रुते च वैराटे सम्यक् फलमवाप्नुयात् ॥ ७ ॥

विराटपर्वकी कथा सुनकर अपने वैभवके अनुसार भाँति-भाँतिके वस्त्र, सुवर्ण, धान्य और गौ—ये वस्तुएँ देवताओंकी प्रसन्नताके लिये श्रेष्ठ ब्राह्मणको दान करनी चाहिये। वाचकके भलीभाँति संतुष्ट होनेपर सब देवता संतुष्ट होते हैं। तत्पश्चात् यथाशक्ति घी और मिश्री मिलायी हुई खीरका ब्राह्मणोंको भोजन करावे। इस विधिसे विराटपर्व सुननेपर श्रोताको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है ॥ ५—७ ॥